श्रीमद्भगवद्गीता

आधुनिक युग आधार

भगवद् बाँसुरी में जीवन धुन

'अमानित्वं, अदम्भित्वं, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवं, शौचं, स्थैर्यं, आत्मविनिग्रहः, वैराग्यं, अनहंकार, असक्तिः, अनभिष्वङ्गः, समचित्तत्वं, अनन्ययोग, अव्यभिचारिणी भक्ति, अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं . . . .'

(गीता अध्याय १३, श्लोक ७-११)

परम पूज्य मां का जीवन स्वयं भगवान द्वारा वर्णित इन्हीं गुणों से अलंकृत है। श्रीमद्भगवद्गीता का प्रत्येक श्लोक उनके जीवन रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित है। उनकी [illegible] पावनता और परम तत्त्व में नित्य स्थिति ही वह उद्गम स्थान है, जहां से उनका दिव्य तेजोमय ज्ञान प्रवाह रूप में बह रहा है। उनके अलौकिक कर्म प्रवाह से सजीव हुआ यह ज्ञान ऐसी पावनी गंगा का रूप धर लेता है, जिसके आचमन से प्रत्येक जिज्ञासु अपनी पिपासा शान्त करके, इस आनन्दमय अमृत को अपनी दिनचर्या में उपयोग करने की प्रेरणा पाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता

आधुनिक युग आधार

सप्राण जीवन अमृत

भाग २

श्रीमद्भगवद्गीता

आधुनिक युग आधार

सप्राण जीवन अमृत

सहज जीवन में उपयोगी सरल हिन्दी परिभाष्य

भाग २

अध्याय १० से १८

अर्पणा प्रकाशन

अर्पणा आश्रम, मधुबन, करनाल १३२०३७, हरियाणा, भारत

परम पूज्य मां
का
प्रेम उपहार

अर्चना

गर तेरा पूजन इसमें हो, नित गीता का अध्ययन करूं।
अब इतनी कृपा करदे श्याम, बिन पाठ किये उठ न सकूं॥ १॥

प्रतिदिन उठके श्याम मेरे, मैं तुमसे बातें किया करूं।
हर पल ही बहु प्रेम से, तव शब्द गान ही किया करूं॥ २॥

श्याम श्याम कह कह कर, हर पल पिया मैं जिया करूं।
गीता अमृत कानों से, श्रवण मैं अब किया करूं॥ ३॥

वाणी से गीता बहे, मन गीता में ही रंगा रहे।
आशिष इतनी दे पियां, मन तेरे भाव में रंगा रहे॥ ४॥

पूजन न जानूं मन्त्र न जानूं, किस विध तव आवाहन करूं।
इतना बता किस विध हे श्याम, तुझे पठन पूर्व बुलाया करूं॥ ५॥

गर संग में तू बैठेगा श्याम, तो ही तो पढ़ पाऊंगी।
निज रंग में मुझको रंग पिया, तो गीता रंगी हो जाऊंगी॥ ६॥

परम पूज्य मां के मुखारविन्द से प्रवाहित गीता के प्रति भाव
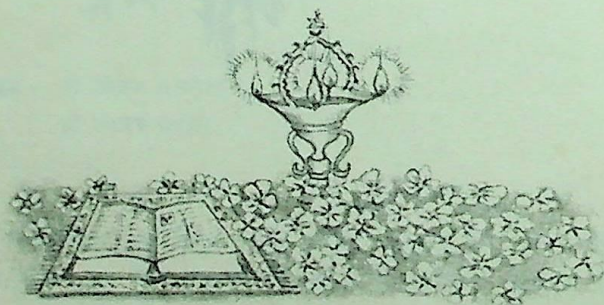
कृतज्ञता सुमन

हे करुणामयी दिव्य मां! मैं तो एक अनजान बालिका थी, आपने अपने वात्सल्यमय, पावन आंचल में मुझे पनाह दी। हे सम्पूर्ण शास्त्रों की सजीव प्रतिमा! अपार कृपा करके आपने मेरे जीवन को अपनी दिव्यता की आगोश में ले लिया। मैं तो राहें भूली थी, आपने जीना सिखाया तथा सांसारिक क्षणिकता में लिप्त मुझको शाश्वत आनन्द की राह दिखाई। मैं तो अयोग्य थी, किन्तु मुझ अपात्र को आपने परम योग की महिमा का दिव्य विस्तार 'श्रीमद्भगवद्गीता' उपहार रूप में दिया।

आज आपके इस अनुग्रहपूर्ण शुभाशीर्वाद को विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में, संसार में आपके सभी शिशुओं के साथ बाँटती हूं। मैं आशा करती हूं कि यह पावन ग्रन्थ, जिसने मुझे जीवन रहस्य प्रदान किया, उनके जीवन को भी व्यवहारिक स्तर पर सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्द के प्रकाश से आलोकित कर देगा।

आभा (नन्हीं)

अनुक्रमणिका

श्लोक	विषय	पृष्ठ

द्वादशोऽध्यायः भक्तियोगो नाम

त्रयोदशोऽध्यायः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम

चतुर्दशोऽध्यायः गुणत्रयविभागयोगो नाम

पंचदशोऽध्यायः पुरुषोत्तमयोगो नाम

श्लोक	विषय	पृष्ठ

षोडषोऽध्याय: दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम

सप्तदशोऽध्याय: श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम

अष्टादशोऽध्याय: मोक्षसंन्यासयोगो नाम

अथ दशमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

फिर से कृपासागर भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! ले पुनः मेरे वचन को सुन,
२. जो मैं अति प्रेम करने वाले तुझको, (तेरे) हित की चाहना से कहूंगा।

तत्त्व विस्तार :

भगवान यहां अर्जुन की स्थिति बता रहे हैं। देख नन्हीं! भगवान अपने प्रेम करने वाले अर्जुन से कहते हैं :

'हे अर्जुन! तू मुझे बहुत प्यार करता है न! तू मेरी शरण पड़ा है, तूने मुझे गुरु माना है और तू मेरा शिष्य बना है। तू मेरे शरणापन्न होकर मुझसे सब पूछ रहा है।'

ऐसे के हित के लिए देखो, भगवान

१. कितना ज्ञान स्वयं ही दे देते हैं।
२. बार बार वही बात समझाते हैं।
३. किसी तरह उनका भक्त समझ जाये, इसलिये यत्न करते हैं।
४. विविध विधि, विविध शब्दों में समझा रहे हैं उसी परम तत्त्व को, ताकि अर्जुन उसे समझ सके।

भगवान कहते हैं, 'तेरे लिए पुनः कहता हूं, तेरे ही हित की बात कहता हूं। शायद तू इसमें अपना हित जानकर, मेरी बात मान ले!'

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

भगवान अपना ही राज़ अर्जुन को समझाते हुए कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. मेरी उत्पत्ति को,
२. न देवता गण और न महर्षि जन ही जानते हैं,
३. क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूं।

तत्त्व विस्तार :

निराकार को जानना कठिन है।

क) परम तत्त्व की उत्पत्ति-आकार में निहित निराकार को कोई नहीं जानता :

१. परम की उत्पत्ति को कौन जान सकता है ?

२. परम के प्राकट्य को कौन जान सकता है ?
३. अखण्ड का खण्डित हो जाना, पर अखण्डित ही रहना, इसे कौन जान सकता है ?
४. रूप रहित भये अखिल रूप, फिर भी जो रूपरहित हों, ऐसे को कोई क्या समझे ?
५. अचिन्त्य चिन्तन में कैसे आ सकता है ?
६. असीम को ससीम कैसे जान सकता है ?
७. शब्द अनिर्वचनीय की कैसे कह सकते हैं ?
८. अप्रत्यक्ष, अनुपम, अतुल्य को कोई किस उपमा से बांध सकता है ?
९. अतीन्द्रिय तत्त्व को इन्द्रियां कैसे ग्रहण कर सकती हैं ?
१०. जो रूप सहित है पर है निराकार, उसका सार कौन जान सकता है ?
११. अप्रकट का प्राकट्य देखकर अप्रकट को कोई कैसे जान सकता है ?
१२. जब मायापति मायाबधित हो तो मायापति को कोई कैसे जान सकता है ?

इस कारण वह कहते हैं, 'मेरी उत्पत्ति क़ो कोई नहीं जानता।'

ख) जिसका मैं आदि कारण हूं, वह मुझे नहीं जान सकता :

१. शक्ति पति को शक्ति नहीं जान सकती।
२. देवत्व का अहंकार देवता के तत्त्व को नहीं जान सकता।
३. ज्ञानाभिमानी ज्ञान स्वरूप को कैसे जानेगा ?
४. ज्ञान विज्ञान के प्रकाश स्वरूप तत्त्व को अहंकार नहीं जान सकता।
५. अपनी मान्यता से बधित जीव अध्यात्म ज्ञान के रूप और अध्यात्म के स्वरूप को नहीं पहचान सकेगा; और यदि उस ज्ञानी में 'मैं' रूपा अहं ही नहीं रहा तो कौन किसको जानेगा ?
६. तन का अभिमानी यह बात कैसे समझ सकेगा कि तन किसी और का है? दूसरी ओर जब तनत्व भाव से 'मैं' का नितान्त अभाव ही हो गया तब कौन क्या समझ सकेगा ?

जिस बुद्धि राही समझना था तब वह भी आपकी नहीं रहती, इस कारण देवत्व अभिमानी देवतागण और ज्ञान अभिमानी महर्षि अपने आदि कारण को नहीं समझ सकते।

सूक्ष्माति सूक्ष्म अहं भी रह जाये तब भी जीव तत्त्व को नहीं समझ सकता।

सूक्ष्माति सूक्ष्म अहं का नितान्त अभाव हो जाये तो कौन समझेगा अपने स्वरूप को? फिर जो समझेगा भी, वह वाक् परे की बात वाक् राही कैसे समझाएगा? इस कारण भगवान कहते हैं कि, 'मुझे कोई नहीं जान सकता।'

परम में समाना :

भगवान कहते हैं, 'तुम मुझमें समा सकते हो, मेरे में एकत्व पा सकते हो,

आत्म में आत्म रूप हो सकते हो, पर मुझे जान नहीं सकते।'

कभी देवतागण तथा महर्षि भी उन्हें नहीं जान पाते और कभी अति दुष्ट दुराचारी भी उनमें समा सकते हैं। अजीब बात है कमला!

सर्वस्व भगवान पर छोड़कर, योग में स्थित हुआ साधक भागवत् प्रेम में उन्मत्त हुआ :

१. अपने आपको भूल जाता है।
२. अपना हर कर्म भगवान पर अर्पण करता जाता है तो उसका जीवन यज्ञमय ही हो जाता है।
३. निरन्तर परम के साक्षित्व में रहने वाला निष्काम भाव में स्थित हो ही जाता है।
४. शनैः शनैः वह तनत्व भाव भूल ही जाता है।
५. भगवान को ही कर्त्ता मानता हुआ कर्तृत्व भाव भूल जाता है।

देख प्रिय सखी! वह छोड़ता कुछ नहीं, वह भूल ही जाता है। उसने तन को नहीं छोड़ा, वह तन को भूल गया। वह परम की प्रीत में क्या खोया, उसे अपना मन ही भूल गया।

नन्हीं! भगवान यहां तन के नाते बात नहीं कर रहे। यहां तो मानो अखण्ड, अद्वैत, परम ब्रह्म, स्वयं उस छोटे से तन के राही अपनी बात कर रहे हैं।

क) यहां तो मानो अखण्ड, अद्वैत, परम ब्रह्म, स्वयं उस छोटे से तन के राही अपनी बात कर रहे हैं।
ख) यहां तो मानो आत्म स्वरूप स्वयं एक मृतक तन पर सवार होकर अपना राज़ कह रहे हैं।
ग) यहां तो मानो प्रकाश स्वरूप अपने पर ही प्रकाश डाल रहे हैं।
घ) अर्जुन के प्रेम से बन्धे हुए भगवान अपना ही घूंघट खोलकर अपनी ही दिव्यता के दर्शन दे रहे हैं।

नन्हीं! याद रहे, स्वरूप स्थित स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकता।

यदि एक साधारण जीव कहे कि:

१. मैं जीव ही नहीं हूं,
२. पर सब कुछ मैं ही हूं,
३. मैंने कभी कर्म नहीं किया,
४. मैंने कभी उपभोग नहीं किया,

तो लोग उसे पागल कहेंगे।

आत्मा को समझना और आत्मा के विषय में कहना भी कठिन ही नहीं, असम्भव है। यहां भगवान अर्जुन को आत्मा की अखण्डता समझा रहे हैं और मानो आत्मा का प्राकट्य समझाने लगे हैं।

साधारण जीव भगवान के इस वाक् को महा अहंकार समझ लेगा और इसमें अनेकों त्रुटियां निकालेगा किन्तु आत्म अभिलाषी तथा भगवान कृष्ण में श्रद्धा रखने वाला इसे सत्य मान लेगा।

भगवान ने जब देखा कि अर्जुन :

१. निन्दक नहीं तथा दोष दृष्टि से रहित है,
२. उदार हृदय है,
३. ज्ञानवान् है,
४. भगवान से अतीव प्रेम करने वाला है,
५. भगवान में श्रद्धा रखने वाला है,
६. भगवान को सत्यवादी मानने वाला है,

७. भगवान के ही शरणापन्न हुआ है,
८. भगवान के सम्मुख शिष्य रूप में खड़ा है,
९. भगवान से भगवान को ही मांग रहा है,
तब वह अर्जुन को अपने स्वरूप का ज्ञान देने लगे।

नन्हीं! भगवान ने दुर्योधन को अपनी सेना दी थी और स्वयं अस्त्र शस्त्र रहित होकर, अपने आपको अर्जुन को दे दिया। अर्जुन भगवान को अपने पक्ष में पाकर अपना अहोभाग्य मानते थे। इसे यूं समझ कि अर्जुन को अपना मित्र प्रिय था, चाहे वह निर्बल ही हो। क्यों न कहें अर्जुन अपनी मित्र प्रियता का प्रमाण पहले ही दे चुके थे। ऐसे साख्य भाव निभाने वाले के ही तो सारथी बनते हैं भगवान!

नन्हूं! ऐसा प्रेम करने वाला हो फिर सखा भी हो और श्रद्धापूर्ण होकर शरणापन्न भी हुआ हो, उसे भगवान अपना मानकर यह सब समझाते हैं। यहां वह अपने स्वरूप के नाते कह रहे हैं कि, 'मैं परम अक्षर ब्रह्म स्वरूप हूं, सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूं और यह सब मेरे ही प्रभाव तथा प्रताप से उत्पन्न होते हैं।'

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

अब भगवान, उनके इस तत्त्व रूप को जानने का फल बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोक महेश्वर स्वरूप जानता है,
२. वही मनुष्यों में ज्ञानवान् है,
३. वह सब पापों से छूट जाता है।

तत्त्व विस्तार :

परम पुरुष पुरुषोत्तम को जो
क) सामने देखकर भी अजन्मा जानता है,
ख) साकार देखकर भी निराकार जानता है,
ग) माया बधित देखकर भी मायापति जानता है,
घ) काल बधित देखकर भी कालातीत जानता है,
ङ) गुण बधित को गुणातीत, फिर निर्गुणिया पहचानता है,
च) तनो आश्रित, तनो वासी और तनो बधित को इस तन से परे जानता है,
छ) साधारण से जीव में दिव्य विलक्षणता को पहचानता है,
वह सम्पूर्ण पापों से तर जाता है।

निर्गुणिया के प्रकट गुण देखकर वह जानता है कि वह :

१. नितान्त संग रहित होने के कारण गुण रहित है।
२. सबकी ओर समदृष्टि होने के कारण समत्व में स्थित है।

३. नित्य निर्लिप्त है।
४. नित्य उदासीन है।
५. अहं रहित है।
६. यज्ञ स्वरूप ही है।
७. नित्य तृप्त आप है।
८. सम्पूर्ण दैवी गुण सम्पन्न आप है।
९. नित्य अध्यात्म का प्रमाण आप है।
१०. सब कुछ करके भी जो कुछ न करे, ऐसा नित्य अकर्त्ता आप है।
११. ज्ञान विज्ञान रूप, अध्यात्म के सारांश का भी प्रकाश है। हर साधक का लक्ष्य, परम ब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म वह आप है।

परम को जानने वाले की स्थिति :

ऐसे साकार, निराकार रूप का जीवन मानो उस अध्यात्म की व्याख्या है। जो ऐसे को समझ ले, जो ऐसे को मान ले, जो निरन्तर उसी का बना रहे और जीवन में योग का प्रमाण दे, वह क्या पाप कर सकेगा? वह तो तन ही उसको दे देता है। वास्तव में अपने तन को त्यागकर, वह स्वयं आत्मवान् बन जाता है। तब वह भगवान का सजातीय बन जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. बुद्धि, ज्ञान असम्मोह,
२. क्षमा, सत्य, दम, शम,
३. सुख, दुःख, उत्पत्ति, नाश,
४. और भय, अभय, अहिंसा,
५. समता, सन्तोष, तनोदान,
६. यश, अपयश,
७. भूतों के ये भिन्न भिन्न प्रकार के भाव,
८. मुझसे ही होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! पहले कुछ शब्दार्थ समझ ले :

***बुद्धि :**

क) बुद्धि, समझने और विचारने की शक्ति को कहते हैं।
ख) बुद्धि, निश्चयात्मिका शक्ति को कहते हैं।
ग) बुद्धि, निर्णयात्मिका शक्ति को कहते हैं।
घ) बुद्धि, जानने की सामर्थ्य को कहते हैं।
ङ) बुद्धि, समझ को भी कहते हैं।

---

*बुद्धि के सन्दर्भ में द्वितीयोऽध्याय का श्लोक ६६ देखें।

नन्हीं! बुद्धि ही धर्म का सर्वोपरि परिणाम कहा गया है। गीता में भी स्थित प्रज्ञता ही वास्तविक योग का प्रमाण है।

ज्ञान :

१. आत्म अनात्म का विवेक ही ज्ञान है।
२. किसी भी विषय से परिचित होना ज्ञान कहलाता है।
३. सत् असत् को जानना ही ज्ञान है।
४. किसी को ठीक ठीक समझ लेना उसका ज्ञान पा लेना है।

अध्यात्म के दृष्टिकोण से आत्म सम्बन्धी समझ ज्ञान है और अनात्म सम्बन्धी जानकारी अविद्या या अज्ञान है।

असम्मोह :

असम्मोह का अर्थ है :

क) मोह का अभाव।
ख) भ्रम का अभाव।
ग) वास्तविक ज्ञान का होना।
घ) काल्पनिक सृष्टि से परे होना।
ङ) गुणों से प्रभावित न होना।
च) अपनी ही रुचि अरुचि से प्रभावित न होना।
छ) विवेकपूर्ण दृष्टिकोण का होना।

क्षमा :

क्षमा का अर्थ है :

१. माफ़ कर देना।
२. किसी की ग़लती पर चित्त न धरना।
३. किसी की ग़लती का उसे दण्ड न देना।
४. सहिष्णुतापूर्ण तथा धैर्यवान् होना क्षमाशीलता है।

क्षमा करके जीव अपने मन में किसी के प्रति गिला शिकवा नहीं रखता, जिससे उसके अपने मन की शान्ति भंग नहीं होती। नन्हीं! दुःख तो क्षमा न करने वाले को अधिक होता है, इसलिए जीव को चाहिए कि अपनी शान्ति के लिए ही दूसरों के अपराधों के प्रति मौन रहे।

नन्हीं! जब दूसरा कोई अपराध करता है और तुम्हारी कोई हानि कर देता है, तब तुम उससे नाराज़ होकर उसे दण्ड देना चाहते हो। वास्तव में दण्ड तो तुम दे नहीं पाते, क्योंकि वह तो रेखा के हाथ में है, किन्तु स्वयं दुःखी हो जाते हो। इससे तुम्हें क्या यह नहीं लगता कि एक तो किसी ने तुम्हारी वैसे ही क्षति कर दी, दूसरा तुम दुःखी भी होने लग गये, सो दुःख रूपी दण्ड भी तुम स्वयं ही भोगने लग गये। क्षमा करने से तुम अपराधी के प्रति भी प्रतिशोधपूर्ण कर्म करने से बच जाते हो और स्वयं भी न बुरे बनते हो, न दुःखी होते हो। बुरा बनना और दुःखी होना अपने लिए ही एक महान दण्ड है। क्षमा करने से आप मानो अपने आपको इस भयानक दण्ड से बचा लेते हो। क्यों न कहें कि अपने आपको क्षमा करो और ऐसा दण्ड न दो ?

सत्य :

१. सत्य वास्तविकता को कहते हैं।
२. सत्य हकीकत को कहते हैं।
३. सत्य यथार्थ को कहते हैं।

जैसे : 'मैं आत्मा हूं', यह सत्य है।
'मैं नित्य अकर्त्ता हूं', यह सत्य है, इत्यादि।

दम :

दम का अर्थ है :

क) अपनी उग्र भावनाओं को वशीभूत करना।

ख) अपनी दुर्वृत्तियों का दमन करना।

ग) आत्म नियन्त्रण करना।

घ) अपने मन को वशीभूत करना।

नन्हीं! मन को परम में टिका देने से विषयों की स्मृति ही नहीं रहती। तब मानो दम सफल हो जाता है।

***शम :**

शम का अर्थ है :

१. शान्त, सन्तुष्ट तथा मौन होना।

२. संकल्प विकल्प रहित होना।

३. कामना रहित होना।

सुख :

नन्हीं! सुख और आनन्द, जिसे भगवान आत्यन्तिक सुख कहते हैं, इन दोनों को समझ ले तब इसका राज़ खुल जायेगा।

सुख	आनन्द
१. सुख अनुकूलता में मिलता है।	१. प्रतिकूलता में भी सुख का बने रहना आनन्द है।
२. सुख रुचिकर से मिलता है।	२. अरुचिकर में भी सुख का बने रहना आनन्द है।
३. सुख बाह्य स्पर्श मात्र जग पर आधारित होता है।	३. आनन्द आन्तरिक स्थिति पर आधारित है।
४. सुख आना जाना होता है।	४. आनन्द नित्य सुख को कहते हैं।
५. सुख कर्त्तव्य विमुखता में भी मिल जाता है, किन्तु यहां मन में उद्विग्नता बनी रहती है।	५. आनन्द कर्त्तव्य परायणता का प्रसाद है।
६. सुख नामी का नाम लेने से मिल जाता है।	६. आनन्द जीवन का स्वरूप है।
७. सुख बातों में तथा ज्ञान के शब्दों में भी मिल जाता है।	७. नामी को हृदय में बिठाकर उसके समान जीवन बनाने से आनन्द मिलता है।
८. सुख कामना की पूर्ति से मिलता है।	८. आनन्द कामना के प्रति निरासक्त रहने से मिलता है।
९. सुख अहंकार भोगता है।	९. आनन्द आत्मा की सहज स्थिति है।

* 'शम' के सन्दर्भ में, छठे अध्याय का तीसरा श्लोक देखिये।

सुख	आनन्द
१०. सुख तनो आसक्त चाहते हैं।	१०. आनन्द तनो विरक्त पाते हैं।
११. सुख पर आश्रित है।	११. आनन्द निराश्रित है।
१२. सुख क्षण भंगुर है।	१२. आनन्द आत्मा में नित्य स्थिति है।

नन्हीं! आनन्द को भगवान ने,
- सुख कहा है। (५/२१)
- अक्षय सुख कहा है। (५/२१)
- आत्यन्तिक सुख कहा है। (६/२१)
- उत्तम सुख कहा है। (६/२७)
- 'सुखं अत्यन्तं' कहा है। (६/२८)

इस सुख को भगवान ने 'परम शान्ति' का भी नाम दिया है।

दुःख :

अब दुःख को समझ ले!

क) सुख के अभाव को दुःख कहते हैं।
ख) अप्रसन्नता को दुःख कहते हैं।
ग) पीड़ा को दुःख कहते हैं।
घ) क्षोभ तथा अशान्ति उत्पन्न करने वाले को दुःख कहते हैं।
ङ) चिन्ता और विषाद उत्पन्न करने वाले को दुःख कहते हैं।
च) जब जीव को उसका रुचिकर विषय न मिले, तब उसे दुःख होता है।
छ) जब जीव को रुचिकर परिस्थिति न मिले, तब उसे दुःख होता है।
ज) संगपूर्ण तनो आसक्त जीव के दुःख और सुख, बाह्य जग पर आश्रित होते हैं।

भव :

भव का अर्थ है होना, उत्पत्ति, जन्म।

अभाव :

अभाव का अर्थ है :

क) न होना।
ख) नाश हो जाना
ग) मृत्यु को पा लेना।
घ) क्षति का हो जाना।

भय :

भय का अर्थ है :

क) डर जाना।
ख) संकटपूर्ण हो जाना।
ग) शंका का उत्पन्न हो जाना।
घ) असुरक्षित हो जाना।

निर्भय :

निर्भय का अर्थ है :

क) भय रहित हो जाना।
ख) संकट से न डरना।
ग) नित्य सुरक्षित होने का अनुभव करना।

अहिंसा :

अहिंसा का अर्थ है :

क) किसी का दमन न करना।
ख) किसी को न मिटाना।
ग) किसी का हक न छीनना।
घ) किसी अनिष्टकारक भाव का न होना।
ङ) लोभ, मोह और क्रोध के कारण किसी को पीड़ा न देना।

हिंसा :

नन्हीं! सबसे बड़ी हिंसा तो जीव ने अपने प्रति कर रखी है। अपने स्वरूप से विमुख हो जाने से बड़ी हिंसा और क्या होगी ?

१. 'मैं' और 'अहंकार' हिंसक ही होते हैं।
२. 'मैं' और 'अहंकार' का स्वरूप ही हिंसक है।
३. 'मैं' और 'अहंकार', अपने आपको नित्य आनन्द स्वरूप से गिरा देते हैं।
४. 'मैं' और 'अहंकार', जहां जहान के सम्पर्क में आते हैं वहां केवल अपनी स्थापना ही चाहते हैं। अपनी स्थापना के लिए वह दूसरे को भी मिटा देना चाहते हैं। इस कारण इन्हें महा हिंसक ही मानना चाहिए।

समता :

समता

क) निष्पक्षता को कहते हैं।
ख) समचित्तता को कहते हैं।
ग) निर्द्वन्द्वता को कहते हैं।
घ) द्वन्द्वों के प्रति समदृष्टि के होने को कहते हैं।
ङ) द्वन्द्वों के प्रति सम बुद्धि को कहते हैं।
च) राग द्वेष रहित की आन्तरिक स्थिति को कहते हैं।
छ) समता ही योग का दूसरा नाम है।

तुष्टि :

तुष्टि,

१. संतोष को कहते हैं।
२. परितृप्ति को कहते हैं।
३. मुदित मन को कहते हैं।
४. प्रसन्नता को कहते हैं।

जो मिल गया, उससे अधिक की लालसा न होना तुष्टि है।

तप :

क) दुःखदायी को कहते हैं।
ख) दुःख को सहने को भी कहते हैं।
ग) जलते हुए को कहते हैं।
घ) जलते हुए को सहने को भी कहते हैं।
ङ) सहिष्णुता को भी कहते हैं।
च) विपरीतता के प्रति आन्तरिक मौन को कहते हैं।
छ) अपने पर जब मुसीबत पड़े, उसको सहने को कहते हैं।

जिन कर्मों के करने में तथा परिणाम में मनो दुःख ही मिलता है, परन्तु क्योंकि यह अपना कर्त्तव्य है इसलिए करना ही चाहिए, इस भाव से कर्म करने के पश्चात् जो दुःख या अपमान मिले, उसके प्रति मुसकरा देना ही 'तप' है।

दान :

१. दान 'देने' को कहते हैं।
२. दान का अर्थ है, दूसरे के हवाले कर देना।
३. दान का अर्थ है भेंट कर देना।

नन्हीं! साधक के लिए अपनी पूर्ण सामर्थ्य सहित अपना तन दूसरों को भेंट कर देना ही दान है। साधक के लिए अपने

मन तथा आशाओं को भेंट कर देना ही दान है। तनत्व भाव का त्याग ही महा दान है।

यश :

क) यश का अर्थ है ख्याति।

ख) यश का अर्थ है शुभ नाम।

ग) यश का अर्थ है सुकीर्ति।

घ) यश का अर्थ है जग में महिमा गान होना।

अपयश :

अपयश का अर्थ है :

१. अपमान होना।

२. बदनामी होना।

३. दुर्गुणों के लिए मशहूर होना।

भगवान कहते हैं अर्जुन से कि, 'यह सब विविध भाव, जो लोगों में होते हैं, यह सम्पूर्ण मुझ से ही उत्पन्न हुए हैं।' इसलिए नन्हीं! इन सबको तू प्रकृति का त्रिगुणात्मक खिलवाड़ ही जान।

नन्हीं! याद रहे, भगवान अनेकों बार कह कर आये हैं कि गुण ही जीव को कार्यों में प्रवृत्त करते हैं और गुण ही जीव को कार्य से पलायन कराते हैं। सो कर्म चक्र स्वतः ही चलता रहता है। इसमें कर्तापन का गुमान मूर्खता है।

जो जिसे सत् मानता है और इस्तेमाल करता है, वह वैसा ही पाता है। सत् की अध्यक्षता में प्रकृति स्वतः ही सबको गुण सहित रच देती है।

जन्म मरण का चक्र :

नन्हीं! जीवन में जो भी आपने दूसरों के साथ किया है और जो भी आपने दूसरों को दिया है, वही आपको मिल जाता है। यह सब इस कारण मिलता है, क्योंकि आपने दूसरों के साथ जो किया है, वह करके आपने अपने आपको सच्चा तथा सत् पूर्ण ही मान लिया। आपके जो निहित भाव थे, वही आपके आगामी जीवन के चिह्न हैं और वही आपकी नव जीवन की रेखा बनाते हैं। वह निहित भाव ही गुण बनकर आप में तथा आपके सामने आ जाते हैं। आपकी अपनी जीवन प्रणाली के प्रति अपने आपको दोष विमुक्त करने के जो आपके निहित भाव हैं, वे ही आपके नवजीवन की रेखा का आधार बनते हैं। यह सब त्रिगुणात्मिका शक्ति ने रचे हैं।

जीव यदि अपने सम्पूर्ण गुण निष्काम भाव से इस्तेमाल करे तो वही गुण भगवान की विभूति बन जाते हैं। यदि इन्हीं गुणों में अहंकार का मिलन हो जाये और जीव इन्हें केवल अपने तन को स्थापित करने के लिए इस्तेमाल करे तो यह असुरत्व का रूप धारण कर लेते हैं।

यानि, जड़ गुण और परम प्रेम के मिश्रण से विभूति रूप दैवी सम्पदा उपजती है तथा जड़ गुण और तनत्व संग के मिलन से जड़ता तथा आसुरी सम्पदा उपजती है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

भगवान अब सृष्टि के रचयिता तथा पालक गणों के विषय में कहते हैं, जिनकी अधीनता में संसार के सम्पूर्ण व्यापार होते हैं।

शब्दार्थ :

१. सात महर्षि (और उनसे भी),
२. पूर्व होने वाले चार मनु,
३. मेरे मन से उत्पन्न हुए मेरे भाव हैं,
४. जिनके लोक में यह सम्पूर्ण प्रजा है।

तत्त्व विस्तार :

समष्टि कोण से 'सप्तर्षि' :

नन्हीं! प्रथम 'सप्तर्षि' समझ ले! विभिन्न शास्त्रों में सप्तर्षि तथा मनु के विभिन्न नाम दिये हुए हैं।

संक्षेप में वह नाम यूं है:- मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, वशिष्ठ।

कई और शास्त्रों में सप्त ऋषियों के नाम ये हैं :

कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, वशिष्ठ।

नन्हीं! यह 'ऋषि' महा उत्कृष्ट, विद्वान तथा महायोगी गण को कह लो; महा तेजोमयी तथा दिव्य गुण सम्पन्न को कह लो, किन्तु इन्हें सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता मान लेना कठिन है। ये सप्तर्षि तो इन प्रजाओं के नियन्त्रण कर्त्ता होंगे।

इस दृष्टिकोण से सप्तर्षि,

क) चेतन सत्ता, पंच तत्त्व और इक त्रिगुणात्मिका शक्ति को मानो।

ख) जन्म कुण्डली के सप्त ग्रहों को मान लो। यानि चन्द्र, सूर्य, बुध, मंगल, शनि, शुक्र, तथा बृहस्पति। बाकी दो ग्रह, यानि राहू और केतु तो इन्हीं सप्त ग्रहों के अंश हैं।

ये ग्रह ही सम्पूर्ण जीवों के पति हैं और उन पर राज्य करते हैं। ये ग्रह ही सम्पूर्ण जीवों को जन्म तथा मृत्यु देते हैं और व्यवहारिक स्तर पर भी नियन्त्रित करते हैं। यही सम्पूर्ण जीवों के स्थूल संसार, मन और बुद्धि को भी सम्भालते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन्हीं की प्रजा कह लो।

अब व्यष्टि कोण से सप्तर्षि समझ ले।

१. पंच इन्द्रियां+मन+बुद्धि को सप्त ऋषि कह लो।
२. दो कान+दो नेत्र+दो नासिकायें+एक जुबान को सप्तर्षि कह लो।

जब ये अहं रहित होते हैं; तो ये ऋषि रूप बन जाते हैं, दिव्य विभूतियां बन जाते हैं।

समष्टि कोण से चार मनु :

नन्हीं! अब मनु को समझ ले। मनु से यहां सृष्टि की मनो अवस्था की ओर संकेत है। यहां चारों युगों के आधारभूत मनु को समझ लो अर्थात् इन चारों युगों की मानसिक स्थितियां समझ लो।

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग, यह सम्पूर्ण युग मन की अवस्थाओं पर आश्रित हैं।

नन्हीं! हर युग में सभी गुण होते हैं, किन्तु भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण अलग अलग युग कहलाते हैं। वास्तव में देखा जाये तो यह सब मन की प्रवृत्ति तथा स्थिति पर ही आधारित है।

सतयुग वासी	त्रेतायुग वासी	द्वापरयुग वासी	कलियुग वासी
१. ब्राह्मी स्थिति प्रधान।	१. देवता गुण प्रधान।	१. श्रेष्ठता प्रधान, परन्तु न्यूनता की ओर प्रवृत्त।	१. असुरत्व प्रधान।
२. गुणों से परे, गुणातीत।	२. सतोगुण प्रधान।	२. रजोगुण प्रधान।	२. तमोगुण प्रधान।
३. सब आत्मा ही है, ऐसा मानने वाले।	३. आत्मा में मानने वाले, साधुगण तथा अन्य लोग।	३. 'मैं' को स्थापित करने वाले, आत्मा को भूलने लगे।	३. पूर्ण मैं ही हूं, आत्मा की पूर्ण विस्मृति।
४. सब कुछ, सबके लिए, सबका है।	४. सब कुछ भगवान का है और मैं सब भगवान को देता हूं।	४. मुझमें शक्ति है, परन्तु तुम भी जी सकते हो जब तक मेरी हानि न हो।	४. तुम जियो या मरो, सब मुझे मिले।
५. कर्तृत्व भाव रहित।	५. कर्तृत्व भाव पूर्ण लोग।	५. कर्तृत्व भाव के अभिमानी।	५. कर्तृत्व भाव अभिमान की पराकाष्ठा।
६. इन्हें अपना आप याद ही नहीं रहा।	६. 'मैं' भगवान के साक्षित्व में जग की सेवा करता है।	६. 'मैं' अहंकार के साक्षित्व में पाप और पुण्य करता है।	६. 'मैं' केवल जड़ तन के साक्षित्व में अपने तन की उपासना करता है।
७. यज्ञ, तप, दान स्वरूप।	७. यज्ञ, तप, दान करने वाले।	७. कभी कभी दम्भ के कारण	७. यज्ञ, तप, दान के प्रति बेगाने

सतयुग वासी	त्रेतायुग वासी	द्वापरयुग वासी	कलियुग वासी
		यज्ञ, तप, दान करते हैं।	हैं।
८. ज्ञान घन।	८. प्रकाश तथा ज्ञान से संग करने वाले।	८. ज्ञान को अपने स्वार्थ के लिए जैसे चाहे इस्तेमाल करते हैं।	८. अंधकार पूर्ण लोग ज्ञान समझ ही नहीं पाते, वे ज्ञान को व्यर्थ अर्थ देते हैं।
९. आनन्द घन आप हैं।	९. सुखी लोग हैं।	९. सुख दुःख का मिश्रण है।	९. अधिकांश दुःख प्रधान हैं।
१०. गुणातीत।	१०. सतोगुण बधित।	१०. रजोगुण बधित।	१०. तमोगुण बधित।
११. स्थित प्रज्ञ।	११. सत् बुद्धि पूर्ण।	११. रजोगुण प्रधान बुद्धि।	११. तमोगुण प्रधान बुद्धि।
१२. नित्य निरासक्त।	१२. नित्य सत्त्व में आसक्त।	१२. नित्य अहं में आसक्त।	१२. नित्य तनो आसक्त।
१३. नित्य तृप्त।	१३. ज्ञान और देवत्व लोभी।	१३. अहं की स्थापना के लोभी।	१३. तनो स्थापना के लोभी।
१४. नित्य निराकार।	१४. शुभ संकल्प पूर्ण।	१४. संकल्प विकल्प पूर्ण।	१४. नित्य अहितकर संकल्प करने वाले।
१५. अखिल गुणी, निर्गुणिया।	१५. दैवी गुणों से सम्पन्न।	१५. लोभ तृष्णा से पूर्ण।	१५. लोभ, तृष्णा से पूर्ण अंधे।
१६. आत्मवान्, अद्वैत स्थित।	१६. आत्मवान् बनने के अभिलाषी।	१६. आत्मा को न मानने वाले,	१६. ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले अन्धे, केवल अपने लिए जीने वाले।

घ) आत्मवान् तो व्यवहारिक स्तर पर अपने पूर्ण जीवन के निहित सार से पहचाना जाता है।
ङ) आत्मवान् तो भगवान ही है।

भगवान ने कहा कि, 'ये सम्पूर्ण मेरे मन से ही उठे हुए भाव हैं, जिनकी लोक में यह प्रजायें हैं।' भगवान इसी अध्याय के चौथे और पांचवें श्लोक में भी जीव के आन्तर में उठने वाले सम्पूर्ण भावों को अपनाकर आये हैं।

अतीव ध्यान से समझ नन्हीं! यह सब बातें तनो आसक्त व्यक्तिगत जीव नहीं कह रहा है। ये सब तो :

१. मानो नित्य निराकार, परमात्म तत्त्व कह रहे हैं।
२. वह आत्म स्वरूप स्वयं कह रहे हैं।
३. अक्षर, अविनाशी, अखण्ड, अव्यय, असीम भगवान स्वरूप कह रहे हैं।
४. अखण्ड आत्म तत्त्व रस सार, अमृत स्वरूप कह रहे हैं।
५. नित्य अद्वैत स्थित, अखिल रूप, नित्य निराकार कह रहे हैं।
६. नित्य सर्व ज्ञान विज्ञान स्वरूप स्वयं कह रहे हैं।
७. नित्य सर्वव्यापी, सर्व आधार, परम परमेश्वर स्वयं कह रहे हैं।
८. पूर्ण में जो स्वयं पूर्ण हैं, वह मानो पूर्ण को अपनाते हुए कह रहे हैं।

नन्हीं जान! प्रथम उनका दृष्टिकोण तो समझ ले, फिर बाकी सब समझ आ जायेगा।

आत्मवान् के लिए पूर्ण संसार अखण्ड आत्मा में अविभाजित तत्त्व ही है। इस नाते सब आत्म स्वरूप ही हैं, इस नाते सब में वह आप ही हैं। जो गुण भेद दिखाई देते हैं, वे सब ऐसे आत्मवान् के लिए निरर्थक हो जाते हैं। वे इनसे नित्य अप्रभावित रहते हैं।

अनेक बार पहले भगवान कह आये हैं कि जीव के ये मनोभाव भी सत् के आसरे तथा सत् की अध्यक्षता में जन्म लेते हैं। ये भाव भी पूर्ण की पूर्णता में ही स्थित हैं और उसी से उत्पत्ति तथा लय को पाते हैं। अखण्ड आत्म तत्त्व स्वरूप, यहां पूर्ण के तद्रूप होकर, उन सब भावों को अपने ही भाव कहते हैं।

नन्हीं! पहले भगवान जीव के भावों को अपना कर आये हैं। अब भगवान मानो सृष्टि की रचनात्मिका रूपा शक्ति को भी अपना रहे हैं। इसे यूं समझो कि वह मौन स्वरूप, अक्षर, आत्म तत्त्व, अखिल रूप तथा समष्टि मन, बुद्धि और इनमें निहित सम्पूर्ण भाव स्वयं ही हैं।

क) या भगवान का एक भी तन नहीं, या सम्पूर्ण तन उनके हैं।
ख) या भगवान का एक भी रूप नहीं, या सम्पूर्ण रूप उनके हैं।
ग) या भगवान का एक भी कर्म नहीं, या सम्पूर्ण कर्म उनके हैं।
घ) या भगवान का एक भी नाम नहीं, या सम्पूर्ण नाम उनके हैं।
ङ) या भगवान का एक भी मन नहीं, या सम्पूर्ण मन उनके हैं।
च) या भगवान की एक भी बुद्धि नहीं, या सम्पूर्ण बुद्धियां उनकी हैं।

भगवान इस दृष्टिकोण से पूर्ण को अपना रहे हैं। याद रहे, भगवान विज्ञान सहित, परम गुह्य तथा रहस्य पूर्ण ज्ञान, अपने प्रिय शरणागत सखा को समझा रहे हैं। वह उसे अपने स्वरूप तथा रूप का गुह्य सार सुझा रहे हैं। इस नाते वह कहते हैं कि, 'मैं पूर्ण स्वयं ही हूं।', इस नाते वह परम आत्मा का दृष्टिकोण मानो समझा रहे हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

अब भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो मेरी इस विभूति और योग शक्ति को,
२. तत्त्व से जानता है,
३. वह निश्चल योग से युक्त होता है;
४. इसमें संशय नहीं है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'जो मेरी इस विभूति और योग को समझता है, वह निश्चल योग में स्थित है।'

विभूति का अर्थ है :

क) अलौकिक शक्ति,
ख) महिमान्वित ऐश्वर्य,
ग) दिव्य शक्ति,
घ) किसी के वैभव का प्रकाश,
ङ) परम शक्ति का प्रादुर्य,
च) परम अलौकिक क्रिया शक्ति।

सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति परम की विभूति ही है। जीव के तन, मन तथा बुद्धि भी विभूति ही हैं।

भगवान अभी कहकर आये हैं कि सप्त महर्षि तथा मनु (सम्पूर्ण सृष्टि जिनकी प्रजा है), भी भगवान की विभूति ही हैं।

नन्हीं!

१. पंच तत्त्व भी भगवान की विभूति ही हैं।
२. त्रिगुणात्मिका शक्ति भी भगवान की विभूति ही है।
३. चेतन शक्ति भी भगवान की विभूति ही है।
४. भाव भी तो भगवान की विभूति ही होते हैं।
५. समष्टि या व्यष्टि, व्यक्त या अव्यक्त, जो भी है, वह सब भगवान की विभूति ही है।

तनत्व भाव रहित का स्वभाव दिव्य ही होता है। प्रज्ञा, दैवी गुण तथा मौन,यह सब दिव्य विभूतियां ही हैं। सत्, चित्त और आनन्द भी दिव्य विभूतियां ही हैं। नन्हीं! आत्मवान् का तन परम की विभूति ही है।

भगवान कहते हैं, 'जो इस विभूति तत्त्व के राज़ को जान और मान लेता है, वह योग स्थित ही है। ऐसा योग स्थित

जीव अपने तन को भगवान का ही मानता है, वह अपने तन से संग नहीं कर सकता। वह तो अपने आपको और अपने तन को भूलकर अपने प्रति मौन हो जाता है। वह तनत्व भाव रहित हो जाता है। वह तो व्यक्तिगतता को भूलकर सबको ही आत्मा समझने लगता है और अपनी आत्मा में ही नित्य संतुष्ट रहता है। वह भगवान के योग को तत्त्व से समझ लेता है।

भगवान किससे योग करते हैं, यह समझ ले :

क) विभिन्न भावों से परमात्मा की एकरूपता ही उनका योग है।
ख) विभिन्न तनों से उनकी एकरूपता ही उनका योग है।
ग) परमात्मा के अविभाजित तत्त्व का विभाजित होना ही उनका योग है।
घ) नित्य निराकार का साकार होना ही उनका योग है।
ङ) निर्रूप तत्त्व का अखिल रूप होना ही उनका योग है।
च) नित्य निर्गुणिया का अखिल रूप होना ही उनका योग है
छ) जन्म मृत्यु से परे,जन्म मृत्यु के पति का जन्म और मृत्यु बधित तन से योग एक दिव्य अलौकिक योग है।
ज) यही तो भगवान का पूर्ण सृष्टि से दिव्य मिलन और दिव्य योग है।
झ) परमात्मा की नित्य, अखण्ड, अद्वैत तत्त्व में स्थिति ही तो उनका नित्य योग है।

वास्तव में परमात्मा के दृष्टिकोण से तो दूसरा है ही नहीं तो 'योग' शब्द कहना भी नहीं बनता। यह तो जीव और साधक को समझाने के लिये उन के दृष्टिकोण से कह रहे हैं।

जीवत्व भावपूर्ण जीव का दृष्टिकोण :

नन्हीं की जननी कमला मेरी जान! तुम प्रथम यह समझ लो कि जीवत्व भाव ने क्या गज़ब कर दिया।

परमात्मा ने एक तन रचा और उसमें मन और बुद्धि को भी रच दिया।

१. मन और बुद्धि में विचार शक्ति भी भर दी।
२. मन और बुद्धि में आनन्द भोगने के लिये थोड़ी अनुभव शक्ति भी भर दी।
३. तब मन और बुद्धि ने मिलकर तन से संग कर लिया और इस तन को अपना लिया, फिर इन्होंने इस तन को अपना आप ही मान लिया।
४. मन और बुद्धि ने मिलकर 'मैं' को रचा और उसे तन, मन और बुद्धि का मानो मालिक बना दिया।
५. मन और बुद्धि इस 'मैं' का समर्थन करने लगे।

जड़ तन तो किसी की सुनता ही नहीं, वह तो काल के साथ निरन्तर अपना रूप बदलता रहता है। शिशु अवस्था से बचपन, बचपन से युवा अवस्था, युवा अवस्था से वृद्ध अवस्था को पाता हुआ, फिर मृत्यु को पा लेता है।

मन अपनी रुचि अरुचि में मदमस्त रहता है, मानो वह कहता हो, 'तन ने तो

मर ही जाना है जितनी मौज उड़ा लूं उतना ही अच्छा है।'

बुद्धि, तन की स्थापना चाहती है और मन को मौज करवाना चाहती है। बुद्धि मान भी चाहती है और श्रेष्ठ गुण भी चाहती है। बुद्धि अपने आप को सर्वश्रेष्ठ बनाना चाहती है किन्तु मौजी मन कहता है कि, 'किसी को क्या मालूम हम अन्दर से क्या हैं ?' वह मानो बुद्धि को दबा कर, अपने आप को छिपाकर, संसार में मौज उड़ाना चाहता है। इस कारण मन अपने अन्दर इतनी ग्रन्थियां बना लेता है कि अपनी बुद्धि भी उन्हें नहीं समझ सकती।

इस विधि जीव अपने आप को नहीं जान सकता। उसका विषय संगी तथा विषय भोगी मन उस पर राज्य करने लग जाता है। मन अंधा होता है, बुद्धि आंख वाली होती है। बुद्धि जब मन के अधीन हो जाती है और मन विषयों के अधीन हो जाता है, तब असुरत्व का वर्धन होता है। तब परम विभूति रूप,

क) तन असुरत्व को प्राप्त होता है।
ख) मन असुरों का राजा बन जाता है।
ग) बुद्धि असुरों की चाकर बन जाती है।

आत्म तत्त्व रूपा परमात्मा फिर भी इनका साथ नहीं छोड़ते, वे इनको भी 'अपना आप' ही कहते हैं। यही उनका दिव्य योग है।

जो इस रहस्य को तत्त्व से जान लेगा, वह भगवान से पूर्ण रूप से योग प्राप्त कर लेगा।

देख नन्हीं! तुझे पुनः समझाते हैं :

१. बुद्धि का विभूति स्वरूप प्रज्ञा है और रूप यज्ञ है।
२. मन का विभूति स्वरूप दैवी गुण तथा मौन है और रूप तप है।
३. तन विभूति स्वरूप में मन्दिर है और उसका रूप दान है।

इन्हीं में जब 'मैं' का मिश्रण हुआ तो मोह, राग और द्वेष का जन्म हो गया।

वास्तव में इस 'मैं' ने ही :

१. आपको लूट लिया और आपको अपने स्वरूप से वंचित कर दिया।
२. आपको अमरत्व से गिरा कर मृत्यु धर्मा बना दिया।
३. आपको प्रज्ञावान से गिराकर मोहपूर्ण बना दिया।
४. आपको दिव्य गुणों से रहित बना दिया।
५. आपका अखण्ड मौन भंग कर दिया।

देख नन्हीं, और मेरी जान कमला! जीव संग के कारण,

क) अलौकिक से लौकिक बन गया।
ख) अमर से मृत्यु धर्मा बन गया।
ग) सत् से असत् बन गया।

भगवान नित्य असंगता के कारण :

१. पूर्ण जीवों के साथ तद्रूप होते हुए भी दिव्य रहे।
२. पूर्ण जीवों के गुणों से योग करके भी निर्गुणिया रहे।
३. पूर्ण जीवों के कर्मों को अपना कर भी अकर्त्ता रहे।

आप भी एक तन से संग छोड़ दो, तब यह राज़ समझ सकोगे।

आप भी अपने तन से निरासक्त हो जाओ, तब अद्वैत तत्त्व समझ सकोगे।

तब ही यह विभूतियां तथा अद्वैत रूप योग समझ सकोगे।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

जो लोग भगवान में अचल योग युक्त हुए हैं, भगवान अब उनके विषय में कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूं,
२. और मुझसे ही सम्पूर्ण जग प्रवृत्त होता है,
३. ऐसा जानकर, बुद्धिमान् लोग
४. भाव युक्त होकर मुझे भजते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान अब कहते हैं, जिसने तत्त्व से यह जान लिया है कि :

१. पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का कारण भगवान हैं,
२. जिन तत्त्वों के राही सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति होती है, वह भी भगवान की विभूतियां हैं,
३. संसार के ईषण कर्त्ता भी भगवान हैं,
४. संसार के पोषण कर्त्ता भी भगवान हैं,
५. संसार के नियमन कर्त्ता भी भगवान हैं,
६. संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण भी भगवान हैं,
७. संसार की उत्पत्ति और नित्य स्थिति भी भगवान में ही है।

उन्होंने यह जान लिया कि सम्पूर्ण संसार में प्रवृत्ति भी भगवान से ही होती है।

यानि :

क) सम्पूर्ण तन और इन्द्रियों की चेष्टाएं भगवान से ही प्रेरित होती हैं।
ख) सम्पूर्ण जीवों के गुण भगवान की त्रिगुणात्मिका शक्ति ने ही जीवों में भरे हैं।
ग) गुणों का गुणों में वर्तना भी भगवान की ही अध्यक्षता में होता है।
घ) गुणों का प्रतिकर्षण या आकर्षण भी भगवान से ही प्रेरित होता है।
ङ) मन के विभिन्न गुण भगवान की ही देन हैं।
च) गुण योग या वियोग तथा गुण प्रभाव या अप्रभाव भी भगवान से ही होता है।

नन्हीं! वे परमात्मा के इस गुण खिलवाड़ को तत्त्व से जान लेते हैं और परमात्मा की अखण्डता का राज़ भी जान लेते हैं, तत्पश्चात् वे बुद्धिमान् लोग अनन्य भाव से भगवान का भजन करते हैं।

अनन्य भक्त का जीवन :

नन्हीं! जिसने परम को और परम के स्वभाव को जान लिया,

१. उसका सिर तो झुक ही जाएगा।
२. फिर वह कर्त्तापन का अभिमान कैसे कर सकेगा ?
३. फिर वह तन को अपना नहीं कह सकेगा।
४. वह तो मानो जीवत्व भाव को भूल ही जाएगा।
५. वह किस बुद्धि पर गुमान कर सकेगा?
६. उसके अहंकार को भी मानो दम्भ करते हुए लाज आएगी।

ऐसे भक्त का मन परम में स्वत: खोने लगेगा। उसका जीवन ही परम भजन हो जाएगा।

क) वह तो निरन्तर परम गुण में ही वर्तेगा और उन्हें ही जीवन में बहाएगा।
ख) वह तो निरन्तर आत्मा में ही संतुष्ट रह कर मानो अपना तन, मन, बुद्धि, संसार को दान में दे देगा।
ग) वह आत्मा में विलीन हो जायेगा और जग को मानो एक परम विभूति का रूप तन मिल जायेगा।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

ध्यान से सुन भगवान क्या कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मुझमें निरन्तर ध्यान लगाने वाले,
२. मेरे को ही प्राण अर्पण करने वाले,
३. नित्य आपस में मेरी चर्चा करने वाले,
४. मुझे ही जानते हुए और मेरा ही कथन करते हुए तुष्ट रहते हैं,
५. और निरन्तर मुझ में ही रमण करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

कमला मेरी जान! ध्यान से सुन! भगवान कहते हैं कि,

'मुझ में निरन्तर ध्यान लगाने वाले मुझे अपने प्राण दे देते हैं। उन्हें जीने या मरने की क्या परवाह होती है ? जब प्राण ही दे दिये, तो उनका तन मेरा ही हो जाता है। यानि, उनमें मैं मूर्तिमान होने लगता हूं। परस्पर बात करते हैं तो मेरी ही बात करते हैं। परस्पर बात करते हुए भी मेरे को और अधिक जान लेते हैं। यानि, उनके ज्ञान का वर्धन होता जाता है और वे जितना जितना अधिक जानते हैं, उतने ही मुदित मनी होते जाते हैं।

ये लोग निरन्तर मुझी में रमण करते हैं; क्योंकि रमण मन करता है और उनके मन में मैं ही हूं।

परम मिलन के पश्चात् स्थिति :

उनका मनो संयोग बुद्धि से हुआ, तथा बुद्धि योग परम से हुआ। उनका तन से वियोग हो गया तथा तन केवल जग धर्म ही करता रहा। मन, जिसने पहले तन को

प्रधानता दी थी, अब परम धाम वह हो गया। अब तन जग में तो विचरता है पर मन का प्रयोजन नहीं रहा। तन राही मन जग का और विषयों का उपभोग करता था, तन राही इस मन को बहुत कुछ पाना था, अब मन भगवान में जा टिका और उसने जीते जी प्राण सहित यह तन भगवान को दे दिया। मानो उस तन में साक्षात् भगवान सप्राण हो गये।

भगवान का सप्राण होना :

नन्हीं! जो सच्चे हृदय से भगवान का नाम लेते हैं, वे जीवन में निरन्तर अपने प्रेमास्पद के साक्षित्व में ही काज कर्म करते हैं। वे ऐसी कोई बात नहीं करते जो भगवान स्वयं न करते। शनैः शनैः वे अपने आपको भूलने लगते हैं और ऐसे लगता है कि उनमें नामी बसने लगता है।

नन्हीं! जो अपने प्राण ही अर्पण कर देते हैं, वे परम गुण में ही जीते हैं। उन्हें मरने या जीने की परवाह नहीं होती। वे भगवान का भजन करते हैं, वे भगवान का कथन करते हैं, वे भगवान को जानते हुए जब बात करते हैं, तो वही कहते हैं जो भगवान कहते हैं। वे भगवान, यानि आत्मा की ही बात करते हैं, फिर आत्मवान् के रूप और स्वरूप की चर्चा करते रहते हैं। उनकी हर बात ज्ञान की होती है। जैसा उनके सामने आये, वे उसे उसके गुण के अनुसार समझाते हैं। वे निरन्तर आत्मा में ही रमण करते हुए नित्य संतुष्ट तथा आनन्द में रहते हैं।

आत्म रमण का राज़ पुनः समझ ले! उनके लिए अखिल रूप आत्मा ही है। वे गुणों पर ध्यान न देते हुए, सबको अपने समान आत्मस्वरूप ही जानते हैं। वे आत्मा के नाते सब से एक रूप होते हैं। वे आत्मा पर गुण आवरण भी समझते हैं, इस कारण उन्हें दूसरों के गुणों से तद्रूप होना कठिन नहीं लगता। आत्मा के नाते जो अभेद है, गुणों के नाते वहां भेद है। गुण केवल खिलवाड़ है, गुण केवल रेखा रचित आवरण है।

सत्यप्रिय आभा! यदि तू भी कमल की भान्ति बने, तो सच ही आत्म रमणी, परमात्म आभा बन जाए।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. उन, निरन्तर मेरे नाम में निमग्न,

२. और प्रेमपूर्वक मेरा *भजन करने वालों को,

३. मैं वह बुद्धियोग देता हूं, जिससे वह मुझ तक पहुंच जाते हैं।

---

*भजन के विस्तार के लिए चतुर्थ अध्याय का ग्यारहवां श्लोक देखें।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'उन निरन्तर मेरे नाम में निमग्न रहने वालों को', यानि, जो निरन्तर भगवान के साक्षित्व में रहकर व्यवहार करते हैं, जो प्रेम और श्रद्धा से युक्त हुए भगवान के गुणों को अपने तन राही प्रवाहित करते हैं, भगवान कहते हैं, 'उनको मैं बुद्धियोग देता हूं।'

बुद्धियोग :

ऐसी बुद्धि, जो :

१. परम से योग करवा सके,
२. परम तत्त्व का अनुभव करा सके,
३. परम तत्त्व का सूक्ष्म अति सूक्ष्म राज़ समझा सके,
४. परम तत्त्व के चेहरे से घूंघट उठा सके,
५. अपने ही अज्ञान का पर्दा विदीर्ण कर सके,
६. सत् असत् विवेकी हो,
७. जीवत्व भाव का कारण समझ सके,
८. जड़ चेतन का राज़ खोल पाए,
९. परम विभूति समझ सके,
१०. अमरत्व विधि जो समझ पाए।

भगवान कहते हैं, 'मैं ऐसी बुद्धि देता हूं, ऐसा बुद्धि योग देता हूं।'

परम से बुद्धि योग क्या होगा ? जो परम ने दिया, वह बुद्धि योग क्या होगा ?

याद रहे, यह परम उपहार भगवान दे रहे हैं, वह अपना ही कुछ देंगे। लौकिक तो हम पा लेंगे, वह तो कुछ अलौकिक ही देंगे। फिर वह यह उपहार अपने भक्त को अपने प्रिय को देंगे। उन्होंने अपने आपको ही दिया है। वह कोई दिव्यता ही तो देंगे।

भगवान के घर से और क्या पाएगा कोई ? भगवान अपने गुण ही तो देंगे! वह कहते हैं, 'मैं बुद्धियोग देता हूं' यानि,

क) वह बुद्धि, जो परम की बुद्धि में समाहित हो जाती है।
ख) भगवान उसको परम का दृष्टिकोण देते हैं।
ग) उसकी सृष्टि पर दृष्टि, परम के समान ही हो जाती है।
घ) उसकी जीवन पर दृष्टि परम के समान ही हो जाती है।
ङ) जीव व्यवहार पर उसकी दृष्टि परम के समान ही हो जाती है।
च) गुण राज़ पर उसकी दृष्टि परम के समान ही हो जाती है।
छ) जीवन सारांश पर उसकी दृष्टि परम के समान ही हो जाती है।
ज) सत् असत् पर उसकी दृष्टि परम के समान ही हो जाती है।
झ) परम का दृष्टिकोण जीवन में प्रधान हो, तब ही तो ऐसे 'बुद्धि योग स्थित' की बुद्धि माने।

नाम के प्रसाद में भगवान ने बुद्धि योग दिया। मिलन बेला तो आ ही पहुंची। भगवान कहते हैं, 'अब वह मुझे पा लेगा।' अजी पाना भी क्या, अब तो वह परम से दूर है ही नहीं, वह तो भगवान में खो चुका है। उसका तन तो भगवान का ही हो चुका है।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

भगवान बुद्धि योग युक्त की बताते हैं :

शब्दार्थ :

१. उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिए,
२. मैं स्वयं, आत्मभाव में स्थित हुआ,
३. अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को,
४. प्रज्वलित ज्ञान दीपक से नष्ट करता हूं।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! भगवान कहते हैं कि जो लोग अपने प्राण भी मुझे अर्पित कर चुके हैं और जिन्हें मैं बुद्धि योग प्रदान करता हूं, उन पर मैं स्वयं कृपा करता हूं।

भक्तों के प्रति भगवान का व्यवहार :

करुणापूर्ण भक्त वत्सल भगवान कहते हैं, 'ऐसे भक्तों के आत्मभाव में स्थित होकर, मैं स्वयं ज्ञान का दीपक जलाकर, उनके अज्ञानपूर्ण अंधकार का नाश करता हूं।'

क्यों न कहें भगवान अपने अनन्य भक्तों को :

क) स्वयं अंगीकार करते हैं।
ख) स्वयं राह दिखाते हैं।
ग) स्वयं अज्ञान से दूर कर देते हैं।
घ) स्वयं ज्ञान में स्थित कर देते हैं।

किन्तु नन्हीं! इससे पूर्व कि भगवान बुद्धि योग प्रदान करें और ज्ञान का दीपक जलाएं, साधक के हृदय में भगवान का आगमन अनिवार्य है। जीव प्रथम आत्म तत्त्व, या कह लो भगवान के भाव को अपने अन्तःकरण में स्थिर कर ले, तब भगवान बुद्धियोग प्रदान करते हैं। भगवान कहते हैं, 'तब उन्हें मैं स्वयं अपना बना लेता हूं।'

अनन्य भक्त की स्थिति :

देख मेरी प्रिया! ऐसे अनन्य भक्त की स्थिति तो जान ले।

१. वहां 'मैं' नित्य समाधिस्थ ही होती है।
२. उनका मन एकटक भगवान में लगा होता है।
३. उनका मन संसार के प्रति नितान्त मौन होता है।
४. मनो संकल्प विकल्प के लिये उन्हें फ़ुर्सत ही नहीं होती।
५. उन्हें मान मिले, अपमान मिले, इस पर कौन ध्यान दे ? उनका ध्यान तो नित्य भगवान में होता है।
६. संसार के प्रति वे नित्य तृप्त होते हैं।
७. निष्काम तो वे हो ही गए जब संसार से उन्हें कुछ नहीं चाहिए।
८. भक्ति भगवान में हुई तो आसक्ति का अभाव हो गया है।
९. मन में शोर मचे भी कैसे ? वहां तो सब मनोवृत्तियां मिल कर भगवान का कीर्तन कर रही हैं।

१०. देहात्म बुद्धि कहां रहे क्योंकि उसे याद रखने वाला मन ही कहीं और टिका हुआ है।

११. उनका तन जो भी करे, जहां भी जाये, स्थूल एकान्त हो यां न हो, वे तो परम में चित्त धरे, एकान्त में ही बैठे होते हैं।

१२. उन्होंने तन जग को दे दिया, जग को तन से काम है। तन से प्रयोजन उनका कोई नहीं रहा क्योंकि उन्हें तन राही अब कुछ पाना नहीं होता।

नित्य समाधिस्थ :

क) ऐसे नित्य समाधिस्थ भगवान में नित्य युक्त होते हैं।

ख) ऐसे नित्य परम योग स्थित, नित्य समाधिस्थ ही होते हैं।

ग) निज तन के प्रति जो ऐसे नित्य उदासीन होते हैं, वे नित्य तृप्त ही होते हैं।

उनके लिए भगवान कहते हैं :

१. 'मैं स्वयं ज्ञान दीप जलाऊंगा।

२. मैं स्वयं दिवाली मनाऊंगा।

३. उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहं की अन्त्येष्टि करने आऊंगा।'

ऐसे के लिए भगवान :

क) कभी यक्ष रूप धर कर प्रकट होते हैं।

ख) कभी यम रूप धर कर प्रकट होते हैं।

ग) कभी उमा रूप धर कर प्रकट होते हैं।

घ) कभी अन्य दिव्य अलौकिक रूप धरकर आते हैं और ज्ञान दीप जलाते हैं।

पर याद रहे, भगवान ने कहा है, 'अन्तःकरण में स्थित हुआ मैं दीप जलाता हूं।'

इससे हम यह समझें कि वह बाह्य दर्शन नहीं देते, आन्तर में दीप जलाते हैं। यह आन्तरिक बहाव है। यदि जीवन शिवमय हो जाये तो गंगा बह ही जायेगी। मस्तिष्क से वह फूट पड़ेगी और नित्य अविनाशी ज्ञान प्रवाह बनकर जन्म जन्म के संस्कार धो देगी। जो इस गंगा रूप प्रवाह के आसरे शिव तत्त्व तलक पहुंचेगा, वह शिव का और शिव जैसा ही हो जायेगा।

जो ज्ञान आन्तर से फूट पड़े, वह परम कृपा प्रसाद है, वह दिव्य वाणी है, वह कल्याणमयी ज्ञान गंगा है। वह परम कृपा, मृदुल प्रेम, स्निग्ध परम अनुकम्पा स्वरूप ही है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन कहते हैं, 'हे भगवान! हे कृष्ण!

शब्दार्थ :

१. आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं।
२. आपको ही सब ऋषिगण,
३. सनातन दिव्य पुरुष,
४. सम्पूर्ण देवताओं का आदि देव,
५. अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं,
६. तथा देवर्षि नारद, असित और देवल तथा व्यास भी यही कहते हैं,
७. फिर आप भी तो यही कहते हो।

तत्त्व विस्तार :

भगवान को अर्जुन ने कहा कि जो सत् जानते हैं, वे कहते हैं कि :

क) आप भगवान हो।
ख) आप परम ब्रह्म हो।
ग) आप परम धाम हो।
घ) आप पवित्र हो।
ङ) आप सनातन हो।
च) आप दिव्य पुरुष हो।
छ) आप देवों के आदि देव हो।
ज) आप सर्वव्यापी हो।

और आप भी तो यही कहते हो।

ब्रह्म विवेकी जन, ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास, ये जितने नाम अर्जुन ने लिए, वे सब :

१. ब्रह्म ज्ञानी जन थे,
२. परम तत्त्व विवेकी थे,
३. सत्त्व तत्त्व सार समझते थे,
४. महा तपस्वी यज्ञशाली थे,
५. स्वरूप और रूप समझते थे।
६. भगवान का जीवन में प्रमाण समझते थे।
७. उदासीन का जीवन में प्रेम समझते थे,
८. महा प्रेम में उदासीनता समझते थे।
९. साधारणता में विलक्षणता का राज़ जानते थे।
१०. विलक्षणता में साधारणता का राज़ जानते थे,
११. आकार रहित के साकार गुण समझते थे।
१२. परम के साकार रूप की निर्गुणता समझते थे,
१३. सबकी आशा जो पूर्ण करे, उसकी निराशा समझते थे,
१४. जो सबका चाकर बनकर रहे, उसकी

प्रभुता समझते थे,

१५. जो महागुणी होते हुए भी गुणातीत है, ऐसे निर्गुणिया को वे तत्त्व से जानते थे,

१६. प्रकृति रचित, प्रकृति बधित, प्राकृतिक गुणों से सर्वथा अतीत सत् को वे जानते थे।

उनके पास ज्ञान भी था, उनके पास अनुमान भी था। जब श्याम उनके सामने आए, उनको प्रमाण भी मिल गया। ब्रह्म प्राकट्य कृष्ण रूप, उनको भगवान जो मिल गया।

इस कारण अर्जुन कहते हैं, 'जो आप कहते हैं, उसे मैं सत्य मानता हूं।'

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

अर्जुन आगे कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे केशव! आप जो मुझे कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूं।

२. हे भगवान! आपके व्यक्तित्व को न दानव जानते हैं, न देवता गण ही जानते हैं।

३. हे भूतों को उत्पन्न करने वाले, हे भूतों के ईश्वर!

४. देवों के देव तुम ही हो।

५. जगत्पति, परम पुरुषोत्तम, आप स्वयं ही अपने द्वारा अपने आपको जानते हो।

तत्त्व विस्तार :

ब्रह्म स्वरूप वर्णन :

वास्तव में भगवान का स्वरूप :

१. अनिर्वचनीय है, वह वाक् बधित नहीं हो सकता।

२. अचिन्त्य है।

३. अतीन्द्रिय होने के कारण ग्रहण नहीं हो सकता।

४. अतुल्य है; उसकी कोई उपमा नहीं।

५. असीम है, सीमा बधित ससीम शब्द उसे क्या बांधेगा ?

ऐसे को समझना बहुत ही कठिन है, इस कारण अर्जुन ने कहा, 'हे भगवान अपने आपको आप स्वयं जानते हैं।' आकार सहित निराकार को समझना बहुत कठिन है। एक ससीम को असीम समझना बहुत कठिन है।

अर्जुन कहते हैं, 'आप जो कहते हैं, उसे मैं सत्य मानता हूं, किन्तु आपको न असुर जानते हैं न देवता ही जानते हैं।

आपकी बात तो मैं जानता हूं, किन्तु आपको जान लेना असम्भव है। अपने आपको आप स्वयं ही जानते हैं।'

अर्जुन आगे कहते हैं, 'जो आपने कहा, वह मैं श्रद्धा के बल से मानता हूं, किन्तु जो आप कहते हैं वह बुद्धि के परे की बात है।'

क) आत्मा में स्थित के चिन्ह जीवन में मिलते हैं।

ख) भागवत् तत्त्व में स्थित का प्रमाण जीवन में मिलता है।

ग) भागवत् तत्त्व में स्थित का जीवन सारांश शास्त्र कथित वाक्यों से तोला जा सकता है।

घ) दीर्घ काल के सम्पर्क के पश्चात् जीव कुछ कुछ अनुभव भी कर सकते हैं।

उस परम तत्त्व को जान कोई नहीं सकता, वह अपने आप को स्वयं ही जानते हैं। उनकी आंतरिक अवस्था को उनके जीवन में प्रमाणित गुणों तथा गुण संग रहितता से ही जाना जा सकता है।

जीवन प्रमाण :

क) किसी की क्षमा का प्रमाण उसके जीवन में क्षमा के प्रमाणों से ही मिल सकता है।

ख) उनकी उदारता, उदासीनता, तद्रूपता, प्रेम इत्यादि का भी प्रमाण उनके जीवन राही मिलता है।

ग) उनकी यज्ञ स्वरूपता, तप स्वरूपता तथा दान स्वरूपता का भी प्रमाण उनके जीवन से ही मिलता है।

घ) उनकी धर्म परायणता तथा कर्त्तव्य परायणता का भी प्रमाण उनके जीवन से ही मिल सकता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

अर्जुन कहने लगे भगवान को, आप अपने आपको स्वयं जानते हो, इसलिए :

शब्दार्थ :

१. जिन जिन विभूतियों से इन लोकों को व्याप्त करके आप स्थित हो,
२. उन अपनी दिव्य विभूतियों को,
३. पूर्णता से आप ही कहने योग्य हो।
४. हे योगेश्वर! सदा चिन्तन करता हुआ,
५. मैं आपको कैसे जानूं ?
६. और हे भगवन्! किन किन भावों से
७. आप मुझसे चिन्तन किये जाने योग्य हैं ?

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान से प्रार्थना करते हैं कि, 'आप ही अपने आपको जानते हो, आप ही स्वयं मुझे बताएं कि आप इस संसार में किन किन विभूतियों में विराजमान है ?

१. मैं आपको जानना चाहता हूं, कैसे जानूं ?
२. मैं आपके कौन से गुण गाऊं जिनकी राह से आपको समझ सकूं ?
३. किस किस विषय को आपकी विभूति रूप देखूं ?
४. किस किस विषय में मुझे आपका दीदार हो सकता है ?
५. मैं आपका निरन्तर चिन्तन किन विभूतियों के राही करूं ?
६. मैं आपकी सर्वव्यापकता को कैसे समझूं ?
७. हे योग के पति, हे योगेश्वर! मैं आप ही से योग चाहता हूं। आप ही कहें यह योग कैसे सफल हो ?
८. मैं किन किन भावों में आपका चिन्तन करूं कि अब आपसे मिलन हो जाये ?

मैंने जान लिया जो आपने कहा वह सत्य है और आप ही परम लक्ष्य हो, किन्तु आप ही मुझे अपनी राह बता सकते हो और आप ही मुझे यह भी बता सकते हो कि किन किन विभूतियों में आपको ढूंढूं और किन भावों में आपका चिन्तन करूं।

सो हे करुणा पूर्ण! आप ही अब राह दिखाओ, तब ही तो आप तक आ सकूंगा।'

नन्हीं! अर्जुन ने यह जान लिया कि भगवान को जानने और उनसे योग के लिए

क) निरन्तर चिन्तन अनिवार्य है।
ख) उनके गुणों का जीवन में अभ्यास अनिवार्य है।
ग) उनके जैसा दृष्टिकोण होना अनिवार्य है।
घ) जीवन के हर पहलू में उनका साक्षित्व अनिवार्य है।
ङ) तन से निरासक्त होना अनिवार्य है।
च) जीवन में निष्काम भाव से रहना अनिवार्य है।

किन्तु परम का अखण्ड चिन्तन करने के लिए किस भाव में रहा जाए और किस किस विभूति में भगवान को देखा जाए, यह जानने के लिए अर्जुन भगवान से ही पूछ रहे हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

अब अर्जुन भगवान से उनकी योग शक्ति तथा विभूति विस्तार की प्रार्थना आगे कहने लगे, हे भगवन!

शब्दार्थ :

१. अपनी योग शक्ति और विभूतियों को फिर से विस्तार से कहिए,

२. क्योंकि आपके अमृतपूर्ण वचन सुन कर मेरी तृप्ति नहीं होती।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन ने कहा, 'भगवान! फिर से कहो न!

१. अपने योग और अपनी विभूतियों के बारे में ज़रा विस्तारपूर्वक कहो न, तब शायद मुझे समझ आ जाए।
२. आप इतने महान् हो, आपकी महानता कैसे जानूं और कैसे समझूं ?
३. सब आप ही हो, यह कैसे जानूं और कैसे समझूं ?
४. आप तो मेरे सम्मुख खड़े हो, मुझे आपका अखिल रूप समझ नहीं आता! आप ही अगर विस्तार से कहो तो शायद समझ आ जाये।
५. आप कहो न कि कैसे अभ्यास करूं और कैसे आपका चिन्तन करूं ?
६. किस किस को देखकर आपका नाम लूं ?

आप अपने बारे में मुझे बताओ। आपका इतना थोड़ा सा विस्तार सुनकर मैं तृप्त नहीं हुआ हूं। गर विस्तार से फिर से कहोगे तो शायद साथ साथ अभ्यास भी हो जाये और मैं भी आपके अमृतमय वचन सुनकर तर जाऊं। सो कृपा करके पुनः अपनी विभूतियों तथा योग का विस्तार कहिये।

विभूति पाद तथा विराट रूप दर्शन का महत्त्व :

भगवान ने विभूति पाद तथा अपने विराट रूप को इतना विस्तार से क्यों कहा, पहले इसे समझ ले!

भगवान अर्जुन को :

१. जीव की लघुता समझा रहे हैं।
२. जीव की परमात्मा पर आश्रितता समझा रहे हैं।
३. परमात्मा की अखिल रूपता समझा रहे हैं।
४. 'वासुदेवमिदं सर्वं' का अभ्यास करवा रहे हैं।
५. परमात्मा की अखण्डता का अभ्यास करवा रहे हैं।
६. समझा रहे हैं कि पूर्ण सृष्टि परमात्मा के अधीन है।
७. समझा रहे हैं कि पूर्ण सृष्टि के कर्म तथा गुण परमात्मा के अधीन हैं।
८. समझा रहे हैं कि पूर्ण सृष्टि के जड़, चेतन, जो भी अंग हैं, वह परमात्मा के ही अंग हैं।
   - भगवान जीव के मिथ्यात्व का अभाव करने का यत्न कर रहे हैं।
   - जीव के व्यक्तिगत भाव के अभाव करने का यत्न कर रहे हैं।
   - जीव के मिथ्या अहंकार का अभाव करने का यत्न कर रहे हैं।
   - जीव के कर्त्तापन का अभाव करने का प्रयत्न कर रहे हैं।
   - जीव के अज्ञान और 'मैं' के अभाव करने का यत्न कर रहे हैं।

निज गुण अभिमान का भंजन करके, दूसरों के गुणों का उन्हें दोष देना भी उचित नहीं, इस तत्त्व को सुझाकर भगवान साधक के मन से सम्पूर्ण दोष आरोपण करने वाली

वृत्तियों को मिटाने के प्रयत्न कर रहे हैं। जन्म मृत्यु भगवान के हाथ है, यह कह कर वे जीव का तनो संग मिटा रहे हैं। जीव का जीवन भगवान के हाथ में है, यह कहकर वे जीव को जीवन के प्रति निरपेक्ष बना रहे हैं। जीव के गुण भगवान के हाथ में हैं, यह कह कर वे जीव को गुणातीतता की ओर ले जा रहे हैं। जीव के तन की रचना भी भगवान के हाथों में है, यह कहकर जीव का नाम रूप से भी संग मिटा रहे हैं। जीव के मन बुद्धि भगवान के हाथ में हैं, यह कह कर वे जीव का इनसे संग मिटा रहे हैं।

नन्हीं! जिन्हें भगवान पर संशय रहित श्रद्धा होगी और जो भगवान की कथनी को दोष दृष्टि से न देखते हुए, उनकी बातों को मान लेंगे, वह तो भगवान की कथनी को सुनते सुनते :

क) राग और द्वेष से मुक्त हो जायेंगे।
ख) किसी को भी बुरा नहीं कह सकेंगे
ग) किसी से भी बदला लेने का प्रयत्न नहीं करेंगे।
घ) पल में दम्भ, दर्प तथा अभिमान को छोड़ देंगे।
ङ) पल में ही तीक्ष्णता, कठोरता तथा प्रचण्डता को छोड़ देंगे।
च) क्रोध का भी परित्याग कर देंगे।

सम्पूर्ण अहंपूर्ण व्यवहार स्वतः ही छूट जायेंगे, क्योंकि फिर जीव सम्पूर्ण गुण भगवान के ही मान लेंगे। तब वे तन रूपा माटी के बुत को दोष नहीं दे सकेंगे। उनकी दोष दृष्टि तथा दोष आरोपण की वृत्ति शान्त हो जायेगी। उनकी आलोचना करने की वृत्ति भी शान्त हो जायेगी और वे किसी की अपकीर्ति नहीं कर सकेंगे। उनके मन में वैमनस्य, वैर भाव या घृणा का वास नहीं हो सकेगा। उनके मन में लोभ, तृष्णा और लोलुपता भी भाग जाएगी। तब उनके आन्तर से दुष्ट, दुराचारपूर्ण वृत्तियों का अभाव हो जाएगा। इसके परिणाम स्वरूप द्वन्द्व मिट जायेंगे और उनके आन्तर में :

१. निर्मल तथा निर्दोष मन रह जाएगा।
२. निर्वैर मन रह जाएगा।
३. निर्मम भाव का जन्म होगा।
४. निर्लिप्तता का जन्म होगा।
५. शान्ति का जन्म होगा।

तत्पश्चात् उनके आन्तर से दैवी गुणों का बहाव आरम्भ होगा। यानि उनके जीवन में :

क) सहिष्णुता आ जाएगी।
ख) सहनशीलता तथा तितिक्षा आ ही जाएगी।
ग) क्षमाशीलता तथा अनुकम्पा आ ही जाएगी।
घ) विशाल हृदयता तथा परोपकार भाव आ ही जाएगा।
ङ) झुकाव आ ही जाएगा।

तब उनका मन क्रोध रहित तथा निन्दा की वृत्ति के रहित हो ही जाएगा। उनका मन वैराग्यपूर्ण हो ही जाएगा। वह मैत्री की ओर बढ़ ही जाएगा।

जब वे आपको भगवान का रूप ही जानेंगे, तब वे सर्वभूत हितकर बन ही जाएंगे। तब उनका मन अद्रोही हो ही जाएगा और सबका सहयोगी बन जाएगा।

नन्हीं! ऐसे श्रद्धावान् में सत्यता, न्याय

पूर्णता, प्रेम और निरासक्ति का जन्म होगा। वे निर्विकार हो ही जाएंगे, अपने प्रति उदासीन हो ही जाएंगे। तब वे नित्य तृप्त, निर्द्वन्द्व, निर्दोष और मोह रहित हो ही जाएंगे। तत्पश्चात् गुणातीत, दैवी गुण सम्पन्न और स्थित प्रज्ञ हो ही जाएंगे।

श्री भगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

अर्जुन की प्रार्थना सुनकर भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. हे कुरु श्रेष्ठ अर्जुन! अच्छा,
२. अब मैं तेरे लिए,
३. अपनी प्रधान प्रधान दिव्य विभूतियां कहूंगा,
४. क्योंकि मेरी (विभूतियों के),
५. विस्तार का अन्त नहीं है।

तत्त्व विस्तार :

करुणा पूर्ण तथा भक्त वत्सल भगवान ने अर्जुन की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए कहा कि :

क) मैं तुम्हारे लिए अपनी प्रधान प्रधान विभूतियों को बताता हूं।
ख) मैं तुझे उन विषयों की बात बताता हूं, जहां मेरे विशेष दिव्य गुण तुम जान सकते हो।

किन्तु यह पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरी दिव्य विभूतियों से भरपूर है। उन सबका बताना तो सम्भव नहीं, उनमें से कुछ मुख्य विभूतियां बताता हूं। इनके अन्दर जो निहित तत्त्व है, यदि तू उसे समझ जाए तो शायद मुझे जान जाए।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

अपनी मुख्य विभूतियों का वर्णन आरम्भ करते हुए भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. हे गुडाकेश!
२. सब भूतों के आन्तर में स्थित आत्मा मैं हूं, तथा
३. मैं ही सारे भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूं।

तत्त्व विस्तार :

कमला! और मां की जान आभा! यहां

पर पूर्ण जीवों को पूर्ण रूप से अपनाते हुए और उनसे अपना एकत्व स्थापित करते हुए भगवान कहते हैं, 'जीवों में जो आत्म भाव है, वह मैं ही हूं और सम्पूर्ण जीवों का आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूं।' यानि:

क) जीव का आदि कारण भगवान ही हैं।
ख) जीव का जीवन भी भगवान ही हैं।
ग) जीव के जीवन में अहंकार भी भगवान ही हैं।
घ) जीव की मृत्यु भी भगवान ही हैं।

देख नन्हीं! भगवान ने सम्पूर्ण जीवों को पूर्णतय: अपना लिया है। 'आत्मा' कह कर यहां भगवान व्यक्तिगत जीव के 'मैं' भाव की बात नहीं कह रहे।

१. जीव में जो आभास मात्र चेतना है, वह भगवान स्वयं ही हैं।
२. आभास मात्र चेतना, जिसे परा प्रकृति भी कहा है, वह भगवान स्वयं हैं।
३. जो मन और बुद्धि में चेतन सत्ता है, वह भगवान ही हैं।
४. जीव के जीवन में जो उसके तन में गुण स्फुरित होते हैं, वह भी भगवान के हैं।
५. 'क्षर अक्षर' तथा 'जड़ चेतन', जो भी है, सब भगवान ही हैं।
६. पंच तत्त्व, जिनसे तन बनता है, वह भी भगवान की ही प्रकृति है।
७. त्रिगुणात्मिका शक्ति, जो सब कुछ रचती है और हर विषय को त्रैगुण पूर्ण कर देती है, वह भी भगवान की ही प्रकृति का अंश है।
८. सम्पूर्ण सृष्टि तथा जीवों का व्यवहार इन गुणों से ही बल पाता है। यदि सम्पूर्ण गुण भगवान की ही रचना हैं तो गुण व्यवहार भी भगवान ही हैं।

नन्हीं! इसे यूं समझ!

क) यदि तन की रचना तुमने नहीं करी तो तन तुम्हारा नहीं है।
ख) यदि गुणों की रचना तुमने नहीं करी, तो गुण तुम्हारे नहीं है।
ग) जब गुण तुम्हारे नहीं है, तब गुण व्यवहार भी तुम्हारा नहीं है।
घ) जब इस तन और तनोगुण पर तुम्हारा अधिकार ही नहीं तो 'मैं' की वहां कहां जगह रहेगी?
ङ) फिर आत्मा तो अक्षर है, किन्तु यह तन और गुण क्षर हैं, इनका मेल कैसे हो सकता है?
च) आत्मा तो अव्यय है, किन्तु यह तन और गुण परिवर्तनशील हैं, इनका मेल कैसे हो सकता है?
छ) आत्मा तो सनातन है, किन्तु यह तन तो जन्मता और मरता है, इनका मेल कैसे हो सकता है?
ज) क्षण भंगुर तथा अमर का मेल कैसे हो सकता है? सजातीय का मेल होता है, विजातीय का नहीं होता।

किन्तु यहां तो सम्पूर्ण जड़ चेतन को भगवान ने अपना लिया है और अपनी ही अखण्डता का राज़ समझा रहे हैं। इस नाते यदि सब कुछ भगवान ही हैं तो व्यक्तिगत करने वाली :

१. 'मैं' की कोई सत्ता नहीं रही।
२. 'मैं' का गुमान झूठा ही हो गया।
३. 'मैं' का किसी गुण को अपनाना झूठ ही हो गया।
४. 'मैं' का किसी कर्म को अपनाना झूठ ही हो गया।

जब जीव में सब कुछ भगवान का है तब लोभ करना भी मूर्खता नज़र आती है। जब जन्म ही भगवान ने अपना लिया तो इस जीवन से संग करना मूर्खता है, इस जीवन का दुरुपयोग करना गलती है, इसको स्वार्थ में लगाना भूल है। इसको भगवान पर छोड़ देना चाहिए। जब सब कुछ भगवान ही है, तो भगवान की रचना पर अधिकार जमाना या अपना नाम धरना चोरी है।

वास्तव में यदि भगवान में श्रद्धा हो और भगवान की बातों को जीव पूर्ण सत्य माने, तब जीव के अहंकार को कोई भी जगह नहीं मिल सकती और उसे व्यक्तिगत करने वाली 'मैं' का स्वत: अभाव हो जाता है।

अहं रहित का तन :

नन्हीं!

१. अहं रहित का तन दिव्य ही होता है।
२. अहं रहित के गुण तथा कर्म दिव्य ही होते हैं।
३. अहं रहित के तन से बहा हुआ हर वाक् दिव्य ज्ञान होता है।
४. अहं रहित का जीवन ब्रह्म के स्वभाव का ही प्रदर्शन है।
५. अहं रहित का जीवन ब्रह्म के समान सबके साथ तद्रूप हो जाने का विलक्षण प्रमाण देता है।
६. उसका जीवन हर साधक की परम स्थिति का प्रमाण तथा रूप है।
७. अहं रहितता ही अखण्ड मौन है।
८. अहं रहित अपने तन, मन तथा बुद्धि के प्रति नितान्त मौन होते हैं।
 - यही मौन हर साधक का लक्ष्य है।
 - यही मौन हर साधक का पथ है।
 - यही मौन परम का स्वरूप है।

अखिल भूतों से अद्वैत पूर्ण तद्रूपता ही इस मौन का स्वरूप है।

स्वरूप स्थित तन नहीं होता, स्वरूप में लीन 'मैं' को होना होता है। स्वरूप स्थित का जीवन साधारण होता है किन्तु नितान्त मौन होने के कारण वह विलक्षण होता है।

नन्हीं! भगवान भी तो यहां अपने आपको :

क) साधारण लोगों के साथ एक रूप बता रहे हैं।
ख) साधारण जीवों के साथ के रूप बता रहे हैं।
ग) साधारण जीव के गुणों के साथ एक रूप बता रहे हैं।

देख नन्हीं! जो भगवान की इस बात को मान लेगा, वह कैसा होगा, इसे समझने के प्रयत्न कर।

जो 'तन धारी' भगवान यह राज़ बता रहे हैं, प्रथम उन्हें समझ! एक तन में सीमित भगवान तो यह कह नहीं सकते कि

वह सब भूतों में स्थित हैं। भगवान यह ज्ञान तन के नाते नहीं कह रहे, भगवान यह ज्ञान आत्मा के तद्रूप होकर कह रहे हैं।

आत्मवान् में व्यक्तिगत अहं का नितान्त अभाव होता है। आत्मवान् तो सोया हुआ, जागता हुआ या स्वप्न में भी अपने तन से संग नहीं करता। इस कारण उसके लब तो 'मैं' कहते हैं, किन्तु, तन, मन, बुद्धि संग्रह रूपा तनत्व भाव की पुष्टि के लिए वह कुछ करता ही नहीं है।

यहां भगवान तन के दृष्टिकोण से नहीं आत्मा के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण संसार को देख रहे हैं। आत्मवान् का तन तो है, परन्तु तन को अपनाने वाली 'मैं' नहीं रही। लब 'मैं' तो कहते हैं, पर वह केवल सम्बोधन अर्थ कहते हैं, क्योंकि :

क) इस 'मैं' में मन, बुद्धि और तन से संग रूप अहं का भाव नहीं होता।
ख) तन के गुण वह नहीं अपनाता, क्योंकि उसका तन ही अपना नहीं होता।
ग) मन ने तृष्णा और द्वेष का रूप छोड़ दिया होता है।
घ) 'मैं' ने मानो मन का साथ छोड़ दिया होता है।
ङ) 'मैं' ने बुद्धि का अभिमान भी छोड़ दिया होता है।
च) 'मैं' ने बुद्धि को अपनाना भी छोड़ दिया होता है।
छ) 'मैं' तब तन, मन, बुद्धि के रहित हो गई।
ज) मानो 'मैं' के अहंकार की फूंक निकल गई, अब वह किस का गुमान करे ?

अब 'मैं' जो संग से पैदा हुई थी, उसका संग कहीं नहीं रहा। मानो, वह सहज में लुप्त हो गई, या कह लो नष्ट हो गई। जब 'मैं' को कोई ठौर ही न मिली तो वह आत्मा में विलीन हो गई।

मेरी नन्हीं जान!

१. मैं ने 'अहं' का रूप धरा हुआ था, पर जब अहं में से अहंकार करने वाली चीज़ ही निकाल दो, तो वह अहंकार किस पर करे ?
२. अहं भाव, 'मैं' को तन, मन, बुद्धि पर था।
३. अहं भाव, 'मैं' के तन, मन, बुद्धि, संयोग के कारण था।
४. अहं भाव तो तन, मन, बुद्धि के किसी गुण या अवगुण पर था।
५. अहं, तन, मन, बुद्धि पर आश्रित था।
   - जब तन, मन, बुद्धि से आपका संग ही नहीं रहा तो 'मैं' का अभाव हो गया।
   - जब तन, मन, बुद्धि से आपका नाता ही टूट गया तो 'मैं' का अभाव हो गया।
   - जब तन, मन, बुद्धि से आपका प्रयोजन ही नहीं रहा तो 'मैं' का अभाव हो गया। अब वेचारा अहं भाव कहां बसे ?

अहं भाव का अन्न तनो गुण, मनोगुण और बुद्धि गुण थे। अहं भाव मानो भूखा मर गया! अहं भाव ही तन, मन, बुद्धि के नाते 'मैं' को प्रधानता देता था और उसे स्थापित करना चाहता था। अब अहं भाव, जो तन, मन, बुद्धि का हर पल संरक्षण

करता था, जब वह ही नहीं रहा, तब जानो कि 'मैं' निष्प्राण हो गई।

क) तन दान में चला गया और सबका सेवक बन गया।

ख) मन ने द्वेष छोड़ दिया, बाकी प्रेम ही रह गया।

ग) बुद्धि ने मन से राग छोड़ दिया, बाकी सत् रह गया।

राग और द्वेष, जो अहंपूर्ण 'मैं' के साथ रहने से हुआ करते थे, अब इनका अभाव हो गया। 'मैं' ने जब सब छोड़ दिया तो 'मैं' परम में खोने लगी। जब 'मैं' ने व्यक्तिगतता छोड़ दी तब वह समष्टि में समाने लगी; वह पूर्ण में पूर्ण हो गई, वह पूर्ण में खो गई। इक तन उसने क्या छोड़ा, पूर्ण की वह हो गई।

भगवान कृष्ण आज वही पूर्ण तत्त्व समझा रहे हैं; उस अद्वैत अखण्ड तत्त्व के दृष्टिकोण से समझा रहे हैं; अपनी पूर्णता की बात साधक को बता रहे हैं।

गर वह तन धारी होते तब वह पूर्ण नहीं हो सकते थे, वह आत्मवान् आत्म स्वरूप अखिल रूप आप हैं। क्षर तन दूर रह गया, तो वह अक्षर हो गये।

देख मेरी प्रिय सखी! 'मैं' के नितान्त अभाव के पश्चात् :

१. उसका तन भगवान का हो जाता है।
२. उसका तन ब्रह्म का हो जाता है।
३. उसका जीवन ब्रह्म का हो जाता है।
४. वह नित्य अध्यात्म स्वरूप का हो जाता है।
५. वह अध्यात्म, यानि परम स्वभाव पूर्ण हो जाता है।
६. वह नित्य, विशुद्ध आत्म स्वरूप कहलाता है।
७. वही अध्यात्म ज्ञान का प्रमाण बन जाता है।
८. उसका जीवन ज्ञान का विज्ञान रूप होता है।
९. परम ब्रह्म तत्त्व सार, उसी के जीवन में निहित होता है।

जो उसके जीवन से तोल तोल कर तथा उसके दृष्टिकोण से शास्त्र पढ़े, वह ही भगवान का रूप समझ सकता है। जो उसके सहज वाक् से तोल तोल कर शास्त्र पढ़े, वही भगवान का रूप समझ सकता है।

वह पूर्णता में पूर्ण है और उसकी तद्रूपता पूर्ण से पूर्ण है, इसलिए पूर्ण वही आप है। यदि तुम यह सब समझ सको तो आगामी बातें जो कृष्ण ने कहीं, सहज में समझ सकोगे और मान भी सकोगे।

उस आत्मा में एकत्व पाये हुए योगीराज कृष्ण कहते हैं कि:

१. 'सब भूतों में स्थित आत्मा मैं हूं।'
२. 'सब भूतों का आदि, अन्त तथा मध्य मैं ही हूं।'

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. आदित्यों में 'मैं' विष्णु हूं,*
२. ज्योतियों में मैं किरणों वाला सूर्य हूं,
३. मरुतों में मैं मरीचि हूं,
४. और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूं।

तत्त्व विस्तार :

आत्म स्वरूप भगवान कहने लगे कि 'आदित्यों में मैं विष्णु हूं।'

आदित्य:

अदिति के पुत्रों को आदित्य कहते हैं।

१. प्रकृति को भी आदित्य कहते हैं।
२. देवताओं के जन्म दाता को आदित्य कहते हैं।
३. धरती के संरक्षक को भी आदित्य कहते हैं।
४. आकाश के संरक्षक को भी आदित्य कहते हैं।
५. उत्पन्न करने वाली शक्ति को भी आदित्य कहते हैं।

प्रकृति का विभाजन मानो बारह शक्तियों में हुआ, जो सृष्टि के विभिन्न अंगों का नियन्त्रण तथा निर्माण करती हैं। यह अंग अधिकांश ज्योति देने वाले अदिति अंश के रखवाले हैं। आदित्यों में सर्व प्रधान देवता विष्णु माने गये हैं। विष्णु सृष्टि का पालन पोषण करने वाले हैं। सृष्टि में ज्योति के अभिलाषी तपस्वियों का संरक्षण करने वाले हैं। विष्णु जीवों का पालन पोषण करने वाले और सूक्ष्म सृष्टि के पति भी कहलाते हैं। वह मनों पर राज्य करने वाले भी हैं।

भगवान कहते हैं, 'यह विष्णु मैं ही हूं। यानि, सृष्टि में ज्योति का संरक्षक मैं ही हूं।' ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य वह आप हैं। यानि सम्पूर्ण ज्योति कर और प्रकाश देने वाले पदार्थ वह आप हैं, उन सबमें जो महा ज्योतिपूर्ण सूर्य है, वह भगवान ही हैं; सूर्य की सम्पूर्ण किरणें भगवान ही हैं। जिस ज्योति के आसरे जीव संसार को देखता है, वह भी भगवान ही हैं। आंखों के आन्तर में जो ज्योति वास करती है, जिस राही सब जग देख सकता है, वह भगवान ही हैं, यानि, दर्शन शक्ति का आधार भगवान ही हैं।

अब भगवान कहते हैं कि, '**मरुतों में मैं मरीचि हूं।**'

क) वायु के विभिन्न अंगों को मरुत कहते हैं।
ख) हर एजना में वायु रहती है।
ग) हर तूफ़ान में वायु रहती है।

---

* विष्णु के लिए देखें ११/३०, ४६।

घ) वायु जीव के प्राण बनकर रहती है।
ङ) वायु जीव के मन के उद्गार बनकर रहती है।
च) वायु ही श्रवण शक्ति बन जाती है।
छ) वायु ही वर्षा में सहयोग देती है।
ज) वायु ही धुन्ध बन जाती है।

वायु के यह विभिन्न रूप मरुतों के ही रूप हैं। मरीचि वायु में सर्वश्रेष्ठ वायु को कहते हैं। मरीचि प्रजापति को भी कहते हैं, इस नाते मरीचि प्राणदे शक्ति को कह लो। भगवान कहते हैं, 'वायु पति मरीचि मैं ही हूं।'

फिर भगवान कहते हैं, **'नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूं।'**

पूर्ण नक्षत्र जो आकाश में दिखते हैं और जो पूर्ण सृष्टि पर राज्य करते हैं, भगवान कहते हैं, कि उनमें सर्वशक्तिमान् चन्द्रमा वह ही हैं।

नन्हीं! यह सब कहकर भगवान इतना ही कह रहे हैं कि :

१. 'स्थूल सृष्टि में जो भी हो रहा है, वह सब मैं ही हूं।
२. प्रकृति की सम्पूर्ण शक्तियां जो तुम देखते हो, वह मैं ही हूं।
३. प्रकृति की सम्पूर्ण शक्तियां, जो तुम नहीं देख सकते हो, किन्तु जिनके कार्य तुम देखते हो, वह सब मैं ही हूं।'

साधक के लिए इतना मान लेना ही काफ़ी है कि यह जो भी है, सब परमात्मा ही है।

यहां भगवान सम्पूर्ण सृष्टि का आत्मा में एकत्व का राज़ समझा रहे हैं। वह अखण्ड, अविभाजनीय तत्त्व का विभाजित सा हुआ तत्त्व दर्शा रहे हैं। क्यों न कहें, यहां भगवान ब्रह्म की स्वप्नाकार वृत्ति रूप सृष्टि को दर्शा रहे हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. वेदों में मैं सामवेद हूं,
२. देवताओं में मैं इन्द्र हूं।
३. इन्द्रियों में मैं मन हूं।
४. और भूतों में मैं चेतना हूं।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं जान! भगवान ने वेदों में अपने आपको सामवेद कहा।

सामवेद,

१. भक्तिपूर्ण भागवद् गुणगान है।
२. भक्तिपूर्ण विधि से परम मिलन की राह है।
३. सामवेद का सार ओम् ही है।
४. सामवेद का सार 'ओम्' रूपा ब्रह्म से एकरूपता पाना है।
५. सामवेद, भक्ति श्रद्धा तथा प्रेम को उत्पन्न करने वाला है।

६. सामवेद मन को आकर्षित करने वाला है।
७. सामवेद स्वयं परमात्मा की गायन युक्त स्तुति है।

भगवान स्वयं गीता में पहले भी कह आये हैं कि ज्ञानी भक्त तो उनका अपना आप ही है। मानो यहां भगवान पुनः उस बात को दोहरा रहे हों।

फिर भगवान ने कहा, '**देवों में मैं इन्द्र हूं।**'

इन्द्र :

क) इन्द्र देवताओं के पति हैं।
ख) सम्पूर्ण तनों में जितनी शक्तियां हैं, उनके पति इन्द्र हैं।
ग) समष्टि इन्द्रिय शक्ति पति इन्द्र हैं।
घ) जीवों में देवत्व पति इन्द्र हैं।
ङ) जीवों से शुभ कर्म कराने वाले इन्द्र हैं।
च) जीवों को सत्त्व की ओर ले जाने वाले इन्द्र हैं।
छ) शुभ कर्मों के फल स्वरूप जग में अन्न की वृद्धि होती है और अन्न की वृद्धि वर्षा पर आधारित होती है। इस नाते इन्द्र को वर्षा का पति भी कहते हैं।

भगवान कहते हैं कि '**इन्द्रियों में मैं मन हूं!**'

मन :

इन्द्रियों का पति मन ही होता है। मन यदि इन्द्रियों का साथ न दे तो इन्द्रियों के सम्पूर्ण भोग निरर्थक हो जाते हैं। इन्द्रियों के विषय सम्पर्क के पश्चात् मन ही रसिक बनकर इन्द्रिय संचित रस का उपभोग करता है।

१. यह मन ही जीव को भोगी बना देता है।
२. यह मन ही जीव को योगी भी बना देता है।
३. यदि यह मन विषयों की ओर जाये तो आसक्ति वर्धक है।
४. यदि यह मन आत्मा की ओर जाये तो भक्ति वर्धक है।
५. जीव की स्थिति मन पर ही आधारित है।
६. जीव में इन्सानियत, देवत्व या आत्मवान् की स्थिति उसकी मनो स्थिति पर ही आधारित है। भगवान कहते हैं 'यह मन मैं ही हूं।' नन्हीं! इस नाते तो बुरे भले सब भगवान ही हैं।

भगवान कहते हैं, '**भूतों में चेतना मैं हूं।**'

यानि, भगवान कहते हैं भूतों में:

क) ज्ञान शक्ति स्वयं वह आप हैं।
ख) बुद्धि शक्ति स्वयं वह आप हैं।
ग) सचेतता वह स्वयं आप हैं।
घ) समझ की शक्ति वह स्वयं हैं।
ङ) तर्क वितर्क की शक्ति वह स्वयं हैं।
च) विचार की शक्ति वह स्वयं हैं।

देख नन्हीं! प्रार्थना रूप सामवेद, जो सब को, यानि पूर्ण संसार को ज्ञानी भक्त बना सकता है,वह भी भगवान ही हैं। तो क्यों न कहें, संसार की सम्पूर्ण हार्दिक प्रार्थनायें भगवान हैं। फिर, समष्टि मन रूप इन्द्र भगवान स्वयं हैं, इस कारण किसी भी युग को बुरा कहना उचित नहीं। व्यष्टि मन यदि भगवान हैं तो किसी के मन को बुरा भला कहना उचित नहीं। यदि चेतनता भी स्वयं भगवान हैं तो किसी की बुद्धि को न्यून कहना ही नहीं बनता।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

अपनी अन्य विभूतियां दर्शाते हुए भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. रुद्रों में मैं शंकर हूं,
२. यक्ष और राक्षसों में मैं धन का पति हूं,
३. और वसुओं में मैं पावक अग्नि हूं,
४. ऊंचे पर्वतों में मैं मेरु हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'रुद्रों में मैं शंकर हूं।' रुद्र गण प्राणियों को;

क) रुदन कराते हैं।
ख) पीड़ा पहुंचाते हैं।
ग) बहु प्रकार के कष्ट देते हैं।
घ) बहु प्रकार के दुःख देते हैं।

रुद्र गण विनाशक शक्ति से पूर्ण होते हैं। रुद्र गण आंधी, तूफ़ान, बाढ़, भूचाल तथा अग्नि से विनाश करने वाले होते हैं।

भगवान कहते हैं उन रुद्रों में वह 'शंकर' हैं। शंकर शिव का ही नाम है। शिव प्रलय तथा मृत्यु के प्रतीक हैं। शिव स्वयं जग का विष पीने वाले भी हैं। वह अपने भक्तों को भी विष पीना सिखाते हैं। शिव के अपने गले में सर्प लिपटे रहते हैं। वह जीवों को भी विषपूर्ण लोगों में रहते हुए उदासीन रहना सिखाते हैं। भक्तों को समृद्धि देने वाले शिव स्वयं हैं।

भगवान कहते हैं 'यक्ष और राक्षसों में वह धन के मालिक हैं।'

यक्ष :

१. यक्ष नौकर को कहते हैं।
२. यक्ष आजीविका के लिए अन्य जीवों की नौकरी करते हैं।
३. यक्ष अपने धन देने वाले मालिक के अनुचर होते हैं।
४. यक्ष वे नौकर हैं, जिन्होंने अपने धन देने वाले मालिक के लिए मानो अपनी बुद्धि, ज्ञान, व्यक्तित्व तथा तन, सब कुछ बेच दिया हो।

भगवान भी अनेक बार दृष्ट रूप में यक्ष का रूप धर लेते हैं। जीव की अपनी कामनाओं इत्यादि की प्राप्ति तथा कांक्षित फल की उपलब्धि यक्ष ही करवाते हैं।

राक्षस व असुर :

असुर उन्हें कहते हैं :

१. जो धन के लोभी हों।
२. जो धन को प्राप्त करने के लिए लोगों का तन तोड़ देते हैं।
३. जो धन को प्राप्त करने के लिए लोगों का मान हर लेते हैं।
४. जो धन को प्राप्त करने के लिए लोगों का नामोनिशान मिटा देते हैं।

५. जो केवल धन को ही सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य मानते हैं।
६. जो केवल धन को ही पाने के लिए जीते हैं।

भगवान कहते हैं, 'इन सब में धन का मालिक (वित्तेश:) मैं ही हूं। वित्तेश: कुबेर को कहते हैं। कुबेर अखिल धनपति कहलाते हैं। कुबेर ही यक्ष तथा राक्षसों के पति कहलाते हैं।

'वसुओं में मैं पावक हूं।'

क) वसुओं का काम मल की शुद्धि करना है।
ख) वसु सृष्टि को स्वस्थ रखने का काम करते हैं।
ग) वसु जीव के तन को भी मल रहित करते हैं।

भगवान कहते हैं, 'सम्पूर्ण जहान का मल विमोचन करने वालों में मैं अग्न रूपा मल विमोचक हूं क्योंकि अग्न के समान पावन करने वाला और कोई नहीं है। अग्न प्राणों का भी संरक्षण करती है।

पर्वतों में मेरु

मेरु पर्वत संसार के सम्पूर्ण पर्वतों से ऊंचे शिखर वाला माना गया है। यह पर्वत पौराणिक कथाओं के अनुसार इतना ऊंचा है कि समस्त ग्रह तथा नक्षत्र इसके गिर्द घूमते रहते हैं। कहते हैं इस पर्वत में अनन्त स्वर्ण तथा रत्न भरे हुए हैं।

मानो भगवान ने कहा कि संसार में दु:ख देने वाले रुद्र वह आप हैं। धन के पति, जो सबको विभिन्न मात्रा का धन देते हैं, वह कुबेर भगवान आप हैं। सृष्टि में सब को पावन करने वाला अग्न भी वह आप हैं। सबसे ऊंचा शिखर, जहां से मानो सम्पूर्ण सृष्टि को वह देख सकते हैं, वह मेरु भी वह आप ही हैं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

भगवान अपनी विभूतियां बताते हुए आगे कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. और हे अर्जुन!
२. पुरोहितों में मैं बृहस्पति हूं,
३. सेनापतियों में मैं स्कन्द हूं,
४. (और) सरोवरों में मैं सागर हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, **'पुरोहितों में मैं बृहस्पति हूं।'**

नन्हीं! पुरोहित वे होते हैं जो,

क) दूसरों के दूत बनकर उनके काम करते हैं।
ख) दूसरों के हित में उनका कार्य भार सम्भालते हैं;

ग) किसी की अनुपस्थिति में उसका काम और सहचारिता करते हैं।

बृहस्पति :

क) बृहस्पति अखण्ड ज्ञान सम्पन्न कहे गये हैं।

ख) बृहस्पति इन्द्र के पुरोहित माने गये हैं।

ग) बृहस्पति देवताओं को आत्म में विलीन कराने वाले माने गये हैं।

घ) बृहस्पति देवताओं के पुरोहित माने जाते हैं।

'सेनापतियों में मैं स्कन्द हूं।'

स्कन्द :

१. देवताओं के सेनापति कहलाते हैं।
२. सत्य के लिए लड़ने वालों का संरक्षण करते हैं।
३. युद्ध के देवता माने जाते हैं।
४. असुरों के और असुरत्व के विनाशक हैं।
५. साधुता के संरक्षक हैं।
६. महा दक्ष तथा नीति प्रवीण माने जाते हैं।

भगवान कहते हैं, 'वह स्कन्द मैं ही हूं।'

फिर भगवान कहते हैं, 'सम्पूर्ण जलाशयों में मैं सागर हूं।'

अर्थात् जिस सागर में सम्पूर्ण नदियां समा जाती है और जिस सागर से बादल जल लेकर सम्पूर्ण जलाशयों को भर देते हैं, वह मैं आप हूं।

अर्जुन ने भगवान से पूछा था कि, 'आप अपनी विभूतियां बताईये, जिनका चिन्तन करते हुए मैं आपको जान सकूं।'

यहां मानो भगवान कह रहे हों कि 'तुम जिसका भी ध्यान लगाओ, वह सभी मैं हूं। तुम जिसका भी चिन्तन करो, वह मुझे ही जानकर चिन्तन करो।' याद रहे, भगवान ने कहा था कि वह किसी की श्रद्धा भंग नहीं करते। आपको जिसमें भी श्रद्धा हो, उसे ही भगवान की विभूति मान लो, वह अखण्ड आत्म तत्त्व का ही अंग हैं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. महर्षियों में मैं भृगु हूं,
२. वाणियों में मैं अक्षर हूं।
३. यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूं,
४. स्थावरों में मैं हिमालय हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं, **'महर्षियों में मैं भृगु महर्षि हूं।'**

भृगु महर्षि सम्पूर्ण ऋषियों में श्रेष्ठ और

अधिक तपस्वी माने जाते हैं। वे त्रिकालदर्शी भी हैं और आगामी घटनाओं के पूर्ण ज्ञाता भी।

ख) फिर भगवान ने कहा, '**वाणियों में मैं अक्षर हूं।**'

यानि, वाणी में भगवान वह शब्द हैं जो अक्षर आत्म तत्त्व की कहता है। वाणी में *ओम् ही सर्वोत्तम अक्षर माना गया है। वाणी में जो अक्षर ओम् है, उसे पूर्ण रूप से समझ लेने तथा जीवन में मान लेने से जीव स्वरूप में स्थित हो सकता है।

ग) भगवान कहते हैं, '**यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूं।**'

जप यज्ञ का अर्थ है:

१. भगवान के नाम का बार बार गुण गाना।
२. मन ही मन भगवान से बार बार प्रार्थना करना।
३. मन ही मन भगवान के गुणों की सराहना करना।
४. जप यज्ञ में जीव निरन्तर भगवान के साक्षित्व में रहता है।
५. जप यज्ञ में जीव़ जो भी करता है, भगवान के साक्षित्व में करता है।
६. जप यज्ञ करते हुए जीव जीवन में भगवान के साक्षित्व में निष्काम कर्म ही करेगा।
७. जीव का जीवन यज्ञमय हो जायेगा।
८. जीव का जीवन श्रेष्ठतम हो ही जायेगा।
९. जीव जीवन में भगवान के समान ही कर्म करने लगेगा।

इस कारण यह यज्ञ सर्वोत्तम माना गया है।

घ) अब भगवान ने कहा, '**स्थावरों में मैं हिमालय हूं।**'

यानि, अचल रहने वालों में नित्य अचल रहने वाला हिमालय पर्वत भगवान ही हैं।

नन्हीं! ध्यान से समझ! भगवान अपनी विभूतियां बताते हुए इन सब के तद्रूप हो रहे हैं और अपनी अखण्डता तथा अद्वैत दर्शा रहे हैं। यदि जीव इन्हें मान ले तो इस भाव को पा लेगा कि सब वासुदेव ही हैं।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

अब भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. सब वृक्षों में मैं पीपल हूं।
२. देवर्षियों में मैं नारद हूं,
३. गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूं,
४. और सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) पीपल वृक्ष :

---

*ॐ की सविस्तार व्याख्या के लिए माण्डूक्योपनिषद् देखिए।

- पीपल का पेड़ अतीव पावन माना जाता है।
- पीपल वृक्ष के पत्तों से लेकर जड़ तक, सभी अंश औषध बनाने के काम आते हैं।
- पीपल वृक्ष वैसे भी वायु को पावन करने वाला माना गया है।
- पीपल की गंध से तनो विध्वंसक कीटाणुओं का नाश होता है।

इस कारण भगवान कहते हैं कि यह वृक्ष वह ही हैं।

ख) फिर भगवान कहने लगे कि '**देवर्षियों में मैं नारद हूं।**'

देवर्षि नारद :

१. ब्रह्मा के मानस पुत्र भी कहलाते हैं।
२. सम्पूर्ण विद्याओं में विशारद हैं।
३. विभिन्न ढंगों से देवताओं को भी ज्ञान देते हैं।
४. ज्ञानी भक्त होने के नाते भगवान ही हैं।
५. दुष्टों को भी निरासक्त बना देते हैं।
६. त्रिकाल दर्शी तथा सर्वज्ञ हैं।

इस नाते भगवान कहते हैं कि 'नारद मैं ही हूं।'

ग) भगवान कहते हैं कि '**गन्धर्वों में वह चित्ररथ हैं।**'

इन सब का राजा चित्ररथ गन्धर्व है। इन्द्रलोक में जो भी गायन और नाटक विद्या में सर्वोत्तम हैं, उन्हें 'गन्धर्व' कहते हैं। भगवान कहते हैं, 'वह मैं ही हूं।'

नन्हीं! यह गन्धर्व ही देवताओं का भी जी बहलाते हैं।

यह गन्धर्व ही देवताओं को भी आकर्षित करते हैं।

यह गन्धर्व ही देवताओं को भी मुक्त करते हैं।

सिद्धियां भी यह गन्धर्व ही देते हैं।

साधक की परीक्षा भी यह गन्धर्व ही लेते हैं।

जो साधक इन गन्धर्वों की देन रूपा सिद्धि से संग किए बिना सिद्धि के प्रति उदासीन रहता हुआ आत्मा की ओर बढ़ जाए, वह परम पद पाता है।

घ) भगवान कहते हैं **सिद्धों में 'कपिल मुनि वह आप हैं।'**

सिद्ध पुरुष उसे कहते हैं, जिसने बहुत सी सिद्धियां पाई हों। जो जन्म से ही ज्ञान, वैराग्य, संन्यास तथा दैवी गुण सम्पन्न हो, उसे सिद्ध पुरुष कहते हैं।

कपिल मुनि जन्मसिद्ध ज्ञानवान् थे। यह सर्वोच्च श्रेष्ठतम मुनि गिने जाते हैं। भगवान कहते हैं 'यह कपिल मुनि मैं ही हूं।'

नन्हीं! भगवान ने यहां पर नारद, गन्धर्व राज, कपिल मुनि, सबको अपना ही रूप कहा है। वह यही बताना चाह रहे हैं, कि जब आप एक तन में सीमित नहीं रहते तो सृष्टि के पूर्ण तन ही आपके हो जाते हैं।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. घोड़ों में अमृत से उत्पन्न हुआ उच्चैश्रवस्,

२. गजेन्द्रों में ऐरावत,

३. और नरों में राजा, तू मुझको जान।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहने लगे, 'घोड़ों में मैं **उच्चैश्रवस्** नामक घोड़ा हूं।'

१. यह घोड़ा अमृत मन्थन के पश्चात् उत्पन्न हुआ था।

२. देवत्व भाव और असुरत्व भाव के मन्थन के पश्चात् जिस देव शक्ति का जन्म होता है, उसे ' उच्चैश्रवस' कहते हैं। इस शक्ति पर सवार होकर देवतागण परम धाम को पहुंच जाते हैं।

यह घोड़ा गति, तीव्रता तथा बल का प्रतीक माना जाता है। बिन विघ्नों को छुए हुए यह विघ्नों के ऊपर से, पथ पर चलता जाता है। इसे सत् बुद्धि चाकर मन भी कह सकते हैं।

ख) हाथियों का राजा ऐरावत :

हाथियों के राजा तथा इन्द्र के हाथी को ऐरावत कहते हैं। यह हाथी भी अमृत मंथन के द्वारा प्राप्त हुआ था।

यह एक धुनी होता है। यह बाह्य विरोधों से नित्य अप्रभावित रहता है। यह महा बलवान तथा देवताओं की सहायता करने वाला माना गया है। भगवान कहते हैं, 'ऐरावत गजेन्द्र मैं ही हूं।'

ग) फिर भगवान कहते हैं– '**नरों में राजा मैं ही हूं।**'

१. राजा लोग सेवक होने चाहिएं।

२. राजा समाज की मर्यादा रखने वाले होते हैं।

३. राजा सारी प्रजा का पालन पोषण और संरक्षण करने वाले होते हैं।

४. राजा सारी प्रजा की वृद्धि के चाहने वाले होते हैं।

भगवान कहते हैं, 'नरों का राजा तू मुझे ही जान।'

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. शस्त्रों में वज्र मैं हूं,
२. गायों में कामधेनु मैं हूं,
३. और सन्तति उत्पन्न करने वाला कन्दर्प मैं हूं,
४. सर्पों में मैं वासुकि हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं– '**शस्त्रों में मैं वज्र हूं।**'

१. वज्र इन्द्र के शस्त्र को कहते हैं।
२. वज्र विनाशकारी, घातक शस्त्र को कहते हैं।
३. वज्र, बिजली को भी कहते हैं।
४. क्यों न कहें कि आततायियों पर वह वज्र बनकर गिरते हैं।
५. असुर जनों के विध्वंसक वज्र भगवान हैं।
६. वज्र रूप संरक्षण करने वाली शक्ति भगवान हैं।

ख) भगवान कहते हैं कि '**धेनुओं में मैं कामधेनु हूं।**'

कामधेनु,

१. देवताओं की धेनु मानी गई है।
२. जीवों की हर कामना पूरी करने वाली है।
३. जीवों की तनोपुष्टि करती है।
४. जीवों की मनोपुष्टि करती है।
५. जीवों की बुद्धि की वृद्धि करती है।

ग) भगवान कहते हैं कि **जीवों को उत्पन्न करने वाला कामदेव भगवान स्वयं है।**

- दम्पति प्रेम की पराकाष्ठा भगवान स्वयं हैं।
- दम्पति की एकरूपता की चाहुक वृत्ति भगवान स्वयं हैं।
- दम्पत्ति प्रेम, जो प्रेम के जीव रूप फूल खिलाना चाहते हैं, उसकी चाहना वह आप हैं।

घ) **सर्पों में वह वासुकि हैं।**

- परम दिव्य मणि सम्पन्न सर्पों के राजा 'वासुकि' भगवान आप हैं।
- सबसे अधिक भयंकर विष वाला सर्प वह आप हैं।
- सर्पों का राजा वासुकि है, जिसको भगवान अपना ही रूप कह रहे हैं।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अब भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. नागों में मैं अनन्त हूं,
२. जलचरों में मैं वरुण हूं,
३. और पितरों में मैं अर्यमा हूं,
४. संयम करने वालों में मैं यम हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) नागों में नागश्रेष्ठ '**शेषनाग मैं हूं।**'

नाग सर्प से भिन्न होते हैं। नाग एकान्त वासी होते हैं और किसी से कुछ नहीं कहते। उनके अनेकों सिर होते हैं, ऐसा कहते हैं।

यह महा मौन होते हैं। कहते हैं कि शेषनाग पर नारायण निश्चिन्त शयन करते हैं।

नाग 'खूंटी' को भी कहते हैं, मानो उस नाग पर पूर्ण ब्रह्माण्ड लटक रहा हो।

ख) 'जलचरों में मैं जल के देवताओं का राजा '**वरुण**' हूं।'

जल बिन जीव और पशु पक्षी भी प्राण छोड़ देते हैं। जल के बिना वृक्ष, कन्द, फूल भी नहीं रह सकते।

भगवान कहते हैं, 'इन सबके प्राण रूप जल देवता वरुण मैं ही हूं।'

ग) 'पितरों में मैं **अर्यमा** हूं, जो पितरों का देवता माना जाता है।'

पितरों के आशीर्वाद का यह प्रतीक है। पितरों का आशीर्वाद बहुत श्रेष्ठ है। भगवान कहते हैं, 'वह पावन आशीर्वाद मैं ही हूं।'

घ) 'संयम करने वालों में मैं '**यम**' हूं।'

अर्थात् जो सबको नियम में रखता है, वह यम मैं ही हूं। भगवान कहते हैं कि संयम करने वालों में वृत्ति निग्रह की शक्ति वह आप हैं, संयम करने वालों में वृत्तियों को वश में करने वाला 'यम' वह आप हैं। अपने आपको काबू में रखने वाले सम्पूर्ण नियम वह भगवान आप हैं। संयम करने वालों का दण्ड रूप यम भी भगवान आप हैं।

नन्हीं! बस यही समझ ले कि जो है, सब भगवान का ही है। जग में जो होता है, होने दे, किन्तु अपना गुमान छोड़ दे, तन से संग छोड़ दे, अपनी आसक्ति छोड़ दे।

सबको भगवान का आत्मरूप जानकर सबकी सेवा करो, इसी विधि इस निष्काम भाव में परिपक्वता पा लोगी।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

नन्हीं! अब करुणापूर्ण भगवान जीव अर्जुन को परमात्मा की सर्वव्यापकता का अभ्यास करवाते हुए आगे कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूं,
२. गिनती करने वालों में मैं काल हूं,
३. मृगों में मैं मृगेन्द्र हूं,
४. और पक्षियों में मैं गरुड़ हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं, दैत्यों में वह **प्रह्लाद** हैं।

दैत्य कुल में सर्व श्रेष्ठ प्रह्लाद, भगवान आप हैं। प्रह्लाद असुरों से घिरे हुए होने पर भी भगवान के महान् भक्त थे और भगवान में अटल निष्ठा रखते थे।

ख) गिनती करने वालों में भगवान कहते हैं वह **काल** हैं।

भगवान कहते हैं कि :

१. सृष्टि में समय मैं ही हूं।
२. जो वर्ष, शताब्दी, महूर्त हैं, सब मैं ही हूं।
३. अनादि और अनन्त काल मैं ही हूं।
४. जिस भी घड़ी या पल की गणना करो, वह मैं ही हूं।

ग) भगवान कहते हैं, पशुओं में मृगराज **सिंह** वह ही हैं।

सिंह, जो सबसे अधिक बलवान और सबसे निर्भय पशु है, वह भगवान ही हैं।

घ) भगवान कहते है 'पक्षियों में मैं **गरुड़** हूं'।

गरुड़ :

१. गरुड़ भगवान विष्णु की सवारी माने जाते हैं।
२. गरुड़ तीव्र गति वाले और सौम्य माने जाते हैं।
३. गरुड़ भगवान के भक्त भी माने जाते हैं।

देख नन्हीं! भगवान यहां श्रेष्ठतम विभूतियों को अपना रूप कह रहे हैं, किन्तु साथ ही जीव को अपनी पूर्णता भी समझा रहे हैं। जो है, केवल आत्मा ही है, इसका अभ्यास करवा रहे हैं।

साधक को चेतावनी :

नन्हीं! ज़रा ध्यान से समझ! भगवान यहां अपने आपको क्यों संसार की अनेकों जाति वाले लोगों के और जन्तुओं के तद्रूप किये जा रहे हैं। वह अपने को संसार के अनेकों उत्पन्न हुए गुणों के तद्रूप किये जा रहे हैं। जड़ चेतन, सभी से वह अपना एकत्व दर्शा रहे हैं।

वह भयंकर विषपूर्ण सर्प और विष्णु और शिव, सबके साथ एकरूपता से

तद्रूप हो रहे हैं। नन्हीं! यहां तो भक्त वत्सल भगवान स्वयं,

१. अर्जुन को तनत्व भाव से उठाने के प्रयत्न कर रहे हैं।
२. अर्जुन को अद्वैत तत्त्व समझाने के प्रयत्न कर रहे हैं।
३. अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं कि, 'ये सब गुण मैं ही हूं और ये सब लोग मैं ही हूं।'

शायद आप भी मान लें कि भगवान सच ही कहते हैं।

देख नन्हीं जान!

क) भगवान स्वयं मानो ब्रह्म तत्त्व के तद्रूप होकर ज्ञान दे रहे हैं।
ख) भगवान स्वयं मानो आत्मा में स्थित होकर अपनी स्थिति बता रहे हैं।
ग) भगवान स्वयं पूर्ण में पूर्ण होकर अपनी पूर्णता दिखा रहे हैं।
घ) भगवान स्वयं साधक को आत्मा के एकत्व तत्त्व में स्थित होने का अभ्यास करवा रहे हैं।
ङ) ऐसे लगता है भगवान स्वयं इतनी मेहनत कर रहे हैं कि किसी तरह उनका भक्त आत्मा को समझ ले और आत्मा का अद्वैत तत्त्व समझ ले।
च) भगवान स्वयं कह रहे हैं 'सब मैं ही हूं', और फिर इसे बार बार कह रहे हैं। सो जो वह कह रहे हैं, उसे मान ले और जीवन में साथ साथ इसका अभ्यास करती जा; तब ही तो भगवान की बात को मान सकोगी। यही तो भगवान की बात को मानने का प्रमाण भी होगा, यदि आप जीवन में उसे ला सकें।

नन्हीं! बार बार भगवान वही बात कह रहे हैं, यह समझ कर उकता न जाना और यहां पर शब्द ज्ञान पर ही न रह जाना। यहां जो वह कह रहे हैं, शब्दों से परे की बात है। वह तो इस सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे जो सूत्रधारी है, उसकी बात कह रहे हैं। वह तो अखण्ड अक्षर तत्त्व का राज़ सुझा रहे हैं। वह तो परमात्मा के तत्त्व का राज़ सुझा रहे हैं।

नन्हीं! शब्दों में मत भरमा, तत्त्व सार समझ। कोई कौन था या क्या था, इसका कोई फ़र्क नहीं पड़ता। सब ही भगवान हैं, इसका निहित तत्त्व समझ।

नन्हीं, यदि कुछ पल के लिए तू अपने आप को तन न समझ कर आत्मा मान ले और कल्पना में ही भगवान के दृष्टिकोण से संसार को देखने का प्रयत्न करे तो तुझे बहुत लाभ हो जायेगा। भगवान की आंखों में बैठ कर देख तो सही! आत्मा के तद्रूप होकर भगवान की कथनी का भगवान के शब्दों के साथ साथ पल भर के लिए अभ्यास तो कर ले।

यदि तुम पल भर के लिए अपने तन को मृतक ही मान लो और अपने को आत्मा समझ लो, तब भी काम बन जाये।

१. आत्म रूप में सब एक हैं, गुण तथा स्थूल रूप फ़र्क हैं।
२. आत्मा अक्षर है, रूप परिवर्तनशील है।
३. आत्मा ही अर्थ रखता है, रूप कोई अर्थ नहीं रखता।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

अब भगवान कहते हैं कि,

शब्दार्थ :

१. पावन करने वालों में मैं पवन हूं,
२. शस्त्रधारियों में मैं राम हूं,
३. मछलियों में मैं मगरमच्छ हूं,
४. नदियों में मैं गंगा हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं कि '**पावन करने वाली पवन**' वह आप हैं।

१. पवन ही महापावनी है जो सृष्टि को पावन रखती है।
२. पवन तीव्र गति से सर्वत्र निरन्तर पावनता फैलाती है।
३. पवन ही जीव के आन्तर को भी पावन करती रहती है।

भगवान कहते हैं 'यह मैं ही हूं।'

नन्हीं! जब भी श्वास लो तो जान लो भगवान ही आपके आन्तर में आ रहे हैं। बाह्य से जब पवन सम्पर्क हो, (जो निरन्तर होता रहता है) तब जान लो कि चहुं ओर से आपको भगवान ने घेर रखा है।

ख) '**शस्त्रधारियों में मैं राम हूं**'।

भगवान राम, जो नित्य धनुर्धारी हैं, भगवान कृष्ण उनसे भी अपनी तद्रूपता और एकत्व बता रहे हैं और कहते हैं कि 'राम भी मैं ही हूं।' यानि मर्यादा पुरुष पुरुषोत्तम राम भी, कृष्ण आप ही हैं।

ग) भगवान कहते हैं '**मछलियों में मैं मगरमच्छ हूं।**'

१. मगरमच्छ मछलियों में सबसे बड़ा है।
२. मगरमच्छ मछलियों का राजा माना जाता है।
३. मगरमच्छ मछलियों में सबसे बड़ा मछलियों का भक्षी है।
४. यहां 'जलचर' केवल मछलियों को कह रहे हैं।
५. मगरमच्छ इनमें सबसे ज़ालिम होता है।

भगवान कहते हैं, मगरमच्छ वह स्वयं आप ही हैं।

घ) अब भगवान कहते हैं कि **नदियों में वह गंगा हैं।**

१. गंगा का जल नित्य निर्मल रहता है। वह बहुत देर तक पड़ा रहने से भी ख़राब नहीं होता।
२. गंगा पावनता की ही प्रतीक है।
३. गंगा, ज्ञान का प्रतीक मानी जाती है। भगवान कहते हैं, 'यह गंगा मैं ही हूं।'

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

अब भगवान कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूं,
२. विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं ही हूं,
३. (और) विवाद करने वालों का, वाद मैं ही हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान ने इसी अध्याय के बीसवें श्लोक में कहा था कि 'भूतों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूं' यहां कह रहे हैं कि 'सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूं। सम्पूर्ण जड़, चेतन सृष्टि मैं ही हूं और सम्पूर्ण प्रकृति की रचना भी मैं ही हूं। इस सम्पूर्ण रचना का आदि, स्थिति तथा लय स्थान मैं ही हूं।'

ख) भगवान कह रहे हैं कि **'सम्पूर्ण विद्याओं में मैं अध्यात्म विद्या हूं।'**

अध्यात्म विद्या :

१. आत्म अनात्म विवेक है।
२. जड़ चेतन विवेक है।
३. जीव को आत्मवान् बना देती है।
४. जीव को भगवान बना सकती है।
५. जीव को स्वरूप स्थित करवा सकती है।
६. जीव को नित्य आनन्द पूर्ण स्थिति दिला सकती है।

इसे जानकर कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। सो भगवान कहते हैं, 'विद्याओं का राजा, अध्यात्म विद्या मैं ही हूं।'

ग) **'विवाद करने वालों का वाद मैं ही हूं।'**

१. वाद, ध्वनि को कहते हैं।
२. वाद, केवल सत्त्व को जानने के लिए किये जाने वाले विचार विमर्श को कहते हैं।
३. वाद, केवल सत्य को जानने के लिए किये जाने वाले तर्क वितर्क को कहते हैं।
४. वाद, केवल सत्त्व को जानने के लिए किये जाने वाले परिप्रश्न को कहते हैं।
५. वाद, न्याययुक्त वाद विवाद को कहते हैं। भगवान कहते हैं, 'यह वाद मैं ही हूं।'

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अक्षरों में मैं अकार हूं,
२. और समासों के मध्य में मैं 'द्वन्द्व' हूं,
३. मैं ही अक्षय काल हूं,
४. मैं ही सब ओर मुख वाला धाता हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं, '**मैं ही अक्षरों में अकार हूं**',

१. यानि वर्णमाला में मैं 'अ' वर्ण हूं।
२. सम्पूर्ण वर्ण रूप अक्षरों में मैं निहित रहने वाला 'अ' वर्ण हूं।
३. अक्षरों में 'अ' ही सबसे श्रेष्ठ तथा अनिवार्य वर्ण माना जाता है।
भगवान कहते हैं, 'वह मैं ही हूं।'

ख) **समासों के मध्य में द्वन्द्व** भगवान ही हैं।

१. दो शब्दों के मिलकर एक होने को समास कहते हैं।
२. द्वन्द्व, दो विरोधी अवस्थाओं को संकेत करने वाले शब्दों का मिलन है।
३. द्वन्द्व, दो विपरीत गुणों का जोड़ा है।
४. द्वन्द्व, दो विरोधात्मक भावों को जन्म देने वाले होते हैं।
भगवान कहते हैं– 'यह द्वन्द्व मैं हूं।'

नन्हीं! जब द्वन्द्व मन में उठे तो घबराना मत; यूं मानना कि भगवान ही दोनों रूप धरकर तुम्हारी परीक्षा ले रहे हैं।

ग) भगवान कहते हैं, '**अक्षय काल मैं हूं।**'

१. 'मैं ही सबको मृत्यु देने वाला, किन्तु स्वयं कभी क्षय न होने वाला काल हूं।
२. पूर्ण जहान को मृत्यु देने वाला मैं ही हूं।
३. जड़ चेतन सब काल ग्रसित होते हैं; उन सबको ग्रसने वाला मैं ही हूं।'

घ) फिर भगवान कहते हैं, कि '**सब ओर मुख वाला धाता मैं ही हूं।**' यानि, 'सब ओर मुख करके देखने वाला,

१. सम्पूर्ण जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल देने वाला मैं ही हूं।
२. विधान को रचने वाला मैं ही हूं।
३. और धारण करने वाला मैं ही हूं।'

देख नन्हीं! यह सब कुछ बताकर मानो भगवान अर्जुन को मना रहे हैं कि 'जो कुछ भी है, परमात्मा ही है।' मानो उसे कह रहे हैं, 'यदि तू तनत्व भाव छोड़कर आत्मा में आत्मा हो जाये, तब तू भी:

१. मेरी कथनी का राज़ समझ सकेगा।
२. ज्यों मैं सब कुछ हूं, वैसे ही अनुभव कर सकेगा।

३. अपनी व्यक्तिगतता छोड़कर समष्टि के तद्रूप हो सकेगा।'

नन्हीं! इस स्थिति पर पहुंचाने के लिये भगवान मानो अर्जुन के जीवन के हर पहलू में, जो कुछ भी उसके सम्पर्क में आ सकता है, उसे वह अपना आप कह रहे हैं, ताकि अर्जुन अपनी छोटी सी व्यक्तिगतता को भूल कर भगवान की विशालता में खो जाये और हर भाव, गुण, स्थूल विषय में भगवान को याद रखे।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. सबको हरने वाला मृत्यु मैं हूं,

२. और आगे होने वालों की उत्पत्ति मैं हूं,

३. नारियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) अब भगवान कहते हैं कि, 'सबको हरने वाला 'मृत्यु' मैं हूं। अर्थात् समष्टि या सामूहिक मृत्यु का कारण भी मैं ही हूं। व्यक्तिगत प्राणों का हरण करने का कारण भी मैं ही हूं।'

ख) आगे होने वालों में 'उद्भव' भगवान कहते हैं, कि वह ही हैं।

- 'होने वालों' का उत्पत्ति स्थान भगवान स्वयं हैं।
- जन्म का मूल भी वह आप ही हैं।
- भगवान ही प्राणों को तन से जोड़ते हैं।
- भगवान ही सम्पूर्ण उत्पत्ति का कारण हैं।

ग) फिर भगवान कहते हैं कि नारियों में जो सहज गुण होते हैं, वे सम्पूर्ण गुण भगवान आप हैं।

वे गुण बताते हुए भगवान कहते हैं कि ये सब वह आप ही हैं।

१. 'कीर्ति'-चहुं ओर गुण और धर्म की प्रख्याति को कहते हैं।
२. 'श्री'-आभा, उज्जवल नाम तथा समृद्धि को कहते हैं।
३. 'वाक्'-प्रकाश करने वाली वाणी, चैन देने वाली वाणी तथा मृदुल तथा प्रेम पूर्ण वाणी को कहते हैं।
४. 'स्मृति'-बीते हुए अनुभवों की याद को कहते हैं।
५. 'मेधा'-वह बुद्धि है जो ज्ञान को जीवन में धारण करती है
६. 'धृति'-साहस, सहिष्णुता और संयम को कहते हैं।
७. 'क्षमा'-किसी के अपराध और अवगुण को चित्त में न धरने को कहते हैं।

भगवान कहते हैं 'स्त्री के ये सातों गुण मैं ही हूं।'

नन्हीं! ये गुण ही नहीं, सम्पूर्ण सद् गुण जहां देखो वहीं पर सीस झुका दो, वे गुण भगवान आप ही हैं। जिस तन राही गुण बहते हैं, वहां से मानो भगवान ही बह रहे हैं।

ध्यान रहे नन्हीं! जिस नारी में ये गुण नित्य सुसज्जित हैं, उसे कोई और श्रृंगार करने की क्या ज़रूरत है ?

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. सामों में मैं बृहत्साम हूं,
२. छन्दों में मैं गायत्री हूं,
३. मासों में मैं मार्गशीर्ष मास हूं,
४. ऋतुओं में मैं बसन्त ऋतु हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) नन्हीं! भगवान कहते हैं, 'सामों में मैं **बृहत्साम** हूं। इसी अध्याय के बीसवें श्लोक में भगवान ने कहा कि 'मैं वेदों में सामवेद हूं।'
अब कह रहे हैं कि 'सामवेद में मैं बृहत्साम हूं।' 'बृहत्साम' में सबको ईश्वर रूप मानकर, इन्द्र की स्तुति गायी हुई है।

ख) छन्दों में भगवान अपने आपको **'गायत्री छन्द'** कहते हैं।
गायत्री मंत्र में भगवान से बुद्धि की याचना की गई है, जिससे जीव प्रकाश तथा आत्मा की ओर बढ़ सके। गायत्री मंत्र पर ध्यान लगाने से बुद्धि पावन होती है। वेदों में यह सर्वोच्च मन्त्र माना जाता है और भगवान कहते हैं, 'यह मैं ही हूं।'

ग) भगवान ने कहा **'मासों में मैं मार्गशीर्ष मास हूं।'**
मार्गशीर्ष मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर के महीने को कहते हैं। यह वह मास है जब न अति गर्मी होती है, न अति सर्दी होती है। भगवान कहते हैं– 'यह मार्गशीर्ष महीना मैं ही हूं।'

घ) ऋतुओं में भगवान अपने आपको **'बसन्त ऋतु'** बताते हैं।
बसन्त ऋतु में चहुं ओर हरियाली होती है। बसन्त ऋतु सुन्दरता तथा मानो प्रकृति के श्रृंगार का समय होता है। यह सौम्य ऋतु भगवान स्वयं हैं।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

देख नन्हीं! अब भगवान क्या कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. छल करने वालों में मैं जुआ हूं,
२. तेजस्वियों का मैं तेज हूं,
३. विजय मैं हूं,
४. निश्चय मैं हूं,
५. सात्त्विक पुरुषों का सात्त्विक भाव मैं हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं, '**छल करने वालों में जुआ मैं ही हूं।**'

नन्हीं! भगवान पूर्ण हैं। संसार में जो भी हो रहा है, भगवान कहते हैं सब वह ही हैं। उस पूर्णता में बुरे या भले सब आ जाते हैं।

१. भगवान ने कहा कि 'ज्ञानीजन ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते, या चाण्डाल, सबको ही सम भाव से देखते हैं।' (५/१८)
२. फिर भगवान ने कहा कि 'बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान्, सब वासुदेव ही हैं, इस भाव से मेरे को भजता है।' (७/१९)
३. फिर कहा कि, 'सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूं।' (१०/२०)

नन्हीं! सम्पूर्ण भूतों में दुष्ट और संत सभी आ जाते हैं। या पूर्ण भगवान हैं, या केवल सद्गुण पूर्ण लोगों में ही भगवान हैं। या तीनों गुण ही भगवान हैं, या केवल सतोगुण ही भगवान है। भगवान को सीमित नहीं कर सकते, वह तो पूर्ण स्वयं ही हैं। इस दृष्टिकोण से समझ सको तो जान लो कि जुआ भी भगवान ही हैं।

ख) भगवान ने कहा, '**तेजस्वियों का तेज भी मैं ही हूं।**'

यानि :

१. तेजस्वियों का वैभव,
२. तेजस्वियों की ज्योति,
३. तेजस्वियों का आत्मबल,

ये सब भगवान स्वयं ही हैं।

ग) भगवान ने कहा, '**विजय पाने वालों की विजय मैं ही हूं।**'

यानि, जिसे भी विजय, जहां भी मिले, वह विजय भगवान ही हैं।

घ) भगवान कहते हैं, '**निश्चय भी मैं ही हूं।**'

जिसका भी जैसा भी निश्चय हो, भगवान ही उसका निश्चय होते हैं।

ङ) भगवान कहते हैं, '**सात्त्विक लोगों का सत्त्व मैं हूं।**'

यानि, सात्त्विक लोगों में सत् गुण भगवान आप हैं।

नन्हीं! भगवान जीव का अभ्यास करवा रहे हैं कि 'जो है वासुदेव ही है', वह ऐसा मान ले और उसका संसार के प्रति पूज्य भाव हो जाये। तब उसके लिये संसार में राग और द्वेष से रहित होकर जीवन व्यतीत करना आसान हो जायेगा और वह अपने आपको भी भगवान की घड़ित मूर्ति ही मान सकेगा। और नन्हीं! स्वयं भी भगवान के नित्य साक्षित्व में रहता हुआ वह वही करेगा, जो वह भगवान के सामने कर सकता है।

सम्पूर्ण जहान के लोग मानो उसके लिये नित्य परीक्षा रूप बन जायेंगे। उनके साथ भी वह वही करेगा, जो वह भगवान के साक्षित्व में कर सकता है। तब शनैः शनैः वह भगवान जैसा ही हो जायेगा।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. **वृष्णी वंशियों में मैं वासुदेव हूं,**
२. **पाण्डवों में मैं धनंजय हूं,**
३. **मुनियों में मैं व्यास हूं,**
४. **कवियों में शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूं।**

तत्त्व विस्तार :

क) देख नन्हीं! यहां भगवान कहते हैं, **'यादवों में मैं वासुदेव हूं।'**

ज्यों वह अन्य भूतों में एक रूपता स्थापित कर रहे हैं, वैसे ही अपने तन को भी पूर्ण सृष्टि का अंश जानते हुए, उससे भी एकत्व स्थापित करते हैं। नन्हीं! यदि और सब कुछ भगवान हैं तो क्या उनका तन ही उनका नहीं? ऐसा नहीं हो सकता! पूर्ण की पूर्णता में भगवान का दृष्ट मात्र तन भी तो है। समझना तो यह है, कि वह इस तन के प्रति कितनी उदासीन दृष्टि रखते होंगे जो उन्होंने कहा कि 'यादवों में मैं वासुदेव हूं।'

ख) फिर भगवान अर्जुन को कहते हैं, 'हे **अर्जुन! तू भी तो मैं ही हूं।**' इस समय भगवान,

१. अर्जुन के तद्रूप होकर ही तो समझा रहे हैं।
२. अर्जुन के स्तर पर जाकर ही तो उसे समझा रहे हैं।
३. अर्जुन के स्तर पर जाकर ही तो उसकी बुद्धि को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।
४. अर्जुन का अभ्यास करवाने के लिए ही तो अपनी विभूतियों, तथा पूर्णता के बारे में बार बार कह रहे हैं।

अर्जुन इस समय मोह ग्रसित तथा रण से भाग जाने वाली वृत्ति से ग्रसित हुए,

कायरों जैसी बातें कर रहे थे। तब भी भगवान ने कहा कि, 'हे अर्जुन! तू भी मैं ही हूं।'

भगवान ने यहां अर्जुन को 'धनंजय' कहा, यानि, धन को जीतने वाला कहा। भगवान ने अपने लिए कभी धन जीतने की कोशिश नहीं की। फिर भी क्योंकि अर्जुन धन तथा राज्य जीतना चाह रहे थे, वे उनके साथ अपना एकत्व दर्शा रहे हैं और अर्जुन को विजय के पथ पर ले जा रहे हैं। जीवन में अद्वैत का यही रूप है।

ग) अब भगवान कहते हैं कि '**मुनियों में मैं व्यास हूं।**' वेद व्यास शास्त्रज्ञ, वेदों को जानने वाले, 'महाभारत' और 'श्रीमद्भागवत' ग्रन्थ के रचयिता और अनेकों धर्म शास्त्रों का संसार के लिये निरूपण करने वाले थे। इस गीता को भी लेखनी बद्ध करने वाले वही थे।

भगवान ने कहा- 'अर्जुन! वह व्यास भी मैं ही हूं।'

घ) भगवान कहते हैं कि '**उशना कवि भी मैं ही हूं।**'

'उशन' का अर्थ प्रथम समझ ले। 'उशन' भृगु पुत्र शुक्राचार्य को कहते हैं।

शुक्राचार्य महा विद्वान तथा वैदिक साहित्य में कवि कहलाते हैं। भगवान कहते हैं 'वह शुक्राचार्य भी मैं ही हूं।'

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

अब भगवान कहते हैं,

शब्दार्थ :

१. दण्ड देने वालों का मैं दण्ड हूं,
२. जीतने की इच्छा रखने वालों की मैं नीति हूं,
३. गोपनीयता तथा गुह्यता में मैं मौन हूं,
४. ज्ञान वालों का ज्ञान मैं ही हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान कहते हैं कि, '**दण्ड देने वालों का दण्ड मैं ही हूं।**'

'जो भी दण्ड, कोई किसी को देता है, वह दण्ड भी मैं ही हूं। हर सज़ा भगवान ही हैं, यह वह कह रहे हैं।

ख) '**विजय चाहने वालों में नीति भी भगवान हैं।**' यानि :

१. विजय अभिलाषी गण विजय को पाने के लिये जो नीति वर्तते हैं, वह नीति भी भगवान ही हैं।
२. किसी चीज़ को पाने के लिये जो युक्ति या तरीका अपनाया जाये, उसे नीति कहते हैं।
३. किसी पर विजय पाने के लिये विजय

प्राप्ति का साधन ही नीति है।
४. नीति द्वारा अनेक बार शत्रुओं को धोखे में डाल दिया जाता है।
५. नीति में अनेक बार देखने में कुछ और दिखता है और वास्तविकता कुछ और होती है।

भगवान कहते हैं, 'यह नीति भी मैं ही हूं।'

ग) **'गुह्य बातों में मौन भगवान ही हैं।'**
यानि, जो छुपाने वाली बात होती है, उसे छुपाते हुए जो मौन धारण करते हैं, वह मौन भगवान ही हैं। हर जीव में जो छुपाव है, भगवान कहते हैं कि वह छुपाव वह आप हैं।

घ) **'ज्ञानवान् लोगों का ज्ञान भी मैं ही हूं।'**
जितना भी ज्ञान ज्ञानीगण के पास है, भगवान कहते हैं, कि वह ज्ञान भगवान ही हैं। जो भी सत् असत् विवेक ज्ञानवान् के पास होता है, या जो भी आत्मज्ञान ज्ञानियों के पास होता है, वह ज्ञान और आत्मज्ञान भी भगवान आप ही हैं।

नन्हीं! इस सब से यह समझ ले कि भगवान कह रहे हैं, सूक्ष्म तथा स्थूल जो भी है, वह आप हैं।

१. जो मूर्तिमान हो चुका है, वह भी वह आप हैं।
२. जो मूर्तिमान नहीं है, वह भी आप हैं।
३. सूक्ष्म में, मन बुद्धि में जो है, यह भी भगवान का है।
४. भूतों के कार्य कर्म भी वह आप है।
५. संसार में कुछ भी नहीं जो वह आप नहीं हैं।

नन्हीं! आप चाहे गुणों को अपना लें, अपने तन अपनी बुद्धि को अपना लें, किन्तु भगवान कहते हैं, 'भाई! यह सब मैं ही हूं। यह गुण सम्पूर्ण मेरे हैं, आगे तुम्हारी मर्ज़ी, तुम मानो या न मानो।' यह भी समझ लो, यदि तुम भगवान की बात मान लो, तो तुम कामना और आसक्ति रहित हो जाओगी।

१. तुम्हारी चेतना रूपा शक्ति विभूति मात्र हो जायेगी।
२. तुम्हारा हर कर्म परम का कर्म हो जायेगा।
३. तुम्हारी यह बुद्धि स्थित प्रज्ञता पूर्ण हो जायेगी।
४. तुम्हारा ज्ञान भी दिव्य हो जायेगा।
५. तुम आत्मवान् बन ही जाओगी और तुम्हारा तन दिव्य हो जायेगा।

क्योंकि तुम अहं पूर्ण 'मैं' के रहित हो जाओगी, तब तुम्हारा एक तन नहीं रहेगा, पूर्ण ही तुम्हारे हो जायेंगे। तुम्हारा एक अलौकिक दिव्य रूप रह जायेगा, जिसे जहान 'भगवान' कहता है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. **और हे अर्जुन!**
२. **जो भी सब भूतों का कारण है, वह मैं ही हूं,**
३. **कोई भी चर अचर मेरे से रहित नहीं है।**

तत्त्व विस्तार :

देखो मेरी जान कमला!

१. त्रिगुणात्मिका शक्ति परम की शक्ति है।
२. संसार में जो भी है, त्रिगुणात्मिका ही है।
३. त्रैगुण ही भगवान की प्रकृति के आसरे सम्पूर्ण संसार रचते हैं।
४. चर अचर, जड़ जंगम, सब इसी में आ जाते हैं।
५. त्रिगुणात्मिका शक्ति सबको त्रैगुणपूर्ण ही रचती है।
६. आत्म की सत्ता में आत्म से चेतना पाकर ही रचती है।
७. जीव को भगवान ने बुद्धि और मन दे रखा है।
८. जीव को भगवान ने साथ अहंकार भी दिया, जो केवल सम्बोधन मात्र था।
९. जीव ने मन और बुद्धि को तन के तद्रूप कर दिया।
१०. यानि, चेतन अंश जड़ के तद्रूप हुआ और उसके आश्रित हो गया।

यानि, चेतन अंश, जड़ अंश तनो गुण पे इतराने लगा और तनो गुण गुमानी हो गया।

यह संग ही दिव्य को लौकिक बनाता है, वरना तुम भी केवल शुद्ध परम विभूति ही हो। तात्पर्य यह है कि :

१. यदि चेतन अंश आत्म के तद्रूप हो तो सब कुछ दिव्य होता है।
२. गुण तो सम्पूर्ण ही जो कहे हैं, दिव्य ही हैं, जीव के अहंकार के कारण वे आसुरी बन गये हैं।

किन्तु नन्हीं! यह सब जो कहा, तुम्हारी आन्तरिक अहं को मिटाने के लिये कहा। भगवान तो कह रहे हैं कि बुरे, अच्छे, दुष्ट, साधु, सन्त, सब वह आप ही हैं। तुम्हें इस सत्यता का भान ही तब होगा जब तुम स्वयं अपने मिथ्या आरोपित अहं को मिटाओगे और तनो तद्रूपता छोड़ दोगे।

नन्हीं! जड़ बुद्धि में जब चेतन अंश मिला तो बुद्धि में जागृति हुई। उस बुद्धि ने भूले से देह से संग कर लिया, वह देहात्म बुद्धि हो गई। इस देहात्म बुद्धि ने अपने तन को 'मैं' कहना आरम्भ कर दिया और मानो अपनी दिव्यता को गंवा दिया।

यदि यह बुद्धि देहात्म न बन कर परम आत्म के तद्रूप रहती, जहां से यह अपनी सत्ता पाई थी, तो:

१. आप जीवन में नित्य आनन्द में रहते।
२. आप जीवन में नित्य निसंग ही रहते।
३. तब आप नित्य स्वरूप स्थित ही रहते।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

अब भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

हे अर्जुन!

१. मेरी दिव्य विभूतियों का तो कोई अन्त नहीं,

२. परन्तु(तेरे पूछने पर)मैंने विभूतियों का यह विस्तार, तेरे लिए संक्षेप से कहा।

३. जो जो भी विभूति युक्त, श्रीयुक्त, और शक्तियुक्त है,

४. उसे तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जान।

तत्त्व विस्तार :

सुन कमला!

भगवान यहां यही तो कह रहे हैं, यह सामर्थ्य जो तुझमें है,

१. यह मुझसे ही उत्पन्न हुई है।
२. यह मेरी ही है।
३. यह मैं ही हूं।

फिर तू अहंकार क्यों करती है? तुझे गुमान क्यों ? तू क्यों इन्हें अपना कहती है ? इन्हें अपनाना छोड़ दे। इनसे जो तेरा मिथ्या संग है, वह छोड़ दे।

पहले कह रहे थे,'स्थूल विषयों से संग छोड़ दे।' अब कह रहे हैं 'अपने मन से संग छोड़ दे, अपनी शक्ति से संग छोड़ दे।' शक्ति के परिणाम में जो मिले उससे भी संग छोड़ दे। अपने गुणों से संग छोड़ दे। दूसरों में भी जो शक्तियां हैं, उनसे राग या द्वेष छोड़ दे।

सब भगवान की देन है, सब आत्म तत्त्व ही है, यह जानकर सबमें भगवान के दर्शन कर। सबको भगवान जानकर उनमें ध्यान लगा।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

सुनो मेरी प्रिय सखी!भगवान क्या कहते हैं!

शब्दार्थ :

१. जितना तूने जान लिया, इसके अतिरिक्त और बहुत कुछ जानने से तुझे क्या?

२. बस इतना समझ और जान ले,

३. कि यह पूर्ण जग मैं अपने एक अंश से धारण करता हूं।

तत्त्व विस्तार :

यहां देख भगवान क्या कहते हैं! यह पूर्ण दृष्ट जहान जो तुम देख रहे हो,

१. वह केवल मेरा वैश्वानर रूप है।
२. वह केवल मेरा एक पाद है।
३. वह केवल मेरा स्थूल रूप है।
४. वह केवल मेरा दृष्ट रूप है।

तू इतना ही जान ले कि :

क) यह संसार मेरा ही है और मैं ही हूं।
ख) यह संसार मैंने ही रचा है।
ग) यह संसार मैंने ही धारण किया हुआ है।
घ) इसका भरण पोषण मैं स्वयं करता हूं।
ङ) इसमें हर शक्ति मेरी ही दी हुई है।
च) हर काज कर्म मेरे ही नियम से बंधे हुए हैं।
छ) किसी के हाथ कुछ नहीं है।
ज) गुण गुणों में वर्त रहे हैं।
झ) सब स्वत: ही हो रहा है।

नन्हीं! भगवान की यह सम्पूर्ण बातें सुनकर यदि इन्हें सच मान लिया जाये तो:

१. इन्सान अपने आपको कर्त्ता नहीं मानेगा।
२. जीव तनत्व भाव छोड़ ही देगा।
३. जीव ममत्व भाव छोड़ ही देगा।
४. जीव दूसरों पर से अपना अधिकार छोड़ ही देगा।
५. जीव मिथ्या आसक्ति छोड़ ही देगा।
६. जीव अपने आप से राग छोड़ ही देगा।
७. जब भगवान स्वयं दुष्ट, दुराचारी तथा साधु सन्त, दोनों को 'अपना आप' कहते हैं तो जीव का द्वेष ख़त्म हो ही जायेगा।

नन्हीं!

क) भगवान सबको मानो आत्म रूप स्पष्ट कह रहे हैं।
ख) भगवान सबके साथ तद्रूप हो रहे हैं।
ग) भगवान सबके साथ अद्वैत में वर्त रहे हैं।
घ) किन्तु भगवान को किसी से भी संग नहीं है।
ङ) भगवान को अपने तन से भी संग नहीं है।
च) भगवान को अपने या किसी अन्य के गुणों से भी संग नहीं है।

जैसे कोई भगवान को भजता है, भगवान उसको वैसे ही भजते हैं। जैसे किसी की श्रद्धा होती है, भगवान उसकी श्रद्धा को दृढ़ करते हुए, उसे वही देते हैं, जो उसकी मांग हो। किन्तु दूसरे के साथ तद्रूपता रखते हुए भी भगवान का किसी से संग नहीं है। वह नित्य निरासक्त हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन भगवान से कहने लगे, हे भगवान!

शब्दार्थ :

१. मुझ पर अनुग्रह करने के लिए,
२. आपके द्वारा जो परम रहस्यपूर्ण अध्यात्म विषयक उपदेश कहा गया है,
३. उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है।

तत्त्व विस्तार :

आत्मप्रिय कमला सुन! अर्जुन भगवान से कहने लगे :

क) आपकी अनुकम्पा और अतिशय कृपा से आपसे जो गुह्य ज्ञान सुना, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है।
ख) आपके भक्त वात्सल्य और करुणा से मेरा मोह नष्ट हो गया है।
ग) आपने मुझ पर जो दया की है, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया है।
घ) आपने जो अतीव गुह्य अध्यात्म तत्त्व और सत्त्व समझाया है, उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है। अब मैंने जान लिया है कि,

१. सब आप ही हैं।
२. यह सृष्टि रचना आपकी है।
३. पूर्ण रचनात्मक शक्ति पति आप ही हो।
४. कर्म चक्र के आधार आप ही हो।
५. जीव भूत रचयिता और पालन कर्त्ता आप ही हो।
६. जीव भूत धर्ता और पोषण कर्त्ता आप ही हो।
७. जीव भूत में हर अंग आपकी जड़ प्रकृति ही है।
८. जीव भूत में हर चेतना आपकी शक्ति ही तो है।
९. जीव भूत में मन बुद्धि आपकी रचना ही तो है।
१०. जीव भूत में हर भाव भावना आपकी स्फुरणा से ही तो है।
११. क्रिया कर्म जो जीव करते हैं, वह कर्म आपसे ही प्रेरित होते हैं।
१२. सूक्ष्म में हर श्रेष्ठ भाव, आपकी ही विभूति है।

क्यों न कहूं, बिन अहंकार सब आपकी ही विभूति है। कहां संग करूं, किसे अपना कहूं, जब सब आप ही हो ? मेरा तो कोई व्यक्तित्व ही नहीं रहा। स्थूल सूक्ष्म सब आपके हो गये। जब मैं ही

आपका हो गया तो बाकी क्या रह गया ? नाम रूप मोरा नहीं रहा, सब तुम्हारा हो गया। अहंकार ने तन छोड़ दिया, जब तन तुम्हारा हो गया।

अहंकार का भाव ही मोह था जो तनो तद्रूपता के कारण हुआ था, मोह का पर्दा ही अज्ञान का अंधियारा था, वह गया तो उजियारा हो गया।

'मैं' ने जाना, कारण सबका आप ही हो, 'कारण' से ही सब उभर पड़ा है। आप से ही यह स्थूल तन उभरा है जिसे मैं अपनाता रहा हूं। यह जानकर मेरा अहंकार टूट गया है।

अहंकार नित्य मानता था, 'जो किया, मैंने किया, मैंने यह जग रच दिया है; मैं श्रेष्ठ हूं, मैं निपुण, चतुर, बलवान् हूं!' आज यह जानकर कि 'तन मेरा नहीं, तुम्हारा है,' मेरा तन से मोह नष्ट हो गया है।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

अर्जुन ने भगवान से कहा, 'मेरा मोह नष्ट हो गया है', क्योंकि,

शब्दार्थ :

१. हे कमलनयन भगवान!
२. मैंने आपसे भूतों की उत्पत्ति, लय और आपके अत्यन्त महात्म्य को भी निःसन्देह विस्तार पूर्वक सुना है,
३. आप जैसा कहते हो, वैसे ही आप परम पुरुष हो,
४. मैं आपका ऐश्वर्य पूर्ण रूप देखना चाहता हूं।

तत्त्व विस्तार :

हे भगवान! जो आपने अभी तक कहा,

क) उसको मैं अक्षरशः सत्य मानता हूं।
ख) आप पूर्ण हैं, यह भी मानता हूं।
ग) आप दिव्य हैं, यह भी मानता हूं।
घ) आप निराकार हैं, यह भी मानता हूं।

पर मुझे ऐसे दिव्य दर्शन दें जिससे मैं :

१. आपको उस पूर्णता के रूप में देख सकूं।
२. आपको उस विराट रूप में देख सकूं।
३. आपको उस पूर्ण समष्टि रूप में देख सकूं।
४. आपकी पूर्णता का अनुमान सहज में लगा सकूं।

आपकी विभूतियों को मैंने जान लिया है। आपकी सृष्टि को मैंने जान लिया है। आपकी त्रिगुणमयी माया को मैंने जान लिया है। सब आप ही करते हैं, यह भी जान लिया है मैंने।

यह सब आपमें कैसे होता है, अब मैं यह देखना चाहता हूं।

१. यह उत्पत्ति और लय आपमें कैसे होती है, यह मैं देखना चाहता हूं।
२. यह सम्पूर्ण गुण वाले भूत आपमें कैसे समाते हैं, यह मैं देखना चाहता हूं।
३. आप परम पुरुष पुरुषोत्तम हैं, आपके ईश्वर रूप के मैं दर्शन करना चाहता हूं।

यानि, जैसे आपने अपने रूप का वर्णन किया है, उसे मैं पूर्णतय: देखना चाहता हूं, मैं यह देखना चाहता हूं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि आपमें कैसे समाई हुई है ?

आप अपने विराट रूप को मुझे दर्शाईये।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

नन्हीं! अब अर्जुन अतीव विनीत भाव से भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे अखिल पति प्रभु!

शब्दार्थ :

१. यदि आप ऐसा समझते हैं कि मेरे द्वारा (वह रूप) देखा जाना सम्भव है,
२. तब हे योगेश्वर! आप मुझे अपना अविनाशी रूप दिखाईये।

तत्त्व विस्तार :

यानि, कुछ डरते डरते, कुछ हिम्मत से, अर्जुन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि :

१. हे प्रभु! यदि आप मुझे पात्र समझो तो अपने विराट रूप के दर्शन दो।
२. हे भगवान! मैं पात्र हूं या पात्र नहीं, यह भी तो आप ही जानते हैं।
३. हे भगवान! आप ही ने तो मेरी अपात्रता न देखते हुए मुझे इतना गुह्य अध्यात्म ज्ञान समझाया है।
४. हे भगवान! आप जो कुछ भी कहते आये हैं, उसे मैं पूर्णतय: सत् मानता हूं।
५. आपके मुखारविन्द से सब कुछ सुन कर मुझे आपकी अखिल रूपता कुछ कुछ समझ आने लगी है।
६. आप अखण्ड, अविभाजनीय परम अक्षर तत्त्व हैं और आप स्वयं कैसे विभाजित से हो जाते हैं, अब कुछ कुछ समझ में आया है।
७. आप निराकार हैं परन्तु अखिल आकार स्वयं हैं, अब कुछ कुछ समझने लगा हूं।
८. आत्मा के दृष्टिकोण से पूर्ण सृष्टि की दृष्ट भिन्नता में एकत्व समझ पाया हूं।
९. हे भगवान! आपकी इतनी अपार कृपा,

करुणा, उदारता के कारण ही मैं वह सब समझ सका हूं जो आपने समझाया है।

१०. इस पल हृदय में तीव्र चाहना उठी है कि मैं किसी विधि आप में आपका विराट रूप देख लूं।

११. अब आप यदि मुझे पात्र समझो तो अपना अविनाशी रूप दिखा दीजिये।

कृष्ण योगेश्वर कैसे ?

अर्जुन कहते हैं, 'हे प्रभु! आप योगेश्वर हो, यानि, आप योग के ईश्वर हो, यह मैंने जान लिया है।'

नन्हीं ज़रा ध्यान से सुन! जीवों का आत्म तत्त्व से योग नहीं हो रहा। महा श्रेष्ठ साधक भी आत्मा के साथ योग करने में असफल हो जाते हैं और नित्य अभ्यास करने वाले भी अपने ही स्वरूप से योग नहीं कर पाते।

जीव जानता है कि अपनी आत्मा में स्थित होकर ही,

क) वह नित्य आनन्द स्वरूप हो सकता है।
ख) वह मृत्यु से बचकर अमरत्व पा सकता है।
ग) वह जन्म मरण के चक्र से छूट सकता है।
घ) जिन मनो विकारों के कारण वह नित्य विचलित होता है, उनसे भी नजात पा सकता है।
ङ) वह निर्द्वन्द्व तथा मोह रहित हो सकता है।
च) वह नित्य गुणातीत की स्थिति को पा सकता है, इत्यादि।

यह सब कुछ जानते हुए भी जीव,

१. अपने ही आत्मा में विलीन नहीं होता।
२. अपने ही आत्मा में एक रूप नहीं होता।
३. अपने ही आत्मा में योग स्थित नहीं होता।

नन्हीं! उस परम पुरुष पुरुषोत्तम योगेश्वर को देख!

१. वह इस सृष्टि से पूर्ण योग किए हुए हैं।
२. वह संसार के सब जीवों से भी योग किए हुए हैं।
३. वह संसार के जड़ तथा चेतन विषयों से भी योग किये हुए हैं।
४. वह संसार के दुर्गुण या सद्गुण से भी योग किए हुए हैं।

उनकी योग शक्ति देख! वह तो कुटिल, अत्याचारी, विष पूर्ण, साधु सन्त, ऋषिगण, सबके साथ एकत्व भाव में स्थित हैं।

ज़रा ध्यान से देख! वह कहां आकर एक रूप हो गये! जीव भगवान के साथ ही योग नहीं कर सकते।

देख नन्हीं! ऐसे लगता है कि इन्सान की किस्मत में तो भगवान हैं और भगवान की किस्मत में भगवान से ही विमुख हुए इन्सान हैं। भगवान को उनकी इस योग शक्ति के कारण योगेश्वर कहते हैं। भगवान अर्जुन को 'अपना आप' कह रहे हैं किन्तु अर्जुन भगवान के न बन सके। भगवान सबके तद्रूप होकर उनके काज करते हैं परन्तु भगवान के तद्रूप करोड़ों में से कोई

एक होता है।

नन्हीं! यदि भगवान से योग करना है तो जीवन में भगवान के इस गुण का अभ्यास करो। यदि यह अभ्यास आपने आरम्भ कर ही दिया तो,

क) आप निष्काम भाव में स्थित हो ही जायेंगे।
ख) आपके काम्य कर्म छूट ही जायेंगे।
ग) आप शनैः शनैः अपने आप को भूल ही जायेंगे।
घ) आप शनैः शनैः अपने आत्म तत्त्व में स्थित हो ही जायेंगे।

अर्जुन इस तत्त्व को थोड़ा थोड़ा जान गये थे। इसी कारण उनका मोह नष्ट हो गया था। किन्तु अब थोड़ी सी चाहना और उठी कि जो भगवान का विराट रूप है, उसे भी देख लूं।

विराट रूप दर्शन के लिये अनिवार्य दृष्टि परिचय :

नन्हीं! अभी तक भगवान अपने आपको सबके तद्‌रूप करके एकत्व दर्शा रहे थे! अब वह दर्शाने लगे हैं कि सब उन्हीं में हैं। इसे यूं कह लो कि पहले भगवान ने कहा 'सब मैं ही हूं', और 'सब में मैं हूं'। अब वह सविस्तार बताने लगे हैं कि 'सब मुझी में है!'

भगवान की कृपा से परम दृष्टिकोण का विवरण :

१. नन्हीं! भगवान कृष्ण की कृपा से मानो अक्षर ब्रह्म अपने ही दृष्टिकोण से यह सम्पूर्ण ज्ञान स्वयं दे रहे हैं।
२. मनो मौन स्वरूप आत्म तत्त्व, जीवों की भाषा का आसरा लेकर अपने ही रूप तथा स्वरूप को समझा रहे हैं।
३. परमात्मा, जो दृष्टिकोण से परे हैं, ऐसे लगता है कि वे जीव के दृष्टिकोण से आत्मा का दृष्टिकोण समझा रहे हैं।
४. परमात्मा में योग के अभिलाषी उच्चतम साधुओं को वे स्वयं ही अपना घूंघट हटा कर, ज्ञान विज्ञान सहित अपना आप दर्शा रहे हैं।
५. भगवान या आत्मा में सजातीय होने के अभिलाषियों को, अपना मौन स्वरूप दर्शा कर मानो अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं।
६. साधु लोग, जो अपने ही दुष्कर्मों के कारण परम मिलन से वंचित रह जाते हैं, उन्हें भगवान मानो मौन की दीक्षा तथा शिक्षा दे रहे हैं।
७. अपने आपको महा वेदान्ती तथा अद्वैत में स्थित मानने वालों को मानो भगवान स्वयं अद्वैत का रूप तथा स्वरूप दर्शा रहे हैं।
८. नित्य भक्त वत्सल परमात्म तत्त्व स्वरूप योगेश्वर मानो स्वयं धरती पर उतर कर,

क) योग का रूप तथा स्वरूप बता रहे हैं।
ख) योग में स्थित होने की विधि बता रहे हैं।
ग) समष्टि परमात्म का स्वभाव बता रहे हैं।
घ) व्यष्टि में भी अपना स्वभाव बता रहे हैं।

यह सब बताकर वह वास्तव में साधु को साधुता का राज़ समझा रहे हैं।

नन्हीं! यदि भगवान के विराट रूप को समझना है तो,

१. कुछ पल के लिए अपने आप को भूल कर ध्यान लगा कर बैठ।
२. कुछ पल के लिए अपनी दृष्टि को स्पर्श मात्र जग से हटा कर बैठ।
३. कुछ पल के लिए ज्ञान को भी भुला दे।
४. कुछ पल के लिए अपनी मान्यताओं को भी बिसरा दे।
५. कुछ पल के लिए अपने आपको अपने ही तन से परे करके देख।
६. नन्हीं! अपना दृष्टिकोण भूलकर अब जो भगवान कहने लगे हैं, उसे उनके दृष्टिकोण से देख।
७. भगवान मानो कह रहे हों कि संसार को मेरी आंखों में बैठकर देख।
८. व्यक्तिगत करने वाली आसक्ति के नितान्त अभाव का दूसरा नाम दिव्यता है।

यदि कुछ पल के लिये अपने आपको भुलाकर आप भगवान के तत्त्व के तद्रूप हो सकें, तो आपको भी दिव्य दृष्टि मिल जायेगी।

भगवान मानो कह रहे हों कि हे अर्जुन! कुछ पल के लिये अपने तन को और मेरे भी तन को भूल जा। इस नाम तथा रूप के घूंघट को उतार दे और फिर मुझे देख! तब तू समझ सकेगा कि,

क) मैं और तू दोनों एक ही हैं। मैं, तू और संसार एक ही है।
ख) मैं सबमें हूं और सब मुझी में हैं।
ग) विभिन्न व्यक्तियों में एकत्व ही है।
घ) भिन्नता में एकता कैसे होती है?

नन्हीं! भिन्नता तन से बंध जाने के कारण होती है, तन से उठ जाने पर सब अभिन्न हो जाता है।

देख नन्हीं! अर्जुन की अपनी तो यह स्थिति नहीं थी किन्तु भगवान कृष्ण को वह परमात्मा मान कर उनमें सम्पूर्ण सृष्टि को देख रहे थे, मानो भगवान उन्हें आत्मा के दर्शन करवा रहे थे। जो इन्द्रियों से परे हैं, वह अर्जुन को इन्द्रियों के राही समझा रहे थे। मानो,

१. वह अव्यक्त तत्त्व को रूप देकर समझा रहे थे।
२. वह अर्जुन को अद्वैत तत्त्व, अद्वैत का नाटक करके समझा रहे थे।
३. वह आत्मा की अखण्ड पूर्णता को अर्जुन के दृष्टिकोण से, ज्यों अर्जुन को समझ पड़े, त्यों समझा रहे थे।

पहले भगवान ने कहा, 'मैं सब में हूं' और हर एक वस्तु से अपना एकत्व स्थापित कर दिया। अब वह कह रहे हैं कि 'सम्पूर्ण सृष्टि मुझी में है।' यह कहकर मानो:

क) वह अपनी अखण्डता स्थापित कर रहे हैं।
ख) आत्मा के सिवा कुछ है ही नहीं, इसे स्थापित कर रहे हैं।

ग) केवल आत्मा ही सत् है, बाकी सब कुछ आत्मा में खिलवाड़ मात्र है, यह तत्त्व समझा रहे हैं।

घ) अज्ञान तथा मोह के नाश हो जाने पर केवल आत्मा ही रह जाता है, यह समझा रहे हैं भगवान!

यदि भगवान अर्जुन को यह कहते कि,

१. 'तू केवल आत्मा है और बाकी सब उस आत्म स्वरूप तुम्हारा ही खिलवाड़ है',

२. 'तू भगवान है और अखण्ड है, यह पूर्ण विभूतियां तुम्हारी हैं',

३. 'यह सम्पूर्ण सृष्टि तुझी में है,'

तो अर्जुन कुछ भी न समझ पाते।

इस कारण भगवान अर्जुन के स्तर पर जाकर, अर्जुन की समझ के अनुसार उसे आत्मा की अखण्डता समझा रहे हैं।

जीव चाहे कितना ही बुद्धिमान हो, 'तुम्हीं ब्रह्म हो', कहने मात्र से यह तत्त्व समझ नहीं सकेगा। जीव केवल बातों या शब्दों से ज्ञानवान् नहीं बन जाते, न ही वह केवल बातों से विज्ञान समझ सकते हैं। स्वरूप की बातें लाख करो, किन्तु जब तक स्वरूप स्थित के जीवन रूपा रूप को नहीं समझ सकते, स्वरूप स्थित भी नहीं हो सकोगे।

क) स्वरूप स्थित का जीवन में क्या दृष्टिकोण होता है,

ख) स्वरूप स्थित का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है,

ग) स्वरूप स्थित का जीव के प्रति क्या दृष्टिकोण होता है,

घ) स्वरूप स्थित का जीवन कैसा होता है,

इस सबको समझना अनिवार्य है।

भगवान यहां मानो अर्जुन को ऐसे परमात्म स्वरूप की अवस्था विचित्र ढंग से चित्रित करके समझा रहे हैं।

श्री भगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! तू मेरे सैकड़ों और हज़ारों,

२. नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृति वाले,

३. अलौकिक रूपों को देख।

४. अर्जुन! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों,

अश्विनी कुमारों को, और मरुतों को तू देख।

५. तथा बहुत से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को तू देख।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान अपनी पूर्णता में सम्पूर्ण सृष्टि को दर्शाने लगे हैं। अखिल विश्व पति पूर्ण जग की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का राज़ समझाने लगे हैं। सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति उस परम आत्मा में ही होती है, और आत्मा में ही सम्पूर्ण सृष्टि समाहित है, यह सुझाने लगे हैं।

मानो कह रहे हों कि, 'अर्जुन! आत्मा के दृष्टिकोण से देख और सब कुछ आत्मा में ही देखने का यत्न कर!'

अद्वैत स्थित, आत्म स्वरूप परमात्मा मानो कहने लगे 'अर्जुन!

१. प्रथम यह सम्पूर्ण, लाखों विभिन्न आकृतियों तथा वर्णों वाले मेरे रूप को देख।
२. मेरे इन दिव्य अलौकिक तथा अद्भुत रूपों को तू देख ले।
३. हे अर्जुन! यह दृष्ट तथा अदृष्ट, पूर्ण मेरे ही रूप हैं।
४. ये सब आत्मा ही है, इन्हें मेरे तद्रूप होकर देख।

फिर अपने अलौकिक रूपों को स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं कि, 'ये सम्पूर्ण आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी कुमार और मरुतों को तू मुझी में देख।'

नन्हीं! ये सम्पूर्ण प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के नाम हैं, जिन्हें देवता कहकर सम्बोधित किया जाता है।

प्रकृति की सम्पूर्ण रचना के लिये विभिन्न प्रकार की क्रियात्मक शक्तियां रूप लेती हैं। ये सम्पूर्ण शक्तियां मानो जीव को समझाने के लिये विभिन्न नामों से पुकारी जाती हैं।

कहते हैं :

*क) आदित्य बारह हैं। ये सृष्टि की सम्पूर्ण ज्योति करने वाली शक्तियों के देवता हैं।

**ख) वसु आठ हैं। ये सृष्टियों को मल रहित करते हैं।

**ग) रुद्र ग्यारह हैं। ये सृष्टि के सम्पूर्ण समष्टि तथा व्यक्तिगत दुःखों और विपरीतताओं के देवता हैं।

घ) अश्विनी दो हैं। अश्विनी कुमार स्वर्ग के वैद्य माने जाते हैं।

*ङ) मरुत ४९ हैं। ये सृष्टि में सब प्रकार के वायु के देवता हैं।

यह सम्पूर्ण भेद प्रकृति के किसी कार्य पर ही आधारित है।

नन्हीं! श्रीकृष्ण जीव के कोण से प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को ये नाम देकर सृष्टि रचयिता की दिव्यता को दर्शाते हैं। ये सब जीवों में सृष्टि की रचना के प्रति

---

*(क) + (ङ) के विस्तार के लिये दसवें अध्याय का इक्कीसवां श्लोक देखें।

**(ख) + (ग) के विस्तार के लिए दसवें अध्याय का तेईसवां श्लोक देखें।

पूज्य भाव उत्पन्न करने के लिये हैं। इस पूज्य भाव के होने से जीव अपने जीवन में हर विपरीतता को सीस झुकाकर दिव्य देन मान सकता है।

यहां भगवान कह रहे हैं कि ये सम्पूर्ण देवता अपने पूर्ण शक्ति रूप ऐश्वर्य सहित उस परमात्म तत्त्व में ही स्थित हैं।

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥७॥

भगवान अब अर्जुन को कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! अब इस मेरे शरीर में,
२. एक ही जगह स्थित हुए,
३. चर अचर सहित पूर्ण जगत को,
४. और भी जो देखना चाहता है,
(उसे भी देख ले)

तत्त्व विस्तार :

यहां भगवान ने अर्जुन को 'गुडाकेश' कहा।

नन्हीं! पहले गुडाकेश का अर्थ समझ ले।

१. जो निद्रा को वश में किए हुए हो।
२. जो आलस्य को वश में किए हुए हो।
३. जो इन्द्रियों को वश में किए हुए हो।

नन्हीं! जो गुडाकेश होगा, वह अनन्य ध्यान लगा सकेगा। वह अपनी इन्द्रियों तथा इन्द्रिय सम्पर्क के परिणाम रूप फल से विचलित नहीं होगा।

याद रहे, अर्जुन सिद्धान्तों के द्वन्द्व में फंस गये थे इस कारण घबरा गये थे। वैसे तो वह महा ज्ञानवान् तथा संयम पूर्ण थे, तभी तो वह भगवान की बातों को समझ पा रहे हैं।

भगवान कहने लगे, 'मुझ आत्म स्वरूप में ही यह सम्पूर्ण सृष्टि और पूर्ण चर अचर स्थित हैं। हे अर्जुन! तू संसार में जो और जिसे भी देखना चाहता है, उसे देख ले, यह सब मुझ में ही स्थित हैं।'

भगवान इस समय अपने आत्म स्वरूप को अपना देह मान रहे हैं और अपने आत्म स्वरूप में ही सम्पूर्ण सृष्टि के दर्शन करवा रहे हैं। वह यहां बता रहे हैं कि, 'यह संसार मुझी में है।' वह स्वयं आत्म तत्त्व ही हैं, इस नाते संसार उनमें ही है। मानो वह आत्म को अपना शरीर कह रहे हैं, जिसमें सम्पूर्ण समष्टि समाहित है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

देख नन्हीं! अब भगवान की अपार कृपा देख!

वह कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. परन्तु (तुझ में) मेरे को,
२. इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने की सामर्थ्य नहीं है,
३. (इसलिये) मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूं,
४. जिससे तू मेरे ऐश्वर्य और योग को देख!

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहने लगे, 'तू इन चर्म चक्षुओं से मुझ आत्मा को नहीं देख सकता।'

१. आत्मा तो इन्द्रियों से परे है,
२. आत्मा तो मन से परे है,
३. आत्मा तो बुद्धि से परे है,
इसे नेत्र कैसे देखेंगे ?

इसलिये करुणा पूर्ण भगवान कहते हैं, 'तुझे मैं दिव्य चक्षु देता हूं जिनके राही तू आत्म तत्त्व में सम्पूर्ण सृष्टि को देख सकेगा।

दिव्य चक्षु

नन्हीं! प्रथम 'दिव्य चक्षु' का अर्थ समझ ले :

क) ये चक्षु उसके पास होते हैं जो तनत्व भाव को भूल चुका हो। साधारणतय: हम जो भी देखते हैं, उसको अपने तन, मन तथा बुद्धि के तद्रूप होकर ही देखते हैं। भगवान जिन चक्षुओं की बात कर रहे हैं, वे निरावरण के चक्षु हैं।
ख) ये चक्षु आत्मा के दृष्टिकोण से देखने वाले के होते हैं।
ग) दिव्य चक्षु द्रष्टा भाव रहित के चक्षु हैं।
घ) दिव्य चक्षु अहंकार रहित के चक्षु हैं।
ङ) ये चक्षु ही भिन्नता में अभिन्नता देख सकते हैं।
च) प्रज्ञावान् के चक्षु हैं ये!
छ) ये चक्षु उस समाधिस्थ के होते हैं जो अपने तन, मन तथा बुद्धि के प्रति मानो प्रगाढ़ निद्रा में सो गया हो।

नन्हीं! ये चक्षु जो अर्जुन को मिले, दिव्य इस कारण थे, क्योंकि इनके द्वारा वह बाह्य रूप को न देखकर तत्त्व रूप से सब कुछ देखने लगा। भगवान कृष्ण तो वैसे ही एक तनधारी के रूप में उसके सम्मुख खड़े थे। भगवान कृष्ण का रूप नहीं बदला था! यदि कृष्ण का रूप बदल जाता और इतना विशाल हो जाता तो उसे बाकी लोग, जो कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए थे, वे भी देख लेते।

यदि सच ही भगवान का स्थूल रूप इतना बड़ा हो जाता तो नन्हीं! यह युद्ध भी बन्द हो जाता, क्योंकि इस अलौकिकता को देख कर लोग भगवान का विरोध न कर सकते।

दिव्य दृष्टि दिव्यता दर्शन की शक्ति होती है। दिव्य दृष्टि से जीव मानो सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, परम तत्त्व को देखता है। अर्जुन इस दिव्य चक्षु के राही,

१. परमात्मा के विराट रूप को देखने लगा।
२. आत्मा की अखण्डता को देखने लगा।
३. आत्मा में सम्पूर्ण सृष्टि को समाहित देखने लगा।

नन्हीं! तू भी कुछ पल के लिए अपने आपको भूलकर आत्मा को समझने के प्रयत्न कर।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजय बोले धृतराष्ट्र से :

शब्दार्थ :

१. हे राजन्!
२. महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर,
३. अपना परम ईश्वरीय दिव्य रूप,
४. अर्जुन को दिखाया।

तत्त्व विस्तार :

तुम पूछती हो कि अर्जुन को इतनी जल्दी कैसे समझ आ गई ?

अर्जुन की स्थिति :

देख कमला!

क) अर्जुन महा ज्ञानवान् था।
ख) वह पूर्ण शास्त्र पठन कर चुका था।
ग) वह पहले ऋषिगण से भी ज्ञान पाया था।
घ) वह अतीव कर्त्तव्य परायण था।
ङ) भ्रातृ और मातृ भक्ति के अनेकों प्रमाण हैं उसके जीवन में।
च) वह महा पराक्रमी तथा शूरवीर था, जान की भी परवाह नहीं करता था।
छ) इतना बलवान् होते हुए भी वह न्याय पूर्ण था।
ज) वह अपने दुश्मनों को भी बचाता था।
झ) वह धर्म परायण भी था।
ञ) अनुचित न्याय को भी उसने अपने बड़े भाई के कहने पर शिरोधारण किया और इस कारण जंगलों में रहना पड़ा।
ट) वह दैवी गुण सम्पन्न था। अपने बुज़ुर्गों का आदर करता था।

यह सब देखते हुए अर्जुन को एक साधारण व्यक्ति मान लेना हमारी भूल होगी। वास्तव में अर्जुन के शोक का कारण भी तो देख :

अर्जुन के शोक का कारण :

१. जिनके लिए वह जान भी दे सकते थे, आज वही पितामह भीष्म रण में उनके शत्रुओं के गिरोह में खड़े थे।
२. जिन्हें, उन्होंने नित्य गुरु मान कर पूजा था, वही द्रोण दुश्मन बनकर सामने खड़े थे।
३. जिन नाते बन्धुओं के लिये वह सब कुछ करने को तैयार थे, वही शत्रु रूप में सम्मुख खड़े थे।

क) वे सब ही अन्याय का साथ दे रहे थे।
ख) वे सब ही पापियों का साथ दे रहे थे।
ग) वे सब ही पापियों के साथ पापी बन चुके थे।

फिर भी दैवी गुण पूर्ण, कर्त्तव्य परायण, नित्य आदर सत्कार करने वाले अर्जुन के मन में संशय उठ आया। वह यह जानते थे कि उनके सामने खड़े शत्रु पापी हैं, किन्तु वह स्वयं पाप नहीं करना चाहते थे, इस कारण घबरा गये।

भगवान से भी उन्होंने कहा था,

'कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः - - -'
(२/७)

- 'मैं मोह युक्त हो गया हूं।
- मैं अपना स्वभाव भूल गया हूं।
- मैं श्रेय पथ भूल गया हूं।
- मैं आपकी शरण पड़ा हूं।
- मैं आपका शिष्य हूं, आप मुझे शिक्षा दीजिये।'

ज्ञान प्राप्त करने के बाद अर्जुन की स्थिति :

उस समय अर्जुन का :

१. वीरता का गुमान,
२. क्षत्रियता का गुमान,
३. बुद्धि का गुमान,
४. धीरता का गुमान,
५. ज्ञान विज्ञान का गुमान,
६. कर्म करने का गुमान,
७. श्रेष्ठता का गुमान,

खत्म हो चुका था। यानि, वह पूर्ण गुमान गंवा कर भगवान की शरण में आया था।

क) वह धर्म के नाम पर भगवान की शरण में आया था।
ख) वह कर्त्तव्य के नाम पर भगवान की शरण में आया था।
ग) वह श्रेय पथ जानने के लिये भगवान की शरण में आया था।
घ) वह सत् धर्म अनुष्ठान करने के लिये भगवान की शरण में आया था।

इस कारण उसके लिये भगवान की बातों को समझना और उनका अनुसरण करना आसान था। इस पल उसका अपना भी अहंकार गौण था, इसलिये वह सब कुछ समझ सकता था। वह तनत्व भाव को छोड़ कर भगवान के दृष्टिकोण से देख सकता था, क्योंकि उसकी दृष्टि पर से उसके निजी तन मन बुद्धि तथा अहंकार का पर्दा उठ गया था।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

संजय कह रहे हैं कि :

शब्दार्थ :

१. अनेक मुख और नेत्र वाला,
२. अनेक अद्भुत दर्शनों वाला,
३. अनेक दिव्य आभूषणों वाला,
४. अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए,
५. अनेक दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए,
६. दिव्य गंध लेपन किये हुए,
७. सब प्रकार के आश्चर्य युक्त,
८. सीमा रहित विराट रूप,
९. परम देव परमेश्वर को (अर्जुन ने देखा)।

तत्त्व विस्तार :

भगवान का यह दिव्य दर्शन जो अर्जुन कर रहे थे, संजय उसका वर्णन करने लगे।

भगवान का विराट रूप दर्शन :

कहते हैं कि भगवान ने अर्जुन को अपना विश्व रूप दिखाया।

क) उस रूप में अनेकों मुख तथा नेत्र थे।
ख) अनेकों आश्चर्य चकित कर देने वाले दर्शन थे।
ग) वह दिव्य रूप, दिव्य आभूषणों से सुसज्जित था।
घ) वह अनेकों दिव्य शस्त्रों को धारण किये हुए था।
ङ) वह अनेकों दिव्य मालाओं को पहने हुए था।
च) वह दिव्य गंध को लगाये हुए था।

यह सब महा आश्चर्यपूर्ण दर्शन थे, जो सर्व ओर मुख वाले परम देवों के आदि देव भगवान को अर्जुन ने देखा। नन्हीं! यहां भगवान परम ब्रह्म की अखण्डता दर्शाते हुए अपनी योगमाया के आसरे अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर यह दर्शा रहे हैं कि 'पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सब आत्मा में ही है'

भगवान अर्जुन को पूर्ण की पूर्णता समझा रहे हैं। वह कहते हैं :

१. पूर्ण जग की दिव्यता उन्हीं में समाहित है।
२. पूर्ण जग में जो कुछ है, वह उन्हीं में स्थित है।
३. संसार में जो कुछ भी है उन्हीं में है, यह समझाते हुए मानो कह रहे हों कि, 'अर्जुन! जो कुछ दिखता है, वह आत्मा में ही है।'

मानो भगवान समझा रहे हों कि :

क) भिन्नता में अभेदता है।

ख) अभेदता में ही भिन्नता दर्शाती है।

ग) जो भी संसार दिखता है, यह केवल माया है, केवल अज्ञान है।

घ) वास्तव में जो दिखता है, वह आपके आन्तर में है।

ङ) जो भी है, पूर्ण ब्रह्म ही है।

च) सगुण ब्रह्म रूपा प्रकृति भी ब्रह्म तत्त्व में लय हो जाती है।

छ) जो भी, जहां भी है, सब मानो ब्रह्म का माया रूप खिलवाड़ है।

देख नन्हीं! भगवान यहां देवता, नक्षत्र, दैवी तथा दिव्य अस्त्र शस्त्र तथा उस समय के सांसारिक जीव, सबको अपने आप में दर्शाने लगे हैं। ये सब दर्शा कर मानो वह यही कह रहे हैं कि, 'इस सम्पूर्ण सृष्टि में जड़ चेतन, जो कुछ भी है, वे सब मुझी में है। जब तू भी नित्य निरासक्त हो जायेगा तब तू भी यही जानेगा कि सब तुझी में है।'

अक्षर ब्रह्म, आत्म स्वरूप, अखण्ड और अविभाजनीय है। भगवान अर्जुन को यहां यही तत्त्व समझाने के यत्न कर रहे हैं। भगवान अर्जुन को अक्षर ब्रह्म, अक्षर आत्म तत्त्व की ओर आकर्षित कर रहे हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

संजय कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. आकाश में हज़ारों सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश उत्पन्न हुआ हो,

२. वह उस महात्मा के प्रकाश के सदृश शायद ही हो।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! देख संजय क्या कहते हैं! 'हज़ारों सूर्य भी यदि एक साथ उदय हो जायें, तब भी भगवान के प्रकाश के सदृश शायद ही हों।'

भगवान की उपमा सूर्यों के साथ :

संजय मानो कह रहे हों कि,

क) उस दिव्य अनुपम तत्त्व की कोई उपमा हो तो दूं!

ख) उस दिव्य स्वरूप, अनन्त रूप की ज्योति को कैसे समझाऊं ?

ग) असीम को किन शब्दों में सीमित करूं कि वह फिर भी असीम रहे ?

घ) इस दिव्य परम प्रकाश स्वरूप के प्रकाश की तुलना किससे करूं ?

ङ) इस अलौकिक प्रकाश घन को कैसे प्रकट करूं ?

च) परम पुरुष पुरुषोत्तम के प्रकाश की तुलना शायद ही हज़ारों सूर्यों के एक

साथ उदय होने से हो सके।

छ) उस अचिन्त्य तत्त्व को चिन्तन में कैसे बान्धूं ?

नन्हीं! वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है! उस नित्य, अध्यात्म प्रकाश स्वरूप की किसी से तुलना हो भी नहीं सकती। जो अखण्ड ही हो, उसकी तुलना करोगे भी तो किससे ? जितने मर्ज़ी सूर्य एकत्रित कर लो, वह उस ब्रह्म के अंश मात्र ही तो होंगे।

अद्वैत का राज़ :

नन्हीं! ज़रा ध्यान लगाकर समझ! दसवें अध्याय में भगवान कहकर आये हैं, 'सब मैं ही हूं' मानो वहां भगवान, निरन्तर ध्यान लगाने की विधि कहकर आये हैं। जो भी आपके सामने आये, यदि उसमें भगवान को जानकर आप उससे वर्तेंगे, तो शनै: शनै: 'वासुदेवमिदंसर्वम्' का अभ्यास होने लग जायेगा।

यहां भगवान सब कुछ अपने आन्तर में दर्शा रहे हैं, मानो कह रहे हों कि जो कुछ भी है, आत्म स्वरूप के आन्तर में है।

यदि आप भी अपने तनत्व भाव तथा देहात्म बुद्धि का त्याग कर दें और आत्म तत्त्व में विलीन हो जायें, तो आपके लिये भी जग आप ही में दर्शायेगा और संसार इसके अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं रखेगा। फिर आपके बिना कुछ रह ही नहीं जायेगा।

यहां भगवान अखण्ड अद्वैत की बात कर रहे हैं। ज्यों स्वप्न द्रष्टा की स्वप्नाकार वृत्ति ही सम्पूर्ण स्वप्न को रच लेती है और स्वप्न में जितने भी रूप होते हैं, वह स्वयं ही धर लेती है, स्वप्न के हर जीव का अभिनय स्वयं ही कर लेती है, वैसे ही मानो यह संसार आत्मा का स्वप्न रूप है। फिर जब जीव जाग जाता है, तब जैसे वह स्वप्नाकार वृत्ति पुनः सम्पूर्ण नटों के सहित स्वप्न द्रष्टा में समा जाती है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार आत्मा में विलीन हो जाता है।

भगवान यहां यही तत्त्व समझा रहे हैं।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

अर्जुन का एक तन में पूर्ण को देखना!

शब्दार्थ :

१. अर्जुन ने उस काल में,
२. अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत को,
३. उस देवों के देव (कृष्ण के) शरीर में,
४. एक जगह स्थित देखा।

तत्त्व विस्तार :

क) संजय कहते हैं कि अर्जुन ने आत्म तत्त्व स्वरूप भगवान में सम्पूर्ण संसार

को देख लिया।

ख) एक अखण्ड तत्त्व, जो विभाजित सा दिखता था, उसे पुनः अखण्डता में देख लिया।

ग) जिस संसार को एक रूप मानना कठिन ही नहीं असम्भव लगता था, उसे एक में एक होते देख लिया।

घ) नन्हीं! चर्म चक्षु जब देखते हैं, तब अखण्ड भी खण्डित सा दर्शाता है। दिव्य चक्षु जब देखते हैं, तब भिन्नता में भी अखण्डता नज़र आती है।

ङ) यदि तू भी अपने आपको उससे अलग न समझे, तो तू भी अखण्डता को समझ सकेगी।

च) जब तुम स्वयं अपनी व्यक्तिगतकर 'मैं' तथा तनत्व भाव से परे हो जाओगी, तब ही तुम अखण्ड की अखण्डता समझ सकती हो।

अर्जुन ने ब्रह्म तत्त्व स्वरूप, ब्रह्म रूप, कृष्ण तत्त्व में पूर्ण संसार को समाहित देखा।

देख नन्हीं! यहां तन धारी कृष्ण की बात नहीं कर रहे। यहां कृष्ण भी तन के तद्रूप होकर अर्जुन को ज्ञान नहीं दे रहे, बल्कि वह आत्मा में स्थित होकर मानो आत्मा के दृष्टिकोण से बात कर रहे हैं।

नन्हीं! कुछ पल के लिये यह कल्पना तो करके देखो कि :

१. तुम तन नहीं हो और तन तुम्हारे लिये व्यर्थ है।
२. तुम्हारे मन में तुम नहीं, कोई और बसता है।
३. तुम्हारे मन में तुम नहीं, भगवान बसते हैं।

वास्तव में भी तुम्हारे तन पर तुम्हारा राज्य नहीं, प्रकृति के दिये हुए गुणों का राज्य है। यह जानकर ही अपनी तनो मलकीयत थोड़ी देर के लिए छोड़कर देखो तो सही! तब शायद तुझे भगवान की यह बातें थोड़ी थोड़ी समझ आने लगें।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

तब अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. आश्चर्य से चकित हुआ,
२. पुलकित रोम हुआ,
३. विश्व रूप भगवान को,
४. सीस झुका कर प्रणाम करके,
५. हाथ जोड़े हुए बोला!

६. 'हे देव! मैं आपके शरीर में,
७. सारे देवताओं को
८. और भूत समुदायों को,
९. कमल के आसन पर स्थित ब्रह्मा को,
१०. सारे ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूं।'

तत्त्व विस्तार :

क) अर्जुन परम पुरुष पुरुषोत्तम में विश्व रूप जग देख रहा है।
ख) रोमांचित हुआ अर्जुन आश्चर्यचकित हो विराट रूप देख रहा है।
ग) सीस झुका नतमस्तक हो वह भागवद् चरण में प्रणाम करने लगा।
घ) नित्य अविनाशी तत्त्व देख वह बखान उसी का करने लगा।
ङ) पूर्ण में पूर्ण देखकर अखण्ड की अखण्डता देख रहा है।
च) अर्जुन जीव, देवता, ब्रह्मा, ऋषिगण, सब को उसी अखण्ड में देख रहा है।

देख कमल! तुझे समझाऊं, स्वप्नाकार वृत्ति ही स्वप्न में विभाजित होकर पूर्ण स्वप्न रच लेती है :

१. वह इतना बड़ा संसार रच लेती है;
२. जीव भी रच लेती है;
३. जीवों के भिन्न भिन्न स्वभाव रचती है;
४. जड़ चेतन स्वरूप के रूप रचती है;
५. कभी इतनी भयंकर परिस्थितियां बना देती है;
६. कभी महा सौम्य परिस्थितियां बना देती है;
७. कभी मृत्यु रचाती है, कभी जन्म रचाती है;
८. कभी संयोग, कभी वियोगपूर्ण स्वप्न रच लेती है।

यानि एक ही वृत्ति नाना प्रकार के रूप रचती है, नाना प्रकार के भाव, नाना प्रकार के स्वभाव और नाना प्रकार की परिस्थितियां रचती है।

क) यह पूर्ण स्वप्न का संसार एक स्वप्नाकार वृत्ति ही तो है।
ख) वहां द्रष्टा के सिवा कुछ नहीं।
ग) सम्पूर्ण दृश्य में जो भी है, सब बस इक द्रष्टा ही तो है।
घ) जब स्वप्न टूट जाता है तो सब द्रष्टा में ही समाहित हो जाता है।
ङ) द्रष्टा से उत्पत्ति पाकर पुनः स्वप्न संसार द्रष्टा में लय हो जाता है।

इसी विधि यह सम्पूर्ण संसार उस एक आत्मा के सिवा कुछ नहीं है। उस परम के स्वप्न में मानो हम सब नट हैं। उसी के हैं, उसी से हैं, उसी में हैं, पर 'वह' नहीं हैं।

यह जीव का स्वप्न नहीं, यह ब्रह्म का स्वप्न है। यह मानो आत्मा का स्वप्न है। यह शाश्वत है, दीर्घ है, जन्म जन्म चलता है।

आत्मवान् यह सब जानता है। वह दिव्य दृष्टि से देख लेता है कि यह पूर्ण संसार उस अखण्ड स्वरूप का अंश मात्र है। वह वास्तविकता जानते हुए परम के तद्रूप हो जाता है।

पर याद रहे!

यह स्वप्न का राज़ यज्ञ, तप और दान से खुलता है। जब आप आत्मवान् हो जाते हैं तो यही यज्ञ, तप और दान आपका स्वभाव हो जाता है, तब आप स्वत: भगवान जैसे कर्म करते हैं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

अर्जुन भगवान से कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे सम्पूर्ण विश्व के पति!

२. आपको मैं अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्र वाला,

३. और सर्व ओर अनन्त रूप वाला देखता हूं।

४. हे विश्व रूप! मैं न आपके अन्त को, न मध्य को, न आदि को देखता हूं।

तत्त्व विस्तार :

अद्वैत का ज्ञान पाने के बाद अर्जुन की समझ :

देख नन्हीं! इस पल अर्जुन सम्पूर्ण सृष्टि को भगवान के आन्तर में देख रहे हैं और कहते हैं कि :

१. सम्पूर्ण विश्व के पति तुम ही हो।
२. सम्पूर्ण विश्व आज तुम्हीं में देख रहा हूं।
३. हे निराकार! आज मैं अखिल रूप तुम्हीं में देख रहा हूं।
४. हे निराकार! तुझे सर्वाकार रूप देख रहा हूं।
५. सम्पूर्ण मुख तुम्हारे तुझी में देख रहा हूं।
६. सम्पूर्ण उदर तुम्हारे, तुझी में देख रहा हूं।
७. सम्पूर्ण नेत्र तुम्हारे, तुझी में देख रहा हूं।
८. सम्पूर्ण बाहें तुम्हारी, तुझी में देख रहा हूं।
९. हे नित्य निराकार! तुझी में सब आकार देख रहा हूं।
१०. हे इन्द्रिय रहित, इन्द्रिय पति, तुझे ही अखिल इन्द्रिय रूप देख रहा हूं।
११. हे नित्य, अखण्ड अक्षर स्वरूप, तुम्हारा ही विभाजन तुझी में देख रहा हूं।

किन्तु यह विभाजन भी कैसा। जो तुझी में हो, तुझी में रहे और फिर तुझी में लय हो जाये!

क्योंकि :

क) पूर्ण अखण्ड विश्व रूप तू आप है।
ख) पूर्ण ब्रह्माण्ड में वैश्वानर तू आप है।

नन्हीं! जीवन में तू भी जान ले,

१. परम बिना और कुछ नहीं है।

२. जो मिले, जहां मिले उसी का वह रूप है।
३. सबके पीछे केवल भगवान का स्वरूप है।
४. हर मुख, हर उदर उसी ने रचे हैं और उसी में हैं।

वासुदेव ही पूर्ण हैं और उनके अतिरिक्त यहां पर कुछ नहीं है।

जीवन में इसको मान लो और इसी का अभ्यास करो। जीवन में निरन्तर जो देखते हो, वह भगवान में हो रहा है, यह जान लो, और इसी सत्त्व में वर्तो।

किसी के बस में कुछ नहीं है, आदि, अन्त, सब वह आप है, मध्य भी भगवान में है। सो बिन आदि बिन अन्त, सब वह आप है।

नन्हीं! जीव जब आत्मा के साथ एकरूपता पा लेता है, तब उसे यह सम्पूर्ण सृष्टि माया का खेल ही नज़र आती है। यह सम्पूर्ण सृष्टि अपना ही अंशमात्र दर्शाती है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

अर्जुन स्वयं भगवान को बता रहे हैं कि वह भगवान के विश्व रूप में क्या देख रहे हैं। वह कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त तथा चक्रयुक्त,
२. तेज का पुंज रूप प्रकाशमान,
३. प्रज्वलित अग्नि और सूर्य की चमक वाला,
४. कठिनता से देखा जाने वाला,
५. (और) अप्रमेय स्वरूप, सब ओर से देखता हूं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! अर्जुन भगवान की महिमा गान करते हुए कहते हैं कि, 'आपको मैं,

१. मुकुट धारे हुए देखता हूं।
२. हाथ में गदा और चक्र धारण किये हुए देखता हूं।
३. सर्व ओर से प्रकाशमान हुए तेज का पुंज स्वरूप देख रहा हूं।
४. आप, जो कठिनता से दिखने वाले हो, मैं आपको देख रहा हूं।
५. आप, जो दमकती हुई अग्न तथा सूर्य के समान हो, आपके उस प्रज्वलित रूप को मैं देख रहा हूं।
६. आप जो अप्रमेय हैं, मैं तो उसको भी देख रहा हूं।

अप्रमेय :

नन्हीं! अप्रमेय को समझ ले! अप्रमेय का अर्थ है :

क) जो जाना न जा सके।

ख) जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों का विषय न हो।
ग) अप्रमेय, सीमा रहित को भी कहते हैं।

यहां अर्जुन भगवान को अप्रमेय कहते हुए कह रहे हैं कि, 'मैं आपको देख रहा हूं, जो नहीं देखा जा सकता, उसे देख रहा हूं।'

नन्हीं! अर्जुन भगवान को अपने चर्म चक्षुओं से नहीं देख रहे थे, वह तो भगवान को भागवत् देन दिव्य चक्षुओं से देख रहे थे। यूं कह लो कि अर्जुन अपने आन्तर में ही भगवान की दिव्य महिमा देख रहे थे। जो वास्तविक आत्मा का स्वरूप है, सत्त्व से संग के कारण उसे अपना न मानकर, भगवान का जानकर, उसका साक्षात्कार कर रहे थे। ब्रह्म तत्त्व में वह सगुण ब्रह्म के स्वरूप के दर्शन कर रहे थे।

यदि उस पल अर्जुन का भी अपने तन से नितान्त संग अभाव हो जाता तो वह ये सब कुछ द्वैत में न देखते, भगवान से एकरूपता पाकर अद्वैत में देखते। यानि वह सब आप ही हैं, यह जान लेते, आत्मा में एक हो जाते और वह स्वयं जीवन मुक्त होकर भगवान में विलीन हो जाते।

अर्जुन की स्थिति :

वहां अभी द्रष्टा, दृष्य तथा दर्शन की त्रिपुटी बाकी थी; अभी साध्य, साधना और साधक बाकी थे; अभी ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता बाकी थे; इस कारण वह भगवान के राही आत्म तत्त्व की पूर्णता देखते हुए भी स्वयं उससे एकरूपता नहीं पा रहे थे।

इसलिये उन्होंने कहा, 'अलौकिक अनुपम रूप, अप्रत्यक्ष, अप्रकट तू आप है; दुर्विज्ञेय, असीम, अचिन्तय रूप, अतुल्य, अप्रतिम तू आप है।'

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

अर्जुन, भगवान के विश्वरूप की स्तुति करते हुए कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. आप ही जानने योग्य परम अक्षर हो;
२. आप ही इस विश्व के परम निधान हो;
३. आप ही अनादि धर्म के रक्षक हो;
४. आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हो;
५. ऐसा मेरा मत है।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान का विराट रूप समझने लगे और भगवान से कहने लगे:

१. अक्षर अविनाशी अव्यय तुम हो।

२. परम सनातन पुरुष तुम हो।
३. परम आश्रय इस जग के तुम हो।
४. धर्म स्वरूप भगवान तुम हो।
५. नित्य अध्यात्म, शाश्वत सत् हो तुम।
६. अध्यात्म पे प्रकाश भी तुम ही हो।
७. नित्य अविनाशी ज्ञान तुम ही हो।
८. अनादि धर्म का प्रमाण तुम ही हो।
९. परम आश्रय इस जग के तुम ही हो।
१०. तुम ही तो सबका आधार हो।
११. आज देखकर तुम्हें जानूं कि तुम ही इक करतार हो।
१२. तुम दुर्विज्ञेय हो, यह जानता हूं, पर ज्ञातव्य भी इक तुम ही हो।
१३. तुम अतीन्द्रिय तत्त्व हो, यह जानता हूं, पर प्राप्तव्य भी इक तुम ही हो।
१४. तुम साक्षात् धर्म स्वरूप हो।
तुम साक्षात् धर्म प्रमाण हो।
तुम साक्षात् धर्म ही हो।
१५. आत्म के तद्रूप हुआ अब अर्जुन सत् देखकर कहता है, 'यही मेरा मत है।'

यानि, 'मैं सत् कहता हूं भगवन्! मैं यही सत् मानता हूं कि जो है सब तू ही है।'

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

देख कमल! अर्जुन पुनः पुनः वही बात कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित,
२. अनन्त वीर्य युक्त,
३. अनन्त भुजाओं वाला,
४. शशि और सूर्य के समान नेत्रों वाला,
५. प्रज्वलित अग्नि जैसे मुख वाला,
६. और अपने तेज से इस जगत को,
७. तपाते हुए देखता हूं।

तत्त्व विस्तार :

क) भगवान स्वयं साधक का अभ्यास करा रहे हैं।
ख) अर्जुन पूर्ण की पूर्णता को बार बार बयान कर रहा है।
ग) आत्मवान् का यह दर्शन है, जिसका भगवान के सम्मुख वर्णन कर रहा है।
घ) यह जीव की मानो 'परम के दृष्टिकोण' की व्याख्या है।
ङ) यह प्रथम साक्षात्कार की विस्मयपूर्ण झलक है।
च) अभी उसकी 'मैं' कुछ बाकी है; अभी 'तू' भी बाकी है, पर वह वास्तव में जग का स्वरूप कुछ कुछ समझने लगा है।
छ) आत्म तत्त्व बिना यहां कुछ नहीं, यह वह समझने लगा है।
ज) व्यक्तित्व किसी का कुछ नहीं, यह वह

समझ रहा है।

झ) जड़ चेतन की अभिन्नता का उसे आभास होने लगा है।

ञ) जिसकी रचना है, उसका आभास होने लगा है।

ट) परम अखण्ड ब्रह्म के खण्डन का राज़ मानो कुछ कुछ खुल रहा है।

तत्त्व ज्ञान पाकर अर्जुन की स्थिति :

क्यों न कहूं,

१. अर्जुन समाधि में खड़ा है, पर 'मैं' प्रधान है।
२. उसकी आंख खुली है, पर जहां जाती है, वहां समाधि लग जाती है।
३. उसकी दिव्य दृष्टि स्थूल नाम रूप के पीछे निहित परम तत्त्व को देखती है।
४. उसकी दिव्य दृष्टि स्थूल, व्यक्त नाम रूप के पीछे अव्यक्त, परम शक्ति को देख लेती है।
५. योगत्व स्थित अर्जुन जग को भूला हुआ है।
६. अपने प्रति मानो प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा हो। अपने तन, मन, बुद्धि का उसे अनुसंधान नहीं रहा।
७. पर बाहर जग को देख रहा है और उसमें पूर्ण की पूर्णता देख रहा है।

अब अर्जुन कहते हैं कि, 'भगवान! आप आदि, अन्त, और मध्य से रहित हो। यानि, आप उत्पत्ति, स्थिति और लय से परे हो। आप अनन्त शक्ति पूर्ण हो; आप अनन्त भुजाओं वाले हो, सो पूर्ण कार्य करने वाले हो। आपके नेत्र चन्द्रमा और सूर्य हैं। प्रज्वलित अग्नि ही आपका मुख है। जो भी उसमें पड़ता है, भस्म हो जाता है। आप अपने ही तेज से सम्पूर्ण संसार को तपा रहे हो।'

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

अब अर्जुन कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे महात्मन्! आकाश और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण भाग
२. तथा सब दिशायें एक आप से ही परिपूर्ण हैं।
३. आपके इस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर
४. तीनों लोक अति व्यथा को पा रहे हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! पहले 'आकाश तथा धरती के बीच का लोक' समझ ले। इससे अर्जुन का इस जीव लोक की ओर संकेत है। वह कहते हैं, 'यह सम्पूर्ण जीव लोक आप ही हैं। यानि, यह सम्पूर्ण जीव आप ही हैं। इस नाते संसार में जो हो रहा है, वह आप में और आपसे ही हो रहा है।'

नन्हीं! यह संसार सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों से भरपूर है।

कलियुग में रज और तम की प्रधानता :

आजकल तो सत्त्व काफ़ी हद तक गौण हो चुका है। रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता हो गई है।

साधारण जीव :

क) लोभ, कामना और तृष्णा से परिपूर्ण हैं।
ख) दम्भ, दर्प, अभिमान से परिपूर्ण हैं।
ग) अज्ञान, मोह तथा ममत्व भाव से बंधे हुए हैं।
घ) क्रोध से तपित हुए रहते हैं।
ङ) वैमनस्य, द्वेष, शत्रुता में मानो बहार आई हुई है।
च) व्यभिचार, अत्याचार, निष्ठुरता पूर्ण कर्म जीव का सहज स्वभाव बन गये हैं।
छ) कर्त्तव्य विमुखता, धर्म विमुखता इत्यादि तो आजकल के समाज के प्रधान गुण हैं।
ज) साधुओं में भी आजकल साधुता का अभाव है।
झ) साधु भी कर्त्तव्य तथा धर्म का परित्याग कर रहे हैं।
ण) जीवन में से मानो यज्ञ, तप तथा दान का नामोनिशान ही मिटता जा रहा है।
ट) भगवान के नाम पर अत्याचार होने लगे हैं।
ठ) भगवान के नाम पर लोगों को अछूत कहा जाता है।
ड) साधु, लोगों को तथा साधकों को उनकी गलतियां बताने के स्थान पर वेदान्त या उच्चतम भक्ति की बातें बताने और समझाने लग गये हैं।

नन्हीं! अर्जुन कहते हैं, 'यह भयंकर रूप मैं तुझी में देख रहा हूं।'

इस रूप को चारों ओर फैला हुआ देखकर तीनों लोक कांप रहे हैं। अर्थात् रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण वाले लोग सभी कांप गये हैं।

नन्हीं! आजकल की सभ्यता तथा संसार का आचरण देख ले तो यह श्लोक पल में समझ आ जायेगा। अब तो रजोगुण ने इतना सताया है कि सारा संसार तड़प उठा है। अब तो तमोगुण भी भड़क उठा है।

तमोगुण पूर्ण लोक :

तमोगुण,

१. हत्यारा गुण होता है।
२. नाश करने वाला होता है।
३. इन्सान के खून का प्यासा होता है।
४. अन्धा होता है, यह लिहाज़ नहीं करता।
५. ज्ञान को आवृत्त कर देता है।
६. ख़ुद तबाह होने की परवाह न करके, औरों को तबाह करना चाहता है।

भगवान के आन्तर में इस लोक के गुण देखकर लोग कांप रहे हैं। यह भगवान का अद्भुत और आश्चर्यजनक रूप है।

कौन माने कि यह भगवान का ही रूप है और इन गुणों में भी भगवान ही हैं? इस

उग्र और विराट रूप को देखकर आश्चर्य भी होता है और डर भी लगता है।

उग्र का अर्थ है भयंकर, क्रूर, निष्ठुर, हिंसक, प्रचण्ड और तीक्ष्ण।

नन्हीं! यह 'उग्र' लोक केवल दुःख और सन्ताप वर्धक है। यह लोक केवल क्षोभ तथा विकलता वर्धक है।

कमला मेरी जान!

सब भगवान हैं, यह जानकर भाग न जा, गुणों को गुणों में वर्तने दे। यह सब गुण भगवान से भगवान में और भगवान ही हैं; यह जानकर यह मत सोच लो कि जीव को अपनी कर्तव्य से पलायन करने वाली वृत्ति को बढ़ाना चाहिये।

यदि आप सच ही साधु हो तो,

क) आप दुःखियों का दुःख हरोगे ही।
ख) जिन पर अत्याचार होता है, उनका साथ दोगे ही।
ग) आप साधु गुण पूर्ण लोगों को असाधुओं के प्रहार से बचाओगे ही।
घ) आप निष्काम कर्म करोगे ही।
ङ) आप अपनी कामना तथा संग को त्याग कर, मानो कफ़न पहन कर लोगों के संताप हरने के लिये बढ़ोगे ही।

कमला! अपने अपने स्वभाव के साथ आपके गुण भी वर्तेंगे।

भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि वह युद्ध करे। भगवान कहते हैं, 'गुणों को रोकने के यत्न न कर, इन्हें गुणों से टकराने दे।'

साधुता का अभ्यास :

१. निष्काम कर्म है, जिसका दूसरा नाम सेवा है।
२. लोगों का संताप हरण है।
३. दान है, साधु का अपना तन देने का अभ्यास ही साधुता है।
४. तप है, साधु लोगों के दुःख स्वयं मुसकराता हुआ सहता है।
५. यज्ञ है, उसे तो लोगों की कामनाएं पूरी करनी होती है।

इस अभ्यास के बिना :

क) ज्ञान निरर्थक है।
ख) ज्ञान समझ नहीं आ सकता।
ग) साधुता नहीं पा सकते।
घ) भगवान को नहीं पा सकते।

हर साधक को प्रथम यज्ञ, तप, दान का अभ्यास करना ही होगा। इसके बिना:

१. किसी भी सत् को आप समझ ही नहीं सकोगे।
२. किसी भी अवतारी पुरुष को आप समझ ही नहीं सकोगे।
३. आप निरासक्त तत्त्व को समझ ही नहीं सकोगे।
४. आप उदासीनता के रूप तथा स्वरूप को समझ ही नहीं सकोगे।
५. साधुता को भी नहीं समझ सकोगे।

सब कुछ छोड़कर संसार से भाग जाने से भगवान नहीं मिलते। पहले अपने में सद्गुण उत्पन्न कीजिये। जब साधु इन गुणों का अभ्यास करते हैं, तब वे वास्तव में

साधुता का संरक्षण करते हैं। इसी में परिपक्वता पाकर वे साधुता का प्रमाण स्वयं बन जाते हैं। भगवान स्वयं भी तो कहते हैं, 'मैं साधुओं के संरक्षण के लिए जन्म लेता हूं।'

नन्हीं! भगवान साधुओं का संरक्षण, यानि साधुता अभिलाषी जनों का असाधु गुणों से संरक्षण करते हैं। साधु असाधु न बन जाये, इस कारण वह साधुओं को साधुता का पथ दिखाते हैं। वह तो साधुता की पराकाष्ठा से पूर्ण जीवन व्यतीत करके साधुओं को साधुता के रूप तथा स्वरूप का प्रमाण देते हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

अर्जुन कह रहे हैं भगवान से :

शब्दार्थ :

१. वह देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश करते हैं।
२. कुछ भयभीत हुए हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं,
३. महर्षिगण और सिद्ध गण समुदाय, 'कल्याण हो', ऐसा कहकर,
४. उत्तम स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

कोई महा देवता गण,

क) आपकी पूर्णता को जानकर आप में प्रवेश करते हैं, आप में विलीन होते हैं, आप को प्राप्त होते हैं।
ख) आत्म तत्त्व को जानकर आत्मवान् हो रहे हैं।
ग) जीवन में आपके यज्ञ में सहयोगी हो रहे हैं।

अनेकों आपको देखकर भयभीत हुए,

१. आपकी महिमा का गान करते हैं।
२. आप ही के नाम में मस्त रहते हैं।
३. आप ही की चर्चा में निमग्न बैठे हैं।
४. वे जग के दु:खों से डरते हैं और आपकी शरण में आते हैं।

और कई लोग यही कह रहे हैं कि किसी विधि कल्याण हो।

यानि, अनेक विधियों से जीव आपकी ही उपासना कर रहे हैं। सिद्ध गण, सुर गण, महर्षिगण, आप ही की महिमा गा रहे हैं। आप ही के पथ पथिक बने, वे आप ही को जीवन में उतारने के यत्न कर रहे हैं।

साधक यही कह सकता है, हे भगवान! मैंने जान लिया है कि ये सब आप में ही हो रहा है। ये सब आप का ही विराट और वैश्वानर रूप है। ये सब आप से ही हो रहा है और ये सब आप ही कर रहे हो; तो कहो किसे श्रेष्ठ कहूं किसे न्यून

कहूं ? सब आप हैं; आपकी ही लीला है। किसे सराहूं , किसे ठुकराऊं ? ये राग द्वेष सब निरर्थक हो गये हैं। अब समझ गया कि यह पूर्ण आपकी क्रीड़ा है।

मैं तो इतना जान पाया हूं कि मेरा नाम रूप कोई नहीं है। इस पल यह भी जान गया हूं कि कोई श्रेष्ठ या न्यून अब नहीं रहा। सब तेरे, तुमसे हो गये, सब तुम्हीं अब हो गये हो। यह जानकर मेरे सम्पूर्ण राग द्वेष अब दूर ही हो गये हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

विस्मय से चकित हुए अर्जुन आगे कहने लगे :

शब्दार्थ:

१. रुद्र, आदित्य, वसु, तथा जो साध्य गण हैं,

२. तथा विश्व देव, अश्विनी कुमार, मरुत,

३. पितरों के समुदाय,

४. यक्ष, राक्षस और सिद्धों के समुदाय,

५. ये सब ही विस्मित होकर, आपको देख रहे हैं।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन ने कहा पूर्ण जो जहां भी हैं,

क) सब तुझको ही निहार रहे हैं।

ख) सब तुझको ही पुकार रहे हैं।

ग) सब तुझको ही जानने के यत्न कर रहे हैं।

अजी! विस्मय से ये क्या देखेंगे, विस्मय से तो अर्जुन देख रहा है। अपने विस्मय का वह उन सब पर आरोपण कर रहा है।

जो जीव स्वयं होता है, वही वह दूसरे को समझता है। जो स्वयं बुरा हो, उसे सब बुरे ही लगते हैं और सन्त को सब सन्त ही लगते हैं। जो स्वयं आत्मा में स्थित हो जाते हैं, उन्हें आत्मा बिना कुछ नहीं दिखता, यह तो नियम की ही बात है।

क्योंकि अर्जुन स्वयं आश्चर्य चकित होकर भगवान के विराट रूप को देख रहा है, उसे लगता है कि सम्पूर्ण देवता गण तथा यक्ष राक्षस भी भगवान को आश्चर्य युक्त होकर देख रहे हैं।

देख नन्हीं! अर्जुन को विराट रूप के दर्शन हो रहे हैं। वह इन सब देवताओं, असुरों और सिद्ध गणों को भगवान के आन्तर में स्थित देख रहे हैं। वह सम्पूर्ण सृष्टि को अखण्ड आत्म तत्त्व में स्थित देख रहे हैं। वह सब कुछ भगवान के लौकिक तन में नहीं देख रहे, वह तो मानो आत्मा के अलौकिक तन रहित अस्तित्व में पूर्ण ब्रह्माण्ड को देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

अर्जुन पुनः कहते हैं कि :

शब्दार्थः

१. हे महाबाहो,
२. बहुत से मुख, नेत्रों वाला,
३. बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाला,
४. बहुत उदर और बहुत दाढ़ों वाला,
५. आपका महान् रूप देखकर,
६. मैं और सब लोक व्याकुल हो रहे हैं।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! अर्जुन कहने लगे, 'हे भगवान! आपका अखिल रूप देखकर मैं घबरा गया हूं और अन्य लोक भी कांप रहे हैं। आपका बहुत हाथ, पांव और जंघा वाला यह रूप देखकर, यह लोक और मैं कांप रहे हैं। आपका बहुत बड़ा उदरों और भयानक दाढ़ों वाला रूप देखकर यह लोक और मैं कांप रहे हैं।'

यानि, विराट और विकराल विश्वरूप देखकर अर्जुन घबरा गया। विराट रूप में जब सुन्दरता देखी तब तो वह नहीं घबराया, परन्तु उसी विराट रूप में जब विकराल अंश देखा, तब वह घबरा गया।

इससे यह समझ लेना चाहिए कि अर्जुन एक साधारण जीव थे और ये सब देखकर भी वह आत्मवान् नहीं बने थे। अर्जुन अभी निरपेक्ष भाव से सब कुछ स्वीकार नहीं करते थे। वह अभी उदासीन नहीं हुए थे।

नन्हीं! भगवान स्वयं उसके सामने खड़े थे तब भी वह इस दर्शन से घबरा गया। याद रहे, अर्जुन को यह विराट रूप भगवान की अपार कृपा से दिख रहा था। उसकी नित्य समाधिस्थ की स्थिति नहीं थी, इस कारण वह घबरा गया। यदि शनैः शनैः 'वासुदेवमिदं सर्वम्' का अभ्यास जीवन में करते हुए इस स्थिति पर पहुंचता, तो घबराने की जगह,

१. मौन द्रष्टा बनकर सब निरखता रहता।
२. सब परम है, यह जानकर उसका भय नष्ट हो जाता, तब वह भयभीत कैसे हो सकता था?
३. गर कृष्ण से प्रेम पूर्ण योग होता तो भी 'सब कृष्ण है', ऐसा जानकर वह मुदित मनी हो जाता।

किन्तु वह न आत्मवान् था, न परम योग स्थित था और न ही वह नित्य समाधिस्थ था, इस कारण वह भयभीत हुआ था। वह समझने लगा कि सम्पूर्ण जहान भी भयभीत हो रहा है।

अभी तो वह बाह्य गुणों से प्रभावित हो रहा था। अपनी स्थिति के कारण नहीं, केवल भागवद् कृपा से विराट के दर्शन कर रहा था।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

हे सर्वव्यापी विष्णु स्वरूप भगवान!

शब्दार्थ :

१. आकाश से स्पर्श करते हुए,
२. प्रकाशमान, अनेक रंगों वाले,
३. खुले हुए मुखों वाले,
४. और चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले आपके इस रूप को देखकर,
५. भयभीत हुए अन्तःकरण वाला मैं,
६. धीरज और शान्ति को नहीं पाता हूं।

तत्त्व विस्तार :

विकराल रूप के प्रति अर्जुन की प्रतिक्रिया

'हे भगवान!
१. तेरा विकराल रूप देखकर,
२. तेरा महाकाल रूप देखकर,
३. तेरा विशाल रूप देखकर,
४. तेरा भयंकर रूप देखकर, महा भयंकर खुले हुए मुख को देखकर मैं घबरा गया हूं।
क) मेरी शान्ति भंग हुई जाती है,
ख) मेरा चैन चला जा रहा है।
ग) मेरा धीरज टूटा जा रहा है।'
इन वाक्यों पर ध्यान धरकर समझ!

अजीब बात है! परम पुरुष पुरुषोत्तम स्वयं सम्मुख खड़े होकर रूप सहित अपना स्वरूप दर्शा रहे हैं और अर्जुन अशान्त और भयभीत हुआ जा रहा है, अर्जुन का धीरज छूटा जा रहा है। यह क्यों हुआ ?

अर्जुन की प्रतिक्रिया का कारण :
१. अर्जुन की निहित मांग ब्राह्मी स्थिति नहीं थी।
२. अर्जुन की समस्या सत् असत् विवेक नहीं थी।
३. अर्जुन परम अभिलाषी नहीं थे।
४. अर्जुन परम पथ अनुयायी भी नहीं थे।
५. अर्जुन ज्ञान भी नहीं चाहते थे।
६. वह तो केवल युद्ध रूपा आधुनिक परिस्थिति में उचित अनुचित जानना चाहते थे।
७. वह तो 'किंकर्त्तव्य विमूढ़' हुए भगवान की शरण में आये थे।

फिर भगवान, अर्जुन को विराट रूप के दर्शन क्यों दे रहे हैं ?

भगवान तो केवल :
१. मोह निवृत्ति अर्थ उसे ज्ञान दे रहे हैं।
२. स्वभाव स्मृति अर्थ उसे ज्ञान दे रहे हैं।
३. सारथी रूप में युद्ध विजय अर्थ उसका साथ दे रहे हैं।
४. सख्य भाव निभाने के लिये उसका साथ दे रहे हैं।
५. अपने भक्त वत्सल स्वभाव के अनुकूल ये सब कह रहे हैं।

६. अर्जुन के मन को दूसरी ओर आकर्षित कर रहे हैं।
७. अर्जुन को पाप पुण्य से उठा रहे हैं।
८. अर्जुन को महा भयंकर युद्ध में नियोजित कर रहे हैं।
९. उसका क्षत्रिय भाव पुनः उसमें जगाना चाह रहे हैं।
१०. 'मैं मरूंगा या मैं मारूंगा', इन दोनों भावों के अभाव की चेष्टा कर रहे हैं।
११. विजय पराजय रूपा भय युक्त भावों से उठा रहे हैं।
१२. 'पूर्ण निश्चित है, पूर्ण वासुदेव ही है, तू घबराता क्यों है', ऐसा कह रहे हैं।
१३. 'पूर्ण आत्मा ही है, तू घबराता क्यों है,' ऐसा समझा रहे हैं।
१४. 'सब स्वतः गुण गुणों में वर्त रहे हैं, तू घबराता क्यों है,' ऐसा समझा रहे हैं।
१५. 'ब्रह्म का स्वरूप समझ, वह भी धर्म संस्थापन अर्थ जन्म लेते हैं, तू भी धर्म संस्थापन अर्थ यह युद्ध कर।'
१६. भगवान का जीवन अहंकार रहित अखण्ड यज्ञ है, तू भी अपना जीवन अहंकार रहित अखण्ड यज्ञ बना ले।

अर्जुन के पास जो ज्ञान पहले ही था, भगवान उसे उसी का विज्ञान रूप बता रहे हैं।

मानो कह रहे हैं,

क) अपने ज्ञान को विज्ञान में परिणित कर।
ख) अपने ज्ञान को जीवन में परिणित कर।
ग) तुझे कर्त्तव्य रूप युद्ध करना ही चाहिये, तुम्हारे लिये यही उचित है।
घ) परम पथिक का पथ भी यही है।
ङ) इस ज्ञान को जीवन में उतारना ही पड़ेगा।
च) जैसी भी अपनी परिस्थिति है, उसी में इस परम ज्ञान का अभ्यास कर।

परन्तु अर्जुन विराट रूप देखकर गद् गद् होने की जगह धृतिहीन, भयभीत तथा अशान्त हो गया। वह अपने आपको भगवान में न खो सका। वह अपनी व्यक्तिगतता को न भूल सका। वह यह नहीं भूला कि भगवान उसके सामने खड़े हैं, परन्तु वह अपने आपको उनमें विलीन न कर सका, अपने आपको भगवान की पूर्णता में समाहित न कर सका, इस कारण घबरा गया।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अर्जुन डरता हुआ बोला:

शब्दार्थ:

१. आपके विकराल, दांतों के जबड़ों वाले,
२. और प्रलय काल में अग्नि के समान,
३. प्रज्वलित मुखों को देखकर,
४. मुझे चक्कर आते हैं, यानि दिशायें नहीं सूझतीं,
५. और (मैं) सुख को भी नहीं पाता हूं।

६. इसलिये हे देवों के ईश्वर! हे जगत के निवास!

७. आप प्रसन्न होंवें।

तत्त्व विस्तार :

विकराल रूप देखकर अर्जुन की प्रतिक्रिया :

अर्जुन कहते हैं, 'भगवान! मैं तुम्हारे विकराल रूप को देखकर घबरा गया हूं और चकरा गया हूं। अब सौम्य रूप तुम धर लो श्याम!'

अर्थात्,

क) 'इस रूप को अब तुम छोड़कर पुन: अपना सौम्य रूप धर लो।

ख) तुम्हारा भयंकर रूप देखकर मुझे तुमसे डर लगता है।

ग) मुझे ऐसे लगता है कि तुम बहुत नाराज़ हो।

घ) हे देवों के देव, हे जगत के निवास स्थान, अब आप प्रसन्न होंवें।

तुम्हारा ऐसा रूप देखकर :

१. मैं तो विभ्रान्त हो गया हूं।
२. मैं तो अपना चैन गंवा बैठा हूं।
३. मैं तो अचेत हो गया हूं।
४. मुझे कुछ सूझता ही नहीं है।

तुम्हारा यह रूप देखकर मुझे ऐसा चक्कर आ रहा है कि अब मुझे दिशाओं का भी अन्दाज़ नहीं रहा। उत्तर किस ओर है और पूर्व किस ओर है, यह भी नहीं सूझ रहा।

हे दयानिधि! आप प्रसन्न हों और इस विकराल रूप को हटाकर सौम्य रूप धर लीजिये।'

नन्हीं! विकराल रूप देखकर मन घबरा ही जाता है। फिर अपने सौम्य तथा नित्य अनुकूल सखा को ऐसे भयंकर रूप में देखकर घबरा जाना तो सहज सी बात है।

विकराल रूप का ज्ञान और जीवन में भेद

नन्हीं! बातों में तो भगवान अपना विराट स्वरूप बता ही आये थे। फिर यह रूप देखकर अर्जुन घबरा क्यों गया ?

केवल ज्ञान की बातें सुनने से जीव घबराता नहीं है।

दृष्टांत :

यदि कोई आपका अतीव प्रिय आपसे प्रेम की बातें करते करते आपको अपने ही क्रोध की बातें भी कहे और कहे कि 'मैं अतीव क्रोधी भी हूं और जब मुझे क्रोध आता है तो मैं बहुत भयानक रूप धर लेता हूं', तब आप उसकी बातें सुनकर उसे ही श्रेष्ठ कहते हो। तब मन स्वत: यह सोचता है कि यह कितना अच्छा है, इसने अपने क्रोध की बात भी सच सच कह दी, इसने अपने लोभ की बात भी सच सच कह दी; किन्तु जब वह महाक्रोधी का रूप धारण करके आप पर ही क्रोध करने लगे, तब उसका अच्छापन भूल जाता है। तब आप भी भड़क जायेंगे और घबरा जायेंगे।

नन्हीं! यही अर्जुन से भी हुआ और यही साधकों तथा अन्य लोगों के साथ भी होता है।

विकराल रूप दर्शन की आम लोगों में प्रतिक्रिया :

साधक गण की साधना की राहों में सबसे बड़ा विघ्न भी यही है।

१. वे ज्ञान तो सुन सकते हैं और ज्ञान सुनकर बहुत खुश होते हैं।
२. वे स्वरूप की बातें सुनते हैं और सुनकर बहुत खुश होते हैं।
३. वे प्रेम की बातें सुनते हैं और सुनकर बहुत खुश होते हैं।
४. वे रुचिकर बातें सुनते हैं और अपनी रुचि के अनुसार काज करते हैं।
५. गुरु सेवा भी गुरु अनुकूलता के कारण करते हैं।

किन्तु नन्हीं! यदि कोई :

क) उन्हें उन्हीं की मान्यता के विरुद्ध बात बताये तो वे तड़प जाते हैं।
ख) उन्हीं के विरुद्ध बात कहे, तो वे भड़क जाते हैं।
ग) उन्हें यह कहे कि तुम्हारा ज्ञान सत्य नहीं क्योंकि तुम्हारा जीवन उस ज्ञान के अनुकूल नहीं, तो वे आपको देखना पसन्द नहीं करेंगे।

बातों में कह भी दो कि ज्ञान अनुकूल जीवन नहीं है, उसको तो मुसकरा कर मान भी लेंगे, किन्तु यदि आप उनको उनके निजी जीवन की सहज बातों में टोकना शुरु कर दें, तो वे तड़प जायेंगे।

नन्हीं! साधक की साधना केवल मानसिक खिलवाड़ नहीं है। यदि आपके सहज जीवन में यही ज्ञान पूर्ण रूप से प्रमाणित नहीं होता तो आप सत्त्व अभिलाषी नहीं।

यदि आपके सम्मुख, आपको ज्ञान बताने वाला भयानक रूप धर ले तो आप यह भी भूल जायेंगे कि आप अपने गुरु से बात कर रहे हो और शायद उसे मूर्ख भी कहना आरम्भ कर दें।

साधक गण तथा शिष्य गण भी ऐसी विपरीतता को विकराल रूप समझ कर घबरा जाते हैं।

नन्हीं! सौम्य रूप तो आप पसन्द करते हैं, भयंकर राक्षसी रूप को कौन सह सकता है ? सो अर्जुन की घबराहट सच्ची थी।

विकराल रूप सहने वाला आत्मवान् :

जो भगवान के विकराल रूप को मुसकरा कर सह ले, वह भगवान से कम नहीं होगा। नन्हीं! जो कालिमा को व्यक्तिगत जीवन में सप्राण रूप में अंगीकार कर ले, वह भगवान से कम नहीं होगा। जीवन में सहज लोगों से विकरालता को सह लेना महा भक्तिपूर्ण ज्ञानवान् का चिन्ह है।

अर्जुन भी अपने नित्य सखा तथा सारथी रूप सहयोगी के विकराल रूप से घबरा गया और घबराहट के कारण अपनी बातें भी दोहराने लगा।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७॥

अर्जुन कहते हैं भगवान से :

शब्दार्थ :

१. अन्य राजाओं के समूह के सहित, वह सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र,
२. तथा भीष्म, द्रोण और सूत का पुत्र (कर्ण),
३. हमारे मुख्य योद्धाओं के साथ, बहु तीव्रता से,
४. आपके विकराल और भयानक दाढ़ों वाले मुख में घुसे जाते हैं,
५. और कई एक चूर्ण हुए सिर सहित, आपके दांतों के बीच में लगे हुए दिखते हैं।

तत्त्व विस्तार :

विकराल रूप के दर्शन :

अर्जुन, भगवान के महा काल रूप, भयंकर मृत्यु देने वाले रूप को देख रहे हैं। वह देखते हैं कि महायोद्धागण, महावीर, मानो अपनी मृत्यु की ओर भागे चले जा रहे हैं और भगवान के ही मुख में समा रहे हैं। कहीं खून बहता है तो उसी मुख में बहता है, कहीं मौत आती है तो उसी विकराल रूप में आती है। संसार में जो भी महा भयंकर, दिल को विदीर्ण करने वाला होता है, वह सब उसी भगवान के विकराल रूप में होता है।

अर्जुन ने देखा कि धृतराष्ट के सम्पूर्ण पुत्र, अपने सहायक राजाओं के समुदाय के सहित भगवान में प्रवेश कर रहे हैं। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा कर्ण और अन्य कईयों के सिर चूर्ण होकर भगवान के दांतों में लगे हैं।

भगवान की पूर्णता :

नन्हीं! यदि सौम्य, सुख देने वाले गुण भगवान के हैं, तो भयंकर, दुःख देने वाले गुण भी भगवान के हैं। यदि भगवान साधुओं के सम्पूर्ण गुण अपनाते हैं और कहते हैं कि वे सब वही हैं, तो उसी पूर्णता में भयंकर युद्ध भी होता है और वह भीषण युद्ध भी वही हैं। उस युद्ध में होने वाले प्रहार, मृत्यु, दुःख, कलह, विद्रोह भी तो उन्हीं में हो रहा है और वे सब भी तो वही हैं।

अर्जुन यहां भगवान की पूर्णता को पूर्णतयः देख रहे हैं। अर्जुन मान रहे हैं कि जहान में जो कुछ, कहीं भी हो रहा है, वह भगवान में ही हो रहा है।

नन्हीं!
१. अभी अर्जुन नहीं समझ रहे कि भगवान तन नहीं, आत्मा हैं।
२. वह अभी यह नहीं समझ रहे कि भगवान सौम्यता तथा विकरालता दोनों हैं।

अर्जुन आत्मा में स्थित होकर सब कुछ नहीं देख रहे, वह तो अपने तन में ही बैठ कर सब देख रहे हैं। वह अपने आत्म बल से भगवान की पूर्णता नहीं देख रहे, वह भगवान की कृपा से भगवान की पूर्णता को देख रहे हैं।

कहना है तो यह कह लो, वह अपनी प्रज्ञा राही भगवान को देख रहे हैं। किन्तु ध्यान से देख, वह जो देखना चाहते हैं, वह देख रहे हैं।

भगवान ने तो अपने अच्छे गुण बताये थे, अर्जुन उनमें अपनी विजय के साधन रूप विकराल रूप देख रहे हैं और अपने शत्रुओं का दमन भी उन्हीं में देख रहे हैं। अर्जुन ने अभी अपने आपको भगवान में नहीं देखा। अर्जुन अपना व्यक्तित्व नहीं छोड़ रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ २९॥

अब अर्जुन आगे देखते हुए कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जैसे नदियों के बहुत से जल प्रवाह समुद्र की ओर मुख किए हुए दौड़े जाते हैं,
२. वैसे ही यह नर लोक के वीर आपके प्रज्वलित हुए मुख में प्रवेश करते हैं।
३. जैसे पतंगे नष्ट होने के लिए पूर्ण वेग से प्रज्वलित ज्वाला में प्रवेश करते हैं।
४. वैसे ही ये सब लोक भी आपके मुख में अति वेग से, अपने नाश अर्थ प्रवेश कर रहे हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! यहां अर्जुन कह रहे हैं कि :

क) ज्यों नदियां अति वेग से समुद्र की ओर भागी जाती हैं, वैसे ही नरलोक के वीर पुरुष आपके प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं।
ख) जैसे पतंगे अग्नि में नाश होने के लिये भागे जाते हैं, वैसे ही सब लोग आप में अपने नाश के लिए भागे आ रहे हैं।

पहला दृष्टांत अर्जुन ने जड़ नदियों से समतुलना करके दिया और कहा कि वीरता अभिमानी लोग अपने सहज गुणों से बंधे हुए अपनी मृत्यु की ओर जा रहे हैं। यानि, उनका क्षत्रिय गुण तथा बल का गुण उनको सहज ही मृत्यु रूपा महासागर की ओर लिए जा रहा है। वीरों को मानो उनकी युद्ध प्रियता ही युद्ध की ओर खेंच लेती है। वे वीर लोग खुशी से मृत्यु की ओर जाते हैं।

वैसे ही अन्य लोग भी पतंगों की तरह अपनी मौत की ओर जा रहे हैं। दोनों ही, यानि, कीट, पतंग तथा वीर पुरुष मृत्यु की ओर जा रहे हैं।

नन्हीं!

१. दोनों ही गुणों से बन्धे हैं।
२. दोनों को ही गुण विवश खेंचे लिये जा रहे हैं।
३. दोनों ही प्रकृति के चक्र में बढ़ते जा रहे हैं।
४. ऐसे लगता है कि मृत्यु धर्मा तन अपनी मृत्यु की तलाश कर रहा हो।

किन्तु कीट पतंग पूर्णतय: अन्धे होते हैं और वीर पुरुष जान बूझकर मृत्यु की ओर जाते हैं।

इन वीर पुरुषों में पाण्डव सेना के मुख्य योद्धा गण भी थे।

नन्हीं! अर्जुन भगवान को अभी भी महा विशाल तन धारी के रूप में देख रहे हैं तथा यही कह रहे हैं कि ये सब लोग भगवान के प्रज्वलित मुख में प्रवेश कर रहे हैं।

नन्हीं! ब्रह्म, यानि परम आत्म स्वरूप तो अद्वितीय तथा अखण्ड एक हैं, किन्तु

क) अर्जुन अपनी मान्यता के अनुसार विभिन्न लोकों के लोगों को उनके अन्दर जाते देख रहा है।
ख) अर्जुन अभी भी यह नहीं मान सका कि 'पूर्ण' पूर्ण ही होता है।

भगवान कह कर आये हैं कि मैं किसी की श्रद्धा को भंजित नहीं करता, बल्कि उसकी श्रद्धा को उसी के श्रद्धास्पद में और भी दृढ़ कर देता हूं।

अर्जुन सतो गुण से संग करने वाला सतो गुण में स्थित था। वह पूर्ण श्रेष्ठ गुण तो भगवान के मान सकता था पर दुर्गुण भगवान पर आरोपित नहीं कर सकता था। ऐसा भयंकर रूप देख कर वह घबरा गया और ऐसे भयंकर रूप को भगवान से कुछ कुछ भिन्न देखने लगा। इन सब लोगों को भगवान के अन्दर जाते तो देखा और भगवान के उग्र रूप में भस्म होते तो देखा, किन्तु ये सब भगवान ही हैं, यह नहीं समझ सका।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ ३०॥

भगवान के तेजोमय मुख का वर्णन करते हुए अर्जुन कहने लगे,

शब्दार्थ :
१. हे विष्णु! आप अपने प्रज्वलित मुख से,
२. चारों ओर से समस्त लोकों को
३. ग्रसन करते हुए चाट रहे हैं।
४. आपका उग्र प्रकाश,
५. सम्पूर्ण जगत को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके, तपायमान कर रहा है।

तत्त्व विस्तार :

यही है ज़िन्दगी मेरी जान!

शब्दों पर क्यों जाती हो, शब्दों के पीछे निहित तत्त्व सार समझो।

क) हम सब मृत्यु की ओर जा रहे हैं।
ख) हम सब उस परम में ही समा रहे हैं।
ग) हमारा तन भी पंच तत्त्वों का भोजन है।
घ) धरती ने धरती तत्त्व वापस ले ही लेना है।
ङ) वायु ने वायु तत्त्व वापस ले ही लेना है।
च) जल ने जल तत्त्व वापस ले ही लेना है।

कुछ पल का हमारा साथ है इस तन से,जो चाहो, ज्यों चाहो जी लो! तप करना है, या तपना है, यह तुम्हारी इच्छा है।

आपने,
१. योगी बनना है या भोगी बनना है,
२. भक्त बनना है या आसक्त बनना है,
३. सुर बनना है या असुर बनना है,
४. अमरत्व पाना है या मृत्यु को पाना है,
५. ज्ञान पाना है या अज्ञान पाना है,

यह सब आपकी इच्छा पर निर्भर करता है। जो चाहते हो कर लो।

जीवन चक्र का स्वरूप यहां दिखा रहे हैं भगवान!

तप :
- भगवद् भजन तप ही है, आत्म तत्त्व से तद्रूपता की चाह तप है।
- तप सहनशक्ति को भी कहते हैं, तप तपाने को भी कहते हैं।
- तपस्वी मौन रह कर सब कुछ सह लेता है।

भगवद् तत्त्व से दूर रहने वाले को विपरीतता तपाती है और दुःखी कर देती है।

जब जीव आत्मा की नित्यता तथा मृत्यु की निश्चितता को नहीं पहचानता, वह तपायमान होता है।

जो जीते जी तन को छोड़ देता है, वह मृत्यु से भी तर जाता है। वह लिपायमान

नहीं होता, वह तो स्वयं आत्म स्वरूप बन जाता है।

यहां अर्जुन ने भगवान को *'विष्णुः' कहकर पुकारा। विष्णु भगवान का सौम्य अंश है। विष्णु तो जग के संरक्षक, पालन पोषण कर्त्ता तथा विभिन्न चाहनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।

यहां अर्जुन मानो भगवान से कह रहे हों :

'हे सृष्टि को पालने वाले, हे सृष्टि का संरक्षण करने वाले, हे सौम्य रूप तथा करुणा पूर्ण, हे दया तथा वात्सल्य की मूर्त्त, इन सब गुणों के पुंज विष्णु!

- यह तुम्हारा विकराल रूप मुझे समझ नहीं आ रहा है।
- तुम इन सम्पूर्ण लोगों को अपने दांतों में चबा रहे हो।
- इन सम्पूर्ण लोगों का रक्त पान कर रहे हो।
- तुम इन सम्पूर्ण लोगों को ग्रसते हुए अपनी जीभ से चाट रहे हो।
- तुम्हारी यह बात मुझे तनिक भी समझ नहीं आ रही है।'

नन्हीं तथा नन्हीं की मां कमला!

जीव भगवान को सदा :

क) सौम्य मूर्त्त समझते हैं।
ख) वरदान देने वाला समझते हैं।
ग) सुख देने वाला समझते हैं।
घ) संरक्षक रूप समझते हैं।

उनके लिये यह समझना कठिन हो जाता है कि मृत्यु भी वही हैं, न्याय भी वही हैं, दुःख दर्द और तड़प भी वही देते हैं, वास्तव में कर्म फल चक्र भी तो वही हैं। कर्म फल के रूप में जो सुख दुःख मिलते हैं वह भी तो वही हैं।

अर्जुन की भी यही समस्या थी।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१॥

अर्जुन कहते हैं भगवान से, हे भगवान!

शब्दार्थ :

१. आप मुझे बताईये कि आप,
२. उग्र रूप वाले कौन हैं?
३. आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होईये।
४. आदि पुरुष आप को मैं तत्त्व से जानना चाहता हूं,
५. क्योंकि आपकी प्रकृति को मैं नहीं जानता।

---

* दशमोऽध्यायः, श्लोक २१
एकादशोऽध्याय, श्लोक ४६

तत्त्व विस्तार :

भगवान! आप मुझे बताओ

१. विकराल रूप आपने क्यों धरा ?
२. आप ही मुझे बता दें कि आप मुझे क्या समझाना चाहते हैं ?
३. आपको सौम्य रूप, सख्य भाव में तो मैंने देखा है।
४. आपको महा ज्ञानवान् के रूप में भी मैंने देखा है, किन्तु इस भयंकर क्रूर रूप में पहले नहीं देखा।

मैंने आपका ऐसा संहारक रूप पहले कभी नहीं देखा। आप ही मुझे बताईये, इस अखिल संहारक रूप में आप कौन हैं ?

आप ही आदि पुरुष हैं, मैं आपको तत्त्व से जानना चाहता हूं।

आपकी प्रवृत्ति कैसे होती है और क्या है, यह मैं नहीं जानता, आप ही मुझे बताईये।

श्री भगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन सुन!

शब्दार्थ :

१. मैं लोकों को क्षय करने वाला,
२. बढ़ा हुआ काल हूं,
३. यहां लोकों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूं।
४. जो वीर गण प्रतिपक्षी सेना में स्थित हैं,
५. वे तेरे बिना भी नहीं रहेंगे।
६. इसलिए तू खड़ा हो,
७. यश को प्राप्त कर,
८. शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोग।
९. ये सब तो मेरे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं,
१०. हे सव्य साचिन्! तू (केवल) निमित्त मात्र ही हो जा।

तत्त्व विस्तार :

भगवान यहां :

क) विधान की बात कहते हैं।
ख) रेखा की बात कहते हैं।
ग) अवश्यम्भावी की बात कहते हैं।
घ) पहले वह स्वभाव की बात कह आये हैं।

ङ) गुण आकर्षण की बात कह आये हैं।
च) गुण प्रतिकर्षण की बात भी कह आये हैं।
छ) गुण गुणों में वर्तने की बात भी कह आये हैं।

फिर यह भी कह आये हैं कि :
ज) सब में गुण भी वही भरते हैं।
झ) संरक्षक भी वही आप हैं।
ञ) संहारक भी वही आप हैं।
ट) उत्पत्ति, स्थिति, लय कारण भी वह आप हैं।
ठ) भरण और पोषण कर्त्ता वह आप हैं।

इस समय कह रहे हैं कि :
१. महाकाल वह आप हैं।
२. इन वीरों की मृत्यु बेला आ चुकी है।
३. इन्हें तो मरना ही है।
४. अर्जुन! तू उठ और निमित्त बनकर इन्हें मार दे।

याद रहे, भगवान पहले कह आये हैं कि न कोई किसी को मार सकता है, न कोई किसी को मारता है, न कोई किसी को मरवा सकता है।

इस समय अर्जुन से कहते हैं कि तू निमित्त मात्र बन। बाकी तो मैं इन्हें मार ही चुका हूं।

तत्पश्चात् :
१. तुझे यश मिलेगा।
२. तुझे सुख मिलेगा।
३. तू समृद्ध राज्य भोगेगा।

ये सब उन्होंने अर्जुन के दृष्टिकोण से कहा है। वैसे यह तो होना ही था। जब प्रतिपक्षी गणों की मृत्यु लिखी ही हुई थी तो यह भी निश्चित ही होगा कि विजय पाण्डवों की होगी।

अर्जुन तो रण से भयभीत हुआ था, इसके कारण अनेकों थे। एक कारण यह भी था कि न जाने वे जीतेंगे या हारेंगे! इस अवस्था में अर्जुन को उत्तेजित करने के लिये भगवान का विजय रूपा फल का वर्णन करना ज़रूरी था। विजय रूप फल पर विश्वास का गुण अर्जुन को युद्ध करने के लिये आकर्षित कर रहा था। गुण गुणों में वर्तते हैं, इस कारण भगवान विजय रूपा गुण बता कर अर्जुन को युद्ध करने के लिए उत्तेजित कर रहे थे।

नन्हीं! भगवान कहते हैं कि :
१. वही सम्पूर्ण संसार की मृत्यु भी हैं।
२. वही सम्पूर्ण संसार का लय भी हैं।
३. 'यहां पर मैं लोकों के संहार के लिए ही प्रवृत्त हुआ हूं।'

नन्हीं! यह कहकर भगवान समझा रहे हैं कि :
क) मृत्यु भी मैं ही हूं।
ख) यह भयानक युद्ध भी मैंने ही रचा है।
ग) केवल सौम्यता ही मुझ पर आरोपित न कर, विकराल रूप भी मैं ही हूं।
घ) लोगों के दु:ख दर्द, भीषण मृत्यु, संताप इत्यादि भी मैं ही हूं।
ङ) यह सब भी मुझी से होता है, और मैं ही इन सब को यहां विभिन्न प्रकार की मृत्यु दे रहा हूं।

इसलिये तू युद्ध कर!

निमित्त मात्र जीव :

भगवान कहते हैं :

- इन लोगों की मृत्यु निश्चित है और तुम्हारी विजय भी निश्चित है।
- तुम तो केवल इन लोगों की मृत्यु का निमित्त मात्र हो।
- यानि तुम तो उनकी मृत्यु के नाममात्र कर्त्ता हो, तुम स्वेच्छा से इन्हें नहीं मार सकते।
- इन्हें तो मरना ही है, केवल तुम्हारे हाथों से मारे जाना है।

तुम्हारी रेखा में दिया हुआ है कि इन्होंने तेरे तन राही मारा जाना है,किन्तु इसमें तुम्हारा इनको मारने से कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम तो केवल एक निमित्त मात्र हो। यूं कह लो कि तुम इन लोगों की मृत्यु का एक पूर्व नियोजित कारण हो।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

भगवान कह रहे हैं देख अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह,
२. जयद्रथ और कर्ण,
३. तथा अन्य भी बहुत से
४. मेरे द्वारा मारे हुए,
५. शूरवीर योद्धाओं को तू मार और भय मत कर!
६. युद्ध में तू निश्चित ही वैरियों को जीतेगा।
७. इसलिए युद्ध कर!

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान, अर्जुन को उत्साह देते हुए कहने लगे कि,

हे अर्जुन!

१. तू अपने शत्रुओं से डर नहीं और युद्ध कर, तू निश्चित जीतेगा।
२. तू युद्ध से संकोच मत कर, तू निश्चित जीतेगा।
३. जिनकी सेना देखकर तू घबरा गया है, वहां घबराने की कोई बात नहीं है।
४. तू आचार्य तुल्य द्रोण को मारने से मत घबरा,
५. पितामह भीष्म को मारने से मत घबरा,
६. जयद्रथ (धृतराष्ट्र की इकलौती बेटी का पति) को मारने से मत घबरा,
७. कर्ण की मृत्यु से भी न घबरा,
ये सब तो पहले ही मारे जा चुके हैं।

नन्हीं! भगवान ने इन सबके नाम क्यों लिये और अर्जुन उनसे क्यों घबराता था, इसे समझ ले!

क) द्रोणाचार्य धनुर्विद्या में अति विशिष्ट गुरु थे और दिव्य शस्त्रों से युक्त थे। यह अर्जुन के भी गुरु रह चुके थे।
ख) भीष्म अर्जुन के पूज्य पितामह थे तथा शस्त्र प्रवीण भी थे। इन्हें स्वेच्छा से मरने का वरदान भी मिला हुआ था। अति बलवान शस्त्र धारियों को इन्होंने अनेक बार पराजित किया था।
ग) जयद्रथ धृतराष्ट्र की इकलौती कन्या के पति थे। इनके पिता ने महा तप किया था जिसके प्रताप से जो भी जयद्रथ के सिर को धरती पर गिराता, उसके अपने सिर के सहस्त्रों टुकड़े हो जाते।
घ) कर्ण अर्जुन की मां की कोख से ही उत्पन्न हुआ था, जिसे सूर्य ने अत्यन्त शक्ति दे रखी थी। कर्ण सूर्य पुत्र थे।

इन सबको जानते हुए और अपने सम्मुख देखते हुए अर्जुन का घबरा जाना सहज ही बात थी।

भगवान ने कहा, अर्जुन! इन सबकी मौत तो आई हुई ही है। तू अब न घबरा और युद्ध कर। विजय तुम्हारी ही होगी।'

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय कहते हैं धृतराष्ट्र से :

शब्दार्थ :

१. केशव की ऐसी वाणी सुनकर,
२. मुकुट धारी अर्जुन,
३. हाथ जोड़कर कांपता हुआ नमस्कार करके,
४. भयभीत हुआ और विनम्र हुआ,
५. प्रणाम करके,
६. गद्गद् हुआ भगवान से कहने लगा।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन मानो कहने लगे :
क) भगवान के महाकाल रूप से भयभीत हुआ हूं मैं।
ख) मैं मित्र, नाते तथा बन्धु जन की मृत्यु निश्चित जानकर भयभीत हुआ हूं।
ग) मैं सखा कृष्ण का विराट रूप देखकर भी भयभीत हुआ हूं।
घ) निमित्त मुझी को बनना है, यह जान कर भी भयभीत हुआ हूं।

भय और विजय संयोग हुआ तो कांप उठा।

भय में कृष्ण का प्रेम भी था, भय में अर्जुन का प्रेम भी था।
- उसे रोमांच हुआ और वह विकम्पित हो गया।

- वह विनम्र हुआ और गद्गद् हो गया।
- वह आश्चर्यचकित भी कुछ हो गया, वह पुलकित मनी भी हो गया और सीस झुका कर नमन किया।

नन्हीं देख! यहां कहते हैं कि मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़ता हुआ, कांपता हुआ, नमस्कार करता हुआ, गद्गद् वाणी से, डरते डरते कृष्ण को प्रणाम करके बोला।

कृष्ण को यहां केशव कहा, केशव का अर्थ पुनः समझ ले।

*** केशव**

केशव = क्लिष्+ अच √ वा+उ

क्लिष् का अर्थ है पीड़ित होना, संतापित होना, सताया हुआ।

अच् का अर्थ है प्रार्थना करना, सम्मान देना, जानना, अनजानापन।

वा का अर्थ है सदृश्, जैसा, उपमा।

इस सन्दर्भ में केशव का अर्थ होगा :

१. महापीड़ित के समान प्रार्थना करने वाला।
२. महा दुःखी के समान मनाने वाला।
३. महा झुके हुए के समान सम्मान देने वाला।

यानि :

क) दूसरों के दुःख के सदृश् होने वाला।
ख) दूसरों की व्यथा में एकरूप होने वाला।
ग) दूसरों को उनके ही दुःख के तद्रूप होकर मनाने वाला।

नन्हीं! अब ध्यान से देख!

भगवान कृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर खड़े थे और वीर योद्धा और मालिक रूप राजा की जगह अर्जुन खड़े थे।

भगवान अर्जुन को मना रहे थे, वह अर्जुन के तद्रूप होकर, उसकी स्थिति के अनुसार उसे समझा रहे थे।

अपनी श्रेष्ठता तथा शूरवीरता से संग होने के कारण अर्जुन अभी भगवान की उच्चतम स्थिति को नहीं समझ रहे। भगवान का विकराल रूप देखकर वह मुकुटधारी अर्जुन, नित्य भक्त वात्सल्य हेतु अपने भक्तों के पास झुके हुए कृष्ण के सम्मुख झुक गया। अपने सखा की इतनी उच्च स्थिति को देखकर वह घबरा गया।

---

* केशव के विस्तार के लिए देखिए प्रथमोध्याय:, श्लोक ३१

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ३६॥

गद्गद् अर्जुन बोला कृष्ण से :

शब्दार्थ :

१. हे कृष्ण! यह योग्य ही है कि,
२. आपके कीर्तन से जग हर्षित होता है
३. और अनुराग को भी प्राप्त होता है।
४. भयभीत हुए असुर गण दिशाओं में भागते हैं
५. और सब सिद्ध गणों के समुदाय आपको नमस्कार करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन कहने लगे भगवान से, 'यह उचित ही है कि,

क) जग सारा तेरे गुण गाता है।
ख) गा गाकर महिमा तुम्हारी, फिर भी तुझे कोई जान नहीं पाता।
ग) जितना जितना जानें तुझे, तुम्हारी ओर उतना ही आकर्षण बढ़ जाता है।
घ) गुण गाने में निहित शक्ति है। जितने गुण गायें, उतनी ही निरन्तर भक्ति और बढ़ जाती है।
ङ) जग आसक्ति स्वतः मिट जाती है और तुझ में भक्ति स्वतः बढ़ जाती है।
च) जो तेरा नाम लेता है, मुदित मनी वह हो जाता है। उसके पूर्ण दुःख पल में विनष्ट हो जाते हैं।
छ) अपरम्पार तेरी महिमा है, जो पल में चित्त को पावन कर देती है।
ज) असुर तुझे नहीं सह सकते, वे भयभीत होकर भागते हैं। तुमसे छुपे हुए फिरते हैं वे, पर तुम वहां भी होते हो जहां वे तुमसे भाग कर जाते हैं।
झ) पाप विनाशक परम पावन तू आप है।
ञ) सिद्ध गण तुझे नमन करें, महा पावनता तू आप है।

सिद्ध गण का नमन है पूर्ण नमन,
इक बार झुके तो झुके रहे।
इक बार जो सीस झुका दिया,
फिर सीस पे राम ही राज्य करे॥

तन मन बुद्धि जीते जी,
वे भगवान को दे देते हैं।
प्राणों से भी जब संग मिटे,
भगवान वास वहां करते हैं॥

नमन हुआ तो 'मैं' गया,
बिन 'मैं' के गये न राम आयें।
जिस पल प्राणा राम को दे,
सप्राण राम वहां हो जायें॥

कीर्तन :

कीर्तन का अर्थ है,
१. यशोगान करना।

२. गुणों का गान करना।
३. स्तुति करना।
४. पुकारना तथा प्रार्थना करना।
५. पुनरावृत्ति करना।
६. घोषणा करना।

नन्हीं! कीर्तन का वास्तविक अर्थ है भगवान के गुणों को समझकर उन्हें अपने जीवन में लाने की घोषणा करना।

भगवान की वास्तविक ख्याति तथा पुनरावृत्ति तो तब ही हो सकती है यदि उनके गुणों का यशोगान करने वाले स्वयं उनके गुणों की प्रतिमा बन जायें। भगवान के सहज जीवन में उनके जो गुण दिखते हैं, उन्हें यदि सच्चा भक्त समझेगा तो वह उन्हें अपने जीवन में लाना चाहेगा। उस भक्त का अनुराग भागवत् और दैवी गुणों से और बढ़ जायेगा।

भगवान की जब महिमा गाते हो तो उसे करुणापूर्ण, क्षमा स्वरूप, भक्त वत्सल, दु:ख विमोचक इत्यादि कहते हो। यदि यही गुण आप अपने में ले आओ तो आप सब पर करुणापूर्ण दृष्टि रखोगे, गिले शिकवे छोड़ कर सबको क्षमा करोगे, सबके दु:ख हरने का प्रयत्न करोगे। तब आप स्वयं भी पावन ही हो जाओगे।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

अर्जुन कहते हैं :

शब्दार्थ :

हे भगवान! हे महात्मन्!
१. ब्रह्म के भी आदि कर्त्ता और
२. सबसे श्रेष्ठतम आप ही हैं।
३. हे अनन्त! हे देवेश!
हे जगन्निवास!
४. सत् असत् और उससे परे अक्षर भी आप हैं।
५. आपको क्यों न नमस्कार हो?

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि :

१. ब्रह्म के आदि कारण आप स्वयं ही हो।
२. सृष्टि को आप ही धारण करते हैं।
३. सर्वोत्तम और सर्वोपरि आप ही हैं।
४. आप स्वयं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हैं।

अनन्त अखण्ड भी आप हैं,
अखिल रूप भी आप हैं।
अविनाशी अक्षर हैं आप,
सत् असत् भी आप हैं॥

देवादि देव आप ही हैं,
देवपति भी आप हैं।
देवन् में शक्ति आप हैं,
सर्वदेव भी आप हैं॥

हे जगत् निवास जगत् धाम,
यह जगत् भी तो आप हैं।
विश्वेश्वर और विश्वपति,
वैश्वानर भी तो आप हैं॥

परम सनातन दिव्य पुरुष,
पुरुषोत्तम भी आप हैं।
हे निराकार हे अखिल रूप,
इक रूप बधित भी आप हैं॥

कैसे न सब नमन करें,
जब अखिलपति ही आप है।
परम धाम परम निवास,
अक्षर ब्रह्म ही आप हैं॥

नन्हीं! यहां अर्जुन ने भगवान को सत् और असत् के परे कहा है।

सत् :

क) ब्रह्म की ओर जो भी कर्म किया जाये, वह सत् होता है।

ख) स्वरूप की ओर जो भी कदम लिया जाये, वह सत् होता है।

ग) भगवान की हर विभूति सत् ही होती है।

* असत्

१. असुरत्व वर्धक हर गुण असत् माना जाता है।
२. प्रेय पथ की ओर हर कदम असत् माना जाता है।
३. हर अशुभ कर्म असत् माना जाता है।

भगवान का विकराल रूप देखकर अर्जुन कहने लगे कि, 'सत् असत् से परे तुम हो। यह सब तुझसे हैं, तुममें ही विश्राम पाते हैं, किन्तु तुम इन सबसे नित्य निर्लिप्त तथा परे हो।' यहां अर्जुन भगवान कृष्ण के आत्म तत्त्व स्वरूप की महिमा गा रहे हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

हे भगवान!

शब्दार्थ :

१. आप आदि देव, सनातन पुरुष हैं।
२. आप इस जगत के परम आश्रय हैं।
३. आप ही जानने वाले और,
४. आप ही जानने योग्य हैं।
५. आप ही परम धाम हैं
६. और हे अनन्त रूप! आपसे जगत परिपूर्ण है।

---

* असत् के विस्तार के लिए देखिए २/१६,

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान की महिमा गाते हुए कहते हैं कि :

अखिल देवों के देव तुम्हीं हो,
सनातन पुरुष तुम ही हो।
परम पुरुष पुरुषोत्तम तुम,
दिव्य रूप भी तुम ही हो॥

अक्षर नित्य सनातन तुम,
अजर अमर अपरम्पार हो तुम।
अखण्ड सत् इक तुम ही हो,
पूर्ण जग का आधार हो तुम॥

परम आश्रय इक तुम ही हो,
ज्ञान विज्ञान स्वरूप हो तुम।
ज्ञान घन, सब तुम जानो,
निज स्वरूप वेत्ता हो तुम॥

ज्ञातव्य इक तुम ही हो,
दुर्विज्ञेय, अचिन्त्य तुम।
अप्रमेय तू विज्ञान रूप,
परम अलौकिक अप्रतिम तुम॥

हे अनन्त रूपा भगवान,
अखिल रूप तू आप है।
अखण्ड रूप निराकार,
विभिन्न रूप तू आप है॥

तेरा खण्डन हो न सके,
एक रस तू आप है।
परिपूर्ण विभाजन में भी,
पूर्ण तू ही आप है॥

पूर्ण में पूर्ण रूप धरे,
परिपूर्ण रहे तू आप है।

अर्जुन ने भगवान को **परम धाम** कहा, अर्थात् :

क) जीव का परम लक्ष्य भगवान हैं।
ख) जीव का अन्तिम विश्राम स्थान भगवान हैं।
ग) जीव की सर्वोत्तम स्थिति में स्थित भगवान हैं।
घ) जीव के जीवन में आत्मा ही उसका परम धाम है।
ङ) जीव के लिये मोक्ष पद ही उसका परम धाम है।

नन्हीं! जीव के तन का धाम उसका घर होता है, किन्तु आत्मा का अन्तिम धाम परम आत्म होता है। जीवत्व भाव तथा 'मैं' यदि परम का आश्रय लें तो यह तन को छोड़कर आत्मा में विलीन हो जाते हैं। तब मानो यह तन से नजात पाकर अपने आत्म रूपा धाम में अमर वास करते हैं। इस आत्म रूपा धाम में पहुंचकर पुनरावृत्ति नहीं होती, इस कारण इसे 'परम धाम' कहते हैं।

परम धाम :

१. परमात्मा का निवास स्थान कह लो।
२. ब्रह्म का निवास स्थान कह लो।
३. निर्वाण प्राप्त किये हुओं का निवास स्थान कह लो।
४. जीवन मुक्त का निवास स्थान कह लो।
५. नित्य मुक्त का निवास स्थान कह लो।

नन्हीं! जब जीव तन रूपा निवास स्थान का त्याग कर देता है, तब मानो वह परम धाम में प्रवेश करता है। जीते जी तनत्व भाव का त्याग ही आपको परम धाम

में स्थित करवाता है। जब जीव आत्मा से एकरूपता पाता है तब मानो वह परम धाम में स्थित हो जाता है। परम धाम को परम का विश्राम स्थान कहते हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

अनन्त रूप भगवान का स्तुवन् करते हुए अर्जुन कहने लगे, 'हे भगवान!

शब्दार्थ :

१. आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति हैं
२. और प्रजापति के भी पिता हैं।
३. आपको सहस्त्रों बार नमस्कार करता हूं।
४. आपको फिर से नमस्कार हो।
५. बार बार नमस्कार हो।
६. आपको आगे से और पीछे से नमस्कार हो।
७. हे सर्वात्मन्! आपको सब ओर से नमस्कार हो।
८. आप अनन्त वीर्य और अनन्त पराक्रम वाले हो,
९. परिपूर्ण में आप समाये हो,
१०.इसलिए आप पूर्ण ही हो।'

तत्त्व विस्तार :

हे परम पति परमेश्वर,
कोटि कोटि प्रणाम तुझे।
हे विश्वेश्वर जगदीश्वर,
नतमस्तक करूं प्रणाम तुझे॥

सर्वाधार प्राणेश्वर तू,
नमन तेरा कैसे मैं करूं ?
ज्ञानाधार ज्ञानेश्वर तू,
महिमा तेरी कस गा सकूं ?

करुणापूर्ण हे दयानिधि,
भक्त वत्सलता है तू॥
मल अंधियारा विमुक्त कर,
केवल पावनता है तू।

बार बार करूं नमस्कार,
नमस्कार स्वीकार करो।
सीस झुका पुनि उठे नहीं,
बस इतनी अब कृपा करो॥

धाता विधाता आप हो,
इतना अनुग्रह हो जाये।
कृपा पुंज तुम करुणा करो,
नमन सफल मेरा हो जाये॥

प्रेम स्वरूप तुम प्रेम रूप,
अखिल बल पूर्ण तुम हो।
अखण्ड और अद्वैत तुम्हीं,
दिव्य विशुद्ध आत्म तुम हो॥

बस नमस्कार करो स्वीकार,
हृदयेश्वर मेरे तुम ही हो।
मैं सीस तुम्हारे चरण धरूं,
इक बेरी बस क्षमा करो॥

नन्हीं जान!

साधक के लिए नमस्कार उसकी साधना का अनिवार्य अंग है।

नमस्कार का अर्थ ज़रा ध्यान से समझ ले!

नमस्कार :

नमस्कार का अर्थ है :

१. वन्दना करना।
२. अर्चना करना।
३. विनीत भाव से श्रद्धांजलि अर्पण करना।
४. विनम्रता से झुक जाना।
५. किसी को उच्च कोटि का सम्मान देना।
६. किसी की अधीनता मान जाना।
७. अपने सीस को किसी के सीस के सम्मुख झुका देना।
८. अपने आपको अर्पित करना।
९. नत्मस्तक होकर किसी श्रेष्ठ का अभिवादन करना।

नन्हीं! जब तक साधक नमन नहीं करता तब तक वह साधक कहलाने के योग्य ही नहीं है। जब तक जीव अपने आपको श्रेष्ठ समझता है तब तक वह नमन नहीं कर सकता। सीस यदि एक बार भगवान के सामने हृदय से झुका दे, तब वह अपने सीस को जीवन भर नहीं उठा सकता। यदि जीव भगवान को सर्वश्रेष्ठ कहता हुआ, उन्हें अपने से भी श्रेष्ठ मान ले तो वह भगवान की कथनी को कभी नहीं टाल सकता।

नमस्कार करने के पश्चात् साधक मानो भगवान के अधीन हो जाता है। तब साधक विनीत भाव से अपने अहंकार को भी भगवान के चरणों में त्याग कर देता है। एक बार नमस्कार हो जाये तो साधक साधना के पथ पर काफ़ी आगे निकल जाता है।

नन्हीं लाडली! साधक तो भगवान से तड़प कर यही कहता है कि:

'एक बार मेरा नमस्कार स्वीकार तो करो। तूने मेरा झुकना स्वीकार कर लिया तो मानो तू मुझे ही स्वीकार कर लेगा। हे भगवान! तब मेरा मन मुझे तुझसे वापस नहीं ले सकेगा।'

साधक का हार्दिक नमन ही तो

क) उसकी पूजा है।
ख) उसका भजन है।
ग) उसकी आर्त पुकार है।
घ) उसकी सत्यता का सूचक है।
ङ) उसके अहं को झुका देता है।
च) उसको भगवान की ओर खेंच लेता है।
छ) उसको अहं रहित भी बना देता है।

और फिर नन्हीं! यदि हार्दिक नमन हो जाये तो सच कहते हैं, भगवान ऐसे झुके हुए को स्वयं उठाने आते हैं। भगवान ऐसे झुके को स्वयं अंग लगाते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥ ४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

अर्जुन कहते हैं भगवान से, हे भगवान! मैंने क्या किया!

शब्दार्थ :

१. हे अप्रमेय! हे अचिन्त्य रूप!
२. मैं मोह, प्रमाद और अज्ञान से भरा हुआ,
३. आपकी महिमा बिन देखे बिन जाने,
४. आपको सखा मानकर,
५. आपसे अविनयपूर्वक बातें करता रहा।
६. मैं भूले से अथवा अपने ढंग के प्रेम से,
७. आपको कभी कृष्ण, कभी यादव, कभी सखा बुलाता रहा।
८. कभी मज़ाक में, कभी सैर करते हुए,
९. कभी सोते समय, कभी बैठते समय,
१०.कभी भोजन आदि करते हुए,
११.कभी लोगों के सामने, कभी अकेले में,
१२.आपका अपमान करता रहा।
१३.हे भगवान! आप मुझे क्षमा कर दीजिये

तत्त्व विस्तार :

हे अप्रमेय! हे अचिन्त्य रूप,
करुणापूर्ण मैं तुझे कहूं।
हे ज्ञान स्वरूप हे दयानिधि,
वन्दना तेरी मैं आज करूं॥

मोह अज्ञान से भरा हुआ,
तुझको पहचान ही न पाया।
निज अभिमान से भरा रहा,
तत्त्व जान ही न पाया॥

ज्ञान स्वरूप तू ज्ञान घन,
अध्यात्म रूप तू सामने था।
मैं ज्ञान दम्भी अज्ञान पूर्ण,
सत्त्व तत्त्व नहीं देख सका॥

प्रहार नित्य तब मैंने किये,
अपमान निरन्तर करता रहा।
क्षमा स्वरूप करुणा पूर्ण,
तू तो नित्य ही मौन रहा॥

दिव्य प्रकाश प्रमाण तू,
फिर भी तू नित झुका रहा।
परम पुरुष पुरुषोत्तम तू,
आर्जव रूप में छिपा रहा॥

भगवान तू ही बार बार,
मुझको स्वयं मनाता रहा।

निज को बहु गुणी मानी,
मैं नाहक ही इतराता रहा॥

मुझे अपने गुणों पे नाज़ था,
अखिल गुणी न देख सका।
मेरा प्रहार तूने नित्य सहा,
हे गुणातीत तू मौन रहा॥

एकान्त में क्या जग में क्या,
हर जा तेरा अपमान किया।
तूने उफ़ तक भी नहीं करी,
तू तो नित उदासीन रहा॥

परम दिव्य सब गुण तोरे,
चाकर समान ही सारे थे।
सबके काज तू करता रहा,
पर तुम ठाकुर हमारे थे॥

अशरण के शरणा नाथ तुम्हीं,
आज तोरी शरण में आया हूं।
अनुकम्पा स्वरूप हे दयानिधि!
करुणा याचक बनी आया हूं॥

अब क्षमा करो परमेश्वरा,
अब क्षमा करो जगदीश्वरा।
अब क्षमा करो महेश्वरा,
अब क्षमा करो ज्ञानेश्वरा॥

तुम क्षमा स्वरूप मेरे प्रभु,
नत्मस्तक बिनती तोरी करूं।
इक बेरी बस क्षमा करो,
मैं सीस तुम्हारे चरण धरूं॥

देख कमला! जीवन में :

१. अनेकों बार अर्जुन ने भगवान को ठुकराया होगा।
२. अनेकों बार अर्जुन ने भगवान की बात नहीं मानी होगी।
३. अनेकों बार गुमान में बैठकर भगवान की अवज्ञा करी होगी।
४. अर्जुन को भी तो अपने ज्ञान पर मान था।
५. अर्जुन को भी तो अपने पराक्रम पर नाज़ था।
६. अर्जुन को भी तो श्रेष्ठ होने का नाज़ था।
७. अर्जुन को भी तो सत् पथ पर चलने का नाज़ था।

वह तो सच ही बुद्धिमान भी थे, ज्ञानवान् भी थे, शास्त्रज्ञ भी थे, शस्त्र निपुण भी थे, धर्म परायण भी थे और कर्त्तव्य परायण भी थे। वह दैवी गुण सम्पन्न स्वयं थे और उनके पास दम्भ करने के सब गुण थे। वह भी भगवान को न जान सके और न पहचान सके।

भगवान को पहचानना इतना कठिन क्यों है, इसको समझने के यत्न करो। अध्यात्म का रहस्य इसी में छिपा है।

१. वह परम पुरुष पुरुषोत्तम कितने साधारण होंगे कि उनके सहवासी और सहयोगी भी उन्हें पहचान नहीं सकते थे।
२. वह कितने झुके हुए होंगे कि सखा गण भी उनका अपमान कर सकते थे।
३. वह अपने प्रति कितने उदासीन होंगे कि अपने इतने घनिष्ठ मित्र को भी पता ही नहीं लगने दिया कि उनका स्वरूप क्या है ?
४. कितनी तद्रूपता होगी उनकी दूसरों से, कि अपना स्वरूप ही भूले रहे।

कमल! इसका अर्थ यह है कि

अध्यात्म का रूप झुकाव और मौन है,यहां इतना ही समझ ले।

अजी! इतना इतराना छोड़ दो, दूसरों को भी देखना शुरु करो।

नन्हीं! यहां गर भगवान के स्वरूप तथा रूप को अलग अलग समझ ले तो समझ सकेगी कि अर्जुन भी भगवान को क्यों नहीं पहचान सके।

आत्मवान् का स्वरूप तथा रूप

स्वरूप	रूप
१. आत्मवान्।	१. साधारण जीव।
२. अपने प्रति मौन।	२. प्रश्न अनुकूल दूसरे की स्थिति अनुसार वर्तन।
३. अपने प्रति उदासीन	३. प्रेम रूप,सबके तद्रूप।
४. समदृष्टि।	४. गुण अनुसार भिन्न वर्तन।
५. निरपेक्ष।	५. धर्म प्रधान,स्थिति अनुकूल जो सबके हित में हो।
६. योग स्थित योगी राज।	६. जो आये, उससे योग (योग माया)।
७. निर्मम।	७. वह सबका है, उसका कोई नहीं।
८. निर्गुण।	८. अखिल गुणी।
९. काम्य कर्म त्यागी।	९. सबके काम्य कर्म करता है।
१०. नित्य संन्यासी।	१०. संग रहित, अज्ञानियों के साथ अज्ञानियों जैसा।
११. यज्ञ स्वरूप।	११. सर्वभूत हितकर।
१२. ज्ञान घन।	१२. सबके नीचे, अज्ञानियों जैसा, उसकी मौन निःसंगता ही ज्ञान घनता है।
१३. आनन्द स्वरूप।	१३. दुःख घन वह सबकी सहता है।
१४. नित्य स्वतंत्र	१४. सबके तद्रूप होने के कारण नित्य आश्रित सा।
१५. अटल अचल।	१५. बिन मान्यता के औरों के गुणों के साथ बदलता रहता है।
१६. अव्यय।	१६. अव्यय प्रेमी, किन्तु दृष्ट रूप में कभी कम कभी अधिक प्रेम करता है।
१७. कामना रहित।	१७. सबकी कामनायें पूर्ण करता है।
१८. द्वेष रहित।	१८. दुर्वृत्तियां और दुर्भाव दिखाते हुए दुर्वृत्तियों और दुर्भावों का विध्वंसक।

स्वरूप	रूप
१९. गुणातीत।	१९. अखिल गुणी।
२०. नित्य अप्रभावित।	२०. सबके गुणों का ध्यान रखने वाला।
२१. कोई कर्त्तव्य नहीं।	२१. नित्य कर्त्तव्य परायण।
२२. कामना रहित।	२२. सबकी कामना पूर्ण करने के लिये नित्य कर्मशील।
२३. नित्य अकर्त्ता।	२३. अखिल कर्म करने वाला।
२४. मर्यादा पुरुष।	२४. मर्यादा व संकोच रहित।
२५. आत्म स्थित,आत्म रमणी।	२५. सबको आत्मा जानते हुए स्वीकार करने वाला।
२६. नित्य विलक्षण।	२६. अतीव साधारण।
२७. अखिल पति।	२७. यक्ष रूप सेवा करने वाला।
२८. सबका पूज्य।	२८. सबमें बदनाम।
२९. नित्य निराशी।	२९. सबकी आशा पूर्ण करने वाला।
३०. जिसका कोई नहीं।	३०. जो सबका है।
३१. अखिल आत्म स्वरूप।	३१. गुण खिलवाड़ से विभिन्न गुण राही झगड़ा।
३२. सत्य स्वरूप, सत्य भाषी।	३२. अपने आपको ही गलत साबित करने के प्रयत्न ('तुम्हारा कार्य बिगड़ जायेगा' कहकर भी नित्य उसी कार्य को संवारने के प्रयत्न)।
३३. अतीव गम्भीर।	३३. हर पल मज़ाक करने वाले।
३४. अपने लिये प्रगाढ़ निद्रा में सोये हैं।	३४. औरों के लिये नित्य जागते हैं।

आत्मवान् का जीवन में व्यवहार :

१. अज्ञानियों में अज्ञानियों के समान व्यवहार करते हैं।
२. किसी में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करते हैं।
३. दुःखी और झुके हुए के सामने झुक जाते हैं।
४. दुःखी और झुके हुए को मनाते हैं।
५. अहंकार के सामने कभी नहीं झुकते।
६. जो जैसे उन्हें भजता है, वैसे ही वह उसको भजते हैं।
७. अज्ञानियों में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करते।
८. अपने आपको कभी स्थापित नहीं

करते।

९. बिना किसी के पूछे ज्ञान नहीं देते।

१०. जब कोई पूछे, उसी के स्तर के अनुसार वह उसे उत्तर देते हैं।

११. जैसी जिसकी श्रद्धा हो, उसी को दृढ़ करते रहते हैं।

१२. संसार की ओर हंसते रहते हैं।

१३. मूर्खों में महामूर्ख हैं, ज्ञानियों में उनसे बड़े ज्ञानी हैं।

१४. अपने प्रति उदासीनता के कारण अपना अपमान करवा कर हंस देते हैं।

१५. लोगों के वाक् से नित्य अप्रभावित रहते हैं।

१६. मूर्ख लोगों के पास भी झुक जाते हैं।

१७. अपने निन्दक लोगों से भी प्रेम करते हैं।

१८. निन्दक लोग अपनी भूल मान जायें तो पल में उन्हें गले लगा लेते हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ ४३॥

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

अर्जुन कहते हैं भगवान को :

शब्दार्थ :

१. हे भगवान्! हे अतुल्य प्रभाव वाले, आप इस चर अचर जगत के पिता,

२. परम गुरु, परम पूज्य और महान् हो।

३. तीनों लोकों में भी आपके समान दूजा नहीं है,

४. आपसे बढ़कर कोई क्या होगा?

५. इसलिये मैं अपने पूर्ण शरीर को,

६. आपके चरणों में धर कर प्रणाम करता हूं

७. और आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूं कि,

८. हे देव! जैसे पिता पुत्र के, सखा सखा के,

९. और पति अपनी प्रिया के,

१०. अपराध सहन करता है,

११. आप भी, मेरे अपराध सहने योग्य हो।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन का ज्ञान विराट दर्शन के पश्चात् :

नन्हीं! भगवान के गुण बताते हुए और क्षमा याचना करते हुए अर्जुन कहने लगे:

परम पूज्य परम गुरु,
परम सत् आप हैं।
अध्यात्म स्वरूप ज्ञान स्वरूप,
परम तत्त्व आप हैं॥

जगदीश्वर पूर्ण जग के,
चर अचर पति आप हैं।
त्रैलोक रूप त्रैलोक पति,
त्रैलोक परे भी आप हैं॥

अतुल्य आप अप्रतिम भी,
उपमा परे अनुपम आप हैं।
असीम को सीमित कैसे करूं,
अचिन्त्य रूप जो आप हैं॥

अप्रमेय आप परम गुरु,
परम की प्रतिमा आप हैं।
साकार रूप भी धरे खड़े,
निराकार स्वरूप आप हैं॥

अलौकिक दिव्य प्राकट्य तव,
अप्रकट रूप भी आप हैं।
परम अध्यात्म महागुरु,
स्वरूप रूप बस आप हैं॥

अर्जुन की स्थिति विराट् दर्शन के पश्चात् :

सीस झुका कर कर जोड़ी,
यह सब तोरे चरण धरूं।
तुम्हीं करो स्वीकार आज,
नाथ तुझे इतना ही कहूं॥

जो हुआ हुआ उसे क्षमा करो,
क्षमा स्वरूप आप हो।
बस इक बेरी तुम मुसकाओ,
करुणा पूर्ण भी आप हो॥

पिता पुत्र को क्षमा करे,
सखा सखा को क्षमा करे।
पति प्रिया ज्यों क्षमा करे,
भगवान मुझे क्षमा कर दे॥

पर देख न कमला, देख! भगवान क्षमा स्वरूप हैं!

क) वह कब रूठे हैं किसी से ?
ख) वह कब किसी को नीचा दिखाते हैं ?
ग) उन्होंने अपना सख्य भाव कब छोड़ा ?
घ) वह तो निरन्तर अपने प्रति मौन हैं!
ङ) उन पर जो प्रहार निरन्तर होते रहे, क्या उन्होंने भी कभी गिला किया ?

जीव का व्यवहार भगवान के प्रति :

आपको तो मनाया भगवान ने, आपने कब उन्हें मनाया है ?

भगवान को नित ठुकराया आपने, उन्होंने कब ठुकराया है ?

भगवान पर लाखों अत्याचार करके, जब फिर ज़रूरत होती है तो आप उनके दर पर पहुंच जाते हैं, तब क्या कभी भगवान ने भी मुंह फेरा है ?

भगवान की स्थिति :

१. अपमान मान के प्रति वह नित्य उदासीन ही तो रहे हैं।
२. क्षमा स्वरूप ही तो हैं वह, जिन्होंने अर्जुन के अपमानजनक आचरण का कभी अर्जुन को भी पता नहीं लगने दिया।
३. वह कैसे होंगे, जो अपना स्वरूप जीवन भर छिपाये रहे ?

कमल! क्षमा स्वरूप से क्षमा क्या मांगें ? क्षमा स्वरूप बन जाना ही केवल मात्र विधि है भगवान के महिमा गान की! जो प्रेम आपको भगवान ने दिया है, वह

जहान में बांट दो।

भगवान के प्यार के प्रति क्या दृष्टि चाहिए :

एक बात को समझ लो, भगवान का प्यार बांटना ज़रूरी है।

यदि आप भगवान को सच ही प्यार करते हो तो वह प्यार अपने सहवासियों तथा अन्य सभी लोगों को भी करो, नहीं तो आपका प्रेम आपको शुष्क बना देगा। यदि आप अकेले भगवान को ही प्रेम करेंगे तो आप उसे भगवान कैसे कहेंगे ?

फिर यह भी जान लो और सोच लो कि क्या आप भगवान का हाथ अपने सिर पर चाहते हो या आप भगवान के पास नित्य ही हाथ फैलाना चाहते हो ?

भगवान का हाथ सिर पर होना ही चाहिए। भगवान का स्वरूप आपके हृदय में होना ही चाहिए। भगवान का साक्षित्व आपके जीवन में होना ही चाहिए, भगवान का कर्म आपके तन राही होना ही चाहिए।

क) तब आपका जीवन भगवद् परायण हो सकेगा।
ख) तब आपका जीवन यज्ञमय हो जायेगा।
ग) तब आपका जीवन तपमय हो जायेगा।
घ) तब आपका जीवन दानमय होगा।

नन्हीं! गर सच ही मन में ग्लानि है और सच ही क्षमा के याचक हो तो यह सब होगा ही, तब नमन हो ही जायेगा।

तब ही जानो साष्टांग प्रणाम होगा। तब आपके अखिल अंग भगवान के सम्मुख झुक जायेंगे, आप भगवान के अधीन हो जायेंगे और भगवान के आदेश को मानेंगे। तब आपके अखिल अंगों पर भगवान का राज्य होगा।

अर्जुन की क्षमा याचना :

देख नन्हीं! अर्जुन ने भगवान से कहा, 'जैसे पिता पुत्र को माफ़ कर देता है, आप मुझे क्षमा कीजिये।'

१. यानि ज्यों पिता अपने पुत्र की मूर्खताओं तथा अज्ञान में किये गये व्यवहार को नित्य सहन करता है और क्षमा कर देता है, आप भी मेरे अपराधों को क्षमा करके सहन कीजिये।
२. ज्यों एक मित्र दूसरे मित्र के मज़ाक सहता है, ज्यों एक मित्र दूसरे मित्र के काम करता करवाता हुआ मित्र का सब कुछ सहता है, वैसे आप भी मेरे अपराध सहन कीजिए। ज्यों एक मित्र दूसरे मित्र की उचित अनुचित सब किस्म की बातें सह लेता है, वैसे ही आप मेरी बातों को भी सहन कर के क्षमा कर दीजियेगा।
३. ज्यों पति अपनी पत्नी का हर व्यवहार सहता है, ज्यों पति पत्नी के घनिष्ठ सम्बन्ध में पत्नी से अनेकों गलतियां हो जाती है, किन्तु पति उन सबको क्षमा कर देता है, वैसे ही हे भगवान! आप मेरी गलतियों को क्षमा कर दें।

यानि भूले से, अज्ञान में, आपको न जानते हुए या जान बूझकर, या घनिष्ठता के कारण, मैंने जो आपसे विशेषाधिकार लेकर

आपकी अवहेलना की है, उसके लिए मैं क्षमा मांगता हूं।

नन्हीं! वास्तव में देखा जाए तो अर्जुन अब भी भगवान की करुणा पूर्णता, क्षमा स्वरूपता और दया का आसरा ले रहा है। और मानो कह रहा हो कि, 'आपको क्षमा करना ही चाहिए, आपके लिए क्षमा करना योग्य ही है, आपके लिए सब कुछ सहन करना योग्य ही है,' किन्तु भगवान तो यह सब पहले ही सह चुके हैं। यही अर्जुन का 'कृतो स्मर' तथा 'कृतं स्मर'* था।

इसका अर्थ है ॐ के साक्षित्व में, भगवान के कर्म याद करना और अपने द्वारा किये गये कर्मों को याद करना!

नन्हीं! यहां इतना समझ ले कि आपने अपने जीवन में जो किया है, आप उसे नित्य उचित तथा सत्पूर्ण ही मानती आई हैं, उसे ज़रा तोल कर तो देखो! क्या वह सच ही उचित था? यह जानने के लिए आप :

क) अपने आपको सत् पूर्ण नियमों से तोलते हैं।

ख) अपने आपको गीता कथित गुणों से तोलते हैं।

ग) अपने आपको यदि साधु मानते हो तो भगवान के जीवन में प्रदर्शित साधारणता से तोलते हैं।

जो रूप तथा स्वरूप अभी ११/४२ में कह कर आये हैं, इससे अपने आप को तोल लो।

आप बुद्धि का गुमान करते रहे, अपनी बुद्धि को स्थिर बुद्धि के कथित चिह्नों से तोल लो।

यदि आप सहज जीवन में अपने कर्मों पर इतराते रहे तो भी आप गीता कथित लक्षणों से अपने आप को तोल लो। तब आपको ज्ञात हो जायेगा कि आपने जानते हुए या अनजाने में कितनी भूलें कर दी हैं।

ऐसा ही यहां अर्जुन से हुआ, इस कारण वह तड़प गया और क्षमा मांग रहा है।

---

*'ॐ कृतो स्मर कृतं स्मर' के लिए मन्त्र १७, ईश उपनिषद् देखिए।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

अब अर्जुन कहते हैं कि हे विश्वमूर्ति!

शब्दार्थ :

१. (मैं) पूर्व न देखे हुए (रूप को) देखकर हर्षित हो रहा हूं
२. और मेरा मन भय से अति व्याकुल हो रहा है।
३. हे देव! उस रूप को मुझे दिखाईये।
४. हे देवों के देव! हे जगन्निवास! प्रसन्न होईये।
५. मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा तथा चक्र धारण किए हुए,
६. देखना चाहता हूं।
७. हे सहस्त्र बाहु! हे विश्वमूर्ति!
८. आप इस चतुर्भुज रूप से प्रकट होईये।

तत्त्व विस्तार :

विराट रूप दर्शन के बाद अर्जुन की मनो अवस्था :

देख नन्हूं! अर्जुन भगवान से कहने लगे कि :

क) आपका विश्व रूप देखकर मैं हर्षित तो हुआ हूं, किन्तु अति भयभीत भी हो गया हूं।
ख) आपके रूप को देखकर मेरा मन कांप रहा है।
ग) आपके भयानक रूप को देखकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है।

हे भगवान! आप पुनः सौम्य रूप धर लीजिये।

हे भगवान! अब आप पुनः विश्व संरक्षक का रूप धर लीजिये।

हे भगवान! अब आप पुनः अपना करुणापूर्ण रूप धर लीजिये।

हे भगवान! अब आप पुनः प्रेम की प्रतिमा का रूप धर लीजिये।

नन्हीं! एक ओर तो वह भगवान के विशाल रूप को देखकर आश्चर्यचकित हुए, अपने अहोभाग्य पर हर्षित हो रहे थे कि उन्होंने यह दिव्य दर्शन पाये, किन्तु विकराल रूप देखकर घबरा गये और व्यथित हो गये।

नन्हीं! संसार में सब ही भगवान से सौम्यता मांगते हैं, संसार में सब ही भगवान से अपना रुचिकर रूप मांगते हैं।

कम ही लोग यह सह सकेंगे कि,

१. भगवान न्याय भी करते हैं।
२. भगवान दण्ड भी देते हैं।

३. भगवान दु:ख भी देते हैं।
४. भगवान यदि सब कुछ देते हैं तो उस सब को छीन भी सकते हैं और छीन भी लेते हैं।
५. भगवान ही तड़पा देते हैं जीव को।
६. भगवान आपके दुश्मनों के भी हैं।
७. भगवान मृत्यु भी हैं।
८. जो भी विपरीतता आपको मिलती है, वह भी भगवान ही हैं।

भगवान का विकराल रूप देखकर जीव घबरा ही जाता है। वह भगवान से उनके प्रति अपनी गलतियों की क्षमा मांगता है।

नन्हीं! जो ग़लतियां भगवान के प्रति की हैं, वह तो शायद माफ़ हो भी जायें, किन्तु जो ग़लतियां इन्सान के विरुद्ध की हैं, उनका फल तो मिलेगा ही।

भगवान से जीव को क्या मांग करनी चाहिए :

नन्हीं! भगवान से यदि भीख मांगनी है तो उनसे,

क) उनका स्वरूप मांगो।
ख) प्रेम मांगो, जो आपके हृदय से बह जाये और आपको इन्सान बना दे।
ग) क्षमा करने की शक्ति मांगो।
घ) अपने हृदय के लिए उदारता मांगो।
ङ) न्याय से प्रीत मांगो।
च) दरियादिली मांगो।
छ) सहिष्णुता मांगो।
ज) दैवी गुण मांगो।
झ) अहंकार से निवृत्ति मांगो।
ञ) अपने लोभ से निवृत्ति मांगो।
ट) अपने मोह की निवृत्ति मांगो।
ठ) अपने अज्ञान से नजात मांगो।

अजी! भगवान से भगवान के दर्शन इसलिए मांगो क्योंकि आपने अपना आप उनको सौंपना है।

साधक की मांग क्या होनी चाहिए :

साधक भगवान से सौम्यता कभी नहीं मांगता, वह तो नित्य स्वरूप याचक होता है। उसकी प्रार्थना तो मानो यह होगी कि:

कोई विधि भगवान करो,
तनत्व भाव मेरा मिट जाये।
'मैं' तन को छोड़ करी,
आत्मा में ही टिक जाये॥

गर दु:ख राही तुम मिलो,
दारुण दु:ख मुझे दे देना।
गर तड़प राही तुम मिलो,
तो पूर्ण तड़प ही दे देना॥

ठुकराव में गर तू बसे,
कृपा करो ठुकरायें सब।
गर झुकाव में तुम मिलो,
मांगूं रौंदे मुझे जायें सब॥

नन्हीं! साधक सौम्यता के याचक नहीं होते, क्षमा याचक नहीं होते। वह तो भगवान से कुछ नहीं मांगते। उनकी भक्ति तो निष्काम भक्ति होती है। वह तो भगवान को अपना आप देने जाते हैं। मांग तो अपने तन, मन, बुद्धि के किसी सुख की प्राप्ति के लिये होती है। साधक तो इन

सबको त्यागकर आत्मा में स्थित होना चाहता है। तन, मन, बुद्धि को अनात्म जानकर आत्मा में विलीन होना चाहता है। उसके लिए जहान् में उसे कुछ मिले या न मिले, एक ही बात है। उसके लिए जहान् में उसे भयानक या क्रूर रूप मिले अथवा सौम्यता मिले, एक ही बात है। वह भगवान से

अपना संरक्षण नहीं मांगता। वह भगवान से अपने दु:खों से नजात नहीं मांगता है।

याद रहे अर्जुन साधक नहीं थे। अर्जुन तो 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' हुए मोह के कारण घबराये हुए थे। इस कारण वह भगवान के विभिन्न रूप देख कर घबरा गये।

वह भगवान से कहने लगे कि, 'हे भगवान! तुम अपना चतुर्भुज सौम्य रूप धारण करो, यानि विष्णु रूप धर लो।'

*** विष्णु :**

१. विष्णु सतोगुण की प्रतिमा माने जाते हैं।
२. विष्णु संसार के संरक्षक तथा पालन पोषण करने वाले हैं।
३. विष्णु साधकों की साधना के वर्धक हैं।
४. विष्णु करुणापूर्ण तथा क्षमा स्वरूप माने जाते हैं।
५. विष्णु ब्रह्म का सौम्य अंश माने जाते हैं।
६. विष्णु सूक्ष्म तथा स्थूल सृष्टि को पालने वाले हैं।

अर्जुन भगवान से प्रार्थना करते हैं, कि 'आप अब सौम्य रूप धारण कर लीजिये।'

नन्हीं जान! जब जीव अपनी गलती जान लेता है तब वह :

क) व्याकुल हो जाता है
ख) चाहे जब गलती करी, तब भगवान मौन रहे और अर्जुन को पता भी न चला, फिर भी अब भगवान को भगवान जानकर घबरा गये कि मैंने भूले से :

१. किस पर प्रहार कर दिया!
२. किसका परिहास कर दिया!
३. किस पर दोषारोपण कर दिया!
४. किस को अपमानित कर दिया!
५. किसका अनादर कर दिया!
६. किसकी हंसी उड़ा दी!
७. किसको अपने से नीचा मानकर कुचल दिया!
८. किसको मूढ़ समझ लिया!
९. ज्ञान घन को ही ज्ञान देता आया हूं!
१०. किसके पास अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करता आया हूं!

नन्हीं! जब जीव अपनी मूर्खताओं को देखता है तो उसकी भी गति ऐसी ही होती है जैसे अर्जुन की हुई। वह भय के कारण घबरा जाता है और क्षोभ के कारण तड़प जाता है। वह अपने ही सखा को भगवान जानकर हर्षित भी होता जाता है। अपना

---

* विष्णु के लिए देखिए १०/२१, ११/४६

भगवान से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध देखकर अपने अहोभाग्य पर इतराता है। अर्जुन भी इन मिश्रित भावों से भरपूर हुए भगवान से क्षमा और सौम्यता की याचना करते हैं।

श्री भगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

अब भगवान अर्जुन से कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! प्रसन्नता से,
२. मैंने अपने आत्म योग से,
३. यह अपना परम तेजोमय,
४. सबका आदि कारण,
५. सीमा रहित विराट रूप तेरे लिए दिखाया,
६. जो तुम्हारे सिवा किसी दूसरे से,
७. पहले नहीं देखा गया है।

तत्त्व विस्तार :

(भगवान अपने विराट रूप का वर्णन करते हैं) करुणापूर्ण भगवान अर्जुन को सान्त्वना देते हुए कहने लगे :

'जो अपना विराट रूप मैंने तुझे दिखाया है, वह मैंने तुझ पर प्रसन्न होकर ही दिखाया है। वास्तव में तो इस रूप को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने कभी भी नहीं देखा। यह तो मेरा अतीव तेजोमय रूप है। यह तो मेरा अनन्त रूप है। इसी में सम्पूर्ण सृष्टि का आदिकारण निहित है। यह रूप तो मैंने तुझे अपने विशेष आत्मयोग के बल से दिखाया है।'

मानो कह रहे हैं कि, 'तू तो नाहक ही घबरा गया। मुझको प्रसन्न करने के लिए मुझ से क्षमा न मांग।

क) मैं तो आगे ही तुझसे प्रसन्न हूं।
ख) तभी तो मैंने यह महान दर्शन तुझे दिये हैं।
ग) तुझे तो मैंने वह दिया है जो मैं जहान में किसी को भी नहीं देता हूं।
घ) तुझे तो मानो मैंने अपना आप दे दिया हो।

परन्तु यदि तुझे मेरा पूर्ण रूप पसन्द नहीं तो लो मैं फिर से सौम्य बन जाता हूं।'

जीवन में विराट रूप :

नन्हीं! जीवन में भी लोग यही करते हैं। जीव यह नहीं समझते कि भगवान पूर्ण हैं। बुरा मिले या अच्छा मिले, हर रूप में भगवान होते हैं। द्वेष करना या अत्याचार करना, यह भी भगवान से भगवान पर और भगवान के द्वारा होते हैं। जो लोग आत्मा को समझते हैं, वह रुचिकर या अरुचिकर,

दोनों को गुण खिलवाड़ जानते हुए निरपेक्ष भाव से देखते हैं। साधक विराट रूप देखकर 'सब वासुदेव ही हैं,' यह मान लेता है।

नन्हीं! जो लोग स्वयं अत्याचारी होते हैं, उनके लिए यह मानना असम्भव है। इस तत्त्व को तो सतोगुण प्रधान, आत्मवान् बनने का सच्चा अभिलाषी ही समझ सकता है। यह सब जानते हुए कि पूर्ण भगवान ही हैं, भागवद् प्रेमी हर पल पूज्य भाव में स्थित रहते हैं। वह भगवान की दुनिया को बुरा नहीं बनाना चाहते। वह तो अपने राही भागवद् गुणों को बहाते हैं। कोई उन्हें बुरा कहे तो वह सह लेते हैं, किन्तु स्वयं वह किसी को नहीं गिराते।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे कुरुप्रवीर अर्जुन!
२. न वेद और यज्ञों के अध्ययन से,
३. न दान और क्रियाओं से और
४. न उग्र तपों से ऐसे रूप वाला मैं,
५. मनुष्य लोक में तेरे अतिरिक्त किसी अन्य से,
६. देखा जा सकता हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान अर्जुन को शान्त करते हैं! भगवान कहते हैं कि, 'अर्जुन! जो रूप मैंने तुझे दिखाया है, इसे कोई पूर्ण वेदों को जानने वाला भी नहीं देख सकता, वेदकथित पूर्ण यज्ञों को करने वाला भी नहीं देख सकता, अपना सर्वस्व दान करने वाला भी नहीं देख सकता, महा क्रियायें करने वाला भी नहीं देख सकता, महा तप करने वाला भी नहीं देख सकता।'

नन्हीं! भगवान अर्जुन को मना रहे हैं। भगवान अर्जुन को शान्त करने का यत्न कर रहे हैं और उसकी व्याकुलता को मिटाने के यत्न कर रहे हैं। भगवान कहते हैं, 'यह जो दर्शन तुझे मिला है, यह जीव लोक में कोई नहीं पा सकता। शास्त्र कथित जीवन व्यतीत करते हुए को भी यह दर्शन नहीं मिल सकता।'

भगवान सत्य ही तो कहते हैं, क्योंकि :

१. तत्त्व वेत्ता गण तत्त्वनिष्ठ होते हुए परम में विलीन हो सकते हैं।
२. तनत्व भाव को त्यागकर और जीवत्व भाव से उठकर वह आत्मवान् हो सकते हैं।
३. 'पूर्ण ब्रह्म ही है', यह जानकर परम योग में स्थित हो सकते हैं,

किन्तु

क) आत्मवान् होकर तो वे अपने प्रति

अखण्ड मौन हो जाते हैं।

ख) संसार में उनके लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता।

ग) पूर्ण आत्मा ही है, यह जानते हुए वे मानो आत्म के तद्रूप हो जाते हैं।

४. तब वे न 'ये' रहते हैं न 'वे' रहते हैं।

५. या वे पूर्ण आप हैं, या वे कुछ भी नहीं।

तब वे तन से परे हो जाते हैं।

या यूं कह लो कि उन्हें:

क) तनो अनुसन्धान नहीं रहता।

ख) तन की परवाह नहीं रहती।

ग) तन जीये या न भी जीये, इसमें उन्हें भेद नहीं दिखता।

आत्मा में दर्शन की कोई बात नहीं होती। वाक् बहता है, तन काज करता है। उनके लब से महा ज्ञान बहता है, वे स्वयं पूर्ण सत् के प्रमाण हैं और उनका जीवन अध्यात्म रूप! परन्तु वे आत्मवान् तन नहीं, आत्मा में आत्मा है। ज्यों ब्रह्म के दर्शन नहीं होते, आत्मा के दर्शन नहीं होते ब्रह्म स्वभाव, अध्यात्म प्रमाण देने वाले तन को भगवान कहते हैं। दर्शन भगवान के होते हैं, ब्रह्म के नहीं होते। सृष्टि का दर्शन तन में नहीं होता, मन में हो सकता है। ऐसी अलौकिक बात केवल भगवान ही कर सकते हैं।

दूसरे दृष्टिकोण से लो तो ऐंसा साधारण जीवन व्यतीत करते हुए, अपने प्रति सम्पूर्ण अत्याचार सहते हुए, मौन रहने वाले भी भगवान ही हो सकते हैं।

वह इतने गुह्य होंगे नन्हीं, कि उनके घनिष्ठ सखा भी उन्हें नहीं पहचान सके। उन्हें उनके नित्य पास रहने वाले भी नहीं पहचान सके। उन्हें कोई न जान सका।

भगवान ने स्वयं ९/११ में कहा कि उन्हें लोग 'बुरा' जानते हैं। वहां उन्होंने 'अवजानन्ति' का शब्द प्रयोग किया। 'अवजानन्ति मां मूढ़ा' कहा।

संसार में ऐसा रूप तथा स्वरूप का प्रमाण भी कहीं और से नहीं मिल सकता।

नन्हीं! भगवान के विराट स्वरूप का दर्शन साधन साध्य नहीं है, यह तो भगवान की दिव्य देन तथा करुणा का प्रसाद है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. मेरे इस विकराल रूप को देखकर
२. तू व्याकुल न हो
३. और न ही विमूढ़ भाव को प्राप्त हो।
४. भय रहित और प्रेमपूर्ण मन वाला होकर,
५. तू मेरे उसी, इस रूप को फिर से देख।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'तुझे मेरा भयंकर, विकराल और विराट रूप देखकर घबराना नहीं चाहिए और न ही विमूढ़ होना चाहिए।' क्योंकि :

१. 'मैं तेरे साथ हूं।
२. मैं तेरा सखा हूं।
३. मैं तेरे लिए वही हूं जो हमेशा रहा हूं।
४. तुझे वैसे ही प्रेम करता हूं।
५. तेरा वैसे ही ध्यान रखता हूं।
६. तेरा सारथी बन तेरे साथ बैठा हूं।

तुझे तो भय रहित और प्रेम पूर्ण होना चाहिए। अब भय किसका, जब जान लिया कि :

क) भगवान तुम्हारे साथ हैं।
ख) भगवान के हाथ में तुम्हारा हाथ है।
ग) भगवान तुम्हारे सारथी हैं।
घ) भगवान तुम्हारे खेवैया हैं।

अब तो तुम्हें प्रेम विभोर होकर प्रेम में मदमस्त हो जाना चाहिए और मेरे पास आ जाना चाहिए। अब तो प्रीत बढ़ाने की बेला है, भय का नहीं। अब तो पास आने की बेला है, दूर जाने की नहीं। जो हुआ अनजाने में हुआ, अब उसे तू भूल जा।'

क्यों न कहें भगवान पुनः मनाने लगे अर्जुन को! भगवान पुनः अंग लगाने लगे अर्जुन को!

फिर कहते हैं: 'लो! मैं फिर वही सौम्य रूप धर लेता हूं। यदि मेरा विराट रूप तुझे पसन्द नहीं है तो तू उसे भूल जा! मैं पुनः तेरे लिए तेरे समान बन जाता हूं। तू भी तो कुछ प्रीत बढ़ा।'

अर्जुन ने भगवान से कहा था, 'आप चतुर्भुज विष्णु का रूप धर लें!'

भगवान ने कहा, 'ले! अब तू मेरा वही रूप देख।'

यह कहकर उन्होंने फिर चतुर्भुज रूप धारण कर लिया। यानि मुकुट, गदा, चक्रधारी चतुर्भुज सौम्य रूप धारण कर लिया।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. वासुदेव श्री कृष्ण ने इस प्रकार कह कर,
२. फिर वैसा ही अपना रूप दिखा दिया
३. और फिर महात्मा कृष्ण ने सौम्य मूर्ति होकर,
४. भयभीत हुए अर्जुन को धीरज दिया।

तत्त्व विस्तार :

कमला! देखो न! एक ओर तो महा अनुग्रह करके भगवान ने अपने विराट रूप के दर्शन दिये और अब फिर झुक कर अर्जुन को धीरज बंधा रहे हैं। इसी में उनका स्वरूप निहित है।

वह अखिल पति, परम पति,
इक जीव को मनाते हैं।
जगदीश्वर, परमेश्वर देख!
इक मूढ़ को अंग लगाते हैं॥

परम ज्ञान प्रकाश स्वरूप,
अज्ञानी को रिझाते हैं।
ज्ञान गुमानी, ज्ञान स्वरूप को,
देख कर घबराते हैं॥

प्रेमास्पद पूर्ण जग को,
देख प्रेम हैं कर रहे।
प्रेम से भगवन् दर्शन दें,
प्रेमास्पद डर गये॥

नन्हीं! इस समय भगवान का प्रेमास्पद अर्जुन है। परम प्रेमी भगवान ने सौम्य रूप पुनः धर लिया। फिर धीरज दिया अर्जुन को, 'सखा मेरे क्यों डर गया ?'

यही अध्यात्म है। भगवान का झुकाव तो देखो!

नन्हीं! भगवान की अर्जुन के साथ तद्रूपता देख। भगवान का अर्जुन के पास झुककर उसे मनाना तो देख। भगवान स्वयं मानो अर्जुन के कहे पर विभिन्न रूप धर रहे हैं। वह तो केवल अर्जुन के स्वप्न के तद्रूप होकर, या अर्जुन का स्वप्न पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

यहां अर्जुन की हार या जीत का सवाल था,

१. अर्जुन स्वयं ही, अपने ही लक्ष्य की राह में विघ्न बन गया था।
२. युद्ध से भागने के प्रयत्न कर रहा था।
३. मोह ग्रसित हो गया था।

भगवान अर्जुन को उसी के स्वरूप की ओर ले जाने के लिए किस किस भांति मनाते हैं, देख तो ले!

साधक को भी व्यष्टिगत रूप में अपने जीवन में यही अभ्यास करना चाहिए। दूसरे के स्वप्न तथा अभिलाषायें पूर्ण करने के लिए अपना तन मन तथा बुद्धि अर्पित करना सीख। यही लक्ष्य है और यही उस लक्ष्य को पाने की विधि भी है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥५१॥

सौम्य रूप और अपने समान तनधारी भगवान को देखकर अर्जुन बोला :

शब्दार्थ :

१. हे लोगों को दण्ड देने वाले कृष्ण!
२. तेरे इस सौम्य मनुष्य रूप को देखकर,
३. अब मैं सचेत हुआ हूं,
४. और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूं।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! अर्जुन क्या कहते हैं। जब भगवान अर्जुन को अपने समान साधारण से पुरुष दिखने लगे, तब उसे चैन आई, और वह कहने लगा, 'हे भगवान!

क) अब मैं सचेत हुआ हूं,
ख) अब मुझे होश आई है।
ग) अब मैं शान्त हो गया हूं।
घ) अब मैं व्याकुलता रहित हो गया हूं।
ङ) अब मेरा कांपना बन्द हो गया है।
च) अब मैं निर्भय हो गया हूं।'

नन्हीं देख! जब भगवान ने पुनः भोला भाला रूप धरा तब अर्जुन शान्त हो गये। जब भगवान ने पुनः सुख देने वाला रूप धरा तो अर्जुन शान्त हो गये; किन्तु अर्जुन स्वयं भगवान को कह रहे हैं कि 'हे जनार्दन!

१. तुम लोगों को दण्ड देने वाले हो।
२. तुम लोगों को पीड़ा देने वाले हो।
३. तुम लोगों को सताने वाले हो।
४. तुम लोगों को तपाने वाले हो।
५. तुम लोगों का नाश करने वाले हो।'

देख नन्हीं! जब यह सब भगवान दूसरों से करें तो ठीक है, तब तो अर्जुन नहीं घबराते। जब अपने पर बीतने लगे, तब वह घबरा जाते हैं और भयभीत हो जाते हैं।

संसार में होता भी यही है। भगवान को जीव तब तक ही ध्याता है जब तक उसे यह लगे कि भगवान उसके अनुकूल हैं। जब लोगों पर विपदा आ जाये तब तो वह कह देते हैं, 'उनकी किस्मत है', किन्तु जब अपने आप पर विपदा आ जाये, तब वह तड़प जाते हैं और भगवान के विरुद्ध हो जाते हैं।

साधारण जीव में और साधु में यही भेद होता है। साधु के अपने ऊपर जब विपदा आये, तो वह मुसकरा कर उसे भगवान की लीला मान लेते हैं और जब कोई दूसरा दुःखी हो तो उसके दुःख निवारण अर्थ अपनी जान लड़ा देते हैं।

श्री भगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. मेरा जो रूप तूने देखा है,
२. यह देखना अति दुर्लभ है।
३. देवता गण भी सदा इस रूप को देखने की इच्छा करते हैं।
४. जैसे तूने मुझे देखा है,
५. इस प्रकार न वेदों से, न तप से, न दान से, न ही यज्ञ से
६. मैं देखा जा सकता हूं।

तत्त्व विस्तार :

विराट रूप के दर्शन कठिन हैं। देख पुनः कह रहे हैं, 'यह जो तूने मेरा विराट रूप देखा है और कोई नहीं देख सकता।'

१. चाहे वह पूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर ले,
२. चाहे वह यज्ञ करे,
३. चाहे वह तप करे,
४. चाहे वह दान दे।

तब भी वह इस रूप को नहीं देख सकता। जो भी कर ले, उसे यह दर्शन नहीं हो सकते।

देवता गण भी इस दर्शन की अभिलाषा करते हैं, पर पा नहीं सकते। *

भगवान के स्वरूप के दर्शन साधन सिद्ध नहीं। देख! यहां भगवान ने पुनः अपनी बात दोहराई है। ताकि

क) कहीं साधक गण भरमा न जायें।
ख) यह दर्शन साधन सिद्ध नहीं हैं।
ग) यह दर्शन केवल भगवान कृष्ण ही दे सकते हैं।
घ) विराट संकुचित नहीं हो सकता।
ङ) असीम सीमित नहीं हो सकता।
च) यह दर्शनगम्य बात नहीं, अनुभवगम्य बात है।
छ) यह स्थूल दर्शन नहीं, यह आंतरिक दर्शन है।

आत्मवान् परम मौन को मौन में जानता है। वह इस तत्त्व को जानता है। वह

---

* श्लोक ११/४८ देखिये

इस सत् को जानता है।

आत्मवान् आत्म में विलीन होकर, मानो द्रष्टावत् जग में वर्तते हुए, इस विराट विश्व रूप परम सत् को जानता है, परन्तु मौन में मौन को जानता है, मौन को मौन होकर जानता है।

जब द्रष्टा, दर्शन और दृष्टि एक हो जाये तो कौन देखे और किसको देखे ?

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी तो एक हो गया तो किसके दर्शन कौन ले ?

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥५४॥

देख नन्हीं! अब भगवान क्या कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. किन्तु हे अर्जुन!
२. अनन्य भक्ति से मैं इस प्रकार,
३. तत्त्व से जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूं।

तत्त्व विस्तार :

अनन्य भक्ति द्वारा, स्वरूप का ज्ञान :

भगवान कहते हैं,

१. 'बिन भक्ति मुझे कोई नहीं जान सकता।
२. बिन भक्ति के यह तत्त्व सार भी नहीं जाना जा सकता।
३. कोई लाख यज्ञ, तप, दान करे, मुझे पहचान नहीं पायेगा॥
४. वही बस अध्यात्म स्वरूप को पा सकता है, जो मुझसे नेहा लगायेगा।
५. शास्त्र पठन, मन्त्र गान, महा ज्ञान से कुछ नहीं मिल सकता।
६. ज्ञान में भक्ति भर दो तुम, तुरन्त भगवान ही आन मिलेंगे।
७. तब मेरे दर्शन भी हो जायेंगे, मुझे तत्त्व से जान भी जाओगे, मुझमें समा भी जाओगे।'

प्रेम :

देख मेरी जान!

१. प्रेम परम से अनुरक्ति है।
२. प्रेम परम से आसक्ति है।
३. प्रेम परम में भक्ति है।
४. प्रेम श्रद्धा का दूसरा नाम है।
५. श्रद्धा के बिना ज्ञान शुष्क रह जाता है।
६. श्रद्धा के बिना ज्ञान विज्ञान में परिणित होना मुश्किल है।
७. श्रद्धा ही दैवी गुणों की जन्मदायिनी मां है।
८. ज्ञान श्रद्धा के बिना स्वरूप तलक नहीं पहुंच सकता।
९. श्रद्धा बिना यज्ञ निरर्थक है।
१०. श्रद्धा बिना तप निरर्थक है।
११. श्रद्धा बिना दान निरर्थक है।
१२. प्रेम ही जीव में भगवान का परम स्वरूप है।

१३. प्रेम ही जीव में भगवान का परम प्रमाण है।
१४. प्रेम ही जीव में भगवान का नाम है।
१५. प्रेम ही जीव में अध्यात्म का सार है।

इसलिए भगवान ने बार बार कहा कि वेद, तप, ज्ञान, यज्ञ, इन सब से स्वरूप नहीं मिल सकता, दर्शन नहीं हो सकता, मुझे नहीं जान सकते।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो मेरे लिए कर्म करता है,
२. जो मेरे परायण है,
३. जो मेरा भक्त है,
४. जो संग रहित है,
५. जो सम्पूर्ण प्राणी मात्र से निर्वैर है,
६. वह मुझे पाता है।

तत्त्व विस्तार :

भक्त की व्याख्या करते हैं भगवान :

क) वह तो राम का चाकर होता है।
ख) वह तो भगवान का चाकर होता है।
ग) वह हर कर्म भगवान के लिए करता है।
घ) ज्यों मालिक होते तो करते, वह भक्त वैसे ही करता है।
ङ) भगवान ज्यों और जिन गुणों से प्रमाणित होते हैं, उनके नौकर उन्हीं गुणों का इस्तेमाल करते हैं।
च) वे सब कुछ भगवान के नाम पर करते हैं।
छ) वे सब कुछ भगवान के लिए करते हैं।
ज) उनके जीवन में परम गुण प्रधान होंगे।
झ) वे तो अपना तन भगवान को दिये बैठे हैं।
ञ) मानो उनके तन में भगवान नित्य विराजित रहते हैं।
ट) वे तो हर पल भगवान के साक्षित्व में रहते हैं।
ठ) उनका एक आश्रय भी भगवान ही हैं।
ड) उनका एक सहारा भी भगवान ही हैं।
ढ) उनके जीवन का आधार भगवान ही हैं।
ण) वे तो भगवान के भक्त हैं।
त) वे तो भगवान में आसक्त हैं।
थ) उन्हें भगवान में ही श्रद्धा है।
द) वे जीवन देकर भी भगवान के नाम पर कलंक नहीं बनते।
ध) क्योंकि प्रेम, क्षमा, करुणा, परदुःख कातरता, भगवान के गुण हैं, इसलिए भक्त के जीवन का भी यही आधार हैं।
न) आर्जवता, विनीत भाव, भक्त के सहज गुण हैं।
प) वे नित्य कर्त्तव्य परायण रहते हैं क्योंकि भगवान स्वयं कर्त्तव्य में बसते हैं।

फ) जीवन में इनका स्वरूप यज्ञ होता है क्योंकि :
- प्रियतम का यज्ञ में वास है।
- प्रियतम का यज्ञ स्वभाव है।
- प्रियतम का यज्ञ में राज़ है।

और फिर, भगवान के नाम पर यज्ञ के सिवा करे भी क्या ? जब संग भगवान से हो जाये तो वह भक्ति कहलाती है। जब संग भगवान से हो जाये तो और कहीं संग कैसे रह सकता है ? मन तो बेचारा एक है, उसमें एक ही बस सकता है। भगवान मन से जायें तो ही तो वहां दूसरा आये! साधक जब :

१. कर्म करे, तब साक्षी राम हैं।
२. ध्यान धरे, तो सामने राम हैं।
३. जो काज करे, वहां भाव राम का है।

जो तन उसका अपना था, उसपे अब राम का राज्य है।

कहीं और संग अब कौन करे ? साधक कहां से वह मन लाये जो कहीं और जाये ?

वैर की बात भक्त क्या जाने ? राम तो कहीं वैर नहीं करते थे। वह मालिक बन कर मन में बैठे हैं। अजी! वह तो प्यार ही करते रहते हैं। क्षमा, करुणा, सेवा, कर्त्तव्य, यज्ञ के झमेले जहां लगे रहें, प्रेम के भण्डार जहां खुले रहें, वहां वैर की ओर देखने की फ़ुर्सत ही कहां है ?

भगवान कहते हैं, 'वह उन्हें ही पायेगा।' अजी नहीं! भगवान स्वयं उनके तन में रहने आयेंगे।

साधक का विराट रूप के प्रति दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए तथा साधक को इस विराट रूप से क्या लाभ है ?

श्रद्धापूर्ण साधक का विराट रूप के प्रति दृष्टिकोण :

नन्हीं! भगवान स्वयं कहकर आये हैं कि, 'ऐसे धर्मात्मा लोग अति दुर्लभ हैं जो सब वासुदेव ही हैं, ऐसा मानते हैं।' साधक की यह स्थिति अनेक जन्मों के पश्चात् होती है। विराट रूप दिखाते हुए भगवान ने स्वयं कहा कि 'सब वह आप हैं।' विभूति पाद में भी यही प्रमाणित किया था कि सब गुण वह आप हैं।

जो साधक सच ही श्रद्धापूर्ण होगा,

१. उसके लिए भगवान का कथन सत्य ही होगा।
२. उसके लिए भगवान का वचन उपदेश नहीं होगा, बल्कि आदेश होगा।
३. उसके लिए भगवान ने जो कहा, उसे मान लेना सहज होगा।
४. उसके लिए भगवान की बातें सुनने के पश्चात् सम्पूर्ण जहान पल में उन्हीं का रूप हो जायेगा।
५. तत्पश्चात् वह सबको आत्म रूप ही मानेगा।
६. श्रद्धापूर्ण साधक तत्पश्चात् सबको आत्म रूप ही जानकर किसी से द्वेष नहीं करेगा।
७. श्रद्धापूर्ण साधक तत्पश्चात् किसी का भी अहित नहीं करेगा।
८. भगवान ने स्वयं कहा, 'मुझे सच ही परम मानने वाला, सम्पूर्ण कार्य मेरे

निमित्त करता हुआ, अपने तन से संग रहित होगा और वह सब भूतों के प्रति निर्वैर होगा।

विराट रूप जानने के परिणाम रूप जीवन में अभ्यास :

ऐसे साधक का दृष्टिकोण जहान के प्रति,

क) प्रेम पूर्ण होगा।
ख) करुणा पूर्ण होगा।
ग) उदारता पूर्ण होगा।
घ) सहानुभूति पूर्ण होगा।
ङ) दुःख विमोचक का होगा।

साधक तब स्वयं दूसरों से बहुत श्रेष्ठ होने का अहंकार नहीं कर सकेगा; क्योंकि, यदि सब भगवान ही है, तो राजा या रंक, दोनों बराबर हैं। तब साधक के लिए पंडित या पिशाच दोनों बराबर हैं। अन्य लोग जिस गुण का अभिमान करते हैं, वह उस अभिमान को भी भगवान का अभिमान मानकर, निरपेक्ष भाव से सह लेता है। साधक अपने आपको किसी से श्रेष्ठ नहीं मानता, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा के नाते सब एक हैं। सम्पूर्ण गुण भी भगवान के ही हैं, इस कारण सब एक हैं।

ऐसे दृष्टिकोण से जग को देखता हुआ वह समत्व भाव में स्थित हो जाता है। वर्तन् में गुण भेद के कारण समता नहीं होती, दर्शन में आत्मा की अभेदता के कारण समता होती है।

सब राम रूप हैं, इसका अभ्यास अपने घर में आरम्भ कीजिए। ममत्व भाव पल में छूट जायेगा और आपके अधिकार पल में छूट जायेंगे। किन्तु, जो आपके कुल वालों के आपके ऊपर अधिकार हैं, वह बने रहेंगे और आप अपने कुल वालों को राम रूप जानकर उनसे प्रेम तथा उनकी सेवा करोगे।

जब कोई आपकी सलाह मांगे तो पूछने वाले को भी भगवान रूप साक्षी मानकर आप निर्भयता से उत्तर दोगे। उसके परिणाम में आपको जो भी प्रहार, अपमान या मान मिलेगा, उसे आप भागवद् देन जानकर, निरपेक्ष भाव से स्वीकार करेंगे। यदि किसी ने आपका अपमान किया या आप पर कोई अत्याचार किया तो आप उस अत्याचारी को जो कहना है, स्पष्ट तत्पर कह देंगे; किन्तु जिस पल वह आपकी आंखों से ओझल होगा, आप सब कुछ भागवद् देन जान लेंगें, तब मन में गिला नहीं रहेगा।

नन्हीं! अर्जुन भगवान के उग्र तथा विकराल रूप को देखकर विकम्पित हुए और घबरा गये। साधक उसी विकराल रूप को समझ कर, संसार भर की विपरीतता तथा अत्याचार को सहने की शक्ति पा जाता है।

नन्हीं! इस विराट रूप को जान लेने से :

१. साधक तो सबमें भगवान को देखने लग जाता है।
२. साधक में दैवी सम्पदा का स्वतः जन्म हो जाता है।
३. गुणातीत तो वह साधक हो ही जायेगा जब सबको भगवान का रूप मानेगा;

क्योंकि वह किसी के गुणों से प्रभावित होकर उसके प्रति गिला या शिकवा नहीं करेगा।

४. अपने गुण से वह प्रभावित क्या होगा जो अपने चहुं ओर भगवान के ही विराट रूप को देख रहा है ?

५. नन्हीं! ऐसे लोग अपने आपको, यानि अपने तन को रेखा पर छोड़ देते हैं और संसार में सबको भगवान रूप जानकर उनकी निरन्तर सेवा करते हैं।

६. वे अपने आप को दरिद्र जानकर और जो सम्मुख आये, उसे नारायण जानकर उसकी सेवा करते हैं। यह सेवा ही एक दिन उनका अखण्ड निष्काम यज्ञ बन जाती है।

यही निष्काम पूजा है, यही निष्काम भजन है भगवान का, इसी में परम मिलन भी निहित है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे-
श्रीकृष्णार्जुन संवादे विश्वरूपदर्शनयोगो-
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन पूछते हैं भगवान से,

शब्दार्थ :

१. जो निरन्तर युक्त हुए आपको उपासते हैं,
२. और जो अव्यक्त अक्षर ब्रह्म को उपासते हैं,
३. उनमें से श्रेष्ठ योग वेत्ता कौन है?

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान से अपने संशय के निवारण अर्थ पूछते हैं कि, 'अव्यक्त अक्षर ब्रह्म की उपासना करने वालों और आपका पूजन करने वालों में से कौन योग को अधिक जानता है?'

अक्षर पूजन :

१. यह परम अक्षर ब्रह्म और अव्यक्त आत्म तत्त्व का पूजन है,
२. यह निराकार, परम सत् का पूजन है,
३. यह अचिन्त्य स्वरूप से नित्य योग करने का अभ्यास है,
४. यह निर्गुण स्वरूप का पूजन है,
५. यह अतीन्द्रिय स्वरूप का पूजन है,
६. यह अलौकिक तत्त्व का पूजन है,
७. यह अप्रत्यक्ष, अप्रकट का पूजन है,
८. यह समष्टि रूप, असीम सत्त्व तत्त्व का पूजन है,
९. यह विराट स्वरूप तत्त्व का पूजन है,
१०. यह परमात्म तत्त्व का पूजन है।
११. यह अविनाशी, सत् चित् आनन्द घन का पूजन है,
१२. यह परम चेतन आत्म तत्त्व का पूजन है।

अर्जुन पूछते हैं, 'कहो भगवान! यह पूजन श्रेष्ठ है या तुम्हारी साकार भक्ति श्रेष्ठ है?' यानि :

क) 'निरन्तर तुझमें ध्यान रहे और तुम्हारा पूजन करें।
ख) तेरा ही साथ रहे, तुम्हारा ही गुणगान करें।
ग) निरन्तर तेरा ही रूप देखा करें और तुम्हें ही साक्षी बना कर सब करें।
घ) निरन्तर तेरा ही जीवन प्रिय लगे और तुम्हें ही समझने का प्रयत्न करें।
ङ) मन तुझे मूर्तिमान करे और तुम्हारी ही नित्य आरती ले।
च) आसक्ति केवल तुझी से हो और तुझी में मन खो जाये।

छ) बस जीवन में इक तू ही हो, हर जगह तुम्हारे ही दर्शन हों।

भगवन्! तुम्हीं कहो क्या यह श्रेष्ठ है ? निराकार आत्मा में ध्यान लगाना श्रेष्ठ है या तुम्हारे साकार रूप में ध्यान लगाना श्रेष्ठ है ? किस राही योग को अधिक जाना जा सकता है ?'

नन्हीं! अव्यक्त, अक्षर पूजन के विषय में पुनः समझ ले :

अव्यक्त अक्षर पूजन में साधक गण,

क) मन को मौन करने के प्रयत्न करते हैं;
ख) इन्द्रियों को विषयों से दूर करने के प्रयत्न करते हैं;
ग) संसार को मिथ्या कहकर छोड़ देना चाहते हैं;

फिर हर साधक का अन्तिम लक्ष्य भी तो अक्षर तत्त्व में लय होना है। सो, अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक ही है।

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

भगवान कहते हैं, 'अर्जुन सुन!

शब्दार्थ :

१. मुझमें मन लगाकर जो नित्य मुझमें युक्त हुए,
२. परम श्रद्धा से मुझे उपासते हैं,
३. वह मेरे में युक्त गणों में सर्वोत्तम योगी हैं।'

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं सगुण ब्रह्म की उपासना सर्वोत्तम है।

वे कहते हैं,

१. जिसे आप अक्षर ब्रह्म कहते हो उसी का तो मैं रूप हूं।
२. अध्यात्म केवल परम का स्वभाव है और मैं तो अध्यात्म स्वरूप हूं।
३. मैं ही तो ब्रह्म की व्याख्या हूं।
४. मैं ही तो ब्रह्म का प्रमाण हूं।
५. मैं ही तो ब्रह्म का ज्ञान हूं।
६. मैं ही तो ब्रह्म का विज्ञान हूं।
७. मुझे देख कर ही तो जान सकोगे कि सत् क्या है।
८. मुझे देखोगे तो जान सकोगे कि आत्मवान् असत्‌मय जगत में कैसे रहते हैं।
९. मैं सत् असत् से परे हूं, सत् असत् प्रमाण रूप मुझे देखोगे, तभी तो समझोगे।
१०. निराकार को कैसे जानोगे? साकार को देखोगे तो ही जान सकोगे।
११. दिव्य विशुद्ध आत्म स्वरूप को बातों

में क्या जान सकोगे ? मेरा जीवन देख लो तो शायद तुम पहचान सको!

१२. परम तत्त्व का प्रमाण मैं हूं,
परम का ही वरदान मैं हूं।
नित्य परम प्रकाश मैं हूं,
हर साधक की आस मैं हूं॥

१३. साधना का लक्ष्य मैं ही हूं, तुझे मुझसा ही बनना होगा।

१४. परम पुरुष पुरुषोत्तम मैं हूं, नित्य पूजा का लक्ष्य मैं ही हूं।

१५. ब्रह्म को ध्याकर भी मैं ही तो मिलता हूं। तुमने मुझमें ही तो समाना है। बातों में चाहे कुछ भी कहो, तुझे मुझ सा ही हो जाना है।

१६. अव्यक्त तत्त्व, अक्षर ब्रह्म को ध्याकर, मुझसा ही तुमने बनना है। गर सफल साधना हो गई, तुम्हारा रूप तथा स्वरूप मुझसा हो जाएगा।

१७. रूप और स्वरूप में भेद नहीं है, मुझमें और ब्रह्म में भेद नहीं है, यदि इसे समझ सकते हो तो समझ लो। मुझमें और परम आत्म तत्त्व में भेद नहीं है। आत्म स्थिति और परम स्वरूप मैं ही हूं।

१८. परम मेरा नाम है,
परम पथ मेरा जीवन है।
पूर्ण ज्ञान मेरा जीवन है,
अध्यात्म प्रमाण मेरा जीवन है॥

१९. गर मेरा जीवन सामने देखकर नहीं समझ सकते तो बिन देखे निराकार को क्या जानोगे ?

२०. गर व्यक्त नहीं पहचान सकते तो अव्यक्त को क्या पहचानोगे ?

२१. अक्षर ब्रह्म तत्त्व सार का रस सार मैं ही हूं। जग में सत् तथा प्रेम का आधार मैं ही हूं।

२२. बिन प्रमाण न जानो ज्ञान,
बिन प्रमाण नहीं राम मिले।
बिन प्रमाण नहीं मिले विज्ञान,
बिन प्रमाण नहीं भगवान मिले॥

२३. प्रमाण का आसरा साधक ले,
प्रमाण वह निज जीवन में दे।
जब परम प्रमाण के सम भये।
तब नित शाश्वत प्रमाण वह दे॥

२४. परम अध्यात्म प्रकाश का,
जीवन प्रमाण हो जाता है।
नित्य अखण्ड अक्षर ब्रह्म में,
आत्म विलीन हो जाता है॥

बाकी जो रह जाता है, वह है परम पुरुष पुरुषोत्तम। यह कैसे हो सकता है, इसे समझ ले।

सुन! भगवान कहते हैं, 'जो श्रद्धा युक्त होकर मुझे ध्याते हैं, वह मेरे में युक्त माने गये हैं।'

श्रद्धा :

श्रद्धा का अर्थ है जीवन में सत्य को धारण करना।

१. जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है।
२. श्रद्धा उस गुण से संग कह लो जिसका रंग जीवन पर चढ़ जाता है।
३. प्रबल, उत्कृष्ट निष्ठा को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा के बिना कुछ भी नहीं मिलता।

४. सत् में निष्ठा की बात नहीं, श्रद्धा सत् गुणों को अपने में उतारती है।
५. श्रद्धा ही जीव के गुणों का हर रंग बदल सकती है।

अब परम में श्रद्धा की बात समझ ले :

परम में श्रद्धा :

क) परम में श्रद्धा का अर्थ सत् में श्रद्धा है।
ख) सत् को जीवन में धारण करने में निष्ठा को परम श्रद्धा कहते हैं।
ग) स्वयं सत् का प्रमाण बनने में निष्ठा को परम श्रद्धा कहते हैं।
घ) सत् गुण जीवन में व्यय करने में निष्ठा को परम श्रद्धा कहते हैं।
ङ) सत् को अपने में स्थापित करने की निष्ठा को परम श्रद्धा कहते हैं।
च) अपने जीवन में परम गुण लाने की उत्कृष्ट अभिलाषा को परम श्रद्धा कहते हैं।
छ) परम के गुणों की चाकरी करने की प्रबल चाहना परम श्रद्धा है।
ज) परम को अपने जीवन में लाने की हार्दिक मांग परम श्रद्धा है।
झ) परम को अपना जीवन साथी बनाने की उत्कण्ठा परम श्रद्धा है।
ञ) परम को अपने रोम रोम मे समाने की चाह परम श्रद्धा है।
त) परम को अपने तन में बसाने की चाह परम श्रद्धा है।
थ) परम को अपने प्राण देकर भी सप्राण करने की चाह को परम श्रद्धा कहते हैं।

श्रद्धा का परिणाम :

क) श्रद्धा ही वह पात्र है जिसमें परम तत्त्व जन्म लेता है।
ख) यही. वह प्रेम का झूलना है जिसमें स्वरूप की चाहना परिपक्व होती है।
ग) नाम रूपा शिशु इसमें ही पलता है।
घ) भक्ति रूपा 'मां' भी बस यही है।

सत् में जिस पल श्रद्धा उपजती है, उस पल आन्तर में राम का जन्म होता है। राममय जीवन तब आरम्भ होता है, यानि, जीवन यज्ञ आरम्भ होने लगता है। नाम शिशु केवल यज्ञ शेष पर पलता है। यही भक्ति मां का दुग्ध है, श्रद्धा के आसरे ही यह बहता है।

गर श्रद्धा नहीं तो सहयोगी जीवन नहीं होगा। गर सहयोगी जीवन नहीं तो नाम जन्म लेते ही मर जायेगा और निष्प्राण हो जाएगा।

इसलिए भगवान कहते हैं, 'श्रद्धा से जो मुझे प्रेम करते हैं, वही उत्तम हैं, क्योंकि वे 'वह' नहीं रहते, वे 'मैं' ही हो जाते हैं।'

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

अब भगवान निराकार पूजा के विषय में कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. और जो पुरुष,
२. इन्द्रिय समूह को वश में करके,
३. अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अकथनीय, कूटस्थ, ध्रुव, अचल, अव्यक्त, अक्षर तत्त्व की उपासना करते हैं,
४. सबमें सम बुद्धि रखने वाले,
५. वे भी सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए,
६. मेरे को ही प्राप्त होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

निर्गुण उपासना :

नन्हीं! निर्गुण उपासना में ध्यान आत्मा में होता है।

क) ऐसा साधक निरन्तर यही ध्यान में रखता है कि वह तन नहीं, आत्मा है।
ख) वह निरन्तर यही ध्यान में रखता है कि वह तन की स्थापना के लिए कुछ न करे।
ग) वह निरन्तर अपने आपको, अपने तन को और मन को भूलने के यत्न करता रहता है।
घ) वह निरन्तर अपनी बुद्धि को अपने लिए इस्तेमाल न करने के प्रयत्न करता है। यानि अपनी बुद्धि को अपने तन की स्थापति के लिए इस्तेमाल नहीं करता।
ङ) वह अपनी बुद्धि को अपने तन की रुचि को पूरा करने के लिए भी इस्तेमाल नहीं करता।
च) वह निरन्तर आत्मा की एकता पर ध्यान लगाये रहता है।
छ) वह निरन्तर आत्मा की अखण्डता पर ध्यान लगाये रहता है।

निर्गुण उपासक की आन्तरिक अवस्था :

ये लोग अपने मन को शान्त करने और अपनी इन्द्रियों को वश में करने के प्रयत्न करते रहते हैं।

नन्हीं! अखण्ड अक्षर तत्त्व पर ध्यान लगाने वाले लोग,

१. महायोगी होते हैं।
२. श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न होते हैं।
३. अति श्रेष्ठ तथा पावन मन वाले होते हैं।
४. नित्य मुदित मन वाले होते हैं।
५. जग के प्रति शान्त भाव वाले होते हैं।

६. निर्भय होते हैं।
७. जग के प्रति तृप्त होते हैं।
८. अपने प्रति उदासीन होते हैं।

नन्हीं!

क) जो लोग राग द्वेष से भरे हुए हों, वे अक्षर अव्यय तत्त्व पर ध्यान नहीं लगा सकते।
ख) जो लोग काम क्रोध से भरे हुए हों, वे अक्षर तत्त्व पर ध्यान नहीं लगा सकते।
ग) जो लोग मान अपमान से प्रभावित होते हैं, वे निर्गुण की उपासना नहीं कर सकते।
घ) जो लोग प्रवृत्ति या निवृत्ति से प्रभावित होते हैं, वे निर्गुण की उपासना नहीं कर सकते।

इस कारण भगवान ने कहा, यदि ये लोग :

- सर्व भूतों के हितकर हैं, तब ये मुझे ही प्राप्त होते हैं।
- यदि यह समबुद्धि सम्पन्न हैं, तो ये मुझे ही पाते हैं।

नन्हीं! भगवान बुद्ध के जीवन तथा स्वरूप से इस तत्त्व को समझ लो। समाधिस्थ होने से पहले भगवान बुद्ध का जीवन जान लो :

उनका जीवन :

क) पावनता की प्रतिमा था।
ख) दया तथा विशाल हृदय की प्रतिमा था।
ग) क्षमा तथा करुणा की प्रतिमा था।
घ) सम्पूर्ण दैवी गुणों से परिपूर्ण था।
- वह स्वयं अनुकम्पा के सागर थे।
- वह स्वयं कृपा पुंज थे।
- वह स्वयं नित्य निष्पाप थे।
- वह तो साक्षात् न्याय की मूर्ति थे।
- वह तो नित्य मुदित तथा आनन्दमनी थे।
- भगवान बुद्ध सौम्य, मृदुल तथा विनम्रता की मूर्ति स्वयं थे।
- भगवान बुद्ध स्वयं निष्कपटता की मूर्ति थे।
- सर्व लोक हित करने वाले वह स्वयं थे।
- निष्कामता की वह जीती जागती प्रतिमा थे।

फिर यह भी समझ! उनका अपनी साधना के लिए घर से जाना भी अपने किसी सुख या आनन्द की चाहना पूर्ति के लिए नहीं था।

क) वह तो दुःख का कारण जानना चाहते थे।
ख) वह तो लोगों का दुःख देखकर सत्यता की खोज में गये थे।
ग) वह तो ऐसी विधि जानना चाहते थे जिस राही किसी को भी कभी दुःख न हो।

वास्तव में देखा जाये तो उनकी अन्तिम ध्यान समाधि भी निष्कामता तथा काम्य कर्म के नितान्त अभाव का स्वरूप थी।

नन्हीं! निर्विकार ब्रह्म की निष्काम उपासना कोई भगवान की स्थिति पाकर ही कर सकता है। साधारण लोगों के लिए

व्यक्त सगुण ब्रह्म की उपासना ही उससे एकरूपता पाने का पथ है।

रूप स्वरूप के अनुसार होना चाहिए। स्वरूप में स्थित होने के लिए रूप भी वैसा होना चाहिए और जीवन भी वैसा होना चाहिए।

फिर भगवान कहते हैं कि :

१. अव्यक्त तत्त्व को ध्याओगे तब भी परम आत्म स्वरूप को ही पाओगे।
२. 'अहं ब्रह्मास्मि' भी यदि कहोगे तब भी तनत्व भाव तो छोड़ना ही होगा।
३. इन्द्रिय विषय संयोग से मनो वियोग तो करना ही होगा।
४. सम्बुद्धि के अभ्यास के लिए जग में तो रहना ही पड़ेगा।
५. उदासीनता पाने के लिए तन तो जग को देना ही होगा।
६. निर्द्वन्द्वता पाने के लिए तन तो जग को देना ही होगा।
७. यदि निरासक्ति को पाना है, तो केवल विषय त्याग से नहीं पा सकोगे।
८. अहंकार यदि मिटाना है, तो अहं की आहुति इस संसार में देनी ही होगी।
९. यदि स्वरूप में स्थित होना है तो भगवान जैसा रूप बनना ही पड़ेगा।
१०. विषय रहें पर संग न हो, इसका अभ्यास करने के लिए विषयों में रहना ही पड़ेगा।
११. गर गुणातीत होना है तो गुण सहवास अनिवार्य है।
१२. विभिन्न गुण पूर्ण लोगों में तब सहवास अनिवार्य है।
१३. तुम गुणातीत होने लगे, इसका प्रमाण अनिवार्य है।
१४. मान अपमान से उठना चाहते हो तो मिश्रित जहान् अनिवार्य है।
१५. निर्वैर निर्लिप्त स्थिति का प्रमाण अनिवार्य है।
१६. आशा तृष्णा रहित हो जाओं तो निष्काम स्वत: हो जाओगे।
१७. अनुकूल विपरीत परिस्थिति में सम होने का प्रमाण जीवन में चाहिए।
१८. राग द्वेष का अभाव हुआ तो सर्वभूत हितकर स्वत: हो जायेगा।
१९. नित्य तृप्त तब हो सकेगा, जब यह तन तेरा नहीं रहे।

परिणाम में जीवन यज्ञ हो जायेगा और तू यज्ञशेष रह जायेगा, फिर जहान् को भगवान का रूप मिल जायेगा। परिणाम में अहं अभाव हो जायेगा। तू आत्मवान् हो जायेगा। भगवान कहते हैं, 'अजी! वह मैं ही तो हूं, तब वह मुझे ही पायेगा।'

चेतावनी :

निर्गुण उपासना जीव के लिए हानि कारक हो सकती है।

१. सगुण उपासना में जीव, अवतारी पुरुषों के गुणों को समझ कर, अपने जीवन में उनका प्रयोग करते करते, परम तत्त्व की ओर जा सकता है।
२. सगुण उपासना में, साधक को आत्मवान् के सहज जीवन में अनिवार्य गुण भी समझ आ सकते हैं।
३. निर्गुण उपासना सगुण उपासना का परिणाम है, चित्त शुद्धि के पूर्व आत्मा

को हेरना मूर्खता है।

जीव की अवस्था और भूल :

आत्मा निर्गुण है, किन्तु आपका तन, जिससे आपकी तद्रूपता है, वह सगुण है। यदि अपने तन, मन और बुद्धि को आप संयम में नहीं ला सकते तो इसका अर्थ स्पष्ट शब्दों में यही है कि :

क) आपका अभी मनोरुचि में संग है।
ख) आपका अभी बाह्य विषयों से संग है।
ग) आपका मन अभी आपकी ही बुद्धि की बात नहीं मानता।
घ) आप अपना तन अभी छोड़ना नहीं चाहते।
ङ) आपको अभी बहुत अभिमान है।
च) 'मैं' जब्र तक अपने तन को दान में नहीं दे देती, तब तक आप आत्मवान् नहीं बन सकते।
छ) 'मैं' जब तक निष्काम तत्त्व में स्थित नहीं हो जाती, तब तक आप तनत्व भाव को नहीं छोड़ सकते।
ज) काम्य कर्म त्याग तथा निष्काम कर्म अभ्यास केवल अपने तनत्व भाव के त्याग का ही अभ्यास है; क्योंकि,
   - जब जीव को अपने लिए अपने तन की ज़रूरत ही नहीं रहेगी, तब ही तो वह तनत्व भाव को छोड़ सकेगा।
   - जब जीव को किसी विषय की अपने लिए ज़रूरत नहीं रहेगी, तब ही तो वह विषयों के प्रति नित्य निरासक्त हो सकेगा।
   - इसका अभ्यास करना अनिवार्य है।

पूर्ण अवतारी पुरुष केवल परम गुणों का ही तो प्रमाण देते हैं। सब ही अवतारी पुरुष :

क) नित्य तृप्ति का ही तो प्रमाण हैं।
ख) उदासीनता का ही तो प्रमाण हैं।
ग) प्रेम का ही तो प्रमाण हैं।
घ) करुणा का ही तो प्रमाण हैं।
ङ) निर्द्वन्द्वता का ही तो प्रमाण हैं।
च) सत्चित्तता का ही तो प्रमाण हैं।

नन्हीं! इन्हीं के गुणों को जानकर, साधक उन गुणों को जब अपने जीवन में लाने के प्रयत्न करेगा, तब ही वह ब्रह्म के रूप तथा स्वरूप को समझ सकेगा। आप आत्मवान् के तन के गुण ही तो सगुण करते हो :

१. जब तक आपके तन में वे गुण व्यक्तिगत रूप में नहीं आ जाते, तब तक आप आत्मा की ओर नहीं जा सकते।
२. दैवी गुण व्यक्तिगत सत् गुणों का ही समष्टिगत रूप हैं।
३. भागवद् गुण, जो गुणातीत के गुण हैं तथा आत्मवान् के गुण माने जाते हैं, या कहें निर्गुणिया के गुण माने जाते हैं, वे सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के परे के गुण हैं।

क) भगवान के गुण ब्रह्म के गुण हैं।
ख) भगवान के गुण मौन स्वरूप के गुण हैं।
ग) भगवान के गुण न्याय के गुण हैं।

वहां न्याय भी अपार है, वहां करुणा

भी अपार है, वहां उदासीनता भी अपार है, वहां प्रेम भी अपार है।

वह जीव को मनाते भी हैं, वह जीव के प्राण भी ले लेते हैं।

साधक के लिए यह अनिवार्य है कि वह साधना का आरम्भ पहले कदम से ही करे। बिना सतोगुण को उपलब्ध किये, गुणातीत हो जाना असम्भव है। बिना सगुण को समझे, निर्गुण ब्रह्म की उपासना भी असम्भव है।

नन्हीं! यह निर्गुण की उपासना करोड़ों में कोई एक ही कर सकता है। जो अपने आपको शुरु से ही करोड़ों में एक मानता है, उससे बड़ा मूर्ख और कौन हो सकता है ? सगुण उपासना की पराकाष्ठा निर्गुण स्वरूप है। जब तक 'मैं' है तब तक तन को औरों की सेवार्थ दे देने का अभ्यास करो।

नाम, तुम जिसका भी चाहो लो, जीवन में नामी के नाम पर कलंक बनने से बचो। नामी के साक्षित्व में जीने का प्रयत्न करो, आप निष्काम कर्म स्वत: करने लग जाओगे। शनै: शनै: आप नामी में अपने आपको भूलना शुरु कर दोगे। एक दिन आप अपने आपको और फिर नामी को भी भूल जाओगे। जो बाकी रह जायेगा, वह भगवान है। तब आपकी 'मैं' आत्मा में विलीन हो जायेगी। यह आत्म विस्मृति ही स्वरूप स्थिति है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. उस अव्यक्त में आसक्त चित्त वालों को विशेष क्लेष होता है,
२. क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त गति कठिनाई से पाई जाती है।

तत्त्व विस्तार :

सुन नन्हीं आभा! देहधारियों के लिए कहते हैं, अव्यक्त गति कठिन है। अर्थात्

१. अव्यक्त को जीवन में समझाना मुश्किल है।
२. अव्यक्त को जानना मुश्किल है।
३. अव्यक्त को जीवन में उतारना कठिन है।
४. अव्यक्त की गतिविधि समझना कठिन है।
५. अव्यक्त का सहारा लेना भी कठिन है।
६. अव्यक्त में प्रवेश करना भी कठिन है।
७. अव्यक्त का प्रमाण मिलना भी कठिन है।
८. अव्यक्त की साधना प्रक्रिया जानना कठिन है।
९. अव्यक्त में ध्यान लगाना कठिन है।
१०. अव्यक्त में अव्यक्त हो जाना कठिन है।

११. उस अचिन्त्य का चिन्तन कैसे कर सकते हैं ?
१२. ससीम के लिए असीम को समझना कठिन है।
१३. बिन प्रमाण के उस परम को कैसे जान सकते हैं ?
१४. लौकिक, अलौकिक को भी नहीं समझ सकता तो वह अलौकिक पति को कैसे जानेगा ?
१५. निर्गुणिया में ध्यान लगाकर तुम अखिल गुणी रूप को भूल जाओगे।
१६. निराकार उसे समझ लिया, तो उसका विश्व रूप भूल जाओगे।
१७. वास्तविक मिथ्यात्व बिन समझे तुम जग को मिथ्या कह दोगे।
१८. परम गुण खुद में ला न सके तो जग को विषपूर्ण कह दोगे।
१९. सत्य खुद में जब पा न सके तो सब को असत् कह दोगे।
२०. मायापति को न जान सके तो जग को माया कह दोगे।
२१. जब खुद को सत् समझ आये न, अज्ञानी अन्य को कह दोगे।
२२. अपने प्रति उदासीन न हो सके तो जग को छोड़ ही जाओगे।
२३. वास्तव में सत् साधन से भी नाता टूट ही जायेगा।

भगवान का जन्म :

परम गति बहुत गहन है। अव्यक्त गति समझ नहीं आती। जिन पाया वह परम पद, तू केवल उनके पद चिह्नों का अनुसरण कर सकती है।

भगवान का जन्म भी इस कारण होता है। उसका प्रमाण सामने देख लो तो शायद कुछ बन जाये मेरी जान! वरना पथ में भरमा जाओगे, क्योंकि :

क) तू तो स्वयं उस निराकार का आकार है।
ख) तुझे तो स्वयं उस निराकार का साकार रूप बनना पड़ेगा।
ग) साकार से निराकार की ओर बढ़ने के यत्न कर।
घ) आरम्भ में ही निराकार की ओर बढ़ने के यत्न न कर, आरम्भ में ही निराकार को जानना अतीव कठिन है।

वह तो कोई करोड़ों में एक पा सकता है; वह तो कोई करोड़ों में एक समझ सकता है।

क्या तुम्हें इतना ज्ञान है कि तुम समझते हो कि तुम करोड़ों में एक हो? गर इतना गुमान है अपनी बुद्धि पर, अपनी शक्ति पर, अपनी साधना पर तो भगवान का मिलना मुश्किल है। तब तू पायेगा क्या ?

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन सुन!

शब्दार्थ :

१. जो सारे कर्म मुझ में अर्पित करके,
२. मेरे परायण हुए,
३. अनन्य योग से मुझको ध्याते हैं,
४. और मेरी उपासना करते हैं,
५. उन मुझ में चित्त लगाए हुओं को मैं शीघ्र ही,
६. मृत्यु रूप संसार सागर से तार देता हूं।

तत्त्व विस्तार :

आत्मवान् बनने के यत्न करते हुए अनन्य भक्त, साधक की स्थिति :

भगवान कहते हैं :

क) जो मेरे परायण होकर मेरे विश्व रूप पर सम्पूर्ण कर्म अर्पित करते हैं,
ख) जो मेरे शरणागत होकर मेरे गुणों से मेरे विश्व रूप में वर्तते हैं,
ग) जो मेरे में ही निरन्तर निमग्न रहकर सबमें मुझे ही देखते हैं,
घ) जो मेरे आश्रय में ही सब करते हैं,
ङ) जो मेरा ही उपभोग करते हैं, यानि मेरे ही गुणों का मानो उपभोग करके उन्हें और भी पुष्टित करते हैं,
च) जो मेरा सत्कार करते हैं, यानि मेरे विश्व रूप का सत्कार करते हैं,
छ) जो मुझे ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, यानि मुझे अपनी 'मैं' से श्रेष्ठ मानते हैं,
ज) जो मुझे ही अंगीकार करते हैं सहज जीवन में,
झ) जो मुझे ही स्वीकार करते हैं सहज जीवन में,
ञ) जो हर कर्म मुझ में ही अर्पित कर देते हैं,
ट) जो सम्पूर्ण व्यवहार मेरे नाम पर ही करते हैं,
ठ) जो मेरे लिए ही सब कर्म करते हैं,
ड) जो मेरे गुणों का अनुसरण करते हैं,
ढ) जो मेरे गुण जीवन में लाकर सब लोगों के हित में इस्तेमाल करते हैं,
ण) जो मेरे गुणों का अनुगमन करते हैं,
त) जो मेरे गुणों को औरों के लिए प्रस्तुत करते हैं,

यानि जो भगवान के समान सब कुछ करते हैं, भगवान कहते हैं वे तो मेरा ही इस्तेमाल करते हैं।

१. वे सब करके कुछ भी नहीं चाहते,
२. फल की बात का ध्यान ही नहीं रहता ऐसे लोगों को,
३. निष्काम कर्म वहां स्वतः होते हैं, जहां

कर्त्ता का नाम ही न हो,

४. उसका कर्म से संग कभी नहीं होता, क्योंकि वह तो मेरे नाम में मग्न रहता है। निरन्तर उसका मन तो मुझ में ही लगा रहता है।

भगवान आश्वासन देते हैं कि, 'ऐसे का साक्षी मैं ही हूं, ऐसे के मन में मैं ही हूं, ऐसे के लब पे मैं ही बसता हूं, ऐसे के कर मेरे ही कर होते हैं, ऐसे के चरण मेरे ही चरण हो जाते हैं, ऐसे के कर्म मेरे ही कर्म हो जाते हैं।' भगवान कह रहे हैं कि ऐसे नित्य निमग्न को वह जल्द ही तार देते हैं। मृत्यु रूप संसार से वे तर जाते हैं।

देखो कमला! बात भी बिल्कुल ठीक है। प्रेम का पथ ही कुछ निराला है।

साधक का राम से हुआ प्रेम,
एक से दो वह हो गये।
दुर्गुण उसका अपना रहा,
सद्‌गुण भगवान के हो गये॥

कर्म वह अर्पित कैसे करे,
जिसे श्रेष्ठ नहीं वह मानता।
जो अपने कर्म कुछ भले लगें,
भगवान कर्म उन्हें मानता॥

सब कर्म स्वयं वह कर कर के,
विभाजित करता रहता है।
सुन्दर औ' श्रेष्ठ भगवान को दे,
न्यून कर्म अपनाता है॥

पर राम साक्षित्व में सब करे,
जित जाये राम वा संग चले।
अध्यक्ष राम भये जीवन में,
कुटिल कर्म कस कर सके ?

भगवान से प्रेम उसका है,
भगवान से बातें करता है।
भगवान का साथ है नित्य वहां,
वह कब किसी से डरता है ?

शनैः शनैः यह प्रेम और बढ़ जाता है, वह अपने आप को भूलने लगता है, वह अपनी सुध बुध खोने लगता है। उसका तन राम साक्षित्व में मानो जग का होने लगता है।

साधना के पड़ाव :

पहले प्रियतम थे दूर खड़े,
मिलन को जी तड़पता था।
फिर प्रियतम पास कुछ आने लगे,
कुछ अपने अपने लगने लगे॥

फिर :

वे अपना आप ही हो गये।
साधक अपने को भूल गया,
जग के लिए वहां राम रहे।

देख सखी सुन! अनन्य भक्ति सार को फिर से समझ ले। जब साधक का भगवान से प्रेम हो गया, तो क्या हुआ ?

राम का उसने नाम लिया,
और साक्षी राम बना लिया।
वा साक्षित्व में कर्म किया,
और राम चरण में चढ़ा दिया॥

कहना है तो तुम कह लो,
जीवन दिया उस भगवान को।
शनैः शनैः अपना भी तन,
कर्म सहित दिया राम को॥

कहना है तो तुम कह लो,
जीवन दिया उस राम को।
अंग अंग वा राम रंगा,
प्राण भी दे दिये राम को॥

जब रोम रोम भया राम का,
तो तन भया भगवान का।
अपने नाम की बात गई,
वा नाम भया भगवान का॥

कर राम के मन राम का,
सर राम का तन राम का।
राम हेरन् क्या जायें,
जब दर्शन रहा बस राम का॥

किसको कौन पुकारे अब,
राम का ही तन रह गया।
राम राम से क्या कहे,
जब केवल राम ही रह गया ?

नन्हीं! इस विधि वह साधक भगवान के अखण्ड तत्त्व से एकरूपता पा लेता है; वह आत्म तत्त्व में विलीन हो जाता है।

अब इसे निराकार के दृष्टिकोण से समझ!

१. देहात्म बुद्धि का नितान्त अभाव साकार उपासना में सहज में हो जाता है।
२. भगवान को जब अपना रोम रोम दे दिया, तब, चाहे शरीर सब कुछ करता रहता है, किन्तु उस अनन्य भक्त को अपना देह अनुसंधान ही नहीं रहता।
३. जब वह अपना तन अपना न मानकर राम का मानने लग जाता है, तब 'राम राम' कहना वह स्वत: बन्द कर देता है, क्योंकि अपना नाम स्वयं कौन लेता है ?
४. तब उसका जीवन स्वत: ही राममय हो जाता है।
५. तब वह पूर्ण रूप से अपने तन, मन, बुद्धि के प्रति सो जाता है। कहना है तो तुम कह लो कि,

क) वह नित्य निराकार हो जाता है।
ख) वह नित्य मौन स्वरूप हो जाता है।
ग) वह नित्य अक्षर में अक्षर हो जाता है।
घ) वह अखण्ड में अखण्डता पा जाता है।
ङ) वहां केवल अध्यात्म स्वरूप तथा रूप रह जाता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मुझ में ही मन स्थापन कर,
२. मुझमें ही बुद्धि को लगा,
३. इसके उपरान्त निरन्तर तू मुझमें ही वास करेगा,
४. इसमें कोई संशय नहीं है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान से प्रेम का परिणाम :

देख नन्हीं! भगवान कहते हैं कि :

गर प्रेम राम से हो गया,
तो मन उसका हो जायेगा।
बुद्धि राम के काज करे,
तो तन उसका हो जायेगा॥

भगवान कहते हैं इसमें कोई संशय नहीं!

गर राम से प्रेम हो गया,
तो संग वहीं हो जायेगा।
आसक्ति राम से हो गई,
विरक्त स्वत: हो जायेगा॥

अपने तन से मोह जो था,
वह स्वत: मिट जायेगा।
मोह जब मिट ही गया,
तो ज्ञान स्वत: आ जायेगा॥

मोह गया फिर प्रेम रहा,
पर याद रहे है राम प्रेम।
अद्वैत का है अभ्यास प्रेम,
परम मिलन की राह प्रेम॥

मन का है स्वरूप प्रेम,
भगवान का है रूप प्रेम।
तप का है आधार प्रेम,
परम प्रेम का सार प्रेम॥

परम प्रेम की चेरी जान,
दैवी सम्पदा होती है।
निष्काम कर्म निष्काम ज्ञान,
परम प्रेम ही होती है॥

या यूं कहलो जब प्रेम हो,
परिणाम निष्कामता होती है।
उपासना भी तब हो निष्काम,
कोई चाहना जो नहीं होती है॥

इक प्रयोजन रह जाता है,
बस तेरा तुझको देना है।
जिसने राम का नाम लिया,
उसको कुछ नहीं लेना है॥

वह अपने आपको देने चला,
बैठ भक्ति की डोली।
यज्ञ, तप, दान और प्रेम,
चार कहार उठायें डोली॥

विज्ञान चंवर झुलाये तब,
राम को मिलने जा रहा।
मेरी प्रिय कौन जाने यहां,
कौन जा रहा कौन आ रहा॥

राम मिलने आ रहे या साधक मिलने जा रहा; यह भी कुछ पता नहीं चलता। किन्तु साधक! तब साधक और साध्य एक हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

नन्हीं! भगवान ने यहां कहा है कि बुद्धि को मुझमें लगा। इसको ज़रा ध्यान से समझ ले!

क) बुद्धि को भगवान के विश्व रूप में लगा और विराट रूप की सेवा कर।
ख) निष्काम कर्म करते हुए बुद्धि को औरों के लिए इस्तेमाल करो।
ग) बुद्धि को अपनी कामना पूर्ति के लिए इस्तेमाल करने की जगह पर दूसरों को स्थापित करने में लगाओ।
घ) बुद्धि को दूसरों के हार्दिक स्वप्नों की पूर्ति के लिए लगाओ।
ङ) बुद्धि को अपने मन का चाकर न बनाओ। अपना तनत्व भाव छोड़ने के

लिए बुद्धि इस्तेमाल करो।

च) अपनी बुद्धि के बल पर ही आप लोगों को मूर्ख कहते हैं, यह बुद्धि अहंकार छोड़ दो।

छ) अपनी बुद्धि में भगवान के प्रति पूजा भांव उत्पन्न करो।

ज) औरों के दु:ख हरने के लिए अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करो।

झ) औरों की विजय के लिए अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करो।

ञ) औरों के बचाव के लिए अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करो।

ट) आपकी बुद्धि की किसी की बुद्धि से टक्कर नहीं होनी चाहिए।

यदि सब भगवान रूप हैं तो आपकी बुद्धि उन्हीं के काम आएगी। परम स्थित या स्वरूप स्थित की बुद्धि तो लोग इस्तेमाल करते हैं, साधक अपनी बुद्धि सहित, अपना तन दान करते हैं।

ठ) जब आपने अपना तन निष्काम भाव से विश्व रूप भगवान को दे ही दिया, तो उसे अपनी बुद्धि के सहित दो।

ड) जब तन दूसरे के कार्य निष्काम भाव से करने लगेगा तो आपकी बुद्धि दूसरों की चाहनाओं और स्वप्नों के अधीन हो जाएगी।

ढ) साधक आपकी बुद्धि को अपने बचाव के लिए इस्तेमाल नहीं करते। बुद्धि का दान किये बिना तनत्व भाव का अभाव असम्भव है। बुद्धि का दान दिये बिना देहात्म बुद्धि का नाश नहीं हो सकता।

इस कारण भगवान यहां कह रहे हैं कि 'मुझमें बुद्धि लगा, फिर तू निरन्तर मुझमें ही वास करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।'

नन्हीं! बुद्धि का इस्तेमाल करना बन्द नहीं करना। बुद्धि तो और भी चतुर और दक्ष हो जायेगी, जब आप

१. औरों के वकील बनेंगे।
२. औरों के कर्म सफ़ल करवाने में लग जायेंगे।
३. औरों के स्वप्न पूरे करने के ढंग पर विचार करने लग जायेंगे।

अभी तक आपकी बुद्धि आपके रुचिकर विषयों पर ही सोचती रही है, जब बुद्धि अर्पण करोगे तो आप को अरुचिकर विषयों पर भी ध्यान लगाना पड़ेगा। जो आप अपने लिए कभी नहीं करते, वह आप दूसरों के लिए कर दोगे।

आप अपने लिए चाहे धन कभी न कमाते, पर दूसरों के लिए कमा दोगे। आप अपनी स्थापना के लिए चाहे कुछ न करते, किन्तु दूसरों को स्थापित कर दोगे।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

देख भगवान क्या कह रहे हैं! ऐसा प्रतीत होता है, वह दामन फैला कर अपने प्रिय से प्रीत की याचना कर रहे हैं। कहते हैं, 'हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. यदि चित्त को तू मुझ में स्थिर स्थापन करने में असमर्थ है,
२. तब अभ्यास योग से तू मुझको प्राप्त होने की इच्छा कर।'

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं गर मन में मुझे रखना मुश्किल लगता है, तो कोई बात नहीं, तू अभ्यास कर ले!

क) मेरे को याद करने की कोशिश तो कर!
ख) मुझे अपने साथ रखने की कोशिश तो कर!
ग) मेरा साक्षित्व बनाने की कोशिश तो कर!
घ) बुद्धि से मुझे जानने की कोशिश तो कर!
ङ) जीवन में मुझे उतारने की कोशिश तो कर!
च) बुद्धि से कहो ज़रा कल्पना तो करे और मुझे जानने का प्रयत्न तो करे।
छ) और सुन! भक्ति का प्रयोजन भी यही होता है। भक्ति की पुकार भी यही होती है।
ज) अर्जुन! तुम जीवन में मुझे उतारने का अभ्यास करो।
झ) तू भी तो मैं ही हूं, तुझे कह कर तो आया हूं।

तू इसे जानने के यत्न कर कि यह मैंने कैसे कहा और इसे जीवन में मानने के लिए अभ्यास कर।

सुन नन्हीं! भगवान अर्जुन से कहते हैं, 'तू मुझे पाने की इच्छा तो कर।'

ऐसा लगता है, भगवान स्वयं मना रहे हैं अर्जुन को और कह रहे हैं।

'आजा मेरे पास, मैं तुझे मुक्ति दूंगा।!'

नन्हीं! यही भगवान का योग है अपने भक्तों से। यही भगवान का झुकाव है अपने भक्तों के प्रति। इसलिए कहते हैं: 'भगवान अपने भक्तों के पीछे पीछे फिरते हैं।' भगवान स्वयं अर्जुन को मनाते जा रहे हैं। कितने प्रेम से उसे देख रहे होंगे! कितने विनीत भाव से उसे यह सब कह रहे होंगे!

ऐसा लगता है,

१. भगवान अर्जुन की आरती ले रहे हैं।
२. भगवान अर्जुन से प्रार्थना कर रहे हैं।
३. भगवान अर्जुन की उपासना कर रहे हैं।
४. भगवान स्वयं अपने भक्त के चरणों में बैठे हैं और उसे कहते हैं :

'हे अर्जुन! मेरी बात मान ले, अपने पत्थर दिल में मेरे लिए प्रेम उत्पन्न कर! 'मैं तेरा सखा हूं, मैं तुझे तार दूंगा! मेरा एतबार तो कर। मैं बुरा नहीं हूं, लोग मुझे नहीं जानते, इस कारण मेरी निन्दा करते हैं। तू तो जानता है मैं बुरा नहीं हूं। सच कहता हूं नित्य तेरा साथ निभाऊंगा। बस! तू मेरी तरफ़ देख तो ले।'

नन्हीं! यही उस अखण्ड आत्म स्वरूप का रूप है, यही उसका भक्त वत्सल रूप है, यही अखण्ड आत्म स्वरूप का परम झुकाव है।

भक्त यह वाक्य सुनकर गद्‌गद् हो जाते हैं। बुद्धि गुमानी यह सुन कर भगवान को गुमानी कहते हैं।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

देख! भगवान अपने भक्त के लिए कहां से कहां उतर रहे हैं।

अब कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. यदि तू परम मिलन रूप अभ्यास करने में भी असमर्थ है तो मेरे अर्थ कर्म परायण होकर मुझ में मग्न हो जा।

२. मेरे अर्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'अच्छा! यदि तुझे मुझ से प्रगाढ़ प्रेम नहीं है, यदि अभ्यास से भी तुम्हारा चित्त मुझमें नहीं लगता, तो कोई बात नहीं। तू जीवन में जो भी कर्म करता है,

१. वह मुझ पर अर्पित करता जा।
२. वह मेरे परायण होकर कर।
३. वह चुपके से मुझे देता जा।
४. उसमें मेरा भी नाम भर दे।'

भगवान मानो अपने भक्त के कारण हाथ जोड़कर कह रहे हैं,

क) 'किसी विधि मुझे याद तो रख!
ख) किसी विधि मुझे साथ तो रख!
ग) किसी विधि मेरा हाथ मत छोड़!
घ) कुछ कर ले, पर मुझ से नाता न तोड़!
ङ) मुझे अपना साथी बना ले न! मैं तुम्हारा ही हूं।

तुम क्यों नहीं मुझे अपना लेते ? मैं तेरा कल्याण ही करूंगा, तुझे परम की ओर ही ले चलूंगा।'

भगवान के नाम की यही महिमा है। भगवान का नाम लेकर शुभ ही करोगे। भगवान का नाम लेकर किसी की क्षति

करनी कठिन है। भगवान का नाम लिया, तो यज्ञ आरम्भ हो ही जायेगा।

और देख! भगवान स्वयं कह रहे हैं, 'मान लो न!' कैसे विविध विधि भगवान स्वयं मना रहे हैं अर्जुन को! अपने आप से मिलना कितना सहज किये जा रहे हैं!

नन्हीं! भगवान का झुकाव देख! भगवान का मिटाव देख! भगवान की वफ़ा देख!

देख तो सही! अपने सखा को कैसे मनाते हैं भगवान! ऐसे दासन् के दास को देख कर कोई क्या कहे ? इस कारण ज्ञानी भक्त मौन ही रह जाते हैं और आश्चर्य चकित हुए देखते रह जाते हैं।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अब सुन! भगवान कहते हैं, अच्छा चल।

शब्दार्थ :

१. गर कर्म भी मुझ पर अर्पित नहीं कर सकता,
२. तो मेरे योग का आश्रय लिये हुए,
३. अपने मन को संयम में रखता हुआ सारे कर्मों के फल का त्याग कर दे।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'अगर कर्म अपने समझता है और वह मुझे अर्पण नहीं करना चाहता तो कोई बात नहीं।'

कर्मफल त्याग :

१. तू मेरे योग का आसरा लेकर अपने कर्मों का फल मुझ पर अर्पण कर दे।
२. तू मेरे निष्काम योग का आसरा लेकर अपने कर्मों का फल मुझ पर अर्पण कर दे।
३. तू मुझे याद करता हुआ कर्म कर और अपने कर्मों का फल मुझ पर अर्पण कर दे।
४. तू याद रख कि कर्म फल मेरे हाथ में है और अपने कर्मों का फल मुझ पर अर्पण कर दे।
५. तू सावधानी तथा दक्षता से कर्म कर और अपने कर्मों का फल मुझ पर अर्पण कर दे।

मानो भगवान कह रहे हों :

क) तू मेरी योग माया को जानता है न!
ख) तू मेरी त्रिगुणात्मिका शक्ति को जानता है न!
ग) सब में गुण भरे हैं और सब गुण बंधे हैं, तू जानता है न!
घ) फिर गुण ही किसी गुण को आकर्षित करते हैं और किसी को विकर्षित भी

करते हैं!

ङ) यानि, गुण गुणों में स्वतः वर्त रहे हैं!

च) फल कहीं से क्या मिले, यह तो तुम नहीं जानते!

छ) फिर मिले, या न भी मिले, यह कौन कह सकता है?

- यह जानते हुए तुम कर्म फल मुझ पर अर्पित कर दो।
- जय पराजय मुझ पे छोड़ दो।
- सिद्धि असिद्धि मुझ पे छोड़ दो।

मन में इतना तो धारण कर लो कि :

१. जो मैं कहता हूं यह सत् है और कर्म फल से दृष्टि हटा ले।

२. मैं तुमसे भी योग किये बैठा हूं।

३. तुम्हारा संरक्षण मैं स्वयं करूंगा ही।

क) मेरा नाम सत् है।

ख) तू जिसे सत् मानता है और जीवन में वर्तता है, वह मुझमें ही वर्तता है।

ग) यह मेरे योग का सत् तो तू जीवन में जानता ही है, तो अभी इतना ही जीवन में ले आ।

देख यूं समझ! भगवान ने कहा, 'मेरे योग का आसरा लेकर सारे कर्मों के फल का त्याग कर दे।' योग किससे होता है?

जीव का योग तो भगवान से होता है, भगवान का योग किस से होता है? भगवान योगमाया की बात कह आये हैं, भगवान के योग से ही सारी रचना रची जाती है। यहां उस योग के ज्ञान की बात है।

कौन गुण किस गुण से मिलकर फल स्वरूप क्या उत्पन्न कर देगा, यह कौन जाने? इसलिए फल पे ध्यान मत रख, फल भगवान पे छोड़ दे, तेरे अनेकों दुःख मिट जायेंगे।

भगवान ने यहां कहा कि तू वश में किए हुए चित्त वाला, कर्मों के फल मुझ पर त्याग दे।

नन्हीं! यह सम्पूर्ण ज्ञान भगवान एक:

क) सत्त्व स्थित, दैवी गुण सम्पन्न तथा कर्त्तव्य परायण सखा को दे रहे हैं।

ख) कर्त्तव्य के सम्मुख नित्य झुकने वाले अर्जुन को दे रहे हैं।

ग) बड़ों के सम्मुख नित्य झुकने वाले को दे रहे हैं।

घ) अखिल हितैषी को दे रहे हैं।

ङ) उदार हृदय वाले अर्जुन को दे रहे हैं।

च) महावीर धनुर्धारी को दे रहे हैं।

छ) अपने चित्त को वश में रखने वाले को दे रहे हैं।

पाण्डवों को विपरीतता को सहना और विपरीतता में रहना आता था, किन्तु यह सब होते हुए भी वह कर्मों से और कर्मों के फल से संग करते थे।

जीव कर्मों के फलों से डरता भी है, किन्तु कर्मों के फलों से आसक्त भी है।

सो भगवान कहते हैं, 'कर्म फल मुझपे छोड़ दे तो तेरी घबराहट बन्द हो जायेगी।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

भगवान कहने लगे, देख अर्जुन! तू सारे कर्मों के फल का त्याग कर दे।

शब्दार्थ :

१. क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है।
२. ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है।
३. ध्यान से कर्म फल का त्याग (श्रेष्ठ है),
४. त्याग से अनन्त शान्ति होती है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है।

क) ज्ञान के बिना अभ्यास करते रहने से अभ्यास निरर्थक हो सकता है।
ख) यदि मालूम ही नहीं कि किस का अभ्यास करना है तो अभ्यास क्या करोगे ?
ग) यदि आपको अपना लक्ष्य ही ज्ञात नहीं तो अभ्यास किस चीज़ को पाने के लिए करोगे ?
घ) विवेक रहित अभ्यास से आत्मवान् नहीं बन सकते।
ङ) विवेक रहित अभ्यास तो जीव को अभ्यास से ही बांध देता है।
च) विवेक सहित अभ्यास जीव को नित्य उत्तरोत्तर ले जाता है।

फिर नन्हीं जान!

१. यदि ज्ञान होगा तो अभ्यास स्वतः होने लगेगा।
२. यदि ज्ञान होगा तो अभ्यास सहज तथा क्लेश रहित हो जायेगा।
३. ज्ञान के बिना जीवन में सत् पथ का अनुसरण करना भी कठिन है।
४. ज्ञान के बिना जीवन में यज्ञ, तप तथा दान का अर्थ भी समझ नहीं आ सकता।

स्थूल ज्ञान रहित भी परम ज्ञानी हो सकता है।

नन्हीं! अनेक बार जीव यह समझ लेता है कि अनेकों भक्तों के पास ज्ञान नहीं था, अनेकों महा श्रेष्ठ लोग पढ़े लिखे नहीं थे तो उन्होंने ज्ञान के बिना सत् को कैसे पाया ?

ज्ञान के लिए क्या अनिवार्य है :

१. सत् से संग करने को 'सत्संग' कहते हैं।
२. संग मन का गुण है।
३. मन को जो पसन्द आ जाये, वहां वह संग कर लेता है।
४. मन का जहां अनुराग हो जाये, उसे संग कहते हैं।
५. मन जिस विषय को अपनाना चाहता है, वह उस विषय से संग करता है।
६. मन का जहां संग हो जाये, वह वहीं तद्रूप हो जाता है।

७. मन का संग ही दूसरे के साथ सजातीयता उत्पन्न करता है।
८. मन का संग ही दूसरों के गुणों के साथ जीव की मैत्री करवाता है।
९. मन का संग ही मन को अपने संग वाले विषय के ध्यान में बांधता है।
१०. मन का संग ही स्मृति वर्धक है।
११. मन का संग ही सहयोगिता उत्पन्न करता है।
१२. मन का संग ही मन को प्रेरित करता है।
१३. मन का संग सत् से हो तब वह भक्ति है।
१४. मन का संग विषयों से हो तब वह आसक्ति है।
१५. मन का संग सत् से हो तो वह ज्ञान वर्धक है।
१६. मन का संग विषयों से हो तब वह अज्ञान वर्धक है।
१७. मन का संग सत् से हो तो वह प्रकाश वर्धक है।
१८. मन का संग विषयों से हो तो वह अंधकार वर्धक है।
१९. मन का संग सत् से हो तो वह निष्कामता वर्धक है।
२०. मन का संग विषयों से हो तो वह कामना वर्धक है।
२१. मन का संग सत् से हो तो वह दैवी गुण वर्धक है।
२२. मन का संग विषयों से हो तो वह आसुरी गुण वर्धक है।
२३. मन का संग सत् से हो तो वह दान वर्धक है।
२४. मन का संग विषयों से हो तो वह लोभ वर्धक है।
२५. मन का संग सत् गुणों से हो तो वह तप वर्धक होगा।
२६. मन का संग विषयों से हो तो वह निर्दयता वर्धक है।
२७. मन का संग यदि सत् से हो तो वह यज्ञ वर्धक है।
२८. मन का संग यदि विषयों से हो तो वह अभिमान पूर्ण, अत्याचार वर्धक है।
२९. यदि यह संग सत् से हो जाये तो यह मुक्ति प्रद बन जाता है। यदि यह संग असत् से हो जाये तो यह बन्धन कारक बन जाता है।

नन्हीं! जिन लोगों ने बिना ज्ञान पढ़े परम को पाया है, उन्हें ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं थी। स्थूल ज्ञान रहित भी परम ज्ञानी हो सकते हैं।

भक्त का ज्ञान :

क) ज्ञान जो शास्त्रों से उपार्जित होता है, वह केवल सत् से संग को उत्पन्न करने के लिए लाभदायक है।
ख) ज्ञान के प्रवचन सुनने भी केवल सत् से संग उत्पन्न करने के लिए लाभदायक हैं।
ग) साधुओं से मिलना जुलना भी केवल सत् से संग उत्पन्न करने के लिए लाभदायक है।
घ) साधुओं के प्रवचन सुनना सत्संग नहीं है, हरि गुण का अपने जीवन में अभ्यास करना सत्संग का चिह्न है।
ङ) ज्ञान का समझना सत्संग नहीं है, ज्ञान

को जीवन में प्रमाणित करना सत्संग का चिह्न है।

च) नन्हीं! ज्ञान की बातें सुनने में जीव की रुचि होना सत्संग का चिह्न नहीं है।

छ) नन्हीं! ज्ञान की बातें सुनने से यदि ज्ञान में समझाये हुए तत्त्व सार को अपने में उतारने लग जायें, तो उसे सत्संग मानिये।

ज) यदि आपको सत् से संग हुआ तो आप ज्ञान को सुनते सुनते ज्ञान की प्रतिमा बनते जायेंगे।

झ) यदि आपको सत् से संग हुआ तो आप भगवान के हर वाक् को पल में अपने जीवन राही सप्राण करते जायेंगे।

नन्हीं!

१. आपके संग पर ही,
२. आपकी संग रूपा लग्न की उत्कण्ठा पर ही,
३. आपकी संग रूपा लग्न की तीव्रता पर ही,
४. आपके संग रूपा लग्न की सूक्ष्मता पर ही,
५. आपके संग रूपा लग्न की सत्यता पर ही,
६. आपके संग रूपा लग्न की प्रगाढ़ता पर ही।

आपकी साधना की सफलता आधारित है।

यह संग ही :

क) आप में श्रद्धा उत्पन्न करता है।

ख) आप में सत्य को जीवन में लाने की क्षमता उत्पन्न करता है।

ग) आपके मन में सहिष्णुता पैदा करता है।

घ) आपके जीवन को तप पूर्ण बना सकता है।

ङ) आपके जीवन को यज्ञ पूर्ण बना सकता है।

च) आपको तनत्व भाव से उठा सकता है।

छ) आपका आत्मा से मिलन करा सकता है।

नन्हीं साधिका! पूर्ण बाह्य ज्ञान इस संग को दृढ़ीभूत करने के लिए होता है।

जब संग सत् से ही हो जाये,

१. तब ज्ञान आन्तर से बहता है।
२. तब बाह्य सहयोग की आवश्यकता नहीं रहती।
३. तब आपका जीवन ज्ञान की प्रतिमा बन जाता है।

जिन अनपढ़ संतों की बात कहते हैं, अजी! उनका संग देखिये, उनकी प्रगाढ़ लग्न तो देख लो। वह अपने हानि लाभ, मान अपमान को भूले हुए होते हैं। उन्हें साधना पद्धति क्या समझायेगी ?

उन्हें ज्ञान क्या समझायेगा ? वह तो स्वयं ज्ञान को सप्राण करने वाले, ज्ञान की सत्यता का प्रमाण हैं।

ध्यान :

नन्हीं! फिर भगवान ने कहा, 'ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है।'

यदि संग सत् से हो जाये, तो ध्यान

निरन्तर सत् में ही रहेगा, और फिर स्वतः निरन्तर सत् का साक्षित्व भी रहेगा। यदि सगुण ब्रह्म का साक्षित्व रहा तो आपका जीवन सत्मय होने लगेगा और स्वतः ही यज्ञमय होने लगेगा।

किन्तु नन्हीं! ध्यान भी दो प्रकार का होता है।

एक में साधक :

१. भगवान से जो सुख मिले हैं, उन्हें याद करता है।
२. भगवान से जो गुण मिलने की सम्भावना है, उन्हें याद करता है।
३. भगवान को अपने लिए याद करता है।
४. भगवान को अपने चैन के लिए याद करता है।
५. भगवान को अपने संरक्षण के लिए याद करता है।
६. भगवान से अपनी लाज निभाने को कहता है।
७. भगवान से अपने तथा अपने कुल के संरक्षण के लिए कहता है।
८. भगवान से अपने धन समिधा इत्यादि के वर्धन के लिए तथा संरक्षण के लिए कहता है।

दूसरा, भगवान का भगवान के लिए ध्यान करता है। वह भगवान को अपना आप दे देना चाहता है और अपने हृदय में उनका आवाहन करना चाहता है। वह तो मानो जीते जी अपना शरीर भगवान को दे देता है।

सप्राण भगवान :

नन्हीं! भगवान को यदि धरती पर लाना हो, तो उन्हें अपना सप्राण तन दे देना अनिवार्य है।

क) यह तन भगवान को अपने मन, बुद्धि और इन्द्रिय सहित देना होता है।
ख) यह तन भगवान को अपने गुणों के सहित देना होता है।
ग) यह तन भगवान को स्थूल तनो परिस्थिति के साथ देना होता है।
घ) जब जीव भगवान को अपना तन दे देता है, वह उस तन के साथ तन के नाते-रिश्ते भी भगवान को दे देता है।
ङ) तब जीव का धन और अन्य समिधा भी भगवान के ही हो जाते हैं।
च) तब जीव की नौकरी अपनी नौकरी नहीं रहती, वह नौकरी भी भगवान की हो जाती है।
छ) तब जीव की 'मैं' उसकी अपनी नौकर नहीं रहती, बल्कि भगवान की नौकर बन जाती है।

नन्हीं! ज़रा ध्यान से समझ!

'मैं' केवल द्रष्टामात्र होकर देखता रहता है और तन, मन, बुद्धि भगवान के हो जाते हैं।

इसका राज़ समझ ले :

१. 'मैं' केवल अपने तन की स्थापना चाहता है।
२. 'मैं' केवल तन से काम्य कर्म करवाना चाहता है।
३. 'मैं' केवल अपने तन से अपने रुचिकर कार्य करवाना चाहता है।

४. 'मैं' असुरत्व का पति है और आसुरी गुण वर्धक है।
५. 'मैं' अपने तन का अनन्य उपासक है।
६. 'मैं' अपने तन से संग करके तन से ही बन्ध गया है।
७. 'मैं' अपने मन का भी नौकर होता है, और नित्य इसके रिझाव में लगा रहता है।

अब, जब तन के मालिक भगवान बन जाते हैं, तो बेचारा 'मैं' केवल द्रष्टा मात्र रह जाता है। जो यह जन्म जन्म से एक तन की भक्ति करता आया है, अब वह नहीं कर सकता। तब तन, मन, बुद्धि राही भागवत् गुणों का बहाव आरम्भ होता है।

अब **द्रष्टाभाव** समझ ले :

नन्हीं! 'मैं' का तन से नाता टूट चुका होता है।

क) 'मैं' देखता तो है कि और लोग उसके तन से क्या कर रहे हैं, किन्तु 'मैं' बोल नहीं सकता।
ख) 'मैं' देखता तो है कि तन भगवान की तरह सबको क्षमा करता जाता है, किन्तु चुपचाप रहता है।
ग) 'मैं' देखता तो है कि लोग इस तन का नाजायज़ फायदा उठाते हैं, किन्तु फिर भी 'मैं' चुप रहता है।
घ) 'मैं' देखता तो है कि तन को लोग नाजायज़ अपमानित करते हैं, किन्तु वह चुप रहता है।
ङ) 'मैं' देखता तो है कि तन को लोग रौंद भी देते हैं, किन्तु वह चुप रहता है।
च) 'मैं' देखता तो है कि तन से लोग नाजायज़ काम भी करवाते हैं, किन्तु वह चुप रहता है।
छ) 'मैं' देखता तो है कि तन से लोग केवल अपना स्वार्थ पूरा करवाते हैं, किन्तु वह चुप रहता है।
ज) 'मैं' ने अपना तन भगवान को दे दिया।

१. 'मैं' अब किस ज़ुबान से बोले? वह ज़ुबान तो भगवान की हो चुकी है।
२. वह अपने तन का बचाव भी कैसे करे? एक तो तन भगवान का हो गया, दूसरा 'मैं' के पास कोई अंग ही नहीं रहा जिसके साथ वह तन को बचा सके।
३. भगवान अपने बचाव के लिए कुछ करते नहीं और 'मैं' बेचारा मौन होता है।
४. भगवान अपने तन को स्थापित नहीं करते और 'मैं' बेचारा मौन होता है।

फिर कुछ काल के बाद 'मैं' का द्रष्टापन भी ख़त्म हो जाता है।

फिर भगवान ने कहा कि ध्यान से भी कर्म फल का त्याग श्रेष्ठ है।

नन्हीं! कर्मफल त्याग से ध्यान में परिपक्वता आती है। इसे अब दूसरी विधि से भी समझ ले :

क) कर्मफल त्याग न हो तो ध्यान लगाना मुश्किल है।
ख) ध्यान में परिपक्वता न आ जाये, तो वास्तविक ज्ञान का जन्म नहीं हो

सकेगा।

ग) गर ज्ञान न हो तो परम मिलन का अभ्यास नहीं हो सकता।

घ) यदि अभ्यास न हो तो भगवान पर मन बुद्धि अर्पित नहीं हो सकते।

ङ) और यदि भगवान पर मन बुद्धि अर्पित न हों तो तनत्व भाव का अभाव नहीं हो सकता।

इस नाते, कर्मफल त्याग ही साधक के लिए सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि, उसके बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

भगवान कहते हैं, सुन! तुझे बताता हूं कि मुझे अपना कैसा भक्त प्रिय लगता है।

शब्दार्थ :

१. जो किसी से द्वेष न करे,
२. सबके प्रति मैत्री भाव से वर्ते,
३. सबके प्रति करुणा पूर्ण हो,
४. ममत्व तथा अहंकार रहित हो,
५. दुःख सुख में समचित्त हो,
६. जो क्षमावान् भी हो,
७. जो नित्य तृप्त हो।
८. जो दृढ़ निश्चयात्मक, नित्य योग में स्थित हो,
९. जिसने अपने मन बुद्धि मुझ पे अर्पित किए हों,
१०. जो मेरा ऐसा भक्त है, वह मुझे प्यारा है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान अपनी पसन्द बता रहे हैं। अपने भक्त के चिह्न बता रहे हैं। जो भगवान से प्यार करेगा,

क) वह जग से द्वेष नहीं कर सकता।
ख) वह तो सबका चाकर है।
ग) वह तो सबका मित्र है।
घ) वह तो सबकी चाहना पूर्ति करता है।
ङ) वह तो नित्य यज्ञ करता है।
च) वह तो प्रेम में मदमस्त रहता है।
छ) वह तो करुणा पूर्ण हो जाता है।
ज) गिले शिकवे वह क्या करेगा?
झ) वह तो क्षमा स्वरूप हो जाता है।

भगवान कहते हैं, 'मेरा भक्त तो नित्य मुझमें ध्यान लगाये रहता है!

१. उसके लिए तो मैं ही प्रधान हो जाता हूं।

२. वह तो अपना तन मुझे देने लगा है।
३. वह अहंकार नहीं करता।
४. उसके नाते भी अपने नहीं रह जाते, वह उन पर अधिकार नहीं रखता। वह सब मुझे सौंप देता है, इस कारण वह निर्भय हो जाता है।
५. जो मुझे अपना तन देने में तत्पर होता है, तब तनो सुख दु:ख उसके नहीं रहते। वह भी मेरे हो जाते हैं। इस कारण वह दु:ख सुख में सम ही होता है।
६. उसके मन बुद्धि निरन्तर उसके आन्तर में केवल मुझे स्थापित करने में लगे रहते हैं।

भाई! वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता, वह तो मुझे भी अपना आप देने आया है। वास्तव में वह मुझसे भी कुछ नहीं चाहता है। वह नित्य तृप्त परम योगी, मुझे बहुत प्रिय है।'

भगवान कहते हैं :

'मैं अपने भक्त की क्या कहूं,
वह तो मुझसे भी कुछ न चाहे।
वह मुझे भी देने आया है,
राहों में चाहे वह मिट जाये॥

प्रकट मुझे वह करता है,
सप्राण तन मुझे दे करके।
निराकार साकार करे,
अपना आप ही दे करके॥

ऐसे भक्त की क्या मैं कहूं,
वहां भक्ति नहीं वहां मैं ही रहूं।
भक्त गया भक्ति भी गई,
उसमें तो केवल मैं ही रहूं॥

ऐसे भक्त की भक्ति को,
मैं भी नहीं सराह सकूं।
भगवान बने जब मेरा भक्त,
मैं भी सीस झुका ही दूं॥

क्या गुण गाऊं भक्त के,
वह मेरा अपना आप है।
गर चाहो उसे तोल लो,
वहां मेरा ही तो स्वभाव है॥'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

भगवान कहने लगे,

शब्दार्थ :

१. जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता,
२. और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता,
३. जो हर्ष, क्रोध, भय तथा उद्वेग से मुक्त है,
४. वह (भक्त) मेरे को प्रिय है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! यहां भगवान कहते हैं कि उन्हें वह भक्त प्रिय है जो किसी को उद्वेग पूर्ण नहीं करता।

नन्हीं! पहले उद्वेग पूर्ण का अर्थ समझ ले!

क) वह किसी को दुःखी नहीं करता।
ख) वह किसी को भयपूर्ण नहीं करता।
ग) वह किसी को शोकपूर्ण नहीं करता।
घ) वह किसी को संतप्त नहीं करता।
ङ) वह किसी को क्षोभपूर्ण नहीं करता।

यदि लोग उसके कारण ऐसे भाव को प्राप्त हो जायें तो अपनी अज्ञानता के कारण ही दुःखी होंगे। वह तो निरन्तर अपने आप को भूलकर सबकी सेवा करता रहता है। लोगों का उसके कारण संतप्त होना, उनकी किसी अपनी ही मनो विकृति के कारण होगा।

नन्हीं! यदि भगवान स्वयं किसी की मान्यता का भंजन नहीं करते तो उनका भक्त यह कैसे कर सकता है? यदि भगवान स्वयं दूसरों के तद्रूप हो जाते हैं और किसी को भड़काते नहीं तो भगवान के भक्त कैसे किसी को भड़का सकते हैं? भक्त तो पूर्ण संसार को भगवान का रूप जानने के प्रयत्न करता है। इसलिए, वह न किसी से उत्तेजित होता है और न ही किसी को उत्तेजित करता है।

नन्हीं! भगवान का भक्त किसी के प्रहार से भी नहीं भिड़ता, क्योंकि :

१. वह समझता है कि होगा वही जो भगवान ने विधान बनाया है।
२. वह मानता है कि जो दूसरे करते हैं वे गुण बन्धे ही करते हैं और वह दोष प्रकृति रचित गुण का है; प्रकृति जड़ है, इस कारण किसी का भी दोष नहीं है।
३. भगवान का भक्त तो नित्य भगवान के नाम में मस्त रहता है। वह क्षोभ पूर्ण कैसे होगा?

ऐसे भक्त को हर्ष भी क्या होगा? वह तो भगवान में नित्य मुदित मनी रहता है। हर्ष या क्रोध तो विषय की उपलब्धि या वियोग से होता है। हर्ष या क्रोध तो बाह्य नातों या विषयों पर आधारित होते हैं। भगवान का भक्त इनकी परवाह नहीं करता।

फिर भगवान के भक्त को भय किस बात का ?

क) भगवान से तो उसका आंतरिक मिलन होता रहता है।
ख) भगवान का साक्षित्व भी उसके साथ निरन्तर होता है।
ग) उसको पूर्ण संसार से अधिक जो प्रिय है, उससे तो उसका वियोग कभी होता ही नहीं।

इस अखण्ड मिलन के पश्चात् उसे मृत्यु का भी भय नहीं रहता। भगवान कहते हैं, 'ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।'

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

भगवान आगे कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. जो पुरुष अनपेक्ष, पवित्र, दक्ष, उदासीन और व्यथा रहित है,
२. वह सर्वारम्भ परित्यागी,
३. मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं लाडली! सर्व प्रथम 'अनपेक्ष' का अर्थ समझ ले।

अनपेक्ष :

अनपेक्ष का अर्थ है, निष्पक्ष होना, असम्बद्ध होना, सब के प्रति उदासीन होना।

भगवान कहते हैं :

१. जो विषयों को प्रति बेपरवाह है
२. जो यदृच्छा लाभ में सन्तुष्ट रहता है,
३. जो विषयों से किंचित् मात्र भी संग नहीं करता,
४. जिसके मन में किंचित् मात्र भी कामना या स्पृहा नहीं है,
वह भक्त मुझे प्रिय है।

पवित्र :

नन्हीं! भगवान को पवित्र लोग प्रिय हैं!

क) जिनका चित्त शुद्ध हो,
ख) जिनके मन में वृत्तियों के झमेले न लगे हों,
ग) जो लोग मन से सर्वभूतहितकर हों,
घ) जो यज्ञ, तप तथा दान करने वाले लोग हैं,

वे पवित्र हैं और भगवान को प्रिय हैं।

नन्हीं! दान से यह न समझ लेना कि जो धन का दान देते हैं, वे पवित्र लोग होते हैं।

- अध्यात्म में निष्काम दान ही श्रेष्ठ माना जाता है।
- अध्यात्म में तनो दान ही श्रेष्ठ माना जाता है।
- अध्यात्म में बुद्धि दान ही श्रेष्ठ माना जाता है।

अपनी बुद्धि और अपना तन लगाकर दूसरों को स्थापित कर देना धन के दान से कहीं श्रेष्ठ है।

अपनी बुद्धि लगाकर दूसरों को स्थापित करने के लिए जब जीवन में निरन्तर अभ्यास होने लग जाता है, तब ही वास्तविक यज्ञ आरम्भ होता है। भगवान कहते हैं ऐसे भक्त उनको भाते हैं!

दक्ष :

दक्ष का अर्थ है चतुर, सावधान, योग्य, कार्य कुशल, नित्य होशियार।

नन्हीं! भगवान का भक्त तो दक्ष होगा ही क्योंकि :

क) उसे तो अनेकों लोगों के तथा अनेकों प्रकार के काम करने होते हैं।
ख) वह तो सर्वभूत हितकर होता है।
ग) वह तो सम्पूर्ण विश्व को भगवान का विराट रूप मानता है।
घ. वह तो सम्पूर्ण जीवों को आत्म स्वरूप ही मानता है।

वह अपने आपको भूलकर, सबके कार्य भगवान के कार्य मानकर, अति सावधान हुआ और पूर्ण यत्न लगाकर निष्काम भाव से करता है। जब वह दूसरों के काज करता है, तो अनेकों बार लोगों को उस पर शक हो जाता है, क्योंकि वह अपने आपको भूलकर, दूसरे के तद्रूप होकर, जिसका काम है, उससे भी अच्छी तरह कार्य करता है।

उदासीन :

नन्हीं! यह जो उदासीनता का शब्द है, इसे अनेकों बार समझना कठिन हो जाता है। उदासीनता का अर्थ है निःस्पृहः, निष्पक्ष, संग रहित।

अब यह देखना है कि :

१. सर्वभूत हित करने वाला उदासीन कैसे है ?
२. प्रेम स्वरूप उदासीन कैसे है ?
३. करुणापूर्ण, दयापूर्ण उदासीन कैसे है ?
४. भक्त वत्सल उदासीन कैसे हो सकता है ?
५. निष्काम कर्म करने वाला उदासीन कैसे हो सकता है ?
६. दक्षता पूर्ण सबके काम करे तो उदासीन कैसे हो सकता है ?

नन्हूं!

क) साधक को अपने तन के प्रति उदासीन होना है।
ख) साधक ने तो अपना तनत्व भाव छोड़ना है।
ग) साधक ने तो अपने मन की अनेकों चाहनाओं के प्रति उदासीन होना है।
घ) साधक ने तो अपनी बुद्धि के प्रति उदासीन होना है।
ङ) साधक ने तो अपनी ही मान्यताओं के प्रति उदासीन होना है।

भगवान कहते हैं, 'जो मेरा भक्त अपने आपको मुझपे छोड़कर मेरे विश्व रूप के लिए निष्काम भाव से कार्य करता है, वह उदासीन भक्त मुझे प्रिय है।'

गतव्यथ :

नन्हीं! भगवान का भक्त व्यथा रहित होगा ही। जिसके हृदय में भगवान का प्रेम बसता है, वह दुःखों से प्रभावित नहीं हो सकता।

नन्हीं! यहां एक बात समझ!

१. दुःख मन को होता है।
२. दुःख मन के सोचने पर होता है।
३. यदि आप अपने मन को सोचने का समय ही न दें तो आप दुःखी नहीं होंगे।

मन यदि दु:ख में खो जाये तो दु:खी होता है।

यदि आप अपना ध्यान दु:ख देने वाले विषय से हटाकर, सुख देने वाले विषय पर टिका देंगे तो आप दु:खी नहीं होंगे। यदि आपका ध्यान भगवान में लगा हुआ होगा तो आप कभी भी दु:खी नहीं हो सकते। यही भगवान यहां कह रहे हैं।

दु:ख सुख तो आते ही रहते हैं, किन्तु जो सम्पूर्ण दु:ख होते हुए भी दु:खी नहीं होता, वह भक्त भगवान का प्रिय है।

सर्वारम्भपरित्यागी :

भगवान कहते हैं कि उन्हें 'सर्वारम्भ परित्यागी' पसन्द है।

नन्हीं! भगवान कहते हैं निष्काम कर्म करने ही चाहियें। निष्काम कर्म का आरम्भ तो कहीं होगा ही। तो फिर कोई सर्वारम्भ परित्यागी कैसे होगा ?

नन्हूं! ऐसे लोग :

क) अपने आप कुछ आरम्भ नहीं करते।
ख) अपने लिए कुछ आरम्भ नहीं करते।
ग) अपने काम्य कर्म तो करते ही नहीं।
घ) अपने तन की स्थापना के लिए कुछ भी आरम्भ नहीं करते।

ये जीवन में जो भी काम करते हैं, वह किसी और का स्वप्न होता है, वह किसी और की चाहना होती है, उसका फल किसी और को मिलता है। इनकी शरण में जो आये, ये उसकी लाज निभा देते हैं। यदि इनसे कोई सहायता मांगे, ये उसको सहायता दे देते हैं। ये तो केवल औरों के स्वप्न पूर्ण करते हुए उन्हें ही स्थपित करते हैं।

भगवान कहते हैं, 'ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ १७॥

अब भगवान अपने प्रिय भक्त के अन्य चिह्नों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. जो न हर्ष करता है,
२. न द्वेष करता है,
३. न शोक, न इच्छा करता है,
४. जो शुभ और अशुभ, दोनों का त्याग करने वाला है,
५. वह भक्ति युक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान पुन: कह रहे हैं कि भक्त हर्ष नहीं करता।

नन्हूं! पहले भी कहा था कि हर्ष बाह्य विषय उपलब्धि से होता है।

हर्ष को प्रथम समझ ले :

हर्ष का अर्थ है :

१. प्रसन्नता का आधिक्य,
२. मारे खुशी के झूम उठना,
३. सुख देने वाले विषय को पाकर अति प्रसन्न हो जाना,
४. आह्लाद,
५. पुलकित हो जाना।

नन्हीं! भगवान के अतीव प्रिय भक्त को भगवान ही अतीव प्रिय लगते हैं। उसे जो कुछ भी मिले, वह उसे भगवान की देन मानता है। फिर, उसे दुनिया में कुछ मिले या न मिले, वह तो अपने आप में मस्त रहता है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से वह उत्तेजित नहीं हो सकता।

नन्हीं लाडली! वह औरों की खुशी में महा खुश सा है; औरों के दुःख में महा दुःखी सा है। किन्तु उसकी अपनी मोदकता तथा हर्ष तो अपने प्रियतम से मिलने में ही है। वह प्रियतम उसके आन्तर में वास करते हैं, वह प्रियतम तो उसके अपने आप ही है। वहां हर्ष अमर्ष कोई अर्थ नहीं रखता।

द्वेष :

भक्त किसी से द्वेष नहीं करता।

नन्हीं!

क) वह किसी से भी घृणा नहीं करता।
ख) वह किसी से भी शत्रुता नहीं करता।
ग) वह किसी से विरोध नहीं करता।
घ) वह किसी का तिरस्कार नहीं करता।
ङ) वह किसी के प्रति भी सहानुभूति रहित नहीं होता।
च) वह किसी से भी विमुख नहीं होता।
छ) वह किसी की अस्वीकृति या परित्याग नहीं करता।
ज) वह किसी के प्रति अरुचि का भाव नहीं रखता।
झ) वह किसी से भी ऊब कर विरक्त नहीं होता।
ञ) वह किसी की हानि नहीं चाहता।
ट) वह किसी को भी अधम या नीच नहीं समझता।
ठ) वह कठोर व निर्दयी से भी घृणा नहीं करता।
ड) वह अत्याचारी या दुराचारी से भी घृणा नहीं करता।

नन्हीं! भगवान के भक्त :

१. किसी परिस्थिति से भी द्वेष नहीं करते।
२. किसी जीव से भी द्वेष नहीं करते।
३. किसी गुण से भी द्वेष नहीं करते।
४. अपने अपमान से भी द्वेष नहीं करते।

नन्हीं! ऐसे लोग अपनी रुचि के पीछे नहीं जाते, वह तो सर्वहितकर होते हैं, यदि इन लोगों के सामने दो इन्सान हों, एक दुराचारी, अत्याचारी, निष्ठुर, कामना पूर्ण तथा अन्य सभी आसुरी गुणों से भरपूर; और दूसरा सौम्य, सद्गुण पूर्ण और ख़ातिर करने वाला; तो शायद ये दुराचारी को ही अपने पास रखेंगे; क्योंकि उन सहज गुणों

का प्रहार ये स्वयं सह लेंगे, और दूसरों को उसके प्रहार से बचा लेंगे।

नन्हीं! उनका सहज स्वभाव सर्वभूत हितकारक है।

क) वे तो दुःख विमोचक होते हैं।
ख) वे सबको सुख देने वाले होते हैं।
ग) वे सबका कल्याण करने वाले होते हैं।

इस कारण ऐसा लगता है कि उन्हें दुःख देने वाले ही प्रिय लगते हैं।

न शोचति

शोच का अर्थ है अफ़सोस करना, शोक मनाना, चिन्ता करना, मनोमन व्यथित होना, खेद प्रकट करना, खिन्न हो जाना, दुःखी हो जाना, विलाप करना।

नन्हीं! भगवान के भक्त के मन में इतनी जगह ही कहां है, जहां वह शोक रख सके! उसका एक ही तो मन है और एक समय में वह एक ही बात पर ध्यान धर सकता है।

क) भक्त का मन तो निरन्तर अपने प्रेमास्पद से बातें करता रहता है।
ख) भक्त का मन तो निरन्तर अपने प्रेमास्पद के ध्यान में मग्न रहता है।
ग) भक्त का मन तो निरन्तर अपने प्रेमास्पद के गुणों की सोचता रहता है।

भक्त के लिए सम्पूर्ण जहान् उसके भगवान का रूप है। इस नाते भी वह,

घ) किसी को दोष नहीं देता।
ङ) किसी से गिला नहीं करता।
च) मन में दुःखी हो नहीं सकता।

फिर, भक्त तो भगवान की सारी बातों को अक्षराशः मानता है। इस नाते भी वह यही मानता है कि गुण गुणों में वर्त रहे हैं और किसी का कोई दोष नहीं है। जब जो भी हुआ, वह भगवान ने ही किया है तो दुःख, चिन्ता और चिन्तन, सब निरर्थक हो जाते हैं।

न कांक्षति :

आकांक्षा का अर्थ है

१. कामना करना,
२. लालायित होना,
३. प्रत्याशा का होना,
४. प्रतीक्षा का होना,
५. अभिलाषा का होना।

नन्हीं!

क) भगवान के भक्त को किसी वस्तु की कामना नहीं होती।
ख) भगवान के भक्त को किसी अभाव का अनुभव ही नहीं होता तो वह अभाव पूर्ति की चाहना क्या करेगा ?
ग) भगवान का भक्त संसार से क्या आशा रख सकता है ?

जिसे संसार से कुछ चाहिए ही नहीं, उसके लिए कांक्षा का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

शुभ अशुभ परित्याग

नन्हीं! भक्तगण को अपनी तो कोई कामना होती नहीं, इस कारण वे स्वेच्छा से कर्मों में प्रेरित नहीं होते। जब उनका मन निरन्तर भगवान में होता है, तो जीवन में वे जो भी कर्म करते हैं, उन्हें उन कर्मों से संग नहीं होता।

- जो कर्म संग रहित हैं, वे अकर्म ही हैं।
- जो कर्म फलत्याग के भाव से किया जाये, वह अकर्म ही होता है।
- जो कर्म काम्य कर्म न हो, वह अकर्म ही होता है।
- जो कर्म निष्काम भाव से किया जाये, वह अकर्म ही होता है।

फिर, भक्त के कर्म तो सब संयोगवश ही होते हैं, घटना वश ही होते हैं, स्वत: उत्पन्न होने वाले होते हैं। अकस्मात् कोई आ गया और भक्त उन्हें भगवान का रूप समझ कर उनकी नौकरी करने लग गये। ऐसे भक्त की कोई अपनी कामना तो होती ही नहीं। उनकी शुभ या अशुभ करने की चाहना नहीं होती, इस कारण वे मानो शुभ अशुभ परित्यागी होते हैं।

भगवान कहते हैं, ऐसे भक्त उन्हें प्रिय लगते हैं।

प्रेम :

भक्त का प्रेम समझ ले!

नन्हीं! एक बात का ध्यान रखना।

भगवान :

क) अपने प्रिय भक्त की बात कर रहे हैं।
ख) उस भक्त की बात कर रहे हैं, जिसके लिए भगवान ही सर्वप्रिय हैं।
ग) उस भक्त की बात कर रहे हैं, जो भगवान को ही प्रासव्य मानता है।
घ) उस भक्त की बात कर रहे हैं, जो केवल भगवान को ही ज्ञातव्य मानता है।
ङ) उस भक्त की बात कर रहे हैं, जो अहर्निश भगवान के ध्यान में मस्त है।
च) उस भक्त की बात कर रहे हैं, जो भगवान के सिवा कुछ नहीं चाहता।

ऐसा भक्त भगवान से भी कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल भगवान से प्रेम करना चाहता है।

क) प्रेम का गुण ही ऐसा है कि वह अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता।
ख) प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद को अपना आप दे देना चाहता है।
ग) प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद को अपना सर्वस्व दे देना चाहता है।
घ) प्रेमी तो केवल अपने प्रेमास्पद को रिझाना चाहता है।
ङ) प्रेमी अपना मान मिटाकर भी अपने प्रेमास्पद को सम्मानित करना चाहता है।
च) प्रेमी अपनी हस्ती मिटाकर भी अपने प्रेमास्पद को स्थापित करना चाहता है।
छ) प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद को भी अपना नहीं बनाना चाहता।
ज) वह खामोश होकर अपने प्रेमास्पद की पूजा करता है।
झ) प्रेमी अपने प्रेमास्पद पर कलंक नहीं बनना चाहता।
ञ) प्रेमी अपने प्रेमास्पद के गुणों की ही प्रतिमा बन जाता है।

नन्हूं! प्रेमी अपने प्रेमास्पद का किसी के सामने नाम भी नहीं लेता। इसलिए नहीं, कि उसे अपने प्रेमास्पद का नाम लेते लाज आती है, किन्तु इसलिए कि वह डरता है कहीं लोग उसे देख कर उसके प्रेमास्पद को बदनाम न कर दें।

वास्तविक साधक के कुछ सहज चिह्न :

जो वास्तविक साधक होता है,

१. वह किसी के सामने अपने प्रेमास्पद का नाम नहीं लेता।
२. वह किसी के सामने अपनी साधना का प्रदर्शन नहीं करता।
३. वह अपने प्रेमास्पद के नाम पर जग में व्यापार नहीं करता।
४. वह लोगों पर अपना स्वरूप ज़ाहिर नहीं करता।
५. वह एकान्त में अपने प्रेमास्पद से बातें करता है।
६. वह निरन्तर अपने प्रेमास्पद को समझने के यत्न करता है।
७. वह निरन्तर अपने प्रेमास्पद के गुण अपने जीवन में लाने के प्रयत्न करता है।
८. वह जीवन में साधारण ही होता है, किन्तु भागवत् गुण अभ्यासी होने के कारण विलक्षण होता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १८॥

अपने प्रिय भक्त के लक्षण बताते हुए भगवान कहने लगे कि मुझे मेरे वह भक्त प्रिय हैं जो :

शब्दार्थ :

१. शत्रु (और) मित्र तथा मान अपमान में सम हैं,
२. तथा सर्दी, गर्मी, दुःख सुख में सम हैं,
३. और संग रहित हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान यहां शत्रु तथा मित्र में, और मान अपमान में समदृष्टि के विषय में कह रहे हैं।

शत्रु :

१. शत्रु भीषण विरोधी को कहते हैं।
२. शत्रु प्रतिपक्षी को कहते हैं।
३. शत्रु वैमनस्य रखने वाले को कहते हैं।
४. शत्रु वह होता है जो दूसरे का नाश कर देना चाहता है।
५. शत्रु वह होता है जो दूसरे को परास्त करना चाहता है।

मित्र :

१. मित्र सहयोगी को कहते हैं।
२. मित्र शुभ चिन्तक को कहते हैं।
३. मित्र सहायक को कहते हैं।
४. मित्र वह होता है जो सहारा दे।
५. मित्र वह होता है जो प्रत्युत्साहक हो।

मित्र आश्रय दाता को भी कहते हैं। मित्र संरक्षक को भी कहते हैं।

नन्हीं! मित्र वह होता है जो आपको स्थापित करे और जो आपके गुण वर्धन में आपका सहायक हो।

मान :

१. मान आदर को कहते हैं।
२. मान प्रतिष्ठा को कहते हैं।
३. मान सम्मान को कहते हैं।
४. मान समृद्धि को कहते हैं।
५. नन्हीं! जीवन में जीव अपने तन की महिमा गान और प्रतिष्ठा को अपना मान मानते हैं;
६. नन्हीं! जीवन में औरों पर अपना हक होने को वे अपना मान कहते हैं।

अपमान :

- अपमान अपयश को कहते हैं।
- अपमान अनादर को कहते हैं।
- अपमान तिरस्कार को कहते हैं।
- अपमान कलंक को कहते हैं।
- अपमान निन्दा को कहते हैं।

नन्हीं! भगवान के प्रिय भक्त मान अपमान में सम होते हैं।

शीत :

शीत सर्दी को कहते हैं।

शीत, जीव भी होते हैं जो दूसरों के प्रति उदासीन और लापरवाह होते हैं।

ऊष्ण :

- ऊष्णता गर्मी को कहते हैं।
- ऊष्णता क्रोध को भी कहते हैं।
- ऊष्णता उद्वेग को भी कहते हैं।
- ऊष्णता तीक्ष्णता को भी कहते हैं।

भगवान कहते हैं कि जो मेरे भक्त इन सब द्वन्द्वों में समचित्त रहते हैं, वे मुझे प्रिय हैं। जो इन सब द्वन्द्वों के प्रति संग नहीं रखते, वे मुझे प्रिय हैं।

नन्हूं! भगवान अपने प्रिय भक्त के चिह्न बता रहे हैं। ये सब चिह्न उसके हैं, जो निरन्तर भगवान में खोये रहते हैं।

खोये रहने से यह अर्थ न समझ लेना, कि वे दुनिया से दूर होकर कहीं एकान्त में बैठे रहते हैं, क्योंकि उनके सब चिह्नों के प्रमाण लोगों के सम्पर्क में ही मिल सकता है। शत्रुओं में रहकर ही जीव निर्वैरता का अभ्यास कर सकता है। मान के प्रति उदासीनता का प्रमाण अपमान पूर्ण परिस्थिति में ही मिल सकता है।

भगवान कहते हैं, 'जो इन सब परिस्थितियों में सम रहते हैं, वे मुझे प्रिय हैं।'

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

अब भगवान कहने लगे, अर्जुन!

मुझे वे स्थिर बुद्धि वाले लोग पसन्द हैं, जो हर परिस्थिति में सम रहते हैं। यानि जो :

शब्दार्थ :

१. निन्दा तथा स्तुति में तुल्य रहता है,
२. जो निरन्तर मौन रहता है,
३. जो मिल जाये, उसमें ही सन्तुष्ट

रहता है,
४. जो अनिकेत, स्थिरमति तथा भक्तिमान् हैं,
५. वह नर मुझे प्रिय है।

तत्त्व विस्तार :

निन्दा :

नन्हूं!
१. भगवान के भक्त की कोई निन्दा करे,
२. भगवान के भक्त को कोई दोष लगाये,
३. भगवान के भक्त को कोई धिक्कारता रहे,
४. भगवान के भक्त को कोई कलंक लगाये,
५. भगवान के भक्त को कोई दोष लगाकर लोगों को सुनाता रहे,
तब भी उन्हें गिला नहीं होता।

स्तुति :

स्तुति का अर्थ है :
क) प्रशंसा करना,
ख) महिमा गान करना,
ग) गुणगान करना,
घ) चापलूसी करना,
ङ) खुशामद करना।

भगवान कहते हैं कि जो निन्दा और स्तुति के प्रति उदासीन रहते हैं और इनसे प्रभावित नहीं होते, वे उन्हें प्रिय हैं।

मौनी :

भगवान को वे लोग पसन्द हैं, जो मौनी होते हैं।

मौनी उसे कहते हैं :
१. जो निरन्तर मौन रहता है।
२. जिसका मन नितान्त शान्त रहे।
३. जिसके वृत्ति झमेले शान्त हो जायें।
४. जो अपने प्रति निरन्तर मौन रहे।
क) मौनी गण अपने तन के प्रति उदासीन होने के कारण अपने बारे में कभी कुछ नहीं कहते।
ख) मौनी गण अपनी रुचि अरुचि के प्रति भी मौन रहते हैं।
ग) मौनी गण अपने मान अपमान के प्रति भी मौन रहते हैं।
घ) मौनी गण अपने सुख दुःख के प्रति भी मौन रहते हैं।
ङ) मौनी गण अपनी स्थापना के बारे में सोच भी नहीं सकते।

अपने प्रति नितान्त मौन होने के कारण वे मौनी होते हैं। वैसे तो वे साधारण जीवों की तरह बातें करते हैं।

संतुष्टो येन केन चित् :

जो भी दैव योग से मिल जाये, उसमें वे संतुष्ट रहते हैं। जो भी अनायास मिल जाये, उसमें संतुष्ट रहते हैं। नन्हूं! भगवान के भक्त अपने शरीर को याद ही कब करते हैं ? वे तो पूर्ण संसार को वासुदेव मानकर निष्काम भाव से उसकी सेवा करते हैं। उन्हें कहीं से कुछ मिल जाये तो भी ठीक, न मिले तो भी मुदित रहते हैं। प्रारब्ध वश जो कुछ मिल जाये, वे तो उसे भी बांट कर खाते हैं। प्रारब्ध वश जो उन्हें दुःख सुख भी मिलते हैं, वे उनमें ही संतुष्ट रहते हैं।

अनिकेत :

१. जिसका अपना कोई घर न हो उसे अनिकेत कहते हैं।
२. जिसका अपना किसी पर अधिकार न हो उसे अनिकेत कहते हैं।
३. नन्हीं! जो अपने तन में नहीं रहता, वास्तव में वही अनिकेत है। उस भक्त के तन में उसकी जगह भगवान रहते हैं।
४. उस भक्त का कहीं भी ममत्व भाव नहीं होता, इस कारण वह अनिकेत है।
५. जो अपना सर्वस्व भगवान पर अर्पण कर चुका है, वह अनिकेत ही होता है।
६. नन्हीं! ऐसे भक्त का घर, कुल तथा तन, मन इत्यादि होते हुए भी वह अनिकेत ही होता है।
७. उसका जहान् में कोई आश्रय नहीं होता, इस कारण भी वह अनिकेत ही होता है।

स्थिरमति :

भगवान कहते हैं स्थिरमति उन्हें पसन्द है।

नन्हीं! स्थिरमति वे होते हैं,

१. जिनकी बुद्धि द्वन्द्वों से आवृत्त नहीं होती।
२. जिनकी बुद्धि उनकी अपनी रुचि अरुचि से आवृत्त नहीं होती।
३. जिनकी बुद्धि अपनी कामना से आवृत्त नहीं होती।
४. जिनकी बुद्धि अपनी मान्यताओं से आवृत्त नहीं होती।
५. जिनकी बुद्धि अपने सिद्धान्तों से आवृत्त नहीं होती।
६. जिनकी बुद्धि स्पर्श मात्र जहान् से आवृत्त नहीं होती।
७. जिनकी बुद्धि अपनी स्थापना के लिए कुछ नहीं करती।

स्थिरमति वालों की बुद्धि नित्य आत्म में स्थित होती है और उनको लौकिक जहान् का कोई विषय भी विचलित नहीं कर सकता।

भक्तिमान्

क) भक्तियुक्त को भक्तिमान् कहते हैं।
ख) जो निरन्तर अपने जीवन में दैवी गुणों का आश्रय लेता है, वह भक्तिमान् कहलाता है।
ग) जिसे भगवान में अगाध श्रद्धा हो, उसे भक्तिमान् कहते हैं।
घ) जो स्वयं तबाह होकर भी भागवद् गुण का त्याग नहीं करता, उसे भक्तिमान् कहते हैं।
ङ) जिसका जीवन में आसरा केवल भगवान होते हैं, उसे भक्तिमान् कहते हैं।
च) जो भगवद् गुणों की महिमा स्वयं होते हैं, वे भक्तिमान् होते हैं।
छ) जो भगवद् गुणों का प्रमाण स्वयं होते हैं, वे भक्तिमान् होते हैं,
ज) जो सम्पूर्ण संसार का विरोध पाते हुए भी अपना सतीत्व नहीं छोड़ते, वे भक्तिमान् होते हैं।

भगवान ने कहा कि जिनके पास वे सम्पूर्ण गुण हैं, जो भगवान ने कहे हैं, वे

भक्तिमान् पुरुष उन्हें प्रिय हैं।

नन्हीं! भगवान यहां सिद्ध भक्त और भक्ति पथ पथिक, दोनों की ही बात समझा रहे हैं। राग द्वेष रहितता का अभ्यास ही राग द्वेष को छोड़ना है। कांक्षा, रहितता का अभ्यास ही कांक्षा को छोड़ना है। समता का अभ्यास ही द्वन्द्व पूर्ण स्थितियों में सम रहना है। फिर, जो भगवान के सच्चे भक्त होते हैं, उन्हें तो अपनी याद ही नहीं रहती। संसार मात्र के प्राणियों को वे वासुदेव ही जानकर उनकी सेवा करते हैं। भगवान को ऐसे भक्त प्रिय लगते हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो श्रद्धायुक्त हुए,
२. और मेरे परायण हुए,
३. उत्तम धर्म अमृत का अनुष्ठान करते हैं,
४. वे भक्त मेरे को अतिशय प्रिय हैं।

तत्त्व विस्तार :

देख! भगवान ने पूर्ण सत् गुण बता दिये और कह दिया, 'गर ये गुण तुझ में हैं तो तू मुझे प्रिय है।' पुनः वे गुण देख जो साधक के लिए अनिवार्य हैं।

भगवान का प्रिय भक्त :

क) राग द्वेष रहित होगा,
ख) मान अपमान को तुल्य समझेगा,
ग) नित्य संतुष्ट रहेगा,
घ) चाहना और संग छोड़ देगा,
ङ) मनो उद्विग्रता छोड़ देगा,
च) स्तुति निन्दा की परवाह नहीं करेगा,
छ) अनिकेत होगा।

भाई! उसका घर तो भगवान ही हैं।

फिर भगवान आगे कहते है, व्यवहारिक स्तर पर :

१. मेरा भक्त सबसे मैत्री रखने वाला होता है।
२. जो तुझे तबाह कर दे, उसे भी क्षमा कर देना सीख।
३. सारे जहान् के प्रति करुणापूर्ण दृष्टि होनी चाहिए।
४. अज्ञानियों में उद्विग्रता मत लाना।
५. सब के कार्य करना और फल की चाहना न करना।

फिर भगवान कहते हैं, ये सब करते हुए,

क) अपने प्रति नितान्त उदासीन रहो।
ख) निर्मम और निरहंकार बने रहो।
ग) स्थिरमति तथा दक्ष बनकर जीना सीखो।
घ) अपने प्रति निरन्तर मौन रहना सीख लो।

हां भाई! बातें तो बहुत कठिन हैं भगवान की। ये सब तो साधक को घबरा देने वाली बातें हैं। पर एक छोटा सा तरीका बताऊं जिससे यह सब एक पल में हो जायेगा! बस राम का नाम लो! यदि भगवान से सच्चा प्यार हो गया, तो कुछ भी कठिन नहीं लगेगा। देख! झूठा नाम मत लेना।

जिस दिन राम से इतना प्यार हो जाये कि केवल राम का चाकर बनने को जी चाहे और प्राण सहित अपना तन, मन, बुद्धि भगवान को दे सको, उस दिन बस एक बार राम बुला लेना, बस एक बार श्याम बुला लेना, तुम्हारा काम बन जायेगा।

नन्हूं जन्मदायिनी कमला सुन! नाम लेने का अर्थ पुनः समझ ले!

१. तुम्हारे तन का नाम 'कमला' है, गर राम का नाम लिया, तो तुम्हारे तन का नाम 'राम' हो जायेगा।
२. पर तुम किसी के सामने अपने लब से 'राम राम' नहीं कहोगे।
३. कोई अपना नाम तो नहीं लेता न!
४. फिर कोई अपने प्रियतम का नाम भी नहीं लेता!
५. प्रिया और प्रेमास्पद एकान्त पसन्द होते हैं।
६. उनका प्यार तो एकान्त में पलता है।
७. अजी! जब तक मिलन न हो जाये, वह तो अपने घनिष्ठ सज्जन सम्बन्धी मित्रों को भी पता लगने नहीं देते।

देख!

क) भगवान को साक्षी बना ले।
ख) भगवान से बातें किया कर।
ग) भगवान के गुण समझने के यत्न कर।
घ) समझ, कि उनका प्यार कैसा है।
ङ) समझ, कि प्यार किसे कहते हैं।
च) समझ, कि करुणा किसे कहते हैं।
छ) भगवान ये सब कैसे करते हैं, उनके जीवन में प्रमाण देख।

गर सच ही राम से प्यार है तो तू उनके जैसा बनने के यत्न करेगा।

१. भक्त की भक्ति केवल निष्काम होती है।
२. भक्त का ज्ञान केवल निष्काम होता है।
३. भक्त केवल अपना सर्वस्व भगवान को देने जाता है।
४. वह ज्ञान अपने लिए नहीं मांगता, वह तो इतना ज्ञान मांगता है, जिसके राही वह अपना सर्वस्व भगवान को दे सके; इसलिए उसका ज्ञान निष्काम है।
५. इसी भांति उसके कर्म भी निष्काम हैं।

भाई! ऐसे भक्त की क्या कहें! उसे तो भगवान भी अपने लिए नहीं चाहिएं। वह तो भगवान को भी अपना सर्वस्व देने गया है। भक्त लोग तो यह स्थिति समझ जायेंगे, किन्तु ज्ञान गुमानी ये प्यार की बातें क्या समझें ?

भगवान ने यहां श्लोक संख्या १२/१३ से १२/१९ तक जो भक्त के गुण कहे हैं, वही धर्म अमृत है। जो भी श्रद्धावान् होकर और भगवान के परायण होकर इन गुणों का जीवन में अनुष्ठान करता है, वह भक्त भगवान को प्रिय है।

धर्म अमृत :

नन्हीं! इस ज्ञान को, इन गुणों को, इस भक्ति को धर्म अमृत कहा है।

यदि जीवन में ये गुण आ जायें, तो जीव,

क) धर्म परायण हो जायेगा।
ख) कर्त्तव्य परायण हो जायेगा।
ग) निष्काम कर्मी हो जायेगा।
घ) परम पद को पा लेगा।
ङ) फिर जीव अमरत्व को पा ही लेगा।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्ति
योगोनाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

अब भगवान अर्जुन को आत्मा तथा अनात्मा का ज्ञान फिर से देने लगे और कहने लगे,

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है,
२. जो इस क्षेत्र को जानता है,
३. उसे 'यह क्षेत्रज्ञ है' तत्त्ववेत्ता जन ऐसा कहते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान ने कहा था कि, 'मैं तुझे ज्ञान विज्ञान के सहित तत्त्व को समझाऊंगा।' अब वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक दे रहे हैं।

क्षेत्र	क्षेत्रज्ञ
१. शरीर को क्षेत्र कहते हैं	१. शरीर को जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।
२. अपरा प्रकृति की रचना को क्षेत्र कहते हैं।	२. जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।
३. मन, बुद्धि, इन्द्रिय, पंच महाभूत तथा इन्द्रिय विषय मिलकर क्षेत्र कहलाते हैं।	३. इन सबको तत्त्व रूप से जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।
४. जड़ को क्षेत्र कहते हैं।	४. चेतन आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।
५. क्षेत्र गुण बधित तथा गुण पूर्ण है।	५. निर्गुणिया गुणातीत क्षेत्रज्ञ है।
६. क्षेत्र नित्य परिवर्तनशील है।	६. क्षेत्रज्ञ नित्य सम तथा अपरिवर्तनशील है।
७. क्षेत्र क्षर तथा मृत्यु धर्मा है।	७. क्षेत्रज्ञ अक्षर तथा नित्य अमर है।
८. कर्म रूपा बीज का उत्पत्ति का स्थान क्षेत्र है।	८. क्षेत्रज्ञ कर्म बन्धन से नित्य अतीत है।
९. क्षेत्र प्रकृति को कहते हैं।	९. प्रकृति के तत्त्व को जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

१०. क्षेत्र जड़ होने के कारण अन्धा है।
११. क्षेत्र विकार पूर्ण होता है।
१२. क्षेत्र नित्य अतृप्त ही होता है।
१३. क्षेत्र किसी न किसी का विषय होता है।
१४. क्षेत्र, इन्द्रिय मन, बुद्धि गोचर है।
१५. क्षेत्र अनात्म को कहते हैं।

१०. परम द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।
११. क्षेत्रज्ञ निर्विकार होता है।
१२. क्षेत्रज्ञ नित्य तृप्त को कहते हैं।
१३. क्षेत्रज्ञ किसी का भी विषय नहीं होता।
१४. क्षेत्रज्ञ नित्य अगोचर है।
१५. क्षेत्रज्ञ आत्म को कहते हैं।

जड़ तन सदा अतृप्त :

नन्हीं! क्षेत्र रूपा तन जब तक जीवित है, वह अन्न के लिए, जल के लिए और वायु के लिए अतृप्त रहेगा ही। फिर जब तन को प्राण छोड़ जायेंगे, तो वही तत्त्व जो इस तन को पुष्टित रखते थे, पुन: तन के विभिन्न तत्त्वों को अपने में समा लेंगे। क्षेत्र को जीवित रहने के लिये क्षेत्र के ही किसी अंश की आवश्यकता होती है। आत्मा को किसी की भी ज़रूरत नहीं होती। आत्मवान् क्षेत्र से परे होता है। वह तन रूप क्षेत्र को भी मानो दूर से देखता है। तन अपना धर्म नहीं छोड़ता। वह तो गुण बन्धा गुणों में वर्तता रहता है।

नन्हूं! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अभेद जानना ही बन्धन कारक है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को एक मानना ही अज्ञान है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद का ज्ञान ही मुक्ति दिला सकता है। बंधन की दशा में जीव कर्तृत्व तथा तनत्व भाव से बन्धा होता है। मुक्त दशा में जीव में कर्तृत्व तथा तनत्व भाव का अभाव होता है।

भगवान ने कहा, 'तत्त्व वेत्ता गण यह कहते हैं।'

तत्त्व वेत्ता कौन हैं ?

तत्त्व वेत्ता गण वे होते हैं,

क) जो आत्म अनात्म के ज्ञान को तत्त्व से जानते हैं।
ख) जो प्रकृति तथा पुरुष के ज्ञान को तत्त्व से जानते हैं।
ग) जो जड़ तथा चेतन को तत्त्व से जानते हैं।
घ) जो विद्या और अविद्या के सार को जानते हैं।
ङ) जो आत्मा तथा अनात्मा के भेद को समझते हैं।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

अब भगवान जीवात्मा और परमात्मा की एकता का निरूपण करते हुए कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मेरे को ही जान।

२. क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है,
३. वही (वास्तविक) ज्ञान है,
४. यह मेरा मत है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! यहां भगवान ने शरीरों को 'क्षेत्र' कहकर अखण्ड आत्म तत्त्व स्वरूप अपने आपको 'क्षेत्रज्ञ' कहा और फिर कहा, 'क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।' यही उनका मत है।

ज्ञान :

भगवान कहते हैं कि ज्ञान केवल वह है जो,

१. परम सत् के दर्शन करा सकता है।
२. आत्म अनात्म में भेद दर्शा सकता है।
३. जड़ चेतन विवेक देने वाला हो।
४. जीव को आत्मवान् बना दे।
५. जीव को स्वरूप में स्थित करा दे।
६. जीव को नित्य निर्विकार कर दे।
७. जीव को नित्य तृप्त करा दे।
८. जीव के मोह का नाश कर दे।
९. जीव को निर्द्वन्द्व बना दे।
१०. जीव को गुणातीत बना दे।

भगवान ने मानो कहा, इसके अतिरिक्त जो भी है वह अज्ञान ही है, क्योंकि यदि जीव को आत्मज्ञान न हो तो अन्य ज्ञान भी बन्धन कारक हो जाता है। नन्हीं! वास्तव में यह तत्त्व ज्ञान इन्सान को इन्सानियत सिखाता हुआ उसे देवता बना देता है और फिर देवत्व से उठाकर भगवान बना देता है।

बस यही ज्ञान है जो ज्ञातव्य है। यही जीव को नित्य आनन्द की स्थिति में स्थित करवा देता है और यही जीव को नित्य निर्दोष और जीवन मुक्त बना देता है। भगवान कहते हैं, 'यही प्राप्तव्य है, यही ज्ञातव्य है।'

बस नन्हूं! यही ज्ञान है। भगवान ने कहा, यही उनका मत है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विषय में भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. वह क्षेत्र जो है और जैसा है,
२. तथा जिन विकारों वाला है,
३. और जिस कारण से जो हुआ है,
४. तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है,
५. और जिस प्रभाव वाला है,
६. वह सब संक्षेप में तू मुझसे सुन!

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, मैं क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का सार कहूंगा तुझे कि यह तन क्या है और क्यों है ? यह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ,

१. जो है, जैसा है,

२. जिस धर्म से युक्त है,
३. जिस स्वभाव से बन्धा है,
४. जिस गुण से बन्धा है,
५. किसका यह कारण है,
६. किसका यह कार्य है,
७. कौन से विकारों वाला है,
८. और कैसा प्रभाव है इसका,

भगवान कहते हैं, 'यह सब संक्षेप से तुझे कहता हूं।'

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

भगवान कहने लगे, अर्जुन! क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विषय में,

शब्दार्थ :

१. बहुत प्रकार से ऋषियों द्वारा,
२. नाना प्रकार के छन्दों से पृथक् पृथक्,
३. और ऐसे ही युक्तियों वाले तथा निश्चित अर्थ वाले ब्रह्म सूत्र के पदों में,
४. यह (विषय) गाया गया है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कह रहे हैं कि आत्म तथा अनात्म का विवेक ऋषियों ने बहुत प्रकार से समझाया है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान पूर्व कथित भी है। वेदों और छन्दों में भी यह ज्ञान बहुत प्रकार से समझाया गया है। ब्रह्म सूत्र के पदों में भी यह ज्ञान बहुत युक्तियों द्वारा समझाया है। यानि, यह ज्ञान

१. परम्परा से चला आ रहा है।
२. परम श्रेष्ठ माना गया है।
३. केवल मात्र ज्ञातव्य माना गया है।
४. केवल मात्र प्राप्तव्य माना गया है।
५. अनेकों बार बहु विधि समझाया गया है।

नन्हूं! इस ज्ञान के आधार पर ही तो,

क) ऋषिगण, ऋषिगण कहलाये।
ख) ब्रह्मसूत्र, परम ज्ञान माने गये हैं।
ग) साधारण जीव देवत्व पाता हुआ आत्मवान् बन सकता है।

जो ज्ञान वेदों में तथा ब्रह्म सूत्रों में है, जो ज्ञान ऋषियों ने बहु विधि समझाया है, उसे भगवान पुनः समझाने लगे हैं।

भगवान ने कहा था कि वह उस ज्ञान को विज्ञान सहित कहेंगे, जिसे पाकर जीव परम पद को पा लेता है। जो ज्ञान पहले भी मिल चुका है, उसे भगवान स्वयं विज्ञान सहित समझाने लगे हैं। यह ज्ञान इतने स्पष्ट रूप में और इतने विस्तार से पहले कभी नहीं कहा गया। यहां भगवान ने विज्ञान सहित परम तत्त्व रूपा ज्ञान को जीवन में उतारने का मानो ढंग भी बता दिया।

नन्हीं! भगवान ने पहले भी कहा कि 'यह ज्ञान परम्परा से चला आ रहा है।'

इसी में भगवान का झुकाव निहित है, इसी में भगवान का स्वरूप निहित है। वह सब कुछ विधान करते हुए भी कुछ नहीं अपनाते हैं।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

भगवान कहते हैं सुन!

शब्दार्थ :

१. पंच महाभूत, अहंकार और बुद्धि,
२. अव्यक्त, यानि त्रिगुणात्मिका शक्ति,
३. दस इन्द्रियां और एक मन,
४. पांच इन्द्रियों के विषय,
५. और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख,
६. देह, इन्द्रियां तथा पंच तत्त्व समुदाय रूप तन,
७. चेतना तथा धृति,
८. यह विकार सहित संक्षेप में क्षेत्र कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान ने यहां पूरा क्षेत्र बता दिया। कहते हैं, इन सबसे मिलकर क्षेत्र बनता है।

क) पंच महाभूत, यानि पृथ्वी, जल, अग्न, वायु और आकाश।
ख) निर्णयात्मिका शक्ति रूपा बुद्धि।
ग) देह गुण अभिमानी अहंकार।
घ) त्रिगुणात्मिका शक्ति, जो रचना करती है और गुण भरती है।
ङ) दस इन्द्रियां यानि पांच ज्ञानेन्द्रियां- नेत्र, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा और पांच कर्मेन्द्रियां, यानि हाथ, पांव, गुदा, लिंग और वाक्।
च) एक मन, यानि, वृत्ति पुंज मन, संकल्प विकल्प रूपा मन, रुचि अरुचि वर्धक मन, संगी मन, जो वैरी या मित्र बन जाता है, इन्द्रियों में रस भरने वाला मन। साधु यही बनता है और दुष्ट भी यही बनता है, जीव वही है जो उसका मन है।
छ) पंच इन्द्रिय गोचर विषय, अर्थात्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
ज) इच्छा द्वेष, सुख दुःख, राग द्वेष, जो अनेकों प्रकार के गुण उत्पन्न कर देते हैं जीव में, यह आकर्षण अथवा विकर्षण का कारण हैं।
झ) धृति - यहां आंतरिक धृति को समझ! व्याकुलता मिटाने वाला गुण, स्थिरता देने वाला गुण, सहारा देने वाला गुण, स्थापित करने वाला गुण ही

धृति है।

धृति वही तो है जो अन्दर से थामे रखती है; जो विभिन्न तत्त्वों के आपस में भिड़ाव भी ठीक करती है, मन को दु:ख में धैर्य देती है, जो आन्तरिक साहस बनकर निरन्तर जीव का सहारा है।

ञ) चेतना – चेतना के बिना तो काम ही नहीं चल सकता। चेतना शक्ति प्राण भरती है।

१. साक्षीभूत चेतना ही तो है।
२. इसे परम का आभास कह लो।
३. इसे परम चैतन्य का अंश कह लो।
४. इसे परम द्रष्टा की शक्ति कह लो।
५. इसे जीव में प्राण का आधार कह लो।
६. इसे हर अंश के जागरण की शक्ति कह लो।

याद रहे, यहां चेतना आभास मात्र, परम तत्त्व अंश दर्शाया गया है।

यहां भगवान ने पूर्ण क्षेत्र के लिये कह दिया, यह सब जड़ है, यह सब क्षर है, यह सब त्रिगुणात्मिका है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

सुन कमल ! अब भगवान कहते हैं, क्षेत्रज्ञ को जानना बड़ा कठिन है। यदि जानना चाहते हो तो पहले यह जो कह रहा हूं इसे समझ लो; अपने जीवन में उतार लो; तब समझ आने लगेगी कि क्षेत्रज्ञ क्या है ?

शब्दार्थ :

१. अभिमान का अभाव,
२. दम्भ पूर्ण आचरण का अभाव,
३. हिंसात्मक वृत्ति का अभाव,
४. क्षमा,सरलता, आचार्य उपासना,
५. पावनता, स्थिरता और आत्म संयम।

तत्त्व विस्तार :

कमल! परम तत्त्व को जानने के लिए अपने जीवन में यह गुण लाने अनिवार्य हैं।

अमानित्वं, यानि अभिमान रहितता!

१. गुण अभिमान छोड़ दो।
२. जग से मान की चाह छोड़ दो।
३. व्यक्तित्व गुमान छोड़ दो।
४. अपने पर जो नाज़ है, उसे छोड़ दो।
५. अहंकार का अभाव चाहिए।
६. अजी! भगवान को मिलने जाना है, अब आप ही झुक जाईये।

फिर सोच तो लो तुम्हें अभिमान किस पर है ?

तेरे पास जितने गुण हैं, सब भगवान के दिये हैं। सुन्दर सुडौल तन या जैसा भी तन है, भगवान ने रचा है। बहुत धनी हो तो अपनी व्यक्तिगत कीमत लगाकर देख

लो। तुम्हीं अगर नौकर रखना चाहो तो अपने जैसे को कितना वेतन दोगे? आपको जो मिला, वह तो विधान से मिला है, आपसे कई अधिक बुद्धिमान, निपुण, चतुर, परिश्रमी गण बहुत निर्धन है।

भगवान इतना ही कह रहे हैं कि अभिमान न कर! वास्तव में :

क) जीव जितना अधिक गुणवान् होगा, उतना स्वतः ही झुक जायेगा।

ख) वह जितना अधिक धनवान् है, उसके अनुकूल गर विशाल दिल नहीं, तो गुमान क्यों करता है?

ग) तुम जितने अधिक मानवान् हो, उतने मानवान् औरों को भी बना दो। वही तो आपको भी मान देते हैं।

घ) आप जितने अधिक ज्ञानवान् हो, उतना ज्ञान औरों को दो।

ङ) जीव जितना अधिक अपने को श्रेष्ठ समझता है, उसे उतना ही झुक जाना चाहिए और भगवान की कृपा देखकर कृतज्ञता सीख लेनी चाहिए।

अदम्भित्वं, यानि दम्भ न कर :

१. तू बिन अपने में गुण होते हुए भी उनका मान मांगता है।

२. तू मिथ्या ख्याति चाहता है।

३. तू सबको झुकाना चाहता है।

४. सब तेरी बात मानें, तू यही चाहता है।

पर ज़रा सोच! क्या तुझमें वह गुण हैं, जिनके कारण तू मान मांगता है? क्या तेरी बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है? सोच ले! अपनी बुद्धि को यदि तुम सर्वश्रेष्ठ मानते हो तो तुम झूठे हो। यदि जानते हो कि वह सर्वश्रेष्ठ नहीं है तो फिर अकड़ते क्यों हो?

बहुत क्या कहें! गुण जहां होते हैं, झुके ही होते हैं। भगवान आपको सब कुछ देते हैं, आप थोड़ी सी सत्यता में या वास्तविकता में रह लें, तो दम्भ का अभाव हो ही जायेगा।

भाई! दम्भ तो गुण हीन का गुण है, गुण पूर्ण का गुण नहीं है।

अहिंसा :

अहिंसा की क्या कहें, जब,

क) आपने तो क्षेत्रज्ञ, यानि अपने तन के असली मालिक को ही मार भगाया है!

ख) आपने अपने स्वरूप की हिंसा करी है!

ग) आपने दैवी सम्पदा की हिंसा करी है।

घ) आप भगवान की एक विभूति थे; वहां अहंकार मिलाकर आपने परब्रह्म स्वरूप की हिंसा की है।

ङ) आपने अपने आप की हिंसा करी है।

यह हिंसा, जो आप नित्य करते आ रहे हो, इसे छोड़ दो। आप अहिंसा स्वरूप हो जाओगे।

क्षमा :

क) क्षमा किसी और को नहीं करना होता, क्षमा तो अपनी शान्ति के लिए करना होता है।

ख) क्षमा अपने आपको करो, क्यों अपने मन में वैर भर कर तुम उसे दुःखी करते हो?

ग) अगर गलती किसी और ने भी की हो, तुम अपने को दुःखी क्यों करते हो?

घ) गर वैर दिल में रख लिया तो आपका ही कुछ गया।
ङ) मन में ग्रन्थी पड़ गई, आप ही विक्षिप्त हो जायेंगे।
च) क्रोध आप में उठ आया तो बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी।
छ) तो बताईये किसी के दोष की सज़ा किसको मिली ? गलती किसी और ने की और सज़ा आप भुगतेंगे ?

क्षमा न करके दण्ड आप स्वयं भुगतेंगे। तो क्यों नहीं अपने आप को माफ़ कर देते ?

अच्छा! चलो यूं कह लो, अपने लिए सबको माफ़ कर दो। अपने सुख चैन के लिए गिले शिकवे छोड़ दो।

आर्जवता :

१. कुटिलता के अभाव को कहते हैं।
२. सरलता को कहते हैं।
३. सत्यता को कहते हैं।
४. जो आप आन्तर में हो, वही बाहर भी हो जाओ, यही आर्जवता है।

तुम साधक हो, तुम्हें तो आर्जव ही होना है। गर तेरे साक्षी राम हैं तो तेरा व्यवहार आर्जव ही होगा।

आचार्य उपासना :

साधक आचार्य उपासना करेगा ही। उपासना का अर्थ है पास बैठना।

क) गर आचार्य के पास नहीं बैठेगा तो सत् कहां से सीखेगा ?
ख) सत् का प्रमाण जीवन में आचार्य के पास बैठकर ही मिल सकता है।
ग) आचार्य के अनुसरण बिना सत् नहीं जान सकते।
घ) फिर, गर आचार्य में श्रद्धा ही न हो तो उससे कुछ पाना भी मुश्किल है।
ङ) गर आचार्य की सेवा नहीं करोगे तो आचार्य से प्रेम नहीं होगा, उसकी बातें समझ ही नहीं आयेंगी।

पावनता :

पावनता का अर्थ समझने के लिए पहले देख ले कि अपावनता क्या है ?

झूठ से बड़ी अपावनता क्या होगी और अहंकार से बड़ा झूठ क्या होगा ?

सत् से बड़ा तप क्या होगा ? और तप से बड़ा पावनी क्या होगा ?

गर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के रहस्य को जानना है तो अपने को पावन कर लो।

स्थिरता :

जो कभी विचलित न हो, ऐसी स्थिर बुद्धि से बड़ी स्थिरता क्या होगी ?

व्यवसायात्मिका बुद्धि स्थिर होती है; वह सत्त्व में स्थित होती है।

आत्म विनिग्रह :

आत्म विनिग्रह का दूसरा नाम प्रेम कह लो।

१. आत्म विनिग्रह का अर्थ है, आत्म संयम।
२. इन्द्रिय सहित तन, मन तथा बुद्धि की निरुद्धता को आत्म विनिग्रह कहते हैं।

३. अपने आप पर काबू पाने को आत्म विनिग्रह कहते हैं।
४. अपने मन की प्रेय पथ की ओर जाने की प्रवृत्ति को वश में करके उसे श्रेय पथ की ओर ले जाने को आत्म विनिग्रह कहते हैं।

नन्हूं! आत्म विनिग्रह हो ही जाता है,

१. जब भगवान से प्रेम हो जाये,
२. जब सत्त्व से संग हो जाये,
३. जब परम पद की चाहना उठ आए,
४. जब संग अभाव होने लगे।

भगवान कहते हैं, यदि क्षेत्रज्ञ को जानना हो तो इन सत् गुणों का जीवन में अभ्यास करो।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८॥

गर क्षेत्रज्ञ को जानना है तो भगवान कहते हैं यह गुण भी अपने में ले आ!

शब्दार्थ :

१. इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्य भाव,
२. और अहंकार का भी अभाव,
३. जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि इत्यादि में दुःख रूप दोषों को पुनः पुनः देखना।

तत्त्व विस्तार :

वैराग्य :

इन्द्रियों के अर्थों में वैराग्य को प्रथम समझ ले!

वैराग्य मन का गुण है। यहां भगवान ने इन्द्रियों के विषयों के त्याग की बात नहीं कही; वे कहते हैं, वहां से मन को हटा ले!

मन को हटाने का एक ही आसान तरीका है,

क) मन परम में लगा ले, उसी का ध्यान किया कर।
ख) परम से प्रेम हो गया तो मन विषयों को भूल ही जायेगा।

वैराग्य भूल जाने को कहते हैं। वैराग्य में त्यागा हुआ विषय याद ही नहीं रहता, वहां तो त्याग भाव भी याद नहीं रहता। वैराग्य में मन ही बदल जाता है।

अहंकार रहित :

अहंकार रहित हो जा!

१. सच पूछो, तो अहंकार चोर ही कर सकता है।
२. यदि अपने में गुण हो तो अहंकार की फुंकार की क्या आवश्यकता है ?
३. अहंकार तब ही होता है जब अपने में कोई न कोई न्यूनता होती है।
४. अहंकार न्यूनता छिपाव की विधि है। जब तन ही तुम्हारा नहीं तब अहंकार

क़िससे और कहां करोगी ?

जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् :

कमला! सच्ची बात तो यह है कि,

१. निश्चित को क्या देखना ?
२. निश्चित का क्या सोचना ?
३. हकीकत के बारे में सोचना नहीं होता।

नन्हीं! समझना यह है, कि जन्म मृत्यु, बुढ़ापा और बीमारी में दुःखों और उनके दोषों को बार बार देखने से क्या लाभ होगा ?

नन्हीं! पहले देख जन्म कैसे हुआ ?

जन्म की आश्रितता :

क) नौ महीने तो जननी के गर्भ में रहे;
ख) मांस, हड्डी, खून, मां का चबाया हुआ अन्न पाकर पलते रहे;
ग) फिर मां के गर्भ में जेर से आवृत्त रहे;
घ) बेख़बर और लाचार पलते रहे मां के गर्भ कोष में;
ङ) जन्म होते ही आश्रितता की प्रतिमा बन गये और सारा बचपन आश्रितता में ही बीत गया।

मृत्यु का दुःख :

१. जब अपने सामने अपना जहान् बिछुड़ने लगता है तब मन तड़प जाता है।
२. जब अपने सामने अपने प्रियगण से बिछुड़न होने लगता है तब महादुःख होता है।
३. जब जीवन भर की कमाई से साथ छोड़ना पड़ता है तब मन लोलुप्त नयन से देखता रह जाता है।
४. जिस शरीर से इतना प्रेम किया, वह ही आपका साथ छोड़ने लगता है।
५. जिस शरीर को अपना आप समझते रहे, वह ही आपसे नाता तोड़ने लगता है।
६. जिस शरीर को आपने अमर माना, वह ही मृत्यु को पाने लगता है।
७. जब पता लगता है कि आपके ही शरीर को जलाने का समय आ गया तो आप पर क्या बीतेगी, ज़रा सोच लो!
८. ज़रा सोचो तो, जिनके बिना तू आज जीवित भी नहीं रह सकता, वे या तो तुझे छोड़ जायेंगे या तुझे ज़बरदस्ती उनको छोड़ना पड़ेगा।
९. और फिर, जिनके लिए आज तू सब कर रहा है, वे :
   क) तुम्हारी मृत्यु के बाद तुम्हें भुला देंगे।
   ख) तुम्हारी मृत्यु के बाद तुम्हारे सिद्धान्त भी भूल जायेंगे।
   ग) तुम्हारी प्रिय चीज़ों को पल में आपस में बांट लेंगे।
   घ) वे तो वास्तव में तुझे ही फूंक आयेंगे।

इसका ध्यान धर और इसके दर्शन कर।

जरा :

फिर, बुढ़ापे का ध्यान कर!

१. जब तन जर जीर्ण हो जायेगा,

२. जब तन शक्तिहीन हो जायेगा,
३. जब तू अपने लिए कुछ नहीं कर सकेगा,
४. जब मन तो रुचि अरुचि से भरपूर होगा, किन्तु आपका तन आपका साथ निभाने से मानो इन्कार कर देगा,
५. जब पेट की पाचन शक्ति क्षीण हो जाएगी,
६. जब अंग भी शिथिल हो जायेंगे,
७. जब तू स्वयं लोगों पर आश्रित हो जायेगा,
८. जब तुम्हारी बुद्धि भी इतनी तीक्ष्ण नहीं रहेगी, पर तन से संग अभी होगा, तो तू दु:खी हो जायेगा।

व्याधि :

तन की विभिन्न बीमारियों का भी ध्यान कर। यह तन रोग ग्रसित भी हो जाता है। सिर में पीड़ा भी हो जाती है, शरीर में कैन्सर का रोग भी हो जाता है। सिर को चक्कर भी आने लगते हैं, अंग अंग दुखने लग जाते हैं, हड्डियां भी टूरट जाती है। चिकित्सालय में देख, वहां अनेकों प्रकार की व्याधियों से ग्रसित लोग हैं। यह सब बीमारियां तुम्हारे तन को भी हो सकती हैं।

ऐसे शरीर से क्या नाता लगाना जो इन सब दोषों का शिकार हो जाये, जो मृत्यु धर्मा हो, जो इतना धोखेबाज़ हो, जो हर पल आपको तंग ही करे ?

असक्तिरनभिष्वंङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. पुत्र, स्त्री, घर, धन आदि के प्रति अनासक्त हो और अधिकार रहित हो;
२. तथा इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में नित्य समचित्त रहो।

तत्त्व विस्तार :

देख! कहते हैं, अनासक्त हो तथा अनभिष्वङ्ग हो।

अनासक्त :

अर्थात् संग रहित हो जा, अनुराग रहित हो जा, प्रभाव रहित हो जा।

अनभिष्वङ्गः :

लोगों को प्रभावित करने के यत्न न कर, उन्हें बांधने के यत्न न कर। अत्यधिक अनुराग तथा संग भला नहीं होता। लोगों को अपनी मान्यताओं से बांधने के यत्न न कर, उन्हें आज़ाद रहने दे। उनके पंख न काट, उन्हें अपने से आज़ाद कर दे।

वह भी इन्सान हैं,
क) उन्हें बहुत दबाने का यत्न न कर।
ख) उनकी अपनी पसन्द है, उनकी पसन्द की इज़्ज़त कर।
ग) उनकी अपनी रुचि है, उनकी रुचि की इज़्ज़त कर।
घ) उनकी अपनी तमन्नायें हैं, उनकी

तमन्नाओं की इज़्ज़त कर।

जीवन में उनका लक्ष्य आपसे भिन्न हो सकता है। जीवन में उनका प्रयोजन आपसे भिन्न हो सकता है। जीवन में उनकी बुद्धि आपसे भिन्न हो सकती है। इसलिए कहते हैं, 'अनभिष्वङ्ग हो'।

नहीं तो कमल! सब पर आपका प्रभाव विपरीत हो जाता है। यानि,

१. प्रेम की जगह घृणा उत्पन्न हो जाती है।
२. मैत्री की जगह शत्रुता हो जाती है।
३. संयोग की जगह वियोग उत्पन्न हो जाता है।
४. इकरार की जगह इन्कार हो जाता है।
५. विनम्रता की जगह कठोरता उत्पन्न हो जाती है।

यानि, आप जो गुण अपने कुल में उत्पन्न करना चाहते हैं, संग के कारण उससे विपरीत गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

समचित्त :

फिर भगवान कहते हैं इष्ट अनिष्ट जो भी मिले, उसमें समचित्त रह। यानि,

१. श्रेय मिले या प्रेय मिले,
२. अनुकूल मिले या प्रतिकूल मिले,
३. आदरपूर्ण मिले या अपमानजनक मिले,
४. वांछित मिले या अवांछित मिले,
५. मंगलकर मिले या अमंगलकर मिले,
६. प्रिय मिले या अप्रिय मिले,
७. हितकर मिले या अहितकर मिले,

दोनों को पाकर समचित्त रहना सीख ले।

जो भी मिले तुझे जहान में, तू मुसकरा दे।

क) किसी को भी आकर्षित करने के यत्न न कर।
ख) किसी को भी प्रतिकर्षित करने के यत्न न कर।
ग) किसी को भी पराजित करने के यत्न न कर।
घ) किसी को भी प्रभावित करने के यत्न न कर।
ङ) न किसी पे प्रहार कर और न ही अपने रुचिकर विषय का प्रतिरक्षण करने के यत्न कर।

जो है सब ठीक है। किसी को बांध नहीं। सबको स्वतंत्र रहने दे।

और फिर सुन! तू तो साधक है,

क) तू तो भगवान में मन लगा रही है।
ख) तू तो अपने मन से आसक्ति छोड़ने के यत्न कर रही है।
ग) तू तो अपना मन भगवान को देने चली है।
घ) तू तो अपना तन भगवान को देने चली है।
ङ) तू तो अपनी बुद्धि भगवान को देने चली है।

तेरे लिये अनुकूल और प्रतिकूल क्या अर्थ रखते हैं ? जब तन भगवान को दे दिया तो जो मिला भगवान को मिला! जब तन भगवान का है, तो इष्ट अनिष्ट भगवान को मिला।

तू अपने तन पर से अपना अधिकार छोड़ दे।

दैवी गुण अभ्यास महत्त्व :

नन्हीं! समझना यह है कि यह सम्पूर्ण गुण साधक के लिए अनिवार्य क्यों हैं? जीवन में इन गुणों के अभ्यास से क्षेत्रज्ञ को कैसे जान सकेंगे?

नन्हूं! जीव का तनत्व भाव ही जीव को आत्मा से मानो दूर रखता है। जब जीव का तन से संग हो जाता है तब वह हर चीज़ को अपने तन के राही देखता है। तनत्व भाव का दृष्टिकोण जीव को अंधा कर देता है और उसमें मोह उत्पन्न कर देता है। शनै: शनै: जीव इतना अन्धा हो जाता है कि वह असत् को सत् और सत् को असत् समझने लगता है। फिर, उसे अपने तन से इतना प्रगाढ़ संग होता है कि वह एक जड़ तन के तद्रूप हुआ यह समझ ही नहीं सकता कि वह तन ही नहीं है।

तत्पश्चात् वह जीवन में जो करता है,

क) अपने तन की स्थापना के लिए करता है।

ख) अपने मन को रिझाने के लिये करता है।

ग) अपनी बुद्धि की स्थापना के लिए करता है।

तनत्व भाव रूपा अन्धेपन में वह अनेकों आसुरी गुण ग्रहण कर लेता है। यह आसुरी गुण उसे और भी ज़ोर से उसके तन के साथ बान्धते हैं। अब उसे अनात्म तन का त्याग करके आत्म तत्त्व में समाना है।

१. जो इन्सान कभी एक पल भी अपनी अहंकार स्वरूप 'मैं' के बिना न रहा हो, उसके लिए अनायास 'मैं' का अभाव कर देना कठिन है।
२. जो इन्सान जन्म जन्म से अपने लिए ही जीता रहा हो, उसके लिए 'मैं' को भूल जाना कठिन है।
३. जो इन्सान अपने सामने खड़े हुए लोगों को भी नहीं देख सकता, उसके लिए अव्यक्त आत्मा को जानना कठिन है।
४. जो इन्सान अपने तन का अभिमानी होगा, वह उसका त्याग कैसे कर पायेगा?
५. जो इन्सान तन को सर्वश्रेष्ठ मानता होगा, वह उसका त्याग कैसे कर पायेगा?
६. जो इन्सान औरों के लिए छोटे छोटे काम निष्काम भाव से नहीं कर सकेगा, वह सर्वभूत हितकर कैसे बन सकेगा?
७. जो इन्सान लोगों पर से अपने हक नहीं हटा पायेगा, वह अपने तन से अपना हक कैसे हटा सकेगा?
८. जो इन्सान दम्भ पूर्ण मिथ्या अभिमानी होगा, वह सत् को कैसे अपना सकेगा?
९. जो इन्सान अपने आचार्य के प्रति श्रद्धा नहीं रखेगा, वह आत्मा की बातें कैसे मान सकेगा?
१०. जो इन्सान शुभ अशुभ से घबरा जायेगा, वह तन को विधान के हवाले कैसे कर सकेगा?
११. नन्हूं! यदि व्यक्तिगत गुण ही नहीं आयेंगे तो वह समष्टिगत कैसे हो सकेंगे?

१२. यदि आप छोटी छोटी बातों में अपने को भूल नहीं सकोगे तो बड़ी बड़ी बातों में अपने आपको कैसे भूलोगे ?
१३. फिर, तनत्व भाव अभाव तो अपना नितान्त भुलाव है, यह कैसे हो सकेगा ?

नन्हीं! इस कारण इन गुणों का जीवन में अभ्यास अनिवार्य है। फिर, ये जितने गुण हैं, ये सब अहंकार को क्षीण करने वाले हैं। ये गुण अहंकार वर्धक नहीं है। ये गुण सम्पूर्ण जीवों को अनात्म की अपेक्षा करना सिखाते हैं। लोगों को जो पसन्द है, आप उन्हें दे देते हैं, और स्वयं अपने तनत्व भाव से उठते जाते हैं।

दैवी गुण - क्या और कैसे :

नन्हीं! गुण दैवी है या आसुरी, इसको जानने का एक सहज माप है। गुण हमेशा किसी अन्य व्यक्ति के सम्पर्क में प्रयोग करने से पहचाना जाता है। यदि वह गुण दूसरे के हित में हो तो वह सद्गुण है; यदि वह गुण दूसरे के हित में न हो तो वह दुर्गुण है।

व्यक्तिगत सद्गुण जब आपके निहित स्वभाव में अंकित हो जायें तब वह आपका सहज स्वभाव बन जाता है। फिर आप सम्पूर्ण भूतों के हितैषी बन जाते हैं और वह व्यक्तिगत सद्गुण समष्टिगत हो जाता है। तब यह दैवी गुण कहलाता है।

नन्हीं! गुण दैवी तब बनते हैं, जब आप तनत्व भाव को छोड़ देते हैं।

- 'मैं' रहित तन अलौकिक होता है।
- 'मैं' रहित तन दिव्य ही होता है।
- 'मैं' रहित तन में कर्त्ता कोई नहीं होता।
- 'मैं' रहित तन में भोक्ता कोई नहीं होता।
- 'मैं' रहित तन के गुण दिव्य ही होते हैं।
- 'मैं' रहित तन के गुण दैवी ही होते हैं।
- 'मैं' रहित तन दिव्य होते हुए भी अतीव साधारण होता है, क्योंकि 'मैं' रहित तन अपने आपको कभी भी स्थापित नहीं करता।
- उसकी मूर्खों में मूर्खता भी दैवी है।
- उसका ज्ञान भी दैवी है।
- उसकी लड़ाई भी दैवी है।
- उसका प्यार भी दैवी है। वह तो बेखुदी में जीता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मुझमें अनन्य योग,
२. अव्यभिचारिणी भक्ति,
३. एकान्त में रहने का अभ्यास,
४. (तथा) लोगों के समूह की अप्रतीति (होनी चाहिए)।

तत्त्व विस्तार :

देख कमल! अनन्य योग की कहते हैं।

योग :

१. मिलन को कहते हैं,
२. एकरूपता को कहते हैं,
३. संगम को कहते हैं,
४. मिश्रण को कहते हैं,
५. समता को कहते हैं।

भगवान से योग :

भगवान से योग क्या होगा ?

१. पूर्ण चित्त वृत्तियां एक ब्रह्म में टिक जायेंगी।
२. पूर्ण चित्त वृत्तियां एक सत् में टिक जायेंगी।
३. पूर्ण चित्त वृत्तियां कृष्ण में टिक जायेंगी।

भगवान ने हमारे स्तर पर नहीं आना, हमें उनके स्तर पर जाना है।

क) भगवान अखिल रूप ही हैं।
ख) वह तो करुणापूर्ण ही हैं।
ग) वह तो अखण्ड एक ही हैं।

साधक ने भगवान से योग करना है। भगवान को अपने स्तर पर लाने के प्रयत्न मत करो, बल्कि स्वयं भगवान के स्तर पर जाने के प्रयत्न करो।

इसका अर्थ पुनः समझ ले।

जीवन में भगवान के स्तर पर जाना :

१. जिन गुणों से भगवान पहचाने जाते हैं, उन्हीं गुणों को आप अपने में लाने के प्रयत्न करो।
२. जीवन में वही करो, जो आपकी जगह पर यदि भगवान होते तो वह करते।
३. भगवान से अपना संरक्षण न मांगो, जीवन में भगवान के गुणों का संरक्षण करो। अर्थात्,
   - अपनी वफ़ा मत छोड़िये, चाहे सारा ज़माना आपको दग़ा दे दे।
   - अपना प्रेम मत छोड़िये, चाहे सारा ज़माना आपको ठुकरा दे।
   - आप सबको क्षमा कीजिये, चाहे सारा ज़माना आप पर अत्याचार करे।
   - आप अपना सेवा भाव न छोड़िये, चाहे सारा ज़माना आपको ठुकरा दे॥
   - आप अपना करुणा भाव न छोड़िये, चाहे सारा ज़माना आप पर निर्दयता करे।
   - आप सबको सुख दीजिये, चाहे सारा ज़माना आपको दुःख ही दे।
४. जिन गुणों से भगवान पहचाने जाते हैं, उन गुणों से प्रीत बढ़ाईये।
५. जिन गुणों से भगवान पहचाने जाते हैं, उन गुणों को अपने जीवन का सार बनाईये।
६. साधक को तो भगवान के कुल का सदस्य बनना है।
७. साधक केवल अपने में ही नहीं बल्कि औरों में भी सत् गुणों का संरक्षण करता है।

भगवान का अपना जन्म भी तो साधुओं के संरक्षण के लिए होता है। साधु

तनो संरक्षण क्या चाहेंगे, वे तो तनत्व भाव ही छोड़ने के प्रयत्न कर रहे होते हैं। भगवान उनके साधुता विरुद्ध नियोजित करने वाले गुणों का नाश करते हैं तथा साधुता वर्धक गुणों का संरक्षण करते हैं।

नन्हूं! साधुता संरक्षण ही हर साधु और साधक का धर्म है।

यदि आप सच ही ज्ञान के अभिलाषी हैं, आपका अनन्य योग तो भगवान से होना चाहिये :

क) नन्हूं! निरन्तर भगवान का साक्षित्व ही आपको योग में सफलता दिला सकता है।
ख) भगवान के गुणों में श्रद्धा ही आप में भगवान के गुणों को पाल सकती है।
ग) भागवत् प्रेम ही आप में अगाध श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है।

यह सब तब ही हो सकता है यदि आप सच ही भगवान को चाहते हैं।

यानि यदि आप,

१. सच ही भगवान को प्राप्तव्य मानते हैं,
२. सच ही भगवान के गुणों को श्रेष्ठतम मानते हैं,
३. भगवान के गुणों को इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि आप अपने जीवन में लाना चाहते हैं,
४. जिन गुणों से आपको भगवान का प्रमाण मिला, वे आप स्वयं बनना चाहते हैं,
५. परम गुण चाकरी करना चाहते हैं,
६. क्षमा करना चाहते हैं,
७. करुणा करना चाहते हैं,
८. दूसरे को स्थापित करना चाहते हैं,
९. सच ही चाहते हैं कि भगवान आप में वास करें,
१०. सच ही चाहते हैं कि आपका सर्वस्व भगवान का हो जाये,
११. सच ही चाहते हैं कि आपके हाथ, पांव, आंखें, कान, ज़ुबान, सब भगवान के हो जायें,

फिर, योग हो जायेगा। क्योंकि, यदि श्रद्धा है तो भक्ति वहां है ही। भक्ति है तो तुम अपना सर्वस्व भगवान को देना ही चाहोगे।

तब पूजा और प्रार्थना का जो रूप होगा, उसे भी समझ ले।

क) तुम भगवान को तन देने चले हो।
ख) तुम भगवान को मन देने चले हो।
ग) तुम भगवान को बुद्धि देने चले हो।

यानि तुम देने चले हो, तुम्हें लेना कुछ नहीं है।

फिर आप भगवान से कहेंगे,

१. 'यह तन तेरा, यह तू ले ले, यह अब वही करे जो तू करता है।
२. ये हाथ तेरे, ये तू ले ले, ये वही करें, जो तू करता है।
३. ये नयन तेरे, ये तू ले ले, इन नयनों से अब प्रेम बहे।
४. यह मन भी अब तू ले ले, क्षमा करुणा से यह भरा रहे।
५. तेरी तरह मन मौन रहे, तेरी तरह यह झुका रहे।
६. तेरी तरह यह सब सहे, तेरी तरह यह कुछ न कहे।

७. निरपेक्ष रहे यह तेरी तरह, उदासीन रहे यह तेरी तरह।
८. अपने प्रति यह मौन रहे, पर प्रेम करे यह तेरी तरह।'

परिणाम रूप, जीवन में,
क) कर्म निष्काम ही होंगे,
ख) प्रार्थना निष्काम ही होगी,
ग) ज्ञान निष्काम हो ही जायेगा।
क्योंकि ये भक्त कुछ देने जाते हैं, लेने नहीं जाते। वे तो अपना सप्राण तन भगवान को दे देते हैं।

भक्त योगी की क्या कहें, वह तो भगवान को भी देने चला है! यानि वह कह रहा है :

'अपना तन, जो 'मैं' का था, वह आप ले लीजिये, क्योंकि वास्तव में वह आपका ही है, मैंने नाहक अपना लिया था इसे!' वह अपनी इस चोरी की नित्य क्षमा मांगता है। 'यह मन बुद्धि आपकी ही रचना है, आप ही इन्हें सम्भालिये और आप ही इनपे राज्य कीजिये। यह मन बुद्धि भी आप ही हैं। मैंने अपनी 'मैं' भर कर, इन्हें मिट्टी बना दिया है, आप अपना वापस ले लीजिये।'

'मैं' तो 'मैं' का अभाव मांग रही है। सो वह अपने को देने चली हैं, लेने नहीं। वह अपना मनो संरक्षण भी नहीं चाहती।

गर भक्ति सच्ची है, तो वह अव्यभिचारिणी ही होती है। भक्तिपूर्ण हृदय जब अपना तन मन बुद्धि भगवान पर लुटाने चला, तब उसे उस तन, मन, बुद्धि के लिए कुछ नहीं चाहिए। वह सब कुछ करते हुए भी अपना चित्त एक टक भगवान में ही लगाये रखता है।

विवक्तदेशसेवित्वम् :

ऐसा योगी 'अकेला' ही तो है। 'मैं' को मिटाने अकेले ही जाया करते हैं। पूर्ण वृत्ति समूह जब एक रूप हो जाती है तब 'एक' ही रह जाता है। उसका देश अकेला ही है, वह आन्तर लोक में जा बैठता है। वह तो निरन्तर परम नाम मग्न ही रहता है। वह तो एकान्त में ही रहता है क्योंकि वह अकेला ही एकाकी भाव में नित्य स्थित रहता है।

एक आन्तर ही एकान्त है, यानि सम्पूर्ण वृत्तियों का एक ही हो जाना एकान्त है। ठीक ही तो है! अनन्ययोगयुक्त, अव्यभिचारिणी भक्ति पूर्ण, महा शोरगुल पूर्ण संसार में रहता हुआ भी एकान्त वासी ही होता है।

'जन संसदि' के प्रति तो वह प्रगाढ़ निद्रा में सोया है, इसे ध्यान से समझ!
क) वह तो अपने प्रति प्रगाढ़ निद्रा में सोना चाहता है।
ख) वह तो अपनी ही 'मैं' की अन्त्येष्टि के मन्त्र गा रहा है।
ग) वह तो अपनी ही 'मैं' की अन्त्येष्टि के लिए ज्ञान की लकड़ियां जला रहा है।
घ) वह तो अपनी ही 'मैं' की अन्त्येष्टि के लिए भगवान की आरती ले रहा है।
ङ) वह तो अपनी ही 'मैं' को सुलाना चाह रहा है, वह जग से क्या चाहेगा ?

उसकी 'मैं' जब प्रगाढ़ निद्रा में सो जाती है, तब उसका तन जग को मिल जाता है, तब जग को मानो भगवान मिल जाता है।

कमला! ऐसे की स्थिति क्या समझायें! वह है भी है, पर है भी नहीं।

'अरतिःजन संसदि' को फिर से समझ ले। वह :

१. बड़े बड़े जन समूहों में जाकर प्रतिष्ठित नहीं होना चाहता।
२. बड़े बड़े जन समूहों में जाकर अपना ज्ञान बखान नहीं करता।
३. बड़े बड़े जन समूहों में जाकर मान्वित नहीं होना चाहता।

वह तो आत्मा में सन्तुष्ट है।

किन्तु, यदि देखा जाये तो वह सबको आत्मा जानता है। इस नाते सम्पूर्ण जन समूह में रहता हुआ भी वह अकेला ही होता है। इस नाते वह सम्पूर्ण जन समूह को भी एकान्त ही मानता है। मनो झमेले ही उसके लिए जन समूह होते हैं। मनो झमेलों के अभाव के कारण वह एकान्त सेवी है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

क्षेत्रज्ञ को जानने के साधन बताते हुए भगवान कहने लगे कि देख तुझे बताऊं!

शब्दार्थ :

१. अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति,
२. तत्त्व रूप ज्ञान के नित्य दर्शन,
३. यह सब ज्ञान है।
४. जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! अध्यात्म ज्ञान स्थिति को प्रथम समझ लो:

१. ब्रह्म स्वभाव में नित्य स्थिति,
२. ब्रह्म के गुणों में नित्य स्थिति,
३. ब्रह्म के भाव में नित्य स्थिति,
४. ब्रह्म के ज्ञान में नित्य स्थिति,
५. ज्ञानी की आत्मा में एक रूपता,
६. तनत्व भाव के अभाव का अभ्यास,
७. अनात्म का त्याग,
८. जीवन में आत्मवान् के दृष्टिकोण से जीना,
९. 'मैं' का निरन्तर परम आत्म में एक रूप होने का अभ्यास, ही अध्यात्म में स्थिति है।

यह अभ्यास ही एक दिन आपको स्वरूप में स्थित करवा देगा। प्रेम का अभ्यास भी प्रेम ही है, यह अभ्यास करते करते आप प्रेम स्वरूप हो सकते हैं। तनत्व भाव के अभाव का अभ्यास भी अपने तन

के प्रति मौन होने का अभ्यास है। अपने प्रति नितान्त मौन होने के नाते योगी गण:

१. निर्विकार होते हैं।
२. उदासीन होते हैं।
३. समचित्त होते हैं।
४. निर्दोष होते हैं।
५. मन रहित होते हैं।
६. नित्य तृप्ति स्वरूप होते हैं।
७. अकर्त्ता होते हैं।
८. अभोक्ता होते हैं।
९. प्रकृति के गुणों से सर्वथा अतीत होते हैं।

वे निरन्तर आत्मा में चित्त धरने वाले अपने को तन नहीं मानते। जो भी सच्चा साधक होगा, वह उपरि कथित गुणों को अपने में लाना चाहेगा ही और निरन्तर उन्हीं गुणों को पाने के प्रयत्न करेगा। उनका स्वभाव तो देख ले।

जो ऊपर कहा है वह स्वरूप है। 'अध्यात्म' स्वरूप को नहीं कहते, स्वरूप उपलब्धि की विधि को कहते हैं।

भगवान कहकर आये हैं, 'अध्यात्म ब्रह्म के स्वभाव को कहते हैं।'

ब्रह्म का स्वभाव अपने जीवन में लाना ही अध्यात्म का अनुसरण है। उसके परिणाम में स्वरूप स्थित हो जाओगे।

१. लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है,
२. लक्ष्य ब्रह्म में समाना है,
३. लक्ष्य ब्रह्म से योग है,
४. लक्ष्य ब्रह्म से एकरूपता है,
५. लक्ष्य 'मैं' की जगह राम को स्थापित करना है,
६. लक्ष्य आत्मा में विलीन होना है।

अध्यात्म :

राम तब मिलते हैं,

क) जब तन उन्हें दे दो।
ख) जब तन का स्वभाव राम समान हो जाये।
ग) जब तन का जीवन राम समान हो जाये।
घ) जब मन का दृष्टिकोण राम समान हो जाये।
ङ) जब दूसरे के लिए वह करो जो राम करते।

ब्रह्म ने सृष्टि रची और अपना स्वभाव दर्शा दिया। राम स्वभाव देख लो तो ब्रह्म स्वभाव भी समझ आ जायेगा। राम नित्य,

१. निर्मम, निरहंकार हैं,
२. चाह रहित, निष्काम हैं,
३. इष्ट अनिष्ट में निरपेक्ष हैं,
४. सर्वभूत हितकर हैं,
५. निवृत्ति प्रवृत्ति के प्रति उदासीन हैं,
६. संकल्प, विकल्प रहित हैं,
७. आशा, तृष्णा रहित हैं,
८. निर्दोष, निर्द्वन्द्व हैं।

अब उनके जीवन को देखो तो,

क) उनका जीवन नित्य कर्त्तव्य परायण ही होता है।
ख) उनका जीवन दूसरे के लिए ही होता है।
ग) उनका जीवन यज्ञमय ही होता है।
घ) वह दैवी सम्पद् नित्य लुटाते हैं।

राम को देख! वह,
१. नित्य करुणा बहाते हैं।
२. क्षमा की इक मूर्त हैं।
३. दु:ख विमोचक हैं।
४. प्रेम की प्रतिमा आप हैं।
५. न्यायकारक न्यायाधीश आप हैं।
६. अहं रहित सर्वसेवक आप हैं।
७. बिन अधिकार के दाता आप हैं
८. द्वेष रहित हैं।
९. शत्रु के प्रति भी मैत्री पूर्ण हैं।

तत्त्व ज्ञान अर्थ दर्शन :

यह जो राम का स्वभाव कहा, यही तो अध्यात्म है। परम प्रमाण रूपा गुण दर्शन ही तत्त्व ज्ञान के दर्शन हैं। राम तत्त्व दर्शन तो राम गुण दर्शन हैं, राम स्वभाव दर्शन हैं, राम जीवन दर्शन हैं।

तत्त्व ज्ञान अर्थ दर्शन पुन: समझ ले!

क) नन्हूं लाडली! भागवद् गुण दर्शन ही भागवद् दर्शन है।
ख) भागवद् गुण संरक्षण ही भागवद् संरक्षण है।
ग) भागवद् गुण अपने जीवन में लाना ही सर्वश्रेष्ठ भागवद् भजन है
घ) भागवद् गुणों को समझना ही भगवान को समझना है।
ङ) भागवद् गुणों का वास्तविक दर्शन आप अपने आप में कर सकते हैं।
च) भागवद् गुण, जो आपके तन राही बहते हैं, उन्हीं की राह भगवान का अनुभव भी हो सकता है।

साधक को चाहिए कि निरन्तर भागवद् गुण पूर्ण लोगों की चाकरी करे और अपने आप में भी वही गुण उत्पन्न करे।

सगुण ब्रह्म के गुण आप में गर आ जायें तब आप निर्गुण ब्रह्म को भी जान सकेंगे और उसमें समा सकेंगे।

- तत्त्व ज्ञान अर्थ दर्शन सगुण ब्रह्म के ही दर्शन हैं।
- सबमें आत्मा के दर्शन भी तत्त्व ज्ञान दर्शन हैं।
- सबको वासुदेव ही जानकर देखना तत्त्व ज्ञान दर्शन है।

नन्हीं! भगवान कहते हैं अध्यात्म को समझना, आध्यात्मिक गुणों को देखना और आध्यात्मिक गुणों को अपने जीवन में उतारना ही केवल मात्र ज्ञान है, अन्य सब कुछ अज्ञान है। फिर यदि इससे आगे बढ़ें, तो यह समझ लो कि, केवल प्राप्तव्य और ज्ञातव्य वही है।

१. जो आत्मवान् बना दे,
२. जो देहात्म बुद्धि का अभाव करा दे,
३. जो आत्मा से योग करवा दे,
४. जो इन्सान को भगवान बना दे,
५. जो स्वरूप में स्थित करवा दे,

वही ज्ञान है, बाकी सब कुछ अज्ञान है।

यदि जीवन में कुछ करना है तो,

क) मिथ्यात्व के मिटाव के यत्न कर।
ख) मिथ्या अहंकार के मिटाव के यत्न कर।
ग) ज्ञान से अज्ञान को मिटाने के यत्न कर।
घ) तनो तद्रूपता को मिटाकर अपने

स्वरूप में स्थित होने के यत्न कर।

केवल यही ज्ञातव्य है; अन्य सब कुछ अज्ञानमय, अज्ञान का कारण, अज्ञान वर्धक है। जब जीव अध्यात्म में नित्य स्थित होकर तत्त्व ज्ञान के दर्शन करता है तो उसे सब आत्म स्वरूप ही दिखते हैं; यानि, सब आत्मा ही है, वह ऐसा देखता है।

नन्हूं! पृथकता गुणों की होती है, जो केवल जड़ हैं। आत्म रूप में एकत्व ही होता है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

अब भगवान ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का वर्णन करते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो जानने योग्य है,
२. तथा जिसे जानकर (जीव) अमृत को प्राप्त होता है,
३. अब मैं उसके बारे में कहूंगा,
४. वह आदि रहित परम पुरुष,
५. न सत् न असत् कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि ज्ञातव्य तो ब्रह्म हैं, किन्तु न वह सत् हैं न असत्। वह हैं, पर हैं क्या, यह कहना असम्भव है।

क्योंकि :

१. वह कथनीय नहीं हैं।
२. वह अप्रत्यक्ष हैं।
३. वह अप्रतिम हैं।
४. वह अनुपम हैं।
५. वह अतुल्य हैं।
६. वह असीम हैं।
७. वह अचिन्त्य हैं।
८. वह अतीन्द्रिय हैं।
९. वह अग्राह्य हैं।

ऐसे को कैसे जानें, जो,

क) निराकार हैं, पर आकार पूर्ण भी हैं ?
ख) निर्गुणिया हैं, पर अखिलगुणी भी हैं ?
ग) हर इन्द्रिय आप हैं, पर इन्द्रिय रहित हैं ?
घ) काल रहित, काल पति हैं, फिर तन रूप में काल बधित हैं ?
ङ) अखण्ड आप हैं, पर खण्डित भी हो जाता है ? किसे सत् कहें किसे असत् कहें, वह तो सत् असत् से परे हैं।
च) स्वरूप मौन है, पर हर वाक् भी वह ही है, ऐसे का मौन कौन समझ सकता है ?

उसके साकार रूप को असत् कहूं या उसके निराकार रूप को सत् कहूं ? वह तो साकार भी हैं और निराकार भी हैं, पर कुछ भी कहे नहीं बनता।

जब वह सबके तद्रूप हो जाये, क्या

तब उसे सत् कहूं ? या जो दूर रह कर मौन रहे, उस अंश को सत् कहूं ?

देखो न! जीवन में;

१. दूसरे के तद्रूप होकर सगुण ब्रह्म वर्तते हैं।
२. दूसरे के अनुरूप होकर सगुण ब्रह्म वर्तते हैं।
३. भगवान ने स्वयं कहा कि वह लोगों की मान्यता नहीं तोड़ते।
४. ज्ञानी गण अज्ञानियों के साथ अज्ञानियों जैसा व्यवहार करते हैं।

तो क्या उनके व्यवहार को असत्पूर्ण ही कहें ?

नन्हूं! यह तन वास्तव में असत् हीं है। इस तन का हर कर्म असत् ही होता है। अभी भगवान ने कहा, 'केवल अध्यात्म ज्ञान ही ज्ञान है।' नन्हूं! अध्यात्म ज्ञान सत् कह लो। सृष्टि में अन्य जितनी विद्यायें हैं, उन्हें असत् कह लो।

इसे दूसरे दृष्टिकोण से समझ लो। ज्ञान की आवश्यकता तब तक ही है, जब तक आप स्वरूप में स्थित नहीं हुए। जब आप स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तब सम्पूर्ण ज्ञान निरर्थक हो जाता है।

नन्हूं! जो आत्मा में स्थित हो जाता है, उसके लिए मानो ज्ञान तथा सम्पूर्ण गुण निरर्थक हो जाते हैं! उसके लिए तो अपना तन भी असत् हो जाता है, अपने गुण भी असत् हो जाते हैं। उसका तन जो भी कर्म करता है, वह जीव कोण से सत् पूर्ण कहलाता है, किन्तु सत् या असत् उसको लागू नहीं होता। वह तो सत् असत् से परे है, वह आत्मा है। वह ही जानने योग्य है, उसे जान कर ही परम पद को पाते हैं।

- जीव यदि सत् का अनुसरण करे तो वह असत् से दूर हो सकता है।
- जीव यदि ज्ञान का अनुसरण करे तो वह अज्ञान से दूर हो सकता है।
- जीव यदि तनत्व भाव के त्याग का अभ्यास करे तो वह तनत्व भाव से परे हो सकता है।

सत् पथ :

जीव कोण से,

क) श्रेय पथ को सत् पथ कह लो।
ख) उत्तरायण की ओर ले जाने वाले पथ को सत् पथ कह लो।
ग) शुक्ल पक्ष की ओर ले जाने वाले पथ को सत् पथ कह लो।
घ) परम गुण उत्पन्न करने वाले पथ को सत् पथ कह लो।
ङ) आत्मा से योग कराने वाले पथ को सत् पथ कह लो।

भगवान यहां कहते हैं कि आत्मा तो आदि रहित है, परब्रह्म स्वरूप सत् असत् से परे है। आत्मा नित्य निर्विकार अनिर्वचनीय, अप्रमेय ही है।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

अब फिर भगवान उस अकथनीय का निरूपण करते हैं :

शब्दार्थ :

१. वह सब ओर हाथ पैर वाला;
२. सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला;
३. सब ओर श्रोत्र वाला है;
४. क्योंकि वह पूर्ण संसार को आवृत्त किये हुए है।

तत्त्व विस्तार :

वैश्वानर रूप में

क) सम्पूर्ण मुख उसी के हैं।
ख) सम्पूर्ण कर उसी के हैं।
ग) सम्पूर्ण नेत्र उसी के हैं।
घ) सम्पूर्ण सिर उसी के हैं।
ङ) सम्पूर्ण श्रोत्र उसी के हैं।
च) सम्पूर्ण पाद उसी के हैं।

- इन सबका आधार वह ही तो है।
- इन सबमें प्रवृत्त वह ही तो है।
- इन सबमें प्रतिष्ठित वह ही तो है।
- इन सबका अधिष्ठान वह ही तो है।

यदि इसे दूसरे दृष्टिकोण से कहें तो समष्टिगत रूप में,

१. धरती ही उसके पाद हैं,
२. सूर्य ही उसके नेत्र हैं,
३. वायु ही उसके श्रोत्र हैं,
४. प्राकृतिक त्रिगुणात्मिका शक्ति ही उसके कर हैं,
५. चेतना ही उसका सीस है, तथा
६. आकाश ही उसका मुख है।

व्यक्तिगत रूप से तो जीव जहां भी है, वह उस वैश्वानर का ही रूप है। जो है, सब वासुदेव ही है। हर जीव के तन, मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सब उसी के हैं। वह आत्मा, परम क्षेत्रज्ञ, सर्वव्यापक है और अखिल साक्षी है। वह निराकार होते हुए भी अखिल रूप है।

नन्हूं! इसे पुनः स्वप्न के दृष्टांत से समझ ले! ज्यों सम्पूर्ण स्वप्न का संसार द्रष्टा के अतिरिक्त कुछ नहीं होता,उसका सम्पूर्ण दृष्य केवल स्वप्न द्रष्टा है। ज्यों सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि में केवल द्रष्टा ही सर्वव्यापक होता है, त्यों सम्पूर्ण सृष्टि उस आत्मा में ही स्थित है। त्यों, सम्पूर्ण सृष्टि के कर्म, दर्शन, वाक्, श्रवण भी उसी के अन्तर्गत हो रहे हैं। ज्यों स्वप्न सृष्टि में स्वप्न द्रष्टा ही होता है, परन्तु स्वप्न द्रष्टा स्वप्न सृष्टि नहीं होता; इसी तरह पूर्ण वही है और वह कुछ भी नहीं है। पूर्ण में वह ओत् प्रोत् है, वह सब कुछ है किन्तु वह कुछ नहीं है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

भगवान यहां सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म की एकता का निरूपण कर रहे हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. उसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुणों का आभास है,
२. (परन्तु वह वास्तव में) सब इन्द्रियों से रहित है,
३. (तथा) आसक्ति रहित और निर्गुण है,
४. (ऐसा होते हुए भी), वह सबको धारण पोषण करने वाला,
५. और गुणों को भोगने वाला है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! अभी भगवान ने कहा कि वह अखिल इन्द्रिय हैं। अब कह रहे हैं कि वह सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाले हैं किन्तु वह इन्द्रिय रहित हैं।

स्वप्न द्रष्टा के दृष्टान्त से समतुलना करके समझ कि सम्पूर्ण इन्द्रियां उन्हीं की सत्ता में काम करती हैं। इन्द्रियों का आधार वह आप ही हैं। उस पूर्ण की पूर्णता में अखिल इन्द्रिय भी वह आप ही हैं, किन्तु वह आत्मा, इन्द्रिय रहित है।

क) इन्द्रिय पति तो वह है,
ख) अखिल इन्द्रिय तो वह है,
ग) अखिल शक्ति तो वह है,
किन्तु इन्द्रिय वह आप नहीं है।

अखिल इन्द्रियां जिसे ग्रहण करती हैं, वह उस सब को जानता है। चाहे वह स्वयं ही अखिल रूप धरता है, किन्तु नन्हूं, वे रूप वह आप नहीं है। ज्यों स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा के सिवा कुछ भी नहीं होता, त्यों संसार में ब्रह्म तत्त्व के सिवा कुछ भी नहीं होता। ज्यों स्वप्न संसार में सब कुछ स्वप्न द्रष्टा होते हुए भी सब कुछ स्वप्न ही है, द्रष्टा नहीं, त्यों ही संसार में सब कुछ ब्रह्म होते हुए भी संसार ब्रह्म नहीं है।

फिर भगवान कहते हैं कि वह असंग है यानि, संग रहित होते हुए भी सबका भरण कर्त्ता है। यानि, नित्य निरासक्त होते हुए भी वह :

१. पूर्ण सृष्टि की रचना करते हैं,
२. पूर्ण सृष्टि का पालन करते हैं,
३. पूर्ण सृष्टि का नियमन करते हैं,
४. पूर्ण सृष्टि को धारण करते हैं,
५. पूर्ण सृष्टि का ईषण करने वाले हैं,
६. पूर्ण सृष्टि का आधार भूत हैं।

नन्हीं! भगवान झुके हुए के सुहृद् और सबका काम करने वाले होते हुए भी,
क) किसी से कुछ नहीं चाहते।
ख) बिन प्रयोजन सब कुछ करते हैं।
ग) अपने किसी कर्म का भी फल नहीं चाहते।

जीव उन्हें अपनायें या ठुकरायें, वह

फिर भी उनके काम करते हैं। जीव उन्हें ध्यायें या न ध्यायें, वह फिर भी उन्हें सब कुछ देते हैं। वह निर्गुण और अखिल गुण भोक्ता भी हैं, यानि :

१. वह गुणों से सर्वथा अतीत हैं।
२. वह गुणों से सर्वथा परे हैं।
३. वह गुणों से सर्वथा अप्रभावित हैं।
४. वह गुणों से सर्वथा निर्लिप्त हैं।

नन्हीं! वह नित्य निर्गुण होते हुए भी अखिल गुण पूर्ण हैं, अखिल पति भी हैं, और अखिल गुण भोक्ता भी हैं।

नन्हीं! सम्पूर्ण गुणों का खिलवाड़ भी उसी में हो रहा है। ब्रह्म सब का साक्षी है, किन्तु सबसे सर्वथा अतीत भी है। प्रकृति के सम्बन्ध से वह अखिल भोक्ता भी है और नित्य अभोक्ता भी है।

नन्हीं! वह ब्रह्म अखिल उपाधियों युक्त होता हुआ भी, उपाधि रहित है। स्वप्न, स्वप्न द्रष्टा का तो है, किन्तु स्वप्न द्रष्टा स्वप्न नहीं है। स्वप्न का आधार स्वप्न द्रष्टा तो है, किन्तु स्वप्न द्रष्टा स्वप्न नहीं है। स्वप्न नट की उपाधियां स्वप्न द्रष्टा पर आरोपित करना मूर्खता होगी। स्वप्न नट का आधार स्वप्न द्रष्टा स्वयं है, इस नाते स्वप्न के सम्पूर्ण भोगों का भोक्ता वह स्वयं है, किन्तु स्वप्न से उसका संग न होने के कारण वह नित्य अभोक्ता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

नन्हूं! आत्मा की अखण्डता दर्शाते हुए भगवान पुनः कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. वह भूतों के अन्दर भी है और बाहर भी है,
२. और वह चर अचर रूप भी है,
३. सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है,
४. तथा अति समीप में और दूर में भी वही स्थित है।

तत्त्व विस्तार :

आत्मा का निरूपण करते हुए भगवान कहते हैं कि वह हर रूप में व्यापक है। यानि,

क) अखिल रूप धारण किये हुए वह आप ही है।
ख) चर अचर यानि जड़ चेतन सब वह आप ही है।
ग) चर अचर के भीतर तथा बाहर वह स्वयं ओत प्रोत है।
घ) कहीं एक कण भी ऐसा नहीं है जहां क्षेत्रज्ञ नहीं है।

फिर वह कहते हैं कि अति सूक्ष्म होने के नाते,

१. वह अविज्ञेय हैं।

२. वह अचिन्त्य रूप हैं।
३. वह अतीन्द्रिय हैं।
नन्हूं!
- वह तो अप्रतिम, अनुपम तथा अतुल्य आप हैं।
- वह तो अविदित, अप्रत्यक्ष आप हैं।
- वह तो वर्णनातीत, नित्य अव्यक्त, अप्रकट आप हैं।

वह अति समीप हैं :

क) वह अपने आन्तर में होने के नाते अति समीप हैं।
ख) वह अपने हर अंग में होने के नाते अति समीप हैं।
ग) वह अपने ही मन तथा बुद्धि में होने के नाते अति समीप हैं।
घ) वह अपने हृदय वासी होने के नाते अति समीप है।
ङ) वह सबका ही स्वरूप होने के नाते अति समीप हैं।

वह अति दूर हैं :

किन्तु,
१. जो उन्हें न जान सकें,
२. जो उन्हें न मान सकें,
३. जो अश्रद्धालु लोग हैं,
४. जो अज्ञानी लोग हैं,
उनके लिए वह अति दूर हैं।

नन्हूं! यह 'दूर' और 'समीप' की बात जीव के दृष्टिकोण से कह रहे हैं। नन्हूं! आत्मा अपना ही स्वरूप है, आत्मा अपना आप ही है, किन्तु :

क) देहात्म बुद्धि के कारण जीव विभ्रान्त हो गये हैं और अपने ही स्वरूप से बिछुड़ गये हैं।
ख) नाम रूप से संग के कारण जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचानते।
ग) गुण तथा व्यवहारिक प्रभावों के साथ संग होने के कारण जीव अपने स्वरूप पर नाहक अज्ञानपूर्ण मल चढ़ाता जाता है, इस कारण वह अपने ही स्वरूप को भूल गया है। आत्मा या आपका स्वरूप आपसे दूर नहीं है। वह तो 'आप' ही हो, किन्तु आप अपनी उपाधियों से संग के कारण, अपने आप से बहुत दूर हो।

१. आपने अपने आपको अपने आप से आप ही दूर किया है।
२. आपने अपने आप से आप ही ज़्यादती की है।
३. आपने अपने आप से आप ही बेवफ़ाई की है।
४. आपने अपने आत्म स्वरूप को आप ही मानो अपने से दूर कर दिया है।

भगवान जो अपनी बातें करते हैं, वास्तव में वह आपकी ही बातें हैं। वास्तव में भगवान यहां भी जो कह रहे हैं, आप ही के विषय में कह रहे हैं, यह तो आप ही के स्वरूप की व्याख्या है।

कुछ पल के लिए अपने नाम रूप की उपाधियों से नाता तोड़ कर देखो, तो शायद यह राज़ समझ आ जाये।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तिमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

परमात्मा के सर्व व्यापी स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. और वह सब प्राणियों में,
२. अविभक्त होने पर भी,
३. विभक्त के समान स्थित है,
४. वह ज्ञेय सब भूतों का भर्त्ता, संहार कर्त्ता और उत्पत्ति कर्त्ता है।

तत्त्व विस्तार :

क) वह अखण्ड, खण्डित सा हो जाता है।
ख) अविभक्त विभक्त सा दर्शाता है।
ग) पूर्ण एक जो आप है, वह विश्व रूप धरे तो विभिन्न रूप दर्शाता है।
घ) उत्पत्ति, स्थिति, लय कर्त्ता वह आप है।
ङ) अपने में अपने आप से आप ही हर रूप धरने वाला वह आप है।
च) अपने से उत्पन्न, अपने आप में स्थित, फिर आप ही लय हो जाने वाला वह आप है।
छ) ऐसे को कैसे समझें, जो सब कुछ आप ही है ?

याद रहे वह कह चुके हैं कि सत् असत् वह आप हैं।

देख मेरी जान! ज्यों स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा, स्वप्न दृष्टि और स्वप्न दर्शन में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि :

१. सम्पूर्ण स्वप्न नट स्वप्न द्रष्टा ही हैं।
२. स्वप्न में सम्पूर्ण जड़ चेतन स्वप्न द्रष्टा ही हैं।
३. स्वप्न में ध्वनि, वाक्, क्रिया सब कुछ द्रष्टा आप ही हैं।
४. स्वप्न में नाम रूप सब स्वप्न द्रष्टा आप ही है।
५. स्वप्न में आधार, अधिष्ठान केवल द्रष्टा ही है। स्वप्न में विभिन्न स्वप्न नटों की मन बुद्धि, केवल द्रष्टा ही है।
६. स्वप्न में स्वप्न नट का स्वभाव, भाव, सब केवल द्रष्टा ही है।
७. स्वप्न में स्वप्न नट की हर वृत्ति केवल द्रष्टा ही है।
८. स्वप्न का लय स्थान भी वह द्रष्टा ही है, त्यों जग का एक आधार ब्रह्म ही हैं।

द्रष्टा का पूर्ण स्वप्न द्रष्टा को विभाजित नहीं कर सकता। द्रष्टा में पूर्ण रचना होने पर भी द्रष्टा पूर्ण ही रहता है। वह विभाजित सा दिखता है, वास्तव में वह विभाजित नहीं होता है; उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि की रचना होने पर भी ब्रह्म विभाजित नहीं होते।

ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

अब परमात्मा का प्रकाशमय स्वरूप वर्णन करते हैं :

शब्दार्थ :

१. वह पूर्ण ज्योति की भी ज्योति हैं,
२. तम रूप अन्धकार से परे कहे जाते हैं,
३. वह ज्ञान और ज्ञेय हैं और ज्ञान से जानने योग्य हैं
४. और सबके हृदय में स्थित हैं।

तत्त्व विस्तार :

क) हर ज्योति में ज्योति उसकी है, ज्योति स्वरूप वह आप है।
ख) अध्यात्म में जो प्रकाश है, वह प्रकाश स्वरूप वह आप है।
ग) उससे ज्योति पाकर के सत् दीदायमान होता है।
घ) उससे ज्योति पाकर के असत् भी प्रकाशित होता है।

अंधकार का वहां पे नाम नहीं है। वह जो भी है प्रकाश ही है, अध्यात्म ही है, ज्योति ही है।

ज्ञान वह है जो अभी अभी कहकर आये हैं :

१. परम स्वभाव ही ज्ञान है।
२. अहं रहितता ही ज्ञान है।
३. अदम्भ, अहिंसा ही ज्ञान है।
४. क्षमा, आर्जवता ही ज्ञान है।
५. निरासक्ति, समचित्तता ही ज्ञान है।
६. वैराग्य ही तो ज्ञान है।
७. अनन्य योगपूर्ण भक्ति ही तो ज्ञान है।
८. अध्यात्म ज्ञान ही तो ज्ञान है।
९. जीवन में परम सुख का आवाहन ही ज्ञान है, इत्यादि।

नन्हूं! यह ज्ञान जब जीवन में आये, तब कुछ कुछ ज्ञेय समझ आयेगा। भाई! ज्ञेय ज्ञान गम्य है, पर ज्ञान क्या है पहले यह समझ ले। यहां शब्द ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा :

क) 'झुकाव' शब्द ज्ञान नहीं, झुक जाना ज्ञान है।
ख) 'क्षमा' शब्द ज्ञान नहीं, क्षमा करना ज्ञान है।
ग) प्रेम का शाब्दिक प्रवाह ज्ञान नहीं, प्रेम करना ज्ञान है।
घ) ज्ञान की चर्चा ज्ञान नहीं; ज्ञान वह होता है जो आपको ज्ञान की प्रतिमा बना दे।
ङ) अध्यात्म तो जीवन के प्रमाण से प्रमाणित होता है।

नन्हूं! जितना ज्ञान आपके जीवन में रूप धर ले, बस उतना ही ज्ञान आपको आता है। जो ज्ञान आपको केवल शब्द मात्र आता है, उसे अज्ञान ही मानना चाहिए। नन्हीं! जो ज्ञान आपके जीवन में न आये,

वह निष्प्राण ही होता है। ज्ञान को सप्राण आप अपने प्राणों से ही कर सकते हैं, अपना सप्राण तन देकर ही कर सकते हैं। यदि ज्ञान सप्राण हो जाये तो जीवन परम में स्थित हो सकता है, आत्मा में स्थित हो सकता है। फिर जीवन में अनात्मा का त्याग हो ही जायेगा।

इस कारण भगवान यहां कहते हैं कि ज्ञान रूप साधनों से वह क्षेत्रज्ञ जाना जा सकता है। फिर कहते हैं कि वह 'क्षेत्रज्ञ' हृदय में स्थित है।

हृदय :

१. हृदय ही आत्मा तथा परमात्मा की उपलब्धि का स्थान माना जाता है।
२. हृदय मन बुद्धि से परे का स्थान है।
३. हृदय निरन्तर मौन का स्थान है।
४. हृदय में पहुंचने के लिए, पहले जीव को अपने मन तथा बुद्धि को शान्त करना ही होगा।
५. हृदय में पहुंचने के लिए जीव को पहले अपने चित्त को शुद्ध करना ही होगा।
६. हृदय में सोचने की शक्ति नहीं होती।
७. हृदय में 'मैं' की कोई जगह नहीं होती।
८. हृदय में दोष दर्शन की शक्ति नहीं होती।
९. हृदय में आरोपन की शक्ति नहीं होती।
१०. हृदय में गुण गुमान की शक्ति नहीं होती।
११. हृदय में अभिमान की शक्ति नहीं होती।
१२. हृदय में प्रतिद्वन्द्व की शक्ति नहीं होती।
१३. हृदय में राग द्वेष की शक्ति नहीं होती।

नन्हीं! हृदय आत्मा का मौन निवास स्थान माना जाता है। भगवान कहते हैं कि आत्मा सबके हृदय में स्थित है।

नन्हीं! आत्म योग चाहुक याचिका! जो शाब्दिक परिभाषाएं तूने पाई हैं,

क) उन्हें जीवन में उतार लेना ही ज्ञान है।
ख) उनकी प्रतिमा बन जाना ही ज्ञान है।
ग) यदि तुम्हारा तन उनकी प्रतिमा बन जाये तब वह ज्ञान सप्राण हो जाता है, क्योंकि आपका तन सप्राण है; वरना, यह ज्ञान केवल कल्पना मात्र रह जाता है।

इस कारण भगवान पहले बता आये हैं कि ज्ञान क्या है और अब कहते हैं कि उस 'ज्ञेय' को आप ज्ञान से जान सकते हैं। बिन उस ज्ञान के ज्ञेय को जानना असम्भव है। यानि, बिन उस ज्ञान की प्रतिमा बने, उस ज्ञेय को जानना असम्भव है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

भगवान कहते हैं, क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को तत्त्व से जानो तो आत्मा को जान सकते हो।

शब्दार्थ :

१. इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहा गया है,
२. मेरा भक्त इसको जानकर,
३. मेरे भाव के योग्य होकर,
४. मुझे (मेरे स्वरूप को) पाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि देख! जो यह जान ले कि,

क) यह तन ही क्षेत्र है,
ख) इस तन राही अध्यात्म रूप गुण बहाव ही ज्ञान है;

इसके परिणाम स्वरूप वह परम स्वरूप ज्ञेय को जान लेता है और परम स्वरूप को पा लेता है।

भगवान कहते हैं :

१. गर कोई मेरा सच्चा भक्त हुआ तो इस पल, अभी से, इस शब्द ज्ञान को अपने जीवन में प्रमाणित करके, मुझे ही पा लेगा।
२. गर वह सच ही मुझ पर सब कुछ समर्पित करने को तैयार है तो जीवन में मुझे पा ही लेगा।
३. जो गुण आपको मुझमें भाते हैं, वे गुण अपने में ले आओ।
४. जो गुण आपको मुझमें भाते हैं, उन गुणों को अपने तन राही बहने दो।
५. जो आपको देखे, आपको मिले, वह स्वतः ही मेरे गुणों का अनुभव कर पायेगा।
६. भाई! मेरा नाम ही प्रेम है,
७. मेरा नाम ही प्रकाश है,
८. मेरा नाम ही आनन्द है,
९. मेरा नाम ही संतोष है,
१०. मेरा नाम ही अमृत है,
११. मेरा नाम ही करुणा है,
१२. मेरा नाम ही चेतना है,
१३. मेरा नाम ही क्षमा है।

गर तुझ में से ये गुण बह गये, तो मेरा नाम बह जायेगा; वरना, तू लाख मेरा नाम ले, मेरा नाम तू नहीं ले पायेगा।

जीवन ही नाम बस मेरा है,
यह गुण प्रमाण है नाम का।
फिर तेरा नाम ही मेरा है,
तेरा नाम ही है भगवान का॥

नन्हूं! **'भगवान के भाव के योग्य होकर'** का अर्थ समझ!

यहां कहते हैं, 'भगवान के स्वरूप के योग्य होकर वह भगवान के स्वरूप को पाता है।' भगवान का स्वरूप तो आत्मा है,

इस नाते वह आत्मवान् बन जाता है। जब भगवान का भक्त, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को जान लेगा, तब इस त्रिपुटी का भंजन हो जायेगा। जब द्रष्टा, दृष्टि और दर्शन को जीव समझ लेता है, यानि प्रकृति को जान लेता है और उसे आत्मा का भी ज्ञान हो जाता है, तब वह प्रकृति को जड़ मान लेता है। तत्पश्चात्, वह आत्मा में स्थित होने के योग्य हो जाता है क्योंकि वह प्रकृति रचित तनत्व भाव को त्याग देता है। वह ज्ञानी भक्त भगवान के योग्य है और भगवान में समा जाता है।

नन्हीं!

ज्ञेय - आत्मा।

ज्ञान - जीवन सारांश।

क्षेत्र - तन तथा संसार।

जब जीवन सारांश और जीवन प्रणाली में जो भगवान ने ज्ञान के गुण कहे हैं, वह मूर्तिमान हो जायें तो बाकी 'मैं' रहित क्षेत्र रह जायेगा और 'मैं' आत्मा में खो जायेगा। इस नाते, आत्मा और विभूति मात्र क्षेत्र रह जायेगा।

आत्मा के दृष्टिकोण से, आत्मा के सिवा कुछ है ही नहीं। तो क्यों न कहें, तब केवल आत्मा रह जायेगा।

नन्हूं! ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय तीन होते हैं। ज्ञान जब तन को और 'मैं' को क्षेत्र में एक रूप कर देता है, तो न कोई ज्ञाता रहता है, न कोई ज्ञान और न ही कोई ज्ञेय होता है। तब कहते हैं कि 'त्रिपुटी का भंजन' हो जाता है। ज्यों स्वप्न द्रष्टा, स्वप्नाकार वृत्ति तथा स्वप्न तीन होते हैं, जब स्वप्न से जाग जाओ, तब तीनों ख़त्म हो जाते हैं। वैसे ही जब तक 'मैं' है, साधक भी है, साधना भी है और साध्य भी है। जब 'मैं' मिट गई, तो न साधक रहा, न साधना रही और न साध्य रहा, सब एक ही हो गये।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को भी तू अनादि समझ,

२. और सब विकारों तथा गुणों को, तू प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।

तत्त्व विस्तार :

प्रकृति :

नन्हीं लाडली! अब समझ! परम की प्रकृति, यानि, पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, और त्रिगुणात्मिका शक्ति, जो समस्त क्रियाओं का कारणभूत है; इस को क्षेत्र भी कहा गया है।

पुरुष :

क) शुद्ध चेतनता को कहा है,
ख) जीवात्मा को कहा है,
ग) परम के अंश को कह लो,
घ) ब्रह्म के आभासमात्र अंश को कह लो,
ङ) शुद्ध अस्तित्व को कह लो,
च) आत्म तत्त्व को कह लो,
छ) जीवात्म सत्ता को कह लो।

भगवान कहते हैं, 'यह दोनों अनादि हैं तथा जीव में जो विकार तथा गुण उत्पन्न हुए हैं, इन्हें तू प्रकृति से उत्पन्न हुए जान।' वह कहते हैं, देख! जीव के बस में कुछ नहीं। गुण, जो जीव में हैं, वे प्रकृति की देन हैं। पुरुष आत्मा है और प्रकृति अनात्म है।

पर कमला देख! अब तुम्हारे दृष्टिकोण से कहते हैं। इससे यह न समझ लेना कि तुम कुछ कर नहीं सकती, या तुम्हारा कोई कसूर नहीं है किसी बात में, क्योंकि यह सब प्रकृति की रचना है।

ऐसा सोचकर जीव अधिकांश :

१. श्रेय पथ छोड़ देते हैं।
२. कर्त्तव्य पथ छोड़ देते हैं।
३. भगवान का भजन छोड़ देते हैं।
४. सत् पथ अनुसरण छोड़ देते हैं।

जिसकी आन्तर दृष्टि खुल जाये, जो गुणातीत हो जाये, जो भगवान के शरणापन्न हो जाये, उसके गुण उसे क्या दबायेंगे ?

वह तो,

क) अपने सम्पूर्ण गुण, भूतों के हित के लिए इस्तेमाल करेगा।
ख) अपने तन को स्थापित करने के लिए कुछ भी नहीं करेगा।
ग) अपने मन को रिझाने के लिए कुछ भी नहीं करेगा।

उसका तो जीवत्व भाव ही ख़त्म हो जाता है।

जब तक जीव अनात्म प्रकृति से संग करता है, तब तक वह अपने कर्मों का स्वयं ज़िम्मेवार है, ऐसा उसे मानना चाहिए। जब वह तनत्व भाव छोड़ कर आत्मा में विलीन हो जायेगा, तब वह स्वतः गुणों पर प्रभुत्व पा लेगा और गुणातीत हो जायेगा।

नन्हीं! इसे फिर से समझ। प्रकृति और पुरुष को भगवान ने अनादि कहा है, अक्षर नहीं कहा। संसार तब तक ही कोई अस्तित्व रखता है, जब तक प्रकृति से संग के कारण जीव के मन में विकार उठते रहते हैं। यह मनो लोक ही पूर्ण मिथ्यात्व की जड़ है।

जीवत्व भाव तथा प्रकृति तब तक अनादि हैं,

१. जब तक त्रिपुटी भंजन नहीं हुआ।
२. जब तक देहात्म बुद्धि है।

जब जीव ज्ञान को विज्ञान में परिणित कर देता है तो सम्पूर्ण मनोविकार नष्ट हो जाते हैं और जीवात्मा अपने स्वरूप में लय हो जाता है। तब वह मानो अक्षर में अक्षर हो जाता है और संसार के प्रति नितान्त मौन हो जाता है। तन, जो बाकी रह जाता है, वह संसार को ही दिखता है। उस

आत्मवान् के लिए वह भी निरर्थक हो जाता है। उसे तो मानो 'मैं' के नाते देह अनुसंधान ही नहीं रहता। वह तो नाम तथा रूप की उपाधि से परे हो जाता है।

उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि,

क) कोई उसे किस नाम से बुलाता है।
ख) उसके तन का कोई कैसे अपमान करता है।
ग) उसके तन का कोई कैसे इस्तेमाल करता है!

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. कार्य और करण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कहलाती है।
२. सुख दुःख के भोक्तापन में हेतु पुरुष कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! प्रथम 'कार्य' को समझ ले।

कार्य :

१. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी यह पंचमहाभूत कार्य हैं।
२. शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध यह इन्द्रिय विषय और कार्य हैं।

करण :

क) बुद्धि, अहंकार और मन (चित्त सहित), यह अन्तःकरण;
ख) श्रोत्, त्वचा, नेत्र, रसना और प्राण;
ग) हस्त, वाक्, पाद, उपस्त और गुदा; यह करण कहलाते हैं।

यह सब प्रकृति के अंग हैं, यह सब प्रकृति ही है। प्रकृति ही इनका कारण है, प्रकृति से ही यह उत्पन्न होते हैं, प्रकृति में ही यह लय होते हैं।

पुरुष :

पुरुष से यहां

१. महा आत्म सत्ता से अभिप्राय है।
२. चेतन आत्मा से अभिप्राय है।
३. नित्य निर्लिप्त आत्म सत्ता से अभिप्राय है।
४. निरासक्त आत्म सत्ता से अभिप्राय है।

फिर भी यहां पर कहा है कि जीवात्मा रूपा पुरुष सुख दुःख के भोक्तापन में हेतु है, अब इसे समझ ले :

आत्मा + प्रकृति

नन्हूं! आत्मा की सत्ता में ही प्रकृति चेतनावान् होती है और प्रकृति की त्रिगुणात्मिका शक्ति शक्तिवान् बनती है। फिर, आत्मा की सत्ता में ही जीव की बुद्धि में चेतना उत्पन्न होती है। तब बुद्धि

अहंकार का कारण बनती है, अहंकार मन का कारण बनता है, मन इन्द्रियों का कारण बनता है और फिर इन्द्रियां विषयों का कारण बनती हैं।

प्रकृति जड़ है, इसमें भोग करने की शक्ति तो है, किन्तु भोग का अनुभव नहीं है। गुण जड़ हैं, इनमें भोग करने की शक्ति तो है, किन्तु भोग का अनुभव नहीं है। पुरुष नित्य अभोक्ता है, किन्तु प्रकृति से संग हो जाने के कारण उसमें भोक्तापन उत्पन्न होता है, भोक्तापन की प्रतीति होती है।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, जब इनका संग होता है तो दुःख सुख की प्रतीति होती है। भोक्तृत्व भाव का जन्म संग के कारण ही होता है।

नन्हीं! सम्पूर्ण सृष्टि की रचना स्वतः होती है। इसे,

१. त्रैगुण रचते हैं।
२. त्रैगुण स्थापित करते हैं।
३. त्रैगुण ही इसका संहार करते हैं।
४. यह त्रैगुण पूर्ण प्रकृति ही हर जीव में गुण भरती है।

पुरुष ही वह चेतन शक्ति है जो,

क) अकर्त्ता होते हुए भी जीव में कर्तृत्व भाव का कारण बनी है।
ख) सुख दुःख का कारण बनी है।
ग) सम्पूर्ण द्वन्द्व पूर्ण वृत्तियों में शक्ति भरती है।
घ) मोह, संग, अज्ञान उत्पन्न करने का हेतु बनती है।

यह पुरुष ही व्यक्तिगत भाव में आकर जीवात्म भाव में बधित हो जाता है। तब वह :

१. गुणों से संग कर बैठता है।
२. तन से संग कर बैठता है।
३. कर्तृत्व भाव में बधित हो जाता है।
४. भोक्तृत्व भाव में बधित हो जाता है।

नन्हीं! वास्तव में बुद्धि जड़ ही होती है, किन्तु आत्मा की सत्ता में,

- यह चेतन सी हो जाती है।
- इसमें आत्मा का आभास सा होता है।
- इसमें आत्मा का बिम्ब सा पड़ता है।

क) बुद्धि ने नाहक ही यह समझ लिया, कि 'मैं ही दिव्य आत्मा हूं।'
ख) बुद्धि को अपनी बोध शक्ति पर गुमान हो गया।
ग) बुद्धि नाहक अपने आपको श्रेष्ठ मानने लग गई।
घ) बुद्धि यह तो जान न सकी कि वह किसी और से सत्ता पाकर सत्तावान् हुई है; वह अपने पर ही नाज़ करने लग गई।

फिर मन का गुण था, संकल्प करना, संग करना और चिन्तन करना। जब बुद्धि ही भूल कर गई और देह को अपना मान गई तो तुम ही सोचो बेचारा मन क्या करता? वह भी तन तथा विषयों से संग करने लगा।

'मैं' का जन्म तब हुआ :

१. जब बुद्धि अपने आपको तन मानने लगी।
२. जब बुद्धि को अपने आप से संग हो गया।
३. जब बुद्धि के राज्य में मन विषय आसक्त हो गया।

यानि देहात्म बुद्धि ही सम्पूर्ण मिथ्यात्व रमण और मन के विकारों का कारण बन गई। पुरुष, जिसे नित्य निरासक्त होना था, वह व्यक्तिगत होकर दु:ख सुख का भोक्ता हो गया।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

पुरुष में भोक्तृत्व भाव के कारण को बताते हुए, भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. प्रकृति में स्थित होकर ही पुरुष,
२. प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है।
३. गुणों का संग ही अच्छी या बुरी योनियों में इसके जन्म का कारण बनता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान! यह समझ!

जीव प्रकृति के तद्रूप होकर ही

क) प्राकृतिक गुणों को भोगता है और अपनाता है।
ख) तन के तद्रूप होकर तन के गुणों को भोगता है।
ग) पंचन्कृत कार्य कारण समूह से संग के कारण ही भोक्ता बनता है।
घ) जड़ प्रकृति जनित गुणों से तद्रूपता कर बैठता है।
ङ) जिस पे अपना अधिकार नहीं, उस पे अपना अधिकार मान लेता है।
च) जो अपना काज नहीं, उसे अपना काज मान लेता है।
छ) जो अपनी रचना नहीं, उसे 'मैं' और 'मेरा' कहने लगता है।

देख न नन्हूं!

१. यह तन आपने नहीं रचा, पर इसे अपना कहते हो।
२. गुण आपको स्वतः मिले, आप इन गुणों पर गुमान करते हो।
३. रूप पर आपका बस नहीं, पर आप अपने रूप पर इतराते हो।
४. कुल, जिसमें आपका जन्म हुआ, उस पे क्यों इतराते हो ?
५. जो भी आपको मिला, उस पर क्यों गुमान करते हो ?
६. प्रकृति ने कई गुण आपको दिये, उनसे संग क्यों करते हो ?

संग का परिणाम :

भगवान कहते हैं यह संग ही है जो :

क) आपको अच्छी या बुरी योनि में जन्म देता है।
ख) आपके श्रेय या प्रेय का कारण बन जाता है।
ग) दु:ख या सुख का कारण बन जाता है।
घ) द्वन्द्वों को उत्पन्न करता है।
ङ) अन्धकार को जन्म देता है।
च) अज्ञान को जन्म देता है।
छ) तृप्त नहीं होने देता।
ज) तृष्णा, लोभ का कारण है।
झ) आसक्ति का कारण है।
ञ) राग द्वेष का कारण है।
ट) निर्लिप्त नहीं रहने देता।
ठ) घर में शान्ति नहीं आने देता।
ड) कलह, क्लेश का कारण है।
ढ) जीवत्व भाव का कारण है।
ण) मिथ्यात्व का कारण है।
त) कर्तृत्व भाव का कारण है।
थ) भोक्तृत्व भाव का कारण है।
द) गुण आरोपण का कारण है।
ध) गुण छुपाव का कारण है।
न) हर योनि का कारण है।
प) जन्म मरण का कारण है।

क्यों न कहें कि संग ही जड़ कर्मों को और कर्म फलों को सप्राण करता है। संग ही फल के बीज को भी सप्राण करता है। इस नाते संग के कारण ही भली बुरी योनियां मिलती हैं।

नन्हीं! इससे यह भी समझ ले कि यदि संग नहीं होगा तो कर्म फल भी निर्बीज और निष्प्राण हो जायेंगे।

नन्हूं! संग को पुन: समझ ले :

संग क्या है ?

संग :

१. अनुराग को कहते हैं।
२. मैत्री को कहते हैं।
३. आकर्षण को कहते हैं।
४. सम्पर्क को कहते हैं।
५. अनुरक्ति को कहते हैं।
६. आसक्ति को कहते हैं।
७. सोहबत को भी कहते हैं।
८. सहयोगिता को भी कहते हैं।
९. प्रीति को भी कहते हैं।
१०. मुग्धता को भी कहते हैं।
११. एकत्व चाह को भी कहते हैं।
१२. लग्न को भी कहते हैं।
१३. सांसारिक विषयों में अनुराग को कहते हैं।

जहां संग हो वहां,

क) राग होता है।
ख) जीव आकर्षित होता है।
ग) जीव प्रलोभित होता है।
घ) जीव उसके वशीभूत हो जाता है।
ङ) जीव उसको पाने में अपना सुख और न पाने में अपना दु:ख समझता है।
च) जीव में द्वेष का जन्म हो जाता है।
छ) जीव उसकी ओर स्वत: प्रेरित होता है।

संग जहां हो जाता है जीव वहां :

- तद्रूपता चाहता है,
- एकरूपता चाहता है,

- एकत्व चाहता है,
- सहचर्य चाहता है,
- मिलाप चाहता है,
- लीन होना चाहता है,
- लिप्त होना चाहता है।

जहां संग हो जाता है, जीव उसके गुणों को अपना ही मान लेता है और अपना बनाना चाहता है। जीव उस विषय को अपना ही मानना चाहता है।

संग किससे होता है?

नन्हीं! संग अच्छे से भी होता है और बुरे से भी होता है।

१. संग अपने तन से होता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, चाहे वह निर्धन हो या धनवान हो।
२. संग अपने तन के गुणों से होता है, चाहे वह अच्छे हों, चाहे वह बुरे हों।
३. संग अपने कुल से होता है, चाहे वह अच्छा हो चाहे वह बुरा हो।

यह ज़रूरी नहीं कि आपका संग श्रेष्ठ से ही हो। वास्तव में देखा गया है कि संग असुरत्व की ओर ही खेंचता है जीवों को। संग के कारण ही मोह का जन्म होता है।

संग के कारण मोह का जन्म :

१. संग अन्धा होता है।
२. संग विचार भी नहीं करता।
३. संग बुद्धि की बात भी नहीं मानता।
४. संग अपनी वांछित वस्तु को पाने के लिए मतवाला कर देता है।
५. संग के कारण ही जीव भगवान से देवता बने, देवता से इन्सान बने, और इन्सान से असुर बन गये हैं।

यदि संग अनात्म से हो जाये तो जीव स्थूल की ओर प्रवृत्त होता है और मोह ग्रसित हो जाता है।

यह संग ही जीव को गुणों में बान्धता है और उसमें आसुरी गुण उत्पन्न करता है।

नन्हूं! जब तन से संग छूट जाता है तब जीव आत्मा में विलीन हो जाता है।

संग के परिणाम :

१. संग के कारण जीव अपने आपको तन मानने लगता है।
२. संग के कारण जीव अपने तन की स्थापना के लिए लोगों से टकराने लगता है।
३. संग के कारण जीव अपने तन के गुणों को अपनाने लगता है।
४. संग के कारण ही जीव के मन में विकार उत्पन्न होने लगते हैं।
५. संग के कारण ही जीव के मन में कामना उत्पन्न हो जाती है।
६. संग के कारण ही राग और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं।
७. संग के कारण ही जीव आशा के पाश में फंस जाता है।
८. संग के कारण ही जीव की बुद्धि आवृत्त हो जाती है।
९. संग के कारण ही जीव में आसुरी गुण उत्पन्न होता है।

आसुरी गुण जन्म :

संग के कारण ही :

१. दम्भ, दर्प, अहंकार का वर्धन होता है।
२. काम तथा क्रोध का वर्धन होता है।
३. लोभ तथा उपभोग चाह का वर्धन होता है।
४. जीव अन्याय भी करता है।
५. जीव निन्दक और अपमान करने वाला भी बनता है।
६. जीव अत्याचारी तथा मिथ्याचारी भी बनता है।
७. जीव पाखण्डी, चोर तथा अनिष्टकारी भी बनता है।
८. जीव धोखेबाज़, कुटिल, अहित करने वाला भी बनता है।
९. वैमनस्य का जन्म भी होता है।
१०. जीव, आचार भ्रष्ट तथा मूढ़मति भी होता है।

और फिर यह सब असुरत्व पूर्ण बातें करके वह अपने आपको उचित सिद्ध करता है। जीव अपने कर्मों का नित्य समर्थन करता है और उन्हें नित्य निर्दोष साबित करता है। संग के कारण ही जीव दुष्कर्म करता हुआ भी यथेष्ट कारण दिखा कर अपने आपको पाप विमुक्त कर लेता है। कल्पना पर आधारित तर्क वितर्क करके वह अपने आपको न्याय मूर्ति सिद्ध करता है और अपने कल्पित धर्म को न्यायोचित ठहराता है।

अब ज़रा ध्यान से समझ नन्हूं! तब शायद यह जन्म मरण का चक्र समझ आ जाये। भगवान ने चौथे अध्याय में कहा था :

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान्स्तथैव भजाम्यहम्' (४/११)

यानि, 'जो मुझे जैसे भजता है, मैं उसे वैसे ही भजता हूं। जो मुझ सत् स्वरूप को जीवन में जैसा इस्तेमाल करता है, मैं उसे उसके जीवन में वैसे ही इस्तेमाल करता हूं।'

सत् का इस्तेमाल :

भगवान का इस्तेमाल तो सत् का इस्तेमाल है।

जिसे आप जीवन में सत् मानकर इस्तेमाल करते हैं, वही भगवान का इस्तेमाल है। नन्हूं! जिसे आप अपने जीवन में सत् मानते हैं, वह चाहे असत् ही क्यों न हो, आपने तो उसे सत् कहा है, आप तो उसे सत् मानते हैं, तो आपके लिए वह सत् ही है। नन्हीं! यह जो आपने सत् माना है, यही कल को रूप धर कर आपके सामने आ जायेगा।

उदाहरणतया, आपने औरों को तड़पा कर अपने आपको उचित ही ठहराया तो जब आपके कर्मफल के परिणाम रूप आपको वही तड़प मिली, तब न तड़प जाना, क्योंकि वह तो मिलेगी ही।

जिसे भी तुम सत् मानोगे, वह निश्चित रूप धर लेगा। जो भी तुम औरों को देते हो और उसे सत् कहते हो, वही आपको मिल जायेगा।

सत् की शक्ति :

नन्हूं! सत् में जीवन देने की शक्ति है। सत् में कर्म फल बीज में प्राण भरने की शक्ति है।

जिसे आप स्वयं करते हुए सत् कहते हो, उचित कहते हो, वह आपको मिलेगा ही। इस कारण भगवान कहते हैं कि जीव का गुणों से संग ही उसे ऊंची या नीची योनियां देता है।

नन्हूं! संग आत्मा द्वारा नहीं होता। संग आपकी बुद्धि और मन करते हैं। अज्ञान आत्मा में नहीं होता, अज्ञान आपकी बुद्धि और मन में होता है। आत्मा तो मौन है, आपके मन और बुद्धि बोलते हैं। आत्मा तो मौन है, आपके मन और बुद्धि विषयों से लिप्त होकर आत्मा को भुला देते हैं।

नन्हीं! तुम पूछती हो कि 'यदि हमारा एकमात्र ध्येय शास्त्र पठन तथा शास्त्रों की प्रतिमा बनना है तो जीवन में हमारा धर्म क्या है ?'

यह तो तुमने प्रश्न में ही स्पष्ट कर दिया कि साधक का एक ही ध्येय है। फिर, हर काज उस ध्येय की प्राप्ति अर्थ ही होना चाहिए। इसके लिए सबसे सहज विधि है, जो कुछ शास्त्र में, गीता में कहा है, उसको अक्षरशः मान लो! जो भी बातें भगवान ने कही हैं, उदाहरणार्थ :

१. भगवान ने तेरहवें अध्याय के श्लोक ७ से १० तक विस्तार से बताया है कि अध्यात्म किसे कहते हैं। उस अध्यात्म का जीवन में अनुसरण करो।
२. उन्होंने कहा, 'तुम साधना करो, अभ्यास करो वैराग्य का।'
३. फिर, स्थित प्रज्ञ के लक्षण बता कर स्थित प्रज्ञ बनने के लिए प्रेरित किया।
४. ब्राह्मी स्थिति की बात करके उन्होंने सांख्य की बात की।
५. फिर कहा, 'तुम तन ही नहीं हो, तन तो नश्वर है, तुम तो तन से परे आत्म तत्त्व हो।'
६. पुनः आदेश दिया, 'हानि लाभ, मान अपमान या सुख दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से प्रभावित न होकर, इनसे ऊपर उठने के प्रयत्न करो।'
७. जो भाव आन्तर में उद्विग्नता, राग द्वेष, संग इत्यादि को उत्पन्न करते हैं, उन्हें अपने में मत आने दो!
८. फिर कहा, क्रोध ठीक नहीं है, सबसे प्रेम करो, परन्तु उस प्रेम में संग नहीं होना चाहिए।
९. भगवान ने संग रहित होने को कहा, परन्तु साथ ही कह दिया, दृष्टि तुम्हारी सबकी ओर 'सर्वभूतहितेरतः' होनी चाहिए।

सो, भगवान के शास्त्र कथित आदेश को जीवन में अक्षरशः मान लेना ही जीव का एक मात्र धर्म है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. इस देह में वह परम पुरुष ही,
२. उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा है,
३. ऐसा कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं सी जान और कमल की आभा! भगवान क्षेत्र तथा प्रकृति की बातें कह आये हैं। अब, क्षेत्रज्ञ, पुरुष तथा आत्मा की कहते हैं।

पहले यह भी कहा है कि क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान! अब क्षेत्रज्ञ के स्वरूप की कहते हैं। अब पुरुष के स्वरूप की कहते हैं।

पुरुष, क्षेत्रज्ञ, आत्मा :

वास्तव में पुरुष, क्षेत्रज्ञ या आत्म नित्य :

क) निर्लिप्त है,
ख) निसंग है,
ग) निर्विकार है,
घ) निर्द्वन्द्व है,
ङ) निर्दोष है,
च) नित्य तृप्त है,
छ) उदासीन है,
ज) गुणातीत है।

अजन्मा होने के कारण वह निराकार है। तन से परे होने के कारण भी वह निराकार है। शुद्ध स्वरूप दिव्य तत्त्व, अक्षर तत्त्व वही है।

पुरुष तत्त्व के नाते वह उपद्रष्टा है, यानि,

१. साक्षी रूप है।
२. निसंग होकर सब देखता है।
३. निर्लिप्त होकर तनो व्यवहार देखता है।
४. निर्लिप्त होकर इन्द्रिय विषय संयोग देखता है।
५. निर्लिप्त होकर ज्ञान का प्रयोग देखता है।
६. निर्लिप्त होकर ज्ञान का व्यापार देखता है।
७. ज्ञान को जैसे इस्तेमाल किया है, वह निर्लिप्त होकर उसे देखता है।
८. जीवन में जग से अपना व्यवहार देखता है।
९. जीवन में अपने वृत्ति प्रहार को देखता है।
१०. अपने आन्तरिक भाव और रूप को देखता है।
११. अपनी आन्तरिक भावना को देखता है।

वह अपने आपको अच्छी तरह जानता है पर फिर भी मानना नहीं चाहता।

अनुमंता वह है, जो कार्य, कर्म, क्रिया की,

क) स्वीकृति देता है।
ख) अनुमति देता है।
ग) आज्ञा देता है।
घ) स्वतंत्रता देता है।

याद रहे, शक्ति सब आत्मा से पाते हैं। वह उसकी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं या उसकी शक्ति का सदुपयोग करते हैं। उस अनुमन्ता ने मानो पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी है, कोई जो जी चाहे, करे।

भर्त्ता वह आप हैं :

१. पालन पोषण वह तन का आप करते हैं।
२. आन्तर बाह्य सभी को वह सम्भालते हैं।
३. प्राण सप्राण वह आप करते हैं।

परम भोक्ता वह आप हैं:

१. बिन उसकी शक्ति के कोई कुछ नहीं भोग सकता।
२. अन्तःकरण की शुद्धियां, अशुद्धियां वह भोगते हैं।
३. 'मैं' ही संग के कारण कर्म फल के बीज बनाती है। फिर 'मैं' तो उस तन के साथ मर जाती है, किन्तु आत्म तत्त्व मानो अपनी प्रकृति के आसरे पुनः उन बीजों के फल स्वरूप जन्म लेता है।
४. परमात्मा ही जीवों को पुनः जन्म देता है और कर्मफल भोगने की उपाधि तक उनके जीते रहने की व्यवस्था करता है।
५. नन्हूं! वह तन का भी साथ देता है।
६. वह जन्म जन्म का भी साथ देता है।

भगवान की लीला देख! कर्म 'मैं' ने अपनाये और 'मैं' के मिथ्या संग के कारण युग युगान्तर तक वह फल भगवान ही भोगा करते हैं। ब्रह्म ने तो इतनी सुन्दर दुनियां बनाई है, इतना हसीन बनाया है जीव को! ब्रह्म ने तो सृष्टि को ब्रह्म लोक रूपा बनाया था, जहां सत् चित्त आनन्द के सिवा कुछ न था; जहां भागवद् गुणों के सिवा कुछ न था! देख न नन्हूं! जीव ने जीवत्व भाव को उत्पन्न करके क्या किया? ब्रह्म के वैश्वानर रूपा ब्रह्म लोक को क्या बना दिया? भगवान बेचारे गिला भी नही कर सकते। सब खामोश भोगे चले जा रहे हैं। जीव को कितना स्वतंत्र बना दिया है उन्होंने! मानो कहते हों :

१. जो तुम्हारा जी चाहे करो।
२. गर चाहो, तो मुझे प्यार करो।
३. गर चाहो, तो मुझे याद करो।
४. गर चाहो, तो मुझसे योग कर लो।
५. गर चाहो, तो मुझे भी बुला लेना।
६. गर चाहो, तो मुझे भी अपना बना लेना।
७. गर चाहो, तो मुझे भी अपनी दुनियां में अपने साथ ले लेना।

तुम्हारी मर्ज़ी है, मैं कुछ नहीं कहूंगा।'

आत्मा को ही यहां **महेश्वर** कहते हैं:

क) परम पति वह आप हैं।
ख) सबका आत्म वह आप हैं।

ग) अखिल लोक पति वह आप हैं।

घ) परम ईश्वर वह आप हैं।

ङ) अखिल उत्कृष्ट वह आप हैं।

अखिल आत्म होने के नाते परमात्मा वह आप हैं; सर्वव्यापक वह आप हैं, परिपूर्ण वह आप हैं। इसे अगर स्वप्न द्रष्टा के प्रमाण से समझने का यत्न करें, तो तत्त्व स्पष्ट समझ आ जायेगा तथा यह भी समझ आ जायेगा कि यहां वर्णित सम्पूर्ण गुण द्रष्टा में निहित हैं,

स्वप्न द्रष्टा :

१. स्वप्न द्रष्टा परिपूर्ण स्वप्न में आच्छादित होता है।
२. स्वप्न भोक्ता स्वप्न द्रष्टा ही तो है।
३. स्वप्न पालन पोषण कर्त्ता स्वप्न द्रष्टा ही तो है।
४. स्वप्न नट भी गर ध्यान से देखो, तो स्वप्न द्रष्टा ही तो है।
५. स्वप्न नट के सुख दुःख भी तो स्वप्न द्रष्टा के ही होते हैं।

पर स्वप्न द्रष्टा तो सो रहा है। स्वप्न नट है तो वही, किन्तु द्रष्टा का जन्म नहीं होता स्वप्न में। वास्तव में, चाहे स्वप्न में जो है पूर्ण द्रष्टा ही है, तो भी वह सब द्रष्टा नहीं; द्रष्टा तो स्वप्न से परे है। वैसे ही आत्मा को समझ लो, वह सब कुछ है, पर कुछ भी नहीं। वह तो द्रष्टा सम नित्य निर्लिप्त देख रहा है।

नन्हूं! यदि ध्यान से देखें तो यहां भगवान परमात्मा तथा जीवात्मा की अभेदता का निरूपण कर रहे हैं :

१. यदि ज्ञान विज्ञान का रूप धर ले तो बाकी अखण्ड एक रह जायेगा।
२. जब मनो विकार खत्म हो जायेंगे तब केवल आत्मा रह जाता है।
३. पुरुष जब प्रकृति से संग करता है, तब वह विभिन्न योनियों में पड़ जाता है और जब आत्मा में लय हो जाता है, तब वह परमात्मा में एकत्व पा लेता है।

वास्तव में, पुरुष नित्य अजन्मा, अक्षर आत्मा ही है।

यही क्षेत्रज्ञ का स्वरूप है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

अब भगवान प्रकृति और पुरुष को यथार्थ रूप से जानने का फल बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुष को गुणों के सहित जानता है,
२. वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं :

१. जो प्रकृति पुरुष विवेकी है,
२. जो गुण खिलवाड़ जानता है,
३. जो तत्त्ववेत्ता हो जाता है,
४. जो जीवन में इस तत्त्व को उतार लेता है,

वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता।

क) वह फिर अभिमान किस गुण का करेगा ?
ख) वह फिर किस बात का दम्भ करेगा ?
ग) भोक्तृत्व भाव फिर कहां रह सकेगा ?
घ) बुद्धि गुमान फिर कहां रह सकेगा ?
ङ) जीवत्व भाव भी मिट जायेगा।
च) तनो तद्रूपता भी नहीं रह सकेगी।
छ) परम में जाकर वह टिक जायेगा।
ज) संग का नितान्त अभाव हो जायेगा।
झ) अपना कुछ भी नहीं रह सकेगा।

जब तन ही अपना नहीं रहेगा तब,

- उसका कर्म फिर कोई नहीं रह जायेगा,
- जन्म मरण से मुक्त वह स्वतः हो जायेगा।
- जीवन मुक्त वह स्वतः हो ही गया, जिसने जीते जी जीवन से संग ही छोड़ दिया।

  जिसका तन ही नहीं रहा, उसका जन्म ही नहीं हुआ। जो जीते जी ही चला गया वह क्या लौट के आयेगा ?

देख न! उसका तन जो दिख रहा है, उस तन को अपनाने वाली 'मैं' नहीं है। वहां गुण गुणों में वर्त रहे हैं और सब स्वतः हुआ जाता है। किन्तु नन्हीं! ध्यान से देख। भगवान ने कहा कि, 'जो प्रकृति और पुरुष को गुणों के सहित जानता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता।' यानि :

क) प्रकृति के गुण भी देख ले,
ख) सगुण ब्रह्म के गुण भी देख ले,
ग) फिर आत्मा के गुण भी देख ले,
घ) वह गुण भी देख ले जिनको पाने के पश्चात् पुनरावृत्ति नहीं होती।
ङ) वह गुण भी समझ ले, जिन्हें पाये बिना प्रकृति पुरुष विवेक भी नहीं होता।

यदि गुणों को बिना जाने तू समझे कि तू जन्म मृत्यु से तर जायेगा तो यह तेरी भूल है। यदि गुणों को जान लेगा तो पुरुष के गुण अपना लेगा और प्रकृति के गुण जड़ जान कर उनके प्रति समचित्त हो जायेगा। तत्पश्चात् ही पुनर्जन्म से तर सकेगा।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

अन्ये त्वेवमजानन्त : श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा :॥ २५॥

अब भगवान भगवद् प्राप्ति की विधि बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. कई एक जीव,
२. परमात्मा को आत्मा में, आत्म ध्यान द्वारा देखते हैं,
३. कई सांख्य योग द्वारा,
४. कई एक कर्म योग द्वारा,
५. और दूसरे लोग ऐसा न जानते हुए, केवल औरों से सुनकर उसे उपासते हैं।
६. वह भी श्रुति परायण हुए, मृत्यु से तर जाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं!

क) कई आत्म तत्त्व को अपना जानकर, उस पर ध्यान लगाते हुए परम निमग्न रहते हैं।
ख) कई, सांख्य ज्ञान के आसरे परम निमग्न रहते हैं
ग) कई कर्मयोग के आसरे परम निमग्न रहते हैं।
घ) कई लोगों से सुनकर परम निमग्न रहते हैं।
ये सब ही मृत्यु से तर जाते हैं।

आत्म तत्त्व में आत्म दर्शन :

१. वे भक्त गण चहुं ओर से आत्म तत्त्व के दर्शन करते हैं।
२. वे परमात्मा को आत्म रूप में देखने के यत्न करते हैं।
३. उनका ध्यान निरन्तर परम गुणों पर टिका होता है।
४. वे अपने आपको मानो हर पल परम में अर्पित करने में लगे रहते हैं।
५. क्यों न कहें वे भगवान को अपने प्राण देकर सप्राण कर रहे हैं।

जीव का ध्यान स्वत :

क) प्रिय में होता है।
ख) रुचिकर में होता है।
ग) श्रद्धास्पद में होता है,
घ) जहां संग हो, वहां होता है।
ङ) वांछित विषय में होता है।
च) राग और द्वेष के विषय में होता है।

- भगवान से गर प्रेम हो गया,
- भगवान में गर रुचि हो गई,
- भगवान में गर श्रद्धा हो गई,
- भगवान ही गर प्रिय हो गये,

तो मेरी जान! बिन चाहे ही ध्यान उन्हीं में लगा रहेगा।

१. तब उन्हीं की छवि हिय में बसेगी।

२. दिन रात उन्हीं से बातें होंगी।
३. जग समूह में भी चुपके से चित्त उन्हें ही ढूंढेगा।
४. मनोमन उनसे मुलाकातें होंगी।
५. तब ही ध्यान इसे मानिये, इससे कम तो ध्यान नहीं।
६. रोम रोम जब राम का हो, तब अपना रहे वहां नाम नहीं।
७. आपमें दर्शन राम के हों, तन जो राम का हो जाये।
८. है कौन राम और कौन मैं, यह याद भी तब नहीं रहता।

यहां ध्यान अखण्ड चाहिए और इसका चिह्न भी एक ही है:

क) जीवन राम के समान हो जायेगा।
ख) तू कर्त्तव्य स्वरूप आप हो जायेगा।
ग) तू करुणा पूर्ण, क्षमा स्वरूप आप हो जायेगा।
घ) तू प्रेम की मूर्त आप हो जायेगा।

भगवान जीवन राही मिलते हैं, पर आन्तर में मिलते हैं।

साधक को भगवान क्या मिले, वह तो भगवान में ही खो गया। वा रूप में जग को भगवान मिलते हैं। निज तन, प्राण सहित दिया श्याम को, 'मैं मम संग सब छोड़ दिया और मेरा कुछ भी नहीं रहा,' तो उस तन में श्याम सप्राण होते हैं। बाकी श्याम ही रह जाते हैं, साधक को तो अपनी स्मृति भी नहीं रहती।

भाई! फिर कौन देखता है, किसे देखता है, क्या कहें? आत्मा, आत्मा में आत्मा के दर्शन करता है।

कोई सांख्य योग द्वारा उन्हें देखता है :

१. आत्मतत्त्व विवेक राही कई लोग भगवान को देखते हैं।
२. क्षर अक्षर विवेक राही कई लोग भगवान को देखते हैं।
३. क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेक राही कई लोग भगवान को देखते हैं।
४. पुरुष प्रकृति विवेक राही कई लोग भगवान को देखते हैं।
५. धर्म अधर्म विवेक राही कई लोग भगवान को देखते हैं।

- वे जन्म मृत्यु का राज़ विवेक राही देखते हैं।
- वे समता का राज़ जानकर, सम होकर भगवान को देखते हैं। भाई! कहते हैं वे आत्म ज्ञान के राही परम को ध्याते हैं।

पर इतना ध्यान कर लो, कोई अतीव सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न ही ज्ञान राही पाता है। सांख्य से योग के द्वारा आत्मा में विलीन होना कठिन है; किन्तु जो लोग अपने को आत्मा मानने लग जाते हैं, वे अपने तनत्व भाव से जल्दी ही उठ जाते हैं। वे अपने तन रूप वस्त्र तथा तनो उपाधियों को त्याग देते हैं। वे तो इन्हें भी मैले वस्त्र जानकर छोड़ देते हैं। लोग उनके उतारे हुए तन रूप वस्त्र से अपनी मैल उतारते रहते हैं। यानि उनके तन को लोग इस्तेमाल करते हैं।

मेरी प्यारी सी नन्हीं! यह सब तू सूक्ष्म बुद्धि से ही समझ सकती है।

भगवान कहने लगे कि कई लोग उन्हें **कर्म योग** से उपासते हैं।

ध्यान से देख नन्हीं! सब ही विधियों में योग प्रधान है, और भगवान स्वयं कह कर आये हैं कि इन सबको पृथक् पृथक् करना भूल है।

कर्मयोग में जीव :

१. भगवान के साक्षित्व में कर्म करता है।
२. भगवान के परायण होकर कर्म करता है।
३. अपने सम्पूर्ण कर्म भगवान को अर्पित करता है।
४. निष्काम भाव से कर्म करता है।
५. सब को वासुदेव मानकर कर्म करता है।
६. अपने आपको भूलकर कर्म करता है।
७. कर्म फल चाहना त्याग कर कर्म करता है।
८. केवल दूसरे की स्थापना के लिए कर्म करता है।
९. यज्ञमय कर्म करता है।

नन्हीं साधिका!

क) योग तो तब ही होगा यदि आपका ध्यान भगवान में होगा।
ख) योग तो तब ही होगा यदि साक्षी निरन्तर भगवान ही होंगे।
ग) योग हुआ तो भगवान के गुणों पर ध्यान लगाओगे।
घ) योग हुआ तो भगवान के गुण ही अपने कर्मों में लाओगे। तब तुम इस राही भी भगवान को पा लोगे।

फिर भगवान ने कहा, 'कई लोग यह सब कुछ नहीं जानते, पर जो सुना है, वही जीवन में उतारते हैं।' भगवान कहते हैं, वे भी मृत्यु संसार से तर जाते हैं, क्योंकि जो सुना वह ज्ञान है।

१. जीवन में उन्होंने उसी ज्ञान का प्रमाण दे दिया।
२. जीवन में वे उसी ज्ञान की प्रतिमा बन गये।
३. जीवन में उन्होंने उसी ज्ञान को सार्थक कर दिया।
४. जीवन में उन्होंने उसी ज्ञान को विज्ञान में परिणित कर दिया।
५. वे तो स्वयं ज्ञान पर प्रकाश बन गये।
६. वे तो स्वयं ज्ञान का राज़ बन गये।
७. वे तो स्वयं ज्ञान की व्याख्या बन गये। मृत्यु तो दूर रही, वे तो श्याम को ही पा लेंगे।

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६॥

अब भगवान बताते हैं कि पूर्ण उत्पत्ति क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से होती है और कहते हैं कि अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. यावन्मात्र, जो कुछ भी स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं,

२. उन्हें क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुए जान।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! भगवान कहते हैं कि :

क) पूर्ण स्थावर और जंगम पदार्थ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

ख) पूर्ण जड़ तथा चेतन पदार्थ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

ग) पूर्ण सृष्टि प्रकृति तथा पुरुष के मिलन का परिणाम है।

घ) पूर्ण सृष्टि प्रकृति तथा आत्मा के मिलन का परिणाम है।

ङ) पूर्ण सृष्टि, प्रकृति तथा अक्षर तत्त्व के मिलन का परिणाम है।

जो भी दृष्ट या अदृष्ट सृष्टि है, वह आत्मा में ही स्थित है और उसकी उत्पत्ति, स्थिति, लय, आत्म सत्ता में ही, त्रिगुणात्मिका शक्ति रचती है। पहले ही इसे सविस्तार कह आये हैं। देखना तो यह है कि तूने प्रकृति के अंश के तद्रूप होना है या अक्षर अव्यय आत्म तत्त्व के! यदि तू प्रकृति के तद्रूप होकर अपने तन से संग कर ले तो उस आत्म सत्त्र के बल पर बार बार जन्म मृत्यु को प्राप्त करेगी; किन्तु यदि तू प्राकृतिक रचना तन, मन बुद्धि तथा अहंकार इत्यादि को प्रकृति पर ही छोड़ दे तो आत्मा में विलीन हो जायेगी। तब मन तथा बुद्धि के आवरण मिट जायेंगे। तब ही तुम्हारी बुद्धि स्थिरता पा लेगी। यानि तुम स्थित प्रज्ञ भी हो जाओगी।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. जो सब भूतों में सम भाव से स्थित

२. और नाशवानों में अविनाशी परमेश्वर को देखता है,

३. वही यथार्थ देखता है।

तत्त्व विस्तार:

नन्हीं!

क) पूर्ण भूतों में परिपूर्ण जो उस परम को देखता है,

ख) उत्पत्ति, स्थिति, लय, सबमें सम अक्षर तत्त्व को देखता है,
केवल वही देखता है।

१. निर्विकार वह अखिल में है।

२. निराकार वह अखिल रूप भी है।

३. हर जा व्यापक वह ही है।

४. जो जाने वह जाने स्वरूप, हर रूप में वह ही है।

- आत्म बिना और कुछ नहीं है।
- परमात्म बिना और कुछ भी नहीं है।
- ज्यों स्वप्न की रचना में सब द्रष्टा में ही हो रहा होता है, स्वप्न द्रष्टा बिन

वहां कुछ भी नहीं होता, त्यों पूर्ण सृष्टि में परम बिना कुछ नहीं है।

वास्तविक सत् भी यह ही है।

क) आत्म बिन कुछ भी नहीं है।

ख) आत्म तद्रूप गर हो जाओ तो जानो कि सच ही परमेश्वर सब में स्थित है।

ग) तन से गर उठ सको तो जान सकोगे कि आत्म सबमें सम रूप में स्थित है।

घ) जब स्थूल से संग मिटे तो जान सकोगे कि सबमें आत्म स्थित है।

ङ) जब देहात्म बुद्धि से संग मिट जायेगा तो जान सकोगे कि सबमें आत्म सम रूप में स्थित है।

च) जब जीवत्व भाव से संग मिट जायेगा तो जान सकोगे कि सबमें आत्म स्थित है।

पर देख कमला! जब तन, मन, बुद्धि तुम्हारे नहीं रहे, वे पूर्ण रूप से परम के हो गये, तब यह आत्मा की समाधि अथवा स्थिति समझ आ सकती है। जब यह तन तेरा नहीं रहेगा तो शायद कुछ समझ आ ही जायेगा। तब जीव, या कहें वह आत्मवान् यह जान लेता है कि आत्म रूप में सब समान हैं। तब वह आत्मवान् यह जान लेता है कि प्राकृतिक गुण भेद सबमें हैं किन्तु आत्मा एक ही है। चाहे कोई जाने या न जाने, सत्यता यही है कि सबका मूल आत्म ही है। गुण भेद केवल दर्शन मात्र ही है और किसी के बस में नहीं है। गुण भेद जिसके जैसे भी हैं, वह भी प्रकृति ने ही रचे हैं। इस नाते हर जीव वास्तव में निर्दोष ही है। फिर, आत्मवान् यह जानते हैं कि गुण आवरण या अज्ञान आवरण ही उस नित्य आनन्द स्वरूप को आवृत्त किये बैठा है, इस कारण वह सबके प्रति करुणा की दृष्टि रखते हैं; किन्तु गुण भेद होने के कारण उनका वर्तन विभिन्न लोगों से विभिन्न प्रकार का होता है। उन्हें 'समदर्शी' कहते हैं, 'समवर्ती' नहीं कहते।

वर्तन तो सम्मुख आये जीव के गुणों के अनुकूल होगा। वर्तन में, गुमानियों के साथ वे महा गुमानी और झुके हुओं के पास महा झुके हुए होते हैं। बुरों के साथ, उनके जैसे कर्म करते हुए वे उन्हें बुराई से उठा लेते हैं। यानि, जैसा सामने आये, वैसा रूप धर लेते हैं। तभी तो वे बदनाम भी होते हैं।

तभी तो भगवान ने कहाः

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषिम् तनुमाश्रितः' (९/११)

**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥**

आत्मा को सर्वत्र सम देखते हुए वह योगी अपने आपको नष्ट नहीं करता। क्योंकि :

शब्दार्थ :

१. वह पुरुष परमात्मा को सम भाव से स्थित देखता है,
२. इसलिए वह आप ही अपनी आत्मा का हनन नहीं करता,
३. वह परम गति को पाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहने लगे कि आत्म तत्त्व जो जान लेता है,

१. जीवत्व भाव त्यागकर वह आत्मा को स्थापित करता है।
२. आत्मवान् वह हो जाता है।
३. वह अपने स्वरूप का हनन नहीं करता क्योंकि वह आत्मा को मानो पुनः उसका राज्य दे देता है।
४. वह मानो आत्मा की वस्तु आत्मा को लौटा देता है।
५. वह मानो आत्मा में स्थित हो जाता है।
६. वह जानता है कि अपने स्वरूप का हनन करना ही हिंसा है।
७. वह जानता है कि:

क) इस तन का वास्तविक मालिक 'मैं' नहीं, ब्रह्म है।
ख) इस तन का वास्तविक रचयिता 'मैं' नहीं, ब्रह्म है।
ग) इस तन का वास्तविक रूप मेरा नहीं, भगवान का है।
घ) इस तन से वास्तविक प्रयोजन मेरा नहीं, भगवान का है।
ङ) इस तन की वास्तविक जीवन यात्रा मेरी नहीं, भगवान की है।

जब यह तन ही मेरा नहीं, यह उस परम का हो गया तो,

क) हर अंग उसी का हो गया।
ख) नयन उसी के हो गये।
ग) कर उसी के हो गये।
घ) पाद उसी के हो गये।
ङ) मेरा नाम उसी का हो गया।
च) मेरा रूप उसी का हो गया।
छ) पूर्ण आत्म क्या जान लिया, स्वरूप उसी का हो गया। ऐसा योगी राम नयन से जब जग को देखता है, तब उसे सब अपना आप ही दर्शाता है। तब तन केवल आत्म रूप रह जाता है।
ज) तब तन दूजे का रह जाता है।

परम गति की क्या कहें,
परम पति हैं सम्मुख खड़े।
जब ब्रह्म वित् रूप धरे,
मूर्ख मन उसे न समझ सके॥

नन्हूं!

१. अपने स्वरूप को भुला देना स्वरूप का

हनन है।
२. अपने आपको तन के तद्रूप कर देना स्वरूप का हनन है।
३. अपने आपको गुणों के तद्रूप कर देना स्वरूप का हनन है।
४. अपने आपको जड़ मान लेना स्वरूप का हनन है।

जब जीव, प्रकृति की रचना इस तन के तद्रूप हो जाता है, तब वह जड़ तन के और जड़ गुणों के भी तद्रूप हो जाता है। वह यह मानने लगता है, कि तन उसका है और तन के गुण भी उसके आश्रित हैं, किन्तु इसमें वास्तविकता नहीं है। वास्तव में, नित्य अव्यय अक्षर स्वरूप होते हुए अपने आपको क्षर; परिवर्तनशील तथा गुण पुंज मान लेना ही स्वरूप का हनन है। तन तथा गुण जड़ हैं, और वे सब कुछ स्वतः गुणों से बन्धे हुए और प्रभावित हुए हुए करते हैं। आत्मा तो केवल उपद्रष्टा और नित्य अकर्त्ता है। यदि इसे जानकर इसे न मानें तो आप अपने ही आत्मा का हनन करने वाले बन जाते हैं। जो यह मान लेते हैं, वे सबको नित्य अकर्त्ता ही देखते हैं, आत्म स्वरूप ही देखते हैं।

नन्हूं! वास्तव में वही देखते हैं, जो ऐसा देखते हैं। जो ऐसा नहीं देखते, वे गलत ही देखते हैं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

फिर भगवान कहते हैं कि वास्तविक द्रष्टा वह है,

शब्दार्थ :
१. जो पुरुष, सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए देखता है,
२. तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है,
३. वही यथार्थ देखता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान ने अनेक बार कहा कि गुण गुणों में वर्तते हैं।

गुण खिलवाड़ :
१. जीव विवश ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा कर्म करता है।
२. गुण गुणों में स्वतः वर्तते हैं।
३. सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं। कर्त्तापन का अभिमान विमूढ़ जन करते हैं।
४. उत्पत्ति का कारण ये गुण ही हैं।
५. प्रकृति के गुणों से मोहित हुआ जीव, गुण, कर्म में आसक्त हो जाता है।
६. विकार तथा गुण प्रकृति उत्पन्न करती है, इत्यादि।

इसलिए भगवान कहते हैं :

गुणातीत बन, गुणों से विचलित न हो तथा गुणों के प्रति उदासीन हो जा। पुन: यहां वही बात कह रहे हैं।

विवेकी जीव :

क) जो जीव गुण राज़ समझता है,

ख) जो जीव अखिल पदार्थ को गुण पूर्ण ही समझता है,

ग) जो जीव अखिल जीवों को गुण पूर्ण ही समझता है,

घ) जो यह जानता है कि ये गुण प्रकृति की देन हैं,

वह गुणों को कर्त्ता मानता है और जीवात्मा को नित्य अकर्त्ता मानता है।

गुण, जड़ होने के नाते निरपेक्ष ही हैं, निर्दोष हैं या कह लो निर्लिप्त हैं। गुण को क्या कि,

१. तुझे परिणाम में क्या मिलेगा ?

२. तुझे परिणाम में अपमान मिलेगा या मान मिलेगा।

३. तुझे परिणाम में मृत्यु मिलेगी या अमरत्व मिलेगा, इत्यादि।

पूर्ण जहान् के जीव गुणों से बन्धे हैं। पूर्ण जहान् के गुणों से जीव मोहित हो जाता है और विवश हो जाता है।

जीव अपने गुण अवगुण देखने के भी यत्न नहीं करते। संग के कारण वे अपने आपको वह गुण ही मानने लग जाते हैं! वास्तव में उन्होंने जो कुछ भी किया, वह विवश ही किया होता है किन्तु जीव इसे समझता नहीं है।

यदि गुण राज़ समझ लो तो,

क) तुम्हारा किसी पर रोष या क्रोध नहीं बनता।

ख) तुम्हारा किसी से द्वेष या राग नहीं होता।

ग) तुम्हें तो गुणातीत बनना है, गुणों से अप्रभावित रहना है। गर गुण राज़ जान लिया तो तुम गुणातीत हो ही जाओगे।

घ) तब किसी की गलती को चित्त में नहीं धरोगे।

ङ) क्षमा स्वत: ही कर दोगे क्योंकि दूसरे को दोष ही नहीं लगा सकोगे।

च) वह पुरुष वास्तव में निर्दोष है,यह जानते हुए कैसे दोष लगाओगे ?

छ) वह पुरुष वास्तव में विवश है, यह जानते हुए कैसे दोष लगाओगे ?

ज) तब तुम्हें गुण प्रभावित नहीं कर सकेंगे।

झ) अधिकांश गिले शिकवे इसलिये होते हैं क्योंकि आप सोचते हो कि कोई ऐसा क्यों करता है ? वह क्यों नहीं बदल जाता ? इत्यादि।

भाई! यह गुण खिलवाड़ है। गुण ही गुणों को बदल सकते हैं। आपके गुण गर दूसरे को नहीं बदल सकते तो यह जान लो कि आपमें वे गुण नहीं हैं जो उसे प्रभावित कर सकें। यह दोष न आपका और न दूसरे का है, जो यह जान लेता है, वही सब जानता है।

दूसरा अपने को कर्त्ता मानता है पर आप उसे अकर्त्ता मानेंगे। दैवी गुण स्वत: आपके तन राही बह जायेंगे।

कमला! यह भी सुन लो कि दैवी गुण

क्यों बह जायेंगे ? गुण विवेक ही वह गुण है जो आपका दृष्टिकोण बदल देता है,स्वभाव बदल देता है। ऐसा जीव सबको अकर्त्ता ही देखता है।

गुण विवेकी, दूसरे के गुण दिखा ज़रूर देगा, यदि दूसरा भड़क भी जाये तो भी प्रतिरूप में चुप रहेगा और दण्ड नहीं देगा। वह प्रतिरूप में मौन रहेगा और निन्दा नहीं करेगा। दूसरा भड़क सकता है, पर भड़क कर जब शान्त हो जाये तो शायद अपने गुण को स्वयं देख ले। शायद अपने आपको देख लेने के पश्चात् उसको अपने गुण समझ आ जायें और वे गुण नव रूप धर लें और बदल जायें।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

अब भगवान सम्पूर्ण भूतों को एक ही आत्मा समझने का फल बताते हुए कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. जब जीव, भूतों के पृथक् पृथक् भाव को एक में स्थित देखता है,
२. और उस एक से ही पूर्ण विस्तार देखता है,
३. तब वह ब्रह्म रूप ही होता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं प्रिया!

भगवान कहते हैं कि जब जीव,
क) अनेकता में एकता देखता है,
ख) अखिल रूप में एक रूप देखता है,
ग) विभाजन में अखण्डता देखता है,
घ) विश्व रूप देखकर वैश्वानर देखता है,
ङ) सम्पूर्ण सृष्टि में आत्म तत्त्व देखता है, तब वह सत्य को देखता है और
- उस अखण्ड का विभाजन देखता है।
- उस एक को अनेक देखता है।
- एक सत् स्वरूप को अखिल रूप देखता है।
- अव्यय आत्म तत्त्व को विभिन्न रूप में देखता है।
- एक ओम्कार के विभाजित अंग देखता है।
- निराकार को अखिल रूप देखता है।

नन्हूं! तब वह तत्त्व निष्ठ,
१. तत्त्व स्थित होता है,
२. तत्त्ववित् तथा तत्त्व स्वरूप होता है,
३. आत्मवान् ब्रह्म रूप होता है,
४. देहात्म बुद्धि त्याग कर परम में लीन हुआ होता है,
५. परम गुण सम्पन्न भी होता है।

यानि, आत्मा में आत्मा हुआ वह आत्मवान् बन जाता है। या यूं कहो कि वह मिथ्यात्व का त्याग करके अखण्ड सत्त्व तत्त्व में विलीन हो जाता है। वह ज्ञान के

आसरे अज्ञान को मिटाकर फिर ज्ञान से भी परे हो जाता है।

क) जब वह देवत्व गुण सम्पन्न होने के पश्चात् देवत्व से भी संग छोड़ देता है,
ख) जब वह पूर्ण ज्ञान पा लेने के पश्चात् ज्ञान से भी संग छोड़ देता है,
ग) जब वह सतोगुण में स्थित होने के पश्चात् सतोगुण से भी संग छोड़ देता है,
घ) जब वह अपने तन राही हुए श्रेष्ठ कर्मों से भी संग छोड़ देता है,

तब वह,

- सत् असत् से परे हो जाता है।
- तनत्व भाव से परे हो जाता है।
- देहात्म बुद्धि से परे हो जाता है।

नन्हीं! तब ही वह तनत्व भाव को छोड़कर अपने आपको आत्मा जानता हुआ औरों को भी आत्मा ही जानता है। फिर वह सब में विभाजित हुआ सा आत्म तत्त्व ही देखता है।

यह समझना ज़रा कठिन है कि आत्मवान् बाकियों को आत्मा कैसे समझ सकता है, क्योंकि बाकी लोग तो विभिन्न गुण ग्रसित होते हैं और विभिन्न प्रकार के गुण प्रमाण होते हैं।

नन्हूं! जो अपने को आत्मा मानता है, वह आत्मा को ही सर्वस्थित देखता है। जो वह आप है, वही वह दूसरों को जानता है। फिर वह जानता है कि गुण जड़ होने के नाते अकर्त्ता ही हैं, आत्मा नित्य अकर्त्ता ही है तो कर्तृत्व भाव ही मानो कर्त्ता है। यह मिथ्या लोक केवल 'मैं', 'मन', 'बुद्धि', और 'अहंकार' ही है। यह केवल अपने आन्तरिक विकार ही हैं।

नन्हूं! गुण तो वह करेंगे ही जो उन्हें करना है।

१. गुण गुणों से प्रभावित होते रहेंगे,
२. गुण गुणों से आकर्षित या प्रतिकर्षित होते ही रहेंगे,
३. फिर, गुण गुणों से प्रभावित होकर बदलते ही रहेंगे।

किन्तु यह सब स्वतः होता है और यह सब उस परमात्मा की सत्ता में ही है। जो यह जानता है, बस वह ही यथार्थ जानता है, जो यह नहीं जानता वह कुछ नहीं जानता। जो यह जानता है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है।

नन्हीं! आत्मा के नाते सब एक ही हैं, आत्मा के नाते सब सम ही हैं। भेद केवल गुणों का है। जो आत्मा के नाते सबके प्रति आत्मा रूपा दृष्टि रखता है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

यही यहां भगवान ने कहा है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

भगवान अब आत्म तत्त्व के विषय में कहते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! अनादि और निर्गुण होने से,
२. यह अव्यय परमात्मा शरीरों में स्थित हुआ भी,
३. न कुछ करता है,
४. (और) न लिपायमान होता है।

तत्त्व विस्तार :

यहां भगवान कह रहे हैं कि :

१. पुरुष तत्त्व अनादि है,
२. क्षेत्रज्ञ तत्त्व अनादि है,
३. आत्मा अनादि है,
यानि उत्पत्ति और लय से रहित है।

निर्गुण :

फिर भगवान कहते हैं कि :

क) परमात्मा प्रकृति के गुणों से सर्वथा अतीत हैं।
ख) परमात्मा प्रकृति के गुणों से बधित नहीं होता।
ग) परमात्मा प्रकृति के गुणों से प्रभावित नहीं होता।
घ) परमात्मा प्रकृति के गुणों का कार्य नहीं है।

परमात्मा तो नित्य निर्विकार हैं, परमात्मा तो नित्य निराकार हैं, परमात्मा तो नित्य उदासीन हैं। इस नाते, आत्मा का कभी जन्म नहीं होता, आत्मा का कोई रूप नहीं होता, आत्मा का कोई नाम नहीं होता, आत्म तत्त्व कुछ नहीं करता, सब गुण गुणों में वर्त रहे हैं। सब स्वतः हो रहा है।

वास्तव में कर्म चक्र भी स्वतः चलता है। सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकृति ही रचती है, और पालती है।

सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकृति ही अपने में लय कर लेती है। 'मैं' इनसे नाहक ही संग करती है।

देख कमला! आत्मा निर्गुण है और गुण जड़ कहे हैं।

- यह 'मैं' ही संग करके हमें राहों में भरमा देती है।
- यह 'मैं' ही नाहक गुणों से और तन से संग कर बैठा है।
- 'मैं' का तन से संग ही मोह और अज्ञान का कारण है।

परम गुण आवाहन का परिणाम :

परम गुण आवाहन ही अज्ञान को दूर कर सकता है और जीव को तनत्व भाव से ऊपर उठा सकता है। आत्मवान्, आत्मा के तद्रूप होकर जब तनत्व भाव को ही त्याग देता है, तब तन तो सब कुछ करता रहता है, किन्तु कर्त्तापन गुमान, और देहात्म बुद्धि का अभाव होने के कारण वहां कर्तृत्व भाव

का जन्म ही नहीं होता। तब जीव, क्योंकि तन को ही नहीं अपनाता, वह तन के गुणों को भी नहीं अपना सकता।

प्रकृति गुण विस्तार तो इस तन, मन, बुद्धि इत्यादि में ही होता है। प्राकृतिक उत्पत्ति भी तन, मन बुद्धि इत्यादि में होती है और इनको ही प्रभावित कर सकती है। फिर, अपने तन के गुण औरों के गुणों से प्रभावित होते हैं। जब तन ही अपना नहीं रहा, तो गुण खिलवाड़ तथा गुण प्रभाव, दोनों ही निरर्थक हो जाते हैं।

कर्म भी तन के राही ही होते हैं; जब तन ही आपका नहीं रहा तो तन के कर्मों के कर्त्ता भी आप नहीं रहते।

नन्हीं! शरीर में स्थित हुआ आत्मा केवल द्रष्टामात्र होता है। वह सब कुछ देखता है किन्तु नित्य अप्रभावित रहता है। वास्तव में उसके मन और बुद्धि नितान्त शान्त होते हैं, बाकी उसका तन साधारण जीवों की तरह सब कुछ करता रहता है। यह सब करते हुए भी वह निर्गुण ही है। नन्हीं! जो अपने को कर्त्ता मानते हैं, वे केवल मूर्ख हैं, वास्तव में कर्त्ता वह नहीं हैं। जो अपने आपको आत्मा नहीं भी मानते, फिर भी सत्य तो यह है कि आत्मा वह हैं! जो अपने गुणों से संग करते हैं, यह उनकी मर्ज़ी है, वास्तव में संग की कोई जगह तो है नहीं।

नन्हीं! वास्तव में 'मैं मानता हूं' या 'मैं नहीं मानता' यह भी आपके बस में नहीं है। सो, जो कुछ भी कोई कहे या करे, तुम मुसकरा दो। न तुम किसी के आचार्य हो, न तुम किसी के ठेकेदार हो। अपना कर्त्तव्य करते जाओ और मुसकराते जाओ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

अब भगवान आत्मा की निर्लिप्तता की उपमा देकर समझाते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जैसे सर्वत्र व्यापी आकाश सूक्ष्म होने के नाते लिप्त नहीं होता,
२. वैसे ही देह में सर्वस्थित आत्मा लिप्त नहीं होता!

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! ज्यों आकाश सर्व व्यापक होते हुए भी नित्य निर्लिप्त तथा निर्मल रहता है, ज्यों स्वप्न में द्रष्टा पूर्ण रूप से एक होते हुए भी निर्लिप्त रहता है, वैसे ही आत्मा, जीव में पूर्ण रूप से स्थित होते हुए भी निर्लिप्त रहता है।

सूक्ष्म से अभिप्राय :

क) अव्यक्त से है,
ख) जो दिख नहीं सकता, उस तत्त्व से है,
ग) जिसका अनुभव भी नहीं होता, ऐसे तत्त्व से है।

आत्मा :

आत्मा न गुण बधित होता है, न विकार ग्रहण करता है, न कर्त्ता है, न भोक्ता है, फिर भी सब कुछ वह आप है।

नन्हूं!

१. ज्यों आकाश में बादल आते हैं और बरस जाते हैं,
२. ज्यों आकाश में माटी उठती है, अंधेरी आ जाती है,
३. ज्यों आकाश में सूर्योदय से रौशनी आ जाती है,
४. ज्यों आकाश में लालिमा छा जाती है,

किन्तु आकाश लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा में सम्पूर्ण सृष्टि छा जाती है, किन्तु आत्मा लिप्त नहीं होता। आत्मा में विकारों सहित मन, बुद्धि, तन इत्यादि आते जाते रहते हैं, किन्तु आत्मा नित्य निर्लिप्त ही रहता है।

नन्हीं जान! आत्मा हर देह में सामान्य रूप से सर्वत्र स्थित है। ध्यान रहे, आत्मा हर देह में है। इस नाते, सब ही आत्मा हैं। चाहे आप जितना भी चाहो, आत्मा तन से लिपायमान नहीं हो सकता। प्राकृतिक रचना तन, और आत्मा विजातीय हैं, इस नाते इनका मिलन नहीं हो सकता। बुद्धि आत्मा से चेतनता पाकर, अपने आपको तन मान लेती है। असल में बुद्धि जड़ ही है और प्राकृतिक रचना है; इस कारण इसका अपने आपको तन मान लेना सहज ही है। यदि बुद्धि यह सोचे कि उसमें प्रकाश किससे आता है, तब शायद इसे उस आत्म सत्ता की कुछ कुछ समझ आने लगे। तब शायद उसे अपने स्वरूप की कुछ कुछ समझ आने लगे!

नन्हीं!

१. ज्यों बिजली से बत्ती जलती है और रौशनी होती है।
२. हीटर में बिजली आती है तो गर्मी होती है।
३. वातानुकूलित यन्त्र में बिजली जाती है तो सर्दी होती है।
४. बिजली से मशीनें भी चलती हैं।
५. बिजली से अनेकों ढंग के कार्य होते हैं।

जैसे बिजली की हर मशीन बिजली के आने से अपने अपने गुणों के अनुसार चलती है और बिजली के ख़त्म हो जाने पर बिजली से चलने वाली हर वस्तु अपने गुण त्याग देती है; वैसे ही आत्मा विभिन्न तनों में गुणों को मानो सप्राण कर देता है। ज्यों यन्त्र का गुण दोष बिजली का नहीं होता; वैसे ही तनो गुण दोष आत्मा के नहीं होते।

ज्यों बिजली ने बिजली के विषय नहीं बनाये, वैसे ही आत्मा ने तन या तनो गुण नहीं बनाये। बिजली को जानते हुए जिस प्रकार जीव ने बिजली के यन्त्र बनाये हैं, इसी तरह जीवात्मा ने मानो गुणों तथा तन से संग करके लाखों तन घड़ दिये हैं।

आत्म तत्त्व की शक्ति का फ़ायदा जीव ने उसी तरह उठाया है, ज्यों बिजली की शक्ति का फ़ायदा जीव ने उठाया है। आत्मा कर्म चक्र की राह, प्रकृति के आसरे संसार रचता है; किन्तु कर्म, जो फल लाते हैं, वे जीवात्मा के हैं।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जैसे अकेला सूर्य,
२. इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है,
३. वैसे ही एक क्षेत्रज्ञ
४. सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

तत्त्व विस्तार :

ज्यों एक सूर्य से सम्पूर्ण जहान प्रकाशित होता है, त्यों एक ही क्षेत्रज्ञ से तन रूपा क्षेत्र में,

क) चेतना आती है;
ख) प्रकाश आता है;
ग) प्राण रहते हैं;
घ) शक्ति काम करती है।

इस आत्म स्वरूप क्षेत्रज्ञ के आधार पर,

१. उत्पत्ति होती है।
२. स्थिति होती है।
३. लय होती है।
४. जीव भूत काज कर्म में प्रवृत्त होते हैं।
५. प्रकृति भी समर्थवान् होती है।
६. त्रिगुणात्मिका शक्ति भी शक्ति सम्पन्न होती है।

आत्मा ही क्षेत्रज्ञ है, तन को ही तुम क्षेत्र जानो।

देख कमला मेरी जान! यहां जो भी होता है,

- क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से होता है।
- प्रकृति पुरुष के संयोग से होता है।
- जड़ चेतन के मिलन से होता है।

फिर सब स्वतः होता है, इसलिए अहंकार की जगह कहां रह जाती है, संग की जगह कहां रह जाती है ?

क) देह का अभिमान भी क्या करना, वह न ही तुम्हारा है और न ही तुम्हारे बस में है।
ख) कर्मों से संग भी क्या करना, जो न ही तुम्हारे हैं और न ही तुम्हारे बस में हैं, जो तुम्हारे अधीन ही नहीं हैं।
ग) किसी से गिला भी क्या करना, जो यह भी नहीं जानते, कि सब कुछ जो वे अपनाते हैं, उनके अधीन नहीं है ?

नन्हीं! संग केवल दुःख, संताप, चिन्ता ही दे सकता है। इसके अतिरिक्त न यह कुछ कर सकता है, न यह कुछ बदल सकता है। सो, इसे छोड़ ही दो, इसी में कल्याण है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ तथा प्रकृति के ज्ञान का फल बताते हुए भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. इस प्रकार क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के अन्तर को,
२. और प्रकृति के बन्धन से जीव की मुक्ति के उपाय को,
३. जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा,
४. तत्त्व से जानता है,
५. वह परम गति पाता है।

तत्त्व विस्तार :

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान :

जिसने क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को जान लिया, उसने :

क) उस आत्म अनात्म को जान लिया।
ख) उस चेतन और जड़ को जान लिया।
ग) उस पुरुष और प्रकृति को जान लिया।
घ) उस स्वरूप और रूप को जान लिया।
ङ) उस निराकार के आकार को जान लिया।

जब स्वरूप ही जान लिया,

१. तो तन निरर्थक हो ही गया।
२. आत्म तत्त्व भी जान लिया।
३. अपना आप भी जान लिया।
४. कर्तृत्व भाव के मिथ्यात्व को जान लिया।
५. भोक्तृत्व भाव के मिथ्यात्व को जान लिया।
६. जीवत्व भाव के मिथ्यात्व को जान लिया।
७. अहंकार भाव के मिथ्यात्व को जान लिया।

गुण राज़ के विवेक के पश्चात् जीव गुणातीत हो जाता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक हो जाने से जीव क्षेत्र से संग छोड़ कर अपने क्षेत्रज्ञ स्वरूप में स्थित हो जाता है।

तनत्व भाव अभाव परिणाम :

नन्हूं! जब तनत्व भाव ही नहीं रहे, तो तन के किसी गुण या कर्म को वह नहीं अपना सकता।

क) जब तन ही उसका नहीं रहता, तो वह तन के प्रति उदासीन हो ही जाता है।
ख) फिर उसके लिए अपना तन कोई महत्त्व नहीं रखता।
ग) फिर उसके लिए अपना तन जीये या मरे, एक ही बात है।
घ) फिर वह न जीने की अभिलाषा करता है, न मरने की।
ङ) तत्पश्चात् उसके तन को क्या मिला या क्या नहीं मिला, उसको फ़र्क नहीं पड़ता।
च) तत्पश्चात् उसके तन का मान हुआ या अपमान हुआ, उसको फ़र्क नहीं पड़ता।

छ) उसका तन कर्मों में प्रवृत्त हुआ या कर्मों से निवृत्त हुआ, उसे फ़र्क नहीं पड़ता।

ज) तत्पश्चात् उसकी हानि हो गई या उसे लाभ हो गया, उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता।

देख ज़रा मेरी नन्हीं जान्! भगवान ने भी क्या ज्ञान बताया। कुछ भी अपना नहीं रहा और सब कुछ उसी का हो गया।

तनत्व भाव अभाव के ज्ञान का परिणाम :

नन्हीं! भगवान कहते हैं, 'जो ज्ञान की राह से तत्त्व को जान जाते हैं और जो लोग जीव की प्रकृति से मोक्ष को भी जानते हैं,

१. वे लोग ज्ञान नेत्रों द्वारा ही तत्त्व को जानते हैं।
२. वे लोग ज्ञान नेत्रों द्वारा ही हर जगह पर देखते हैं।
३. वे लोग ज्ञान नेत्रों द्वारा ही अपने तन को देखते हैं।

वे लोग सबकी ओर ज्ञानमय दृष्टि से ही देखते हैं। यानि, जो लोग सबकी ओर ज्ञानपूर्ण दृष्टि रखते हैं; यह ज्ञान पूर्ण दृष्टि, जो ज्ञान की प्रधानता में, ज्ञान के राही, यानि, ज्ञान चक्षुओं के राही सत्त्व के दर्शन कराती है, वह जीव को तत्त्व की एकता के दर्शन कराती है।

इन दर्शनों के परिणाम रूप जीव अनात्म को त्याग कर आत्मा में स्थित हो जाता है। भगवान कहते हैं, इस विधि जीव जीवत्व भाव का त्याग करके परम को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह नित्य अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी मात्र रह जाता है। तत्पश्चात् वह गुणातीत, निर्विकार, नित्य उदासीन हो जाता है। अजी! तब वह आत्मा में आत्मा हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. फिर से (मैं) सम्पूर्ण ज्ञान में से उत्तम ज्ञान कहूंगा,
२. जिसको जानकर सब मुनिगण,
३. यहां से (संसार से) परम सिद्धि को प्राप्त हुए।

तत्त्व विस्तार :

भगवान की करुणा :

भगवान की करुणा देख!

१. वह विविध विधि ज्ञान समझाते हैं।
२. वह कितने प्रेम से सविस्तार समझाते हैं।
३. वह वही बात बार बार सुझाते हैं।
४. वह अनेक बार बिन पूछे भी बताते हैं।

ताकि,

क) किसी विधि अर्जुन समझ ले,
ख) किसी विधि मित्र समझ ले,
ग) किसी विधि शरण पड़ा हुआ अर्जुन समझ ले,
घ) किसी विधि यह मुझे समझ ले और मेरा स्वरूप जान ले,
ङ) किसी विधि यह मेरे जीवन को समझ ले, मेरे स्वरूप को समझ ले,
च) किसी विधि यह जीवन में आनन्द स्वरूप बन जाये,

इस कारण वह बहु विधि से समझाते हैं।

अब कह रहे हैं, 'तुझे ऐसा ज्ञान दे रहा हूं, जिसे जानकर मुनिगण सिद्धि को पा गये।'

मुनि कौन है :

मुनि वह है,

१. जो मन का पति है।
२. जो गुणातीत है।
३. जो मन पर राज्य करने वाला है।
४. जो सत् को पूर्ण रूप से जीवन में लाये हुए है।
५. जो गुण जानकर गुण बधित नहीं होता।
६. जिसका जीवन सत् में स्थित होता है।
७. जो ज्ञान की प्रतिमा आप बनने के लिए तत्पर रहता है।
८. जो अध्यात्म पर आधारित प्रकाश रूप बनने के लिए प्रयत्न करता है।

यानि, उसका जीवन ही अध्यात्म का

रूप होता है।

भगवान आज वह ज्ञान कहने लगे हैं, जिसे पा कर ऋषिगण मुनि बन गये। यानि, मनो प्रभुता चाहुक मनो प्रभुता पा गये, ब्रह्म ज्ञानी ब्राह्मी स्थिति पा गये, यानि ब्रह्म निष्ठ ब्रह्म में समा गये।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

जो ज्ञान भगवान अब देने लगे हैं, उससे जीव भगवान जैसा ही हो जायेगा, यह कहते हुए भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. इस ज्ञान का आश्रय लेकर,
२. मेरी समानता पाये हुए मुनिजन,
३. सृष्टिकाल के आदि में उत्पन्न नहीं होते,
४. और न ही प्रलय काल में व्यथा को पाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान के दिए हुए ज्ञान द्वारा परम की प्राप्ति :

सुन! सुन! भगवान क्या कहते हैं! जो ज्ञान वह देने लगे हैं, उसकी महिमा गा रहे हैं। वह कह रहे हैं, इसके आसरे मुनिजन,

क) मेरे समान हो गये।
ख) मुझ जैसे जीवन धर्मा हो गये।
ग) मुझ जैसे उदासीन हो गये।
घ) मुझ जैसे निर्लिप्त हो गये।
ङ) मुझ जैसे नित्य तृप्त हो गये।
च) मुझ जैसे निर्विकार हो गये।

यानि, जीवन में मेरे जैसे ही हो गये, पुरुष से पुरुषोत्तम हो गये, पुरुषोत्तम से परम पुरुष हो गये। जीवन में वे मेरे समान धर्म का अनुष्ठान करते हैं। यानि,

१. प्रेम स्वरूप, प्रेम रूप हो जाते हैं।
२. दैवी सम्पदा सम्पन्न हो जाते हैं।
३. स्थित प्रज्ञ वे सत् रूप हो जाते हैं।
४. सत् असत् से परे, भगवान समान हो जाते हैं।
५. अति साधारण, किन्तु विलक्षण हो जाते हैं।
६. भाई! वे तो स्वयं अध्यात्म रूप हो जाते हैं।
७. वे तो स्वयं अध्यात्म प्रकाश स्वरूप हो जाते हैं।
८. फिर, वे तनत्व भाव को त्यागकर जन्म मृत्यु से तर जाते हैं।
९. वे आत्मा में खो जाते हैं और मृत्यु से व्यथित नहीं होते।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बताते हुए भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! मेरी योनि महत् ब्रह्म है।
२. उससे मैं गर्भ धारण करता हूं;
३. उससे ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है।
४. अर्जुन! सब योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं;
५. उन सबकी योनि महत् ब्रह्म है।
६. (और उसमें) बीज प्रद पिता मैं हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि 'महत् ब्रह्म' भगवान की योनि है।

योनि :

योनि का अर्थ प्रथम समझ ले। योनि,
१. गर्भाशय को कहते हैं।
२. उद्गम स्थान को कहते हैं।
३. मूल स्थान को कहते हैं।
४. जहां से अस्तित्व को रूप मिलता है, उसे कहते हैं।

भगवान कहते हैं कि यह महत् ब्रह्म उनकी ही योनि है, सृष्टि भगवान की योनि है। महत् ब्रह्म, यानि,

क) यह विशाल सृष्टि उनकी योनि में ही है।
ख) यह सम्पूर्ण सृष्टि जहां से उत्पन्न होती है, वह स्वयं आप ही हैं।
ग) सम्पूर्ण सृष्टि में जिसका भी जन्म होता है, उसकी योनि वह आप हैं।
घ) सम्पूर्ण सृष्टि की रचना तथा उसकी वृद्धि का कारण रूप महत् ब्रह्म है।
ङ) सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की है। वैश्वानर रूप के नाते यह सृष्टि महत् ब्रह्म ही है।
च) सम्पूर्ण सृष्टि में मानो हर चीज़ गर्भ धारण करती है; तब ही उसके रूप, गुण तथा आकृति का वर्धन होता है।

भगवान मानो कह रहे हैं कि यह अखिल गर्भ के सांचे वह आप ही हैं, अखिल गर्भ की योनियां वह आप ही हैं।

प्रकृति रूपा गर्भ :

१. प्रकृति स्वयं एक महान गर्भ ही है।
२. पंच तत्त्व भी महान गर्भ ही हैं।
३. त्रिगुणात्मिका शक्ति भी महान गर्भ ही है, जिसमें से शक्ति का जन्म होता है।
४. त्रिगुणात्मिका शक्ति ही हर ग़र्भ में गर्भ को पालती है।

इसी अखण्ड गर्भाशय में सम्पूर्ण भूतों

का जन्म होता है और सम्पूर्ण भूतों का बीज धारण किया जाता है। या यूं कहो, सम्पूर्ण भूतों के कर्मफल का बीज भगवान अपने इस अखण्ड गर्भ में धारण करते हैं।

फिर भगवान ने कहा कि संसार में जितनी भी योनियां हैं, जहां से विभिन्न मूर्तियां उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि महत् ब्रह्म है और उन योनियों में बीज डालने वाला पिता भी वह आप ही हैं। प्रकृति रूपा महत् ब्रह्म में बीज डालने वाले भगवान स्वयं हैं।

इसे यूं समझें कि त्रिगुणात्मिका शक्ति में,
क) गुण शक्ति ब्रह्म की है।
ख) एजना की शक्ति ब्रह्म की है।
ग) काज करने की शक्ति ब्रह्म की है।
घ) प्राण भरने की शक्ति ब्रह्म की है।

तो ही त्रैगुण जन्म दे सकते हैं और रूप रच सकते हैं।

क्यों न कहें कि त्रिगुणात्मिका शक्ति ही :
१. रचनात्मिका शक्ति है।
२. महत् ब्रह्म है।
३. परम की योनि है।
४. हिरण्यगर्भ है।

हिरण्यगर्भ :

यह गर्भ 'हिरण्य' यानि सुनहरा तो होना ही हुआ, क्योंकि:
क) त्रैगुण मोह लेते हैं।
ख) त्रैगुण आंखों को चुंधिया देते हैं, तब सत् को भी वे कैसे देखें ?
ग) त्रैगुण भरमा देते हैं, फिर वास्तविकता भूल जाती है।
घ) त्रैगुण अपना लेते हैं, वे ब्रह्म को भूल ही जाते हैं।

इस त्रैगुणी गर्भ में परमात्मा का आत्म अंश पड़े, परमात्मा का आभास पड़े तो वह बीज बन जाता है।

जड़ चेतन के मिलन से नव रूप उत्पन्न हो जाता है; प्रकृति पुरुष के मिलन से नव रूप उत्पन्न हो जाता है, अनेकों मूर्तियां उत्पन्न हो जाती हैं; पर इनका पिता वह परम पुरुष परब्रह्म ही है।

कर्म फल बीज में प्राण भरने वाला आत्म तत्त्व ही है। वह ही कर्म फल बीज सप्राण होता है जो सत्य माना जाता है।

फिर इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखें कि सब आत्मा ही तो है। इस नाते हर बीज भी वह आप हैं, फिर हर रूप भी वह आप हैं।

नन्हीं! कर्मफल बीज जब फूटता है, उसके पश्चात 'मैं' का जन्म होता है। यह 'मैं' तो एक तन, मन, बुद्धि की तद्रूपता से पैदा होती है, और उस तन, मन, बुद्धि के साथ ही भस्म हो जाती है। जब नव तन जन्म लेता है, तब नव तन को अपनाने के लिये नव 'मैं' का जन्म होता है। नव 'मैं' नहीं जानती कि,
१. तन का जन्म किस कारण हुआ ?
२. पूर्व जन्म में कैसे कर्म किये थे, जिनका यह फल है ?
३. किस कर्म के फल स्वरूप यह तन मिला और ऐसा जीवन मिला, यह रेखा मिली या यह परिस्थिति मिली ?

आधुनिक 'मैं' तो :

क) आधुनिक फल बीज बनाती है।

ख) आधुनिक रेखा का रस चूसकर उसे राग द्वेष के रंग से रंगती है।

ग) केवल अगले जन्म के बीज ख़राब करती है, पिछला जो मिला, वह तो भोगे जा रही है।

देख नन्हूं! जो इस समय हो रहा है, वह पिछले जन्म से चला आ रहा है। जो इस समय आपके मन, बुद्धि के संयोग के परिणाम रूप 'मैं' अपने आन्तर में कर रही है, वह आगामी जन्म के बीजों का एकत्रीकरण है। इसलिए, शास्त्र कहते हैं कि आधुनिक में जीना सीखो और भूतकाल तथा भविष्यकाल की चिन्ता न करो। शान्त होकर, द्रष्टावत् आधुनिक में जीना सीख लो!

फिर कहते हैं, 'इन सब बीजों में भी परमात्मा ही चेतना रूप अंश भरते हैं।'

नन्हूं! इस नाते, प्रकृति जीव की माता है और परमात्मा ही जीव का पिता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

जग बन्धन के विषय में भगवान कहने लगे, सुन अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, ये प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं

२. और निर्विकार देही को, देह में बान्धते हैं।

तत्त्व विस्तार :

देख आनन्द स्वरूप चाहुक कमला! भगवान कहते हैं: जीव में अनेकों गुण हैं। गुण, अवगुण, दोनों ही 'गुण' कहलाते हैं। गुण अच्छे भी हैं, और गुण बुरे भी हैं।

क) ये सब प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

ख) ये सब त्रिगुणात्मिका शक्ति की देन हैं।

ग) ये सब रचनात्मिका शक्ति की देन हैं।

घ) जिस गर्भ में जन्म हुआ, वहां से रूप, लिंग, आकृति मिल जाती है; इनपे जीव का बस नहीं होता।

ङ) यह स्वतः सिद्ध बात है।

देखो न!

१. कुछ गुण कह लो संस्कारों में भरे थे।
२. कुछ गुण कह लो बीज में भरे थे।
३. कुछ गुण कह लो परिस्थितियों ने दिये, यानि परिस्थिति के प्रभाव से उत्पन्न हो गये।
४. कुछ गुण कह लो लोगों ने दिये, यानि औरों के गुणों ने आपके गुण बदल दिये।

वास्तव में,

- गुण ही गुणों को बदलते हैं।
- गुण ही गुणों को बढ़ाते हैं।

- गुण ही गुणों को गौण कर देते हैं।
- गुण ही गुणों को शान्त कर देते हैं।
- गुण ही गुणों का नाश कर देते हैं।
- गुण ही गुणों से मिलकर नवगुण उत्पन्न कर देते हैं।
- गुण ही'गुणों से मिलकर उत्तेजना पाते हैं।

५. फिर नन्हूं! जीवन भी गुणों पर आधारित है। जन्म भी गुणों पर ही आधारित है।

आपके कर्म बीज जिन गुणों से भरपूर थे,

क) वे बीज पुनः उभर पड़े।

ख) उन्होंने सजातीय गुण वालों को एकत्रित कर लिया।

ग) वैसी परिस्थिति को एकत्रित कर लिया।

घ) उन्होंने अपने सहयोगी गुण वाले बीज पुंजों के साथ जन्म ले लिया।

नन्हीं! यह गुण प्रभाव स्वतः होता रहता है। यह गुण आकर्षण स्वतः होता रहता है। यह गुण प्रतिकर्षण स्वतः होता रहता है। यह गुण संयोग भी स्वतः होता रहता है। यह गुण वियोग भी स्वतः होता रहता है।

यह सब प्रकृति में ही होता रहता है। तत्पश्चात्, गुण स्वभाव अनुकूल आपको;

१. कुल मिल जाता है।
२. परिस्थितियां मिल जाती हैं।
३. सामाजिक विधान मिल जाता है।
४. तन और मन की रेखा मिल जाती है।

भाई! यह सब गुण खिलवाड़ ही है। ये सब गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं। जीवात्मा गुणों से संग कर लेता है और अपने आपको गुण ही समझने लगता है। यह ही उसका गुणों से बन्ध जाना है।

मन और बुद्धि, परमात्मा से चेतनता पाकर इतराने लग जाते हैं और जड़ गुण समूह के तद्रूप हो जाते हैं। यह 'मैं' मूढ़वत् कहने लग जाती है कि 'यह गुण पुंज तन मैं ही हूं।' बस यह ही प्रथम भूल है जिसके कारण जीव मोह युक्त हो जाता है। यदि 'मैं' यह गुण न अपनाये, तो यह नित्य निर्विकार ही है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ ६॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. उन तीनों में से प्रकाश करने वाला और सुखद और निर्मल होने के कारण,
२. सतोगुण जीव को ज्ञान की आसक्ति से तथा सुख की आसक्ति से,
३. बान्धता है।

तत्त्व विस्तार :

सतोगुण स्वरूप :

प्रथम सतोगुण का स्वरूप देख लो। वहः

१. निर्मल, निर्दोष है।

२. प्रकाश और ज्ञान देने वाला है।
३. सुख देने वाला है।
४. मनोव्यथा विमोचक है।
५. मनोव्यथा रहित है, यानि शान्तिप्रद है।
६. श्रेष्ठ कर्म करवाता है और श्रेष्ठता की ओर ले जाता है।
७. अज्ञान विनाशक है।
८. लोभ, तृष्णा से दूर करवाता है।
९. क्षमा, दया, करुणा को उत्पन्न करने वाला है।
१०. देवत्व की ओर ले जाता है।
११. साधु तथा महात्मा बनाता है।
१२. द्वन्द्व विमोचक है।
१३. संकल्प, विकल्प गौण कर देता है।
१४. राग, द्वेष गौण कर देता है।
१५. निर्वैर भाव उत्पन्न कर देता है।
१६. समचित्त बनाता है।
१७. निष्काम कर्म में स्थित करवाता है।
१८. निष्काम ज्ञान में स्थित करवाता है।
१९. दैवी सम्पदा इस गुण के आसरे बढ़ती है।
२०. उदासीनता इस गुण में निहित होती है।

इस गुण का परिणाम प्रकाश, ज्ञान और सुख है। जीवत्व भाव बधित लोग अपने में ऐसे गुण देखकर:

क) गुण अभिमानी हो जाते हैं।
ख) गुण संगी हो जाते हैं।
ग) गुणों से लिप्त हो जाते हैं।

इसलिए यह गुण जीव को प्रकाश और सुख से बान्धता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥ ७॥

आगे सुन अर्जुन :

शब्दार्थ :

१. रजोगुण, राग रूप स्वभाव वाला है।
२. यह तृष्णा और संग का उत्पत्ति स्थान है।
३. हे अर्जुन! तू ऐसा जान!
४. वह इस देही को कर्म के संग से बान्धता है।

तत्त्व विस्तार :

रजोगुण :

भगवान कहते हैं कि,

१. रजोगुण, लोभ और तृष्णा को उत्पन्न करता है।
२. जहां रुचि हुई, वहां लोभ उठ आता है।
३. यह गुण स्थूल में रमण करवाता है।
४. इस गुण के प्रभाव से जीव विषय चिन्तन में पड़ता है।
५. यह गुण जीव को विषय भोगी बनाता है।
६. रजोगुणी, बहु चेष्टा कर, बहु यत्न से विषय उपलब्धि में लगा रहता है।
७. काम, क्रोध इसी गुण से उत्पन्न होते हैं।
८. द्वन्द्व और विकार इसी की देन हैं।
९. आशा इस गुण का दिया हुआ बन्धन है।
१०. संकल्प, विकल्प प्रधान यही गुण है।

११. क्षोभ, मनोव्यथा उत्पन्न करने वाला यही गुण है।
१२. दूसरे को दुःख देकर भी यह गुण अपनी तृप्ति चाहता है।
१३. नित्य अतृप्त रहने वाला यही गुण है।
१४. दम्भ, दर्प पूर्ण यह गुण होता है।
१५. बुद्धि को भी यह गुण प्रेय पथ गामिनी बना देता है।
१६. ज्ञान को यह गुण अपनी कामना पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है।
१७. रजोगुणी का प्रेम अपनी ही तृष्णा पूर्ति से होता है।
१८. रजोगुणी अपना ही साकार पूजन चाहता है।
१९. इस गुण से सम्पन्न व्यक्ति निष्काम कर्म का नाम नहीं जानता।
२०. यह गुण अहं प्रधान है।
२१. यह गुण अपनी कामना पूर्ति के लिये झुक जाता है और अपनी कामना पूर्ति के पश्चात् पुनः अकड़ जाता है।
२२. यह गुण जीव का महा वैरी है।
२३. यह साधक को पथ भ्रष्ट करने वाला है।
२४. यह सबसे बड़ा धोखेबाज़ है।
२५. मुख पे और, मन में और, यह रजोगुणी ही है।
२६. यह रजोगुण सत् को दबा कर उत्पन्न होता है।
२७. महापापी है रजोगुण।
२८. जो कभी शान्त न हो सके, यह रजोगुण ऐसी तृष्णा उत्पन्न कर देता है।

निज चाहना की पूर्ति के कारण रजोगुणीः
क) धर्म के अनुष्ठान का ढोंग रचाता है।
ख) महायज्ञ भी करवाता है।
ग) साधुगण पूजन भी कर लेता है।
घ) बहु दान भी दे देता है।
ङ) बहु सेवा भी कर लेता है।
च) धर्म अर्थ काज भी कर लेता है।
छ) बहु शास्त्र अध्ययन भी कर लेता है।

किन्तु नन्हीं! यह सब अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए करता है। यह सब केवल अपनी स्थापना के लिए करता है।

कभी कभी रजोगुणी बहु कर्त्तव्य परायण भी दिखते हैं। वास्तव में यह भी वे अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए ही करते हैं। अपना मान बढ़ाने के लिए वे दूसरों को मान भी देते हैं। अपनी इज़्ज़त बढ़ाने के लिए वे मां बाप की सेवा भी करते हैं और कभी कभी झुक भी जाते हैं। किन्तु वे न ही राम जैसा बनना चाहते हैं, न ही उनमें भगवान के गुण वास करते हैं। वे तो केवल अपने मान, धन इत्यादि के लोभी होते हैं।

रजोगुणी अतीव दक्ष और चतुर भी होते हैं और अनेकों विद्याओं को भी सीख लेते हैं। वे अतीव प्रवीण भी होते हैं और हर वक्त कार्यों में लगे रहते हैं। रजोगुणी जग में बहुत नाम कमाते हैं और बड़े बड़े काम करते हैं। वे बड़े उपयोगी होते हैं और बड़े परिश्रमी भी होते हैं।

पर सुन कमला!
१. करुणा का यह नाम नहीं जानते।
२. निष्कामता, कोमलता यह नहीं जानते।
३. प्रेम इन्हें केवल अपने से ही होता है।
४. इनकी चाहना ही इनका धर्म है।

५. यह अपनी बुद्धि पर नाज़ करते हैं और केवल अपनी बुद्धि को ठीक मानते हैं।

रजोगुणी कामना का नौकर है; तृष्णा, लोभ का पुजारी है।

क) यह अपने हर अन्याय को,
ख) अपनी हर दुष्टता को,
ग) अपनी हर क्रूरता को,
घ) अपने हर दुराचार को,
ङ) अपने हर मिथ्याचार को,

न्याय युक्त सिद्ध करता है और अपने आपको दोष विमुक्त कर देता है। अपने किए हुए अन्याय की समर्थक, पाप समर्थक, अपने दम्भ, अत्याचार की समर्थक बुद्धि, रजोगुण की ही देन है।

रजोगुणी, अपनी स्थापना और मान के लोभी होते हैं।

१. किसी का मान हरते हुए देखकर वे मुदित होते हैं।
२. किसी का मान हरते हुए देखकर उन्हें लाज नहीं आती। औरों का मान हरना उनका खेल है।
३. रजोगुणी गिरते हुए का हाथ नहीं थामते, गिरे हुए को वे और गिराते हैं।

दूजे से जो भी अपना लाभ हो सके, उसके योजन बनाते हैं, और दूसरे की निर्धनता का भी लाभ उठाते हैं।

भाई! क्या कहें रजोगुणी के गुण, वह वास्तव में आप का महा वैरी है।

क) सबसे बड़ा दुःख उत्पन्न करने वाला यह रजोगुण है।
ख) घर की शान्ति का भंजक यह रजोगुण है।
ग) बच्चों को जो दुश्मन बनाता है, वह यह रजोगुण ही है।
घ) मां बाप को जो दुश्मन बनाता है, वह यह रजोगुण ही है।
ङ) देश द्रोही, देश घातक यह रजोगुण ही है।
च) हरे भरे घर को तोड़ देता है यह रजोगुण।
छ) यह महाश्रेष्ठ को उसकी श्रेष्ठता से गिरा देता है; साधु का भी पतन करा देता है। कमला! बस यही रजोगुण है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

भगवान कहते हैं, 'ले अर्जुन! अब तू तमोगुण के लक्षण सुन ले!'

शब्दार्थ :

१. तमोगुण को तू अज्ञान जन्य जान।
२. सब जीवों को यह मोहित करता है,
३. यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा इस जीवात्मा को बांधता है।

तत्त्व विस्तार :

जिस पल जड़ तन से संग हुआ,

क) तमोगुण उत्पन्न हो जाता है

ख) अज्ञान का जन्म हो जाता है।
ग) मोह प्रदुर् हो जाता है।

कमल! यह मोह और अज्ञान तो सतोगुणी और रजोगुणी में भी हैं। सतोगुणी अपना बलिदान देना चाहते हैं। रजोगुणी अपनी कामना पूर्ति के लिये जीते हैं। तमोगुणी पशु भावना में जीते हैं।

भाई! सबके पास तीनों गुण होते हैं, कोई गौण और कोई प्रधान।

तमोगुण :

१. तमोगुण सत् और रज को दबाकर उत्पन्न होता है।
२. प्रमाद और आलस्य तमोगुण के जाये हैं।
३. मूढ़पन तमोगुण की देन है।
४. अज्ञान जनित प्रतिक्रिया तम का चिह्न है।
५. मोह, तमोगुण के कारण होता है।
६. ये तमोगुणी लोग बिन सोच विचार के होते हैं।
७. ये तमोगुणी लोग तिरस्कार करने वाले होते हैं।
८. हठीले तथा ज़िद्द करने वाले गुण तमोगुण की देन हैं।
९. यह गुण नित्य दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला है।
१०. नित्य माफ़ न करने वाला गुण तमोगुण जनित है।
११. अन्धापन, दम्भ, दर्प पूर्णता, तमोगुण जनित है।
१२. कर्त्तव्य से अनभिज्ञता तमोगुण जनित है।
१३. महा अभिमानी लोग तमोगुणी हैं।
१४. अति शोक ग्रसित लोग तमोगुणी हैं।
१५. अति चिन्तापूर्ण लोग तमोगुणी हैं।
१६. अधर्म पथ पथिक लोग तमोगुणी हैं।
१७. दुष्ट बुद्धि, दुष्कर्मी लोग तमोगुणी हैं।
१८. तमोगुण शौच और पावनता से दूर ले जाने वाला गुण है।
१९. सबको दुःख देना, यह तमोगुण का काम है।
२०. दूसरे पर निरन्तर काबू पाने की चाहना तमोगुण के कारण होती है।
२१. इस गुण के कारण वास्तविकता की समझ ही नहीं रहती।
२२. तमोगुण की प्रधानता में ज्ञान का तो नामो निशान ही नहीं रहता।
२३. इस गुण वाले के लिये दूसरा इन्सान ही नहीं है।
२४. 'मैं जहान् को मार सकता हूं,' ऐसा भाव तमोगुणी में ही है।

सत् वाला अपना आप देकर दूसरे को बचाता है। रज वाला दूसरे से केवल लेना चाहता है। तम वाला दूसरे का सब कुछ छीन लेना चाहता है, वह दूसरे को इन्सान ही नहीं मानता। यह गुण ज्ञान को समझ ही नहीं सकता, क्योंकि यह छुटकारा पाने की वृत्ति पूर्ण है।

यह गुण जीव को :

क) और लोगों के प्रति उदासीन बनाता है।
ख) कर्त्तव्य के प्रति उदासीन बना देता है।
ग) पलायनकर बना देता है।
घ) काम करने से रोकता है।

ङ) ज़िम्मेवारी नहीं लेने देता।

अब सतोगुण और तमोगुण का भेद समझ ले!

१. सतोगुण जीव को अपने प्रति उदासीन बनाता है। तमोगुणी जीव दूसरे के प्रति उदासीन होते हैं।
२. सतोगुण जीव को कर्त्तव्य परायण बनाता है। तमोगुण जीव को कर्त्तव्य शून्यता की ओर ले जाता है।
३. सतोगुण जीव का हित करता है, तमोगुणी किसी का हित नहीं करते।

तमोगुणी पूर्ण देह अभिमानी होते हैं, गुण अभिमानी होते हैं। वे अपने ज्ञान का भी गुमान करते हैं; इसी कारण ज्ञान का भी अर्थ बदल देते हैं और अज्ञान वर्धक बन जाते हैं। तमोगुणी का ज्ञान वास्तव में अज्ञान ही है, क्योंकि वह जीव को झुकाव से दूर ले जाता है। यह तमोगुण ही जीव में प्रमाद, कर्त्तव्य के प्रति आलस्य, और सत् के प्रति निद्रा से बान्धता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन सुन!

शब्दार्थ :

१. सतोगुण सुख में,
२. और रजोगुण कर्म में लगाता है,
३. परन्तु तमोगुण ज्ञान को आवृत्त करके प्रमाद में लगाता है।
४. रज और तम को दबाकर सतोगुण होता है,
५. सत् और तम को दबाकर रजोगुण होता है,
६. ऐसे ही सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण होता है।

तत्त्व विस्तार :

भाई!

क) कामना, तृष्णा, लोभ छोड़ो और अज्ञान पूर्ण प्रमाद छोड़ो, तब ही तो सत् पूर्ण शुभ कर्म कर सकोगे किसी के लिए!
ख) सत् पूर्ण प्रेम छोड़ दोगे, तम पूर्ण प्रमाद छोड़ दोगे, तब ही तो बेधड़क लोभ, तृष्णा और कामना की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो सकते हो।
ग) जब शुभ कर्म की चाह मिटे, लोभ चाहना नहीं रहे, या यूं कहो, दब जायें; तब ही तो आलसी बन सकते हो, फिर शुभ कर्म और संसार की चाहना, दोनों को छोड़ दोगे।

देखो कमला! गुणों का गुणों पर कई प्रकार का प्रभाव पड़ता है।

गुण,

१. सहयोगी भी होते हैं, जो गुण वर्धन में सहायक होते हैं।
२. वियोगी भी होते हैं, जो विच्छेद या भेद उत्पन्न करते हैं।
३. प्रभावितकर भी होते हैं, जो गुण परिवर्तन करते हैं।
४. प्रतिकर्षितकर भी होते हैं, जो गुणों को दूर करते हैं।
५. आकर्षितकर भी होते हैं, जो किसी गुण को अपनी ओर खेंचते हैं।
६. अनुकूल भी होते हैं।
७. प्रतिकूल भी होते हैं।

ये सब सम्बन्ध गुणों के गुणों के साथ होते हैं।

- गुण ही गुणों को दबाते हैं।
- गुण ही गुणों को उभारते हैं।
- गुण ही गुणों को गुण प्रयोग के लिए प्रेरित करते हैं।
- गुण ही गुणों से दूर कर देते हैं।

यहां भगवान कहते हैं कि सतोगुण जीव को सुख की ओर आकर्षित करता है और सुख उपार्जन में लगाता है। रजोगुण कर्मों में लगाता है और तमोगुण तो ज्ञान को आवृत्त करके प्रमाद में डालता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से, ले! सत्त्व गुण की बात बताऊं!

शब्दार्थ :

१. जिस काल में इस देह के सम्पूर्ण द्वारों से,
२. प्रकाश और ज्ञान उपजता है,
३. उस काल में जानना चाहिए कि सत्त्व गुण बढ़ा हुआ है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि सतोगुण बढ़ा हुआ तब मानो जब,

क) तन के सब द्वारों में प्रकाश और ज्ञान उपज जाये।
ख) जो भी सम्पर्क में आये, आपका ज्ञान बह जाये और बढ़ जाये।

ज्ञान क्या है ?

भगवान पहले कह कर आये हैं कि ज्ञान क्या है, इसे पुनः समझ ले!

१. अहंकार का अभाव ही ज्ञान है;
२. अभिमान का अभाव ही ज्ञान है;
३. आर्जवता ही ज्ञान है;
४. क्षमा ही ज्ञान है;
५. करुणा ही ज्ञान है;
६. दूसरे पर अधिकार रहितता ही ज्ञान है;
७. अद्वेष ही ज्ञान है;

८. निर्वैर भाव ही ज्ञान है;
९. मैत्री ही ज्ञान है;
१०. समत्व भाव ही ज्ञान है।

इसके परिणाम स्वरूप आन्तर में :
क) आनन्द उपज ही पड़ेगा।
ख) सत् अनुभव होने लग जायेगा।
ग) सत् की समझ आने लग जायेगी।
घ) ज्ञान उपजने लग जायेगा।
ङ) निर्लिप्तता आ ही जायेगी।
च) उदासीनता समझ आने लग जायेगी।
यही सब प्रकाश के गुण हैं।
सतोगुणी समचित्त है।

समचित्तता :
१. समचित्त, शुभ अशुभ पाकर भी निरपेक्ष रहेगा।
२. राग और द्वेष जहां पर हों, वहां पर भी वह परवाह नहीं करेगा।
३. सतोगुण प्रधान वाले का प्रवृत्ति में या निवृत्ति में समभाव होगा।
४. जहान में महा शोरोगुल में भी वह शान्त रहेगा।
५. जहान के काज कर्म में दक्ष होते हुए भी वह अकर्त्तापन का अभ्यास करेगा।
६. जहान के प्रहारों के प्रति वह नित्य उदासीन रहने का प्रयत्न करेगा।
७. मान या अपमान के प्रति वह नित्य उदासीन रहने का प्रयत्न करेगा।

समचित्तता का परिणाम :
तब ही तो परिणाम में वह :
क) नित्य तृप्तता को पायेगा,
ख) उदासीनता को पायेगा,
ग) निर्दोषता को पायेगा,
घ) निरासक्त हो जायेगा।

जीवन में इस अभ्यास के पश्चात् वह इन गुणों में स्थिरता पायेगा और वहां प्रकाश उत्पन्न होता जायेगा। यानि, उसे सत् और असत् समझ आता जायेगा। सत् और असत् से परे जो तत्त्व है, वह कुछ कुछ जान सकेगा। यह सब सतोगुण का प्रताप है।

पर याद रहे, हर द्वार से सतोगुण को बहना होता है और हर द्वार से सतोगुण को उपजना होता है। सतोगुण सम्पन्न लोग दैवी भाव में रहते हैं और जीवन में दैवी सम्पदा बहाते हैं। जो अपने तन मन को भूलकर दूसरे के लिए, दूसरे के सुख के लिये निष्काम काज करे, उसे सत्पूर्ण ही कहते हैं।

जो वास्तव में, सत् में स्थित हैं, वे निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और निष्काम ज्ञान की ओर बढ़ते हैं। वे तो भगवान को भी कुछ देने जाते हैं, वे भगवान से कुछ भी लेना नहीं चाहते। वे भगवान का भगवान को देना चाहते हैं। इस कारण वे,
१. तन भगवान को लौटा रहे हैं।
२. मन भगवान के चरण में मिटा रहे हैं।
३. अपना व्यक्तित्व भाव मिटाना चाहते हैं।
४. वे स्वयं स्थापित होना नहीं चाहते, वे तो अपने तन में भगवान को स्थापित करना चाहते हैं।

५. वे स्वयं प्रभुत्व पाना नहीं चाहते, वे तो चाकर बनने चले हैं।

अजी! वे अपना तन भगवान को देने चले हैं। वे भगवान बनने नहीं चले, परन्तु उनके गुणों द्वारा भगवान जहान को मिलते हैं। क्योंकि उनके तन में,

क) भगवान का आवाहन हो रहा है।
ख) भगवान विराजित होने वाले हैं।
ग) भगवान सप्राण होने वाले हैं।

जब तनत्व भाव का नितान्त अभाव हो जाता है, तब वहां जीवत्व भाव का अभाव होने के कारण तन 'मैं' का नहीं रहता। मैं रूपा मल रहित तन, दिव्य विभूति मात्र ही होता है।

किन्तु नन्हीं! यह सतोगुण के परे की बात है। सतोगुणी को ज्ञान और प्रकाश से अभी संग होता है। जब सतोगुण से भी परे हो गया, तब जानो वहां इन्सान नहीं, भगवान रह जाता है।

देवत्व भाव सतोगुण है, इससे सतोगुणी को संग होता है। दैवी सम्पदा बहाव सतोगुण है, इससे भी सतोगुणी को संग होता है। जीवन का यज्ञमय होना सतोगुण है, परम गुण अभ्यास यहीं पर आरम्भ होता है।

किन्तु सावधान!

अभी यहां 'मैं' बाकी है, अभी वह प्रकाश चाहती है। अभी इसको आनन्द से संग होता है, अभी सब राम को देना बाकी है। अभी सतोगुण का अहंकार बाकी है। सतोगुण इस अभ्यास तथा इसके परिणाम रूप सुख से बान्धता है। सतोगुण जीव को देवत्व से बान्धता है। सतोगुण जीव को ज्ञान से बान्धता है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

भगवान अर्जुन को रजोगुण की वृद्धि के लक्षण बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने पर,
२. लोभ, प्रवृत्ति, अशान्ति, नित्य नव काज का आरम्भ, विषय उपभोग की लालसा,
३. ये सब उत्पन्न होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

रजोगुण, लोभ और अतृप्ति को बढ़ाता है। रजोगुणी को आज के लिये ही नहीं,

क) पूर्ण जीवन के लिये धन चाहिए!
ख) बच्चों के लिये भी धन चाहिए!
ग) बल्कि बच्चों के भी पूर्ण जीवन के लिये धन चाहिए!
घ) बच्चों के लिए ही नहीं, उनके बच्चों के लिए भी धन चाहिए!
ङ) धन इतना चाहिये कि जो चाहिये, मोल

लिया जा सके!

च) चाहना इतनी है कि संसार की हर रुचिकर वस्तु आपकी चाहना में समाहित है।

नन्हूं! धन की कीमत आपकी चाहना राही पड़ती है। रजोगुणी को सच ही बहुत धन चाहिए। स्थूल विषय ही नहीं, उसे तो धन से,

१. इज़्ज़त भी मोल लेनी है।
२. वफ़ा भी मोल लेनी है।
३. श्रेष्ठता भी मोल लेनी है।
४. ज्ञान भी मोल लेना है।
५. इन्सान भी मोल लेना है।
६. प्रेम भी मोल लेना है।
७. भगवान भी मोल लेना है।
८. इन्सानियत भी मोल लेनी है।

सो, बहुत कुछ इसी जीवन में मोल लेना है।

ऐसे को जितना धन मिले, उतनी ही उसकी निर्धनता बढ़ती है। 'हम तो बहुत ग़रीब हैं, धन कम पड़ जाता है', ऐसा वे मानते हैं। इस कारण उनका :

क) लोभ बढ़ता जाता है।
ख) चेष्टायें बढ़ती जाती हैं।
ग) नित नव काज आरम्भ होते हैं।
घ) मनो चंचलता बढ़ती जाती है।
ङ) चिन्ता बढ़ती जाती है।
च) विषयों से संग बढ़ता जाता है।
छ) मां, बाप से प्रेम कम होता जाता है।
ज) आपस में प्रेम कम होता जाता है।
झ) इन्सान से प्रेम कम होता जाता है।
ञ) कर्त्तव्य का नामो निशान मिटता जाता है।
त) देना तो वे भूल ही जाते हैं, हर पल लेने की चिन्ता लगी रहती है। इस कारण इनका:

१. कोई पुत्र नहीं होता।
२. कोई नाता नहीं होता।
३. कोई बन्धु नहीं होता।
४. कोई प्यार नहीं होता।
५. कोई यार नहीं होता।

- ऐसे भाई की कोई बहन नहीं होती।
- ऐसी बहन का कोई भाई नहीं होता।
- जहां कर्त्तव्य है, वे सब नाते टूट जाते हैं।
- जहां देना पड़ता है वे सब नाते टूट जाते हैं।
- जहां दूसरे का कोई हक होता है, वे सब नाते छूट जाते हैं। केवल जहां लेने की बात होती है, वहां नाते बन्धु कहलाते हैं।

दुनियां में इस कारण एक ओर तो महा प्रगति हो रही है। विज्ञान ने हमें कौन से सुख साधन नहीं दिये ? हर पहलू में हमें चैन देने के और दुनियां को सुन्दर बनाने के यत्न किये जा रहे हैं; और दूसरी ओर जीव क्या कर रहा है ? वह सब कुछ पाना चाहता है। जितनी प्रगति हो रही है,

क) उसकी उतनी ही लालसा बढ़ती जाती है।
ख) उतना ही धन कम पड़ जाता है।
ग) उसके अनुरूप ही जहान् से प्रेम मिट जाता है।
घ) उसके अनुरूप ही जहान् से कर्त्तव्य मिट जाता है।

सुख के लिये विज्ञान बढ़ाया जा रहा है। विज्ञान ने सुख सुविधा दी जीव को, किन्तु परिणाम केवल दुःख ही हो गया है। यह है रजोगुण की देन!

* प्रेम की अर्थी[1] निकलती है,
अर्थी[2] ने अर्थ[3] जो पाना है।
मृतक अर्थ[3] अर्थी[2] धर आये,
अर्थ[3] का आज यह ज़माना है॥

अर्थ[6] सार्थक हो जाये,
अर्थी[2] की यह ही चाहना है।
जिसका भी हक हमपे है,
उसे ही अर्थी[5] बनाना है॥

कर्त्तव्य की गर अर्थी[1] निकले,
अर्थ[3] तब ही अर्थी[2] पाये।
अर्थ[3] अर्थी[4] का भेद अर्थ[6],
अर्थी[2] समझ ही कब पाये॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. तमोगुण के बढ़ने पर,
२. अप्रकाश, अप्रवृत्ति और प्रमाद तथा मोह,
३. ये सब ही उत्पन्न होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

क) तमोगुण, अज्ञान और मोह वर्धक है।
ख) तमोगुण के कारण जीव का तन से संग होता है।
ग) तमोगुण के कारण जीव का व्यक्तित्व बनता है।
घ) तमोगुण ही सर्वप्रथम अज्ञानता का कारण है।
ङ) तमोगुण ही सर्वप्रथम मोह का कारण है।
च) तमोगुण ही मिथ्यात्व के जन्म का कारण है।
छ) तमोगुण के ही कारण जीव अहंकार करता है।
ज) तमोगुण अंश के कारण जीवत्व भाव जन्मता है।
झ) तमोगुण अंश के कारण जीव कर्त्तव्य अभाव में रहता है।

देख कमला! तम, रज, सत् सबमें होते हैं, पर किसी में एक गुण और किसी में दूसरा गुण प्रधान होता है।

- मोह रूप असत् सब में होता है।
- तनत्व भाव सबमें होता है।
- संग सबमें होता है।

सत् वाले के पास प्रकाश है और वहां

* अर्थ अर्थी के सूक्ष्म अर्थ :
१. जनाज़ा २. मतलबी, लोभी ३. धन ४. मूल्य, जीवन सिद्धि ५. मृतक ६. प्रयोजन और कथन सारांश।

ज्ञान की प्रधानता होती है। रज वाले में लोभ और कामना प्रधान होते हैं। तम वाले अन्धकार में रहते हैं।

नन्हूं! सत् वाले में भी तम का वर्धन होता रहता है। याद रहे, उसे अभी सत् से संग है। किसी को सत्त्व से संग है, किसी को गुणों से संग है। सत्त्व गुण वाले देवत्व में स्थित होते हैं। फिर भी वहां संग का नितान्त अभाव नहीं हुआ। अभी वह गुण बधित ही हैं, गुणों से उठे नहीं।

जब तक गुणातीत नहीं हुए, अभी कुछ अभिमान बाकी है, कुछ अज्ञान बाकी है, कुछ मोह बाकी है। उतना ही तम का अंश बाकी है। अप्रवृत्ति भी तम का गुण है।

अप्रवृत्ति वाले,

१. कर्त्तव्य विमुख होते हैं।
२. धर्म परायण नहीं होते।
३. मानो बातें करते हैं परन्तु उनके अनुकूल काज कर्म नहीं करते।
४. अपने को महा श्रेष्ठ तो मानते हैं, पर दूसरे का हक नहीं जानते।
५. कर्त्तव्य जहां करना होता है, वहां से पलायन करते हैं।
६. ज़िन्दा होते हुए भी मृतक के समान होते हैं।

याद रहे कमला! सत् वाले अपने आपको भूलते हैं, पर दूसरे को नहीं भूलते। दूसरे के लिए वह देवता समान होते हैं। तम वाले अपने आपको नहीं भूलते, दूसरे के लिये मृतक के समान होते हैं।

जग को छोड़ देना सत् नहीं होता, तन को छोड़ देना सत् है। तन जग को दे देना ही सत् पथ है।

यह कर्त्तव्य पलायनता रूप तमोगुण अंश, आजकल साधुता अभिलाषी गण के पास अधिक मात्रा में है।

क) जो ज्ञान जीवन में रूप न धरे, वह ज्ञान भी तमो ज्ञान है।
ख) जो ज्ञान जीवन में बह न जाये, वह ज्ञान भी तमो ज्ञान है।
ग) जो ज्ञान जीवन में आपको देवता समान भी नहीं बना सकता, वह ज्ञान तमो ज्ञान है।
घ) जो ज्ञान जीव को इन्सानियत से दूर करे, वह तमो ज्ञान ही होता है।

- वह अप्रकाश का वर्धन करने वाला है।
- वह प्रमादजम और प्रमाद वर्धक होता है।
- वह आपको अप्रवृत्ति की ओर ले जाता है।
- वह मोह मिटाता नहीं, मोह का वर्धन करता है। वह तमोगुण है।

इसलिए भगवान कहते हैं, 'वे घोर अन्धकार में जाते हैं, जो ज्ञान पाकर भी तम प्रधान रहते हैं। जो ज्ञान को जीवन में नहीं उतारते, वे महामूर्ख होते हैं।'*

इसी तमोगुण से बन्ध कर जीव :

१. अज्ञानता और मोह के कारण ज्ञान पाकर भी मूर्ख रहते हैं।

---

*ईशोपनिषद्, मन्त्र ९ में इसका पूर्ण विवरण है।

२. प्रमाद और आलस्य के कारण ज्ञान पाकर भी देवता नहीं बनते।

मानो, वे ज्ञान को भी धोखा देते हैं, भगवान को भी धोखा देते हैं।

तमोगुण के कारण लोग,

क) ज्ञान को झूठा अर्थ देते हैं।
ख) ज्ञान को मिथ्या सिद्धान्तों से बान्ध देते हैं।
ग) जब स्वयं देवता बन नहीं सके तो जग ही छोड़ देते हैं।
घ) जब आप कर्त्तव्य न निभा सके तो परिवार वालों को छोड़ देते हैं।
ङ) स्वयं गुणातीत बन न सके तो गुणवालों को छोड़ दिया।
च) जब पूर्ण की पूर्णता मान न सके तो पूर्ण को ठुकराने लग गये।
छ) स्वयं अपमान जब सह न सके तो परिस्थिति ही छोड़ दी और कहा, 'अपमान से हम उठ गये।'
ज) ख़ुद अहंकार जब छोड़ न सके, सबसे अलग ही रहने लगे और कहने लगे, 'एकान्त वासी हैं हम!'

यह सब तमोगुण का प्रसाद है। यह सब तमोगुण की देन है।

सब छोड़कर भाग जाना आसान है, किन्तु सबसे निभाना कठिन है। मिथ्या सिद्धान्तों के राही अपने आपको चाहे दोष विमुक्त कर लो, पर यह वास्तव में तमो अंश ही है।

प्रमाद :

१. असावधानी को कहते हैं।
२. अनुचित निर्णय को कहते हैं।
३. किसी की अवहेलना करने को कहते हैं।
४. संकट से भाग जाने को कहते हैं।

इस युग में ये सब गुण सब में होते हैं।

क्यों न कहें, यदि ज्ञानी लोग ज्ञान को जीवन में नहीं उतारना चाहते तो उन लोगों में ये गुण काफ़ी मात्रा में है। इसलिये, भगवान बार बार कह रहे हैं कि,

१. ज्ञान लुप्त हो गया है।
२. यह ज्ञान परम गुह्य है।
३. ऋषिगण भी इसे नहीं जानते हैं।
४. यह ज्ञान आगे नहीं कहा गया है।
५. तू मेरा प्रिय है, इस कारण तुझे कहता हूं।

ज़रा विचार करो नन्हूं!

क) भगवान इसे क्यों बार बार दोहरा रहे हैं ?
ख) भगवान इसे क्यों गुह्य ज्ञान कह रहे हैं ?
ग) ज्ञान जीवन में मूर्तिमान क्यों नहीं हो रहा ?
घ) क्यों जीवन भर पूजा करके भी हम कुछ नहीं पाये ?

ज़रा सोचो तो सही, गलती कहां हो गई ? क्यों भक्ति भी परिपक्व नहीं हुई ? क्या बात है ?

नन्हीं! यह तमोगुण की करतूत है।

भाई! जहां सब भूले हैं, यहां कृष्ण वही तो सुझा रहे हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥ १४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

यहां भगवान सत्त्व गुण की वृद्धि में मृत्यु पाने वाले के फल के विषय में कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. फिर जब देहधारी,
२. सत्त्व गुण की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है,
३. तब उत्तम, ज्ञानपूर्ण और निर्मल लोकों को प्राप्त होता है।
४. रजोगुण में मृत्यु को प्राप्त होकर,
५. (वह) कर्म संगियों में उत्पन्न होता है।
६. तमोगुण में लीन हुआ,
७. वह मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान जन्म मरण के चक्र की बात कहते हैं यहां। कहते हैं, 'जैसे जिसका मरण भाव होता है, वैसी ही उसको नव योनि मिलती है।'

सतोगुण में बीज आरोपण :

क) सत् वाले का संग सत् से होने के कारण,
ख) सत् वाले के कर्म सत् पूर्ण होने के कारण,
ग) सत् वाले की सत् मांग होने के कारण,
घ) सत् वाले ने जीवन में सबको सत् ही दिया होता है, इस कारण,

उसके जीवन रूप वृक्ष के फल एवं बीज, सत्पूर्ण ही होते हैं।

१. वे बीज, अपने गुणों के अनुसार गुण पूर्ण धरती ढूंढ लेते हैं और उनका वहीं पुनर्जन्म होता है।
२. सतोगुण को पलने के लिए जैसी परिस्थितियां चाहिएं और जैसे लोग चाहियें, वही उन्हें मिलते हैं।

नन्हूं! भगवान कहते हैं कि सतोगुण की प्रधानता में जीने वाले लोग, जो ज्ञान के प्रकाश में रहते हैं और श्रेष्ठ कर्म करने वाले होते हैं, उन्हें आगामी जन्म में :

क) उत्तम कुल मिलते हैं।
ख) देवत्व के आगे बढ़ने के सम्पूर्ण साधन मिलते हैं।
ग) साधुता पूर्ण लोग मिलते हैं।
घ) उन्हें ज्ञान पूर्ण लोग भी मिलते हैं।

इसे यूं समझ!
एक जीव को श्रेष्ठ कुल में,
१. धन भी मिलता है।
२. ज्ञान भी मिलता है।

३. शुभ कर्म करने का मौका भी मिलता है।
४. निष्काम कर्म करने का मौका भी मिलता है।
५. साधुओं की संगत भी मिलती है।

मिलता तो सब कुछ है; और जो मिला है, वह पूर्व जन्म में सत् गुण की प्रधानता के कारण मिला है, किन्तु जीव आधुनिक जन्म में उसे कैसे इस्तेमाल करता है और उसका धन, ज्ञान, कुल, जीव इत्यादि के प्रति क्या दृष्टिकोण है, यह वह स्वयं देख ले।

रजोगुण में बीज आरोपण :

नन्हीं! एक बात बताऊं ? ज़रा सुनो! आज के धनवान् बहुत जन्म शुभ कर्म तथा सत्पूर्ण कर्मों के फलस्वरूप ये सब कुछ पाये हैं, किन्तु उन्हें चाहिये कि स्वयं अपने इस जीवन के कर्मों का हिसाब तो कर लें। शास्त्र कथित गुण सम्मुख रखकर अपने आप को तोल तो लें और उससे निर्णय कर लें कि उन्हें आगे क्या मिलना है ? तब शायद उन्हें पता लग जाये कि आगे उनके लिये सिवा दुःख के और कुछ नहीं है। उनका रजोगुण उन्हें इस जीवन में भी सुख चैन नहीं लेने देता, फिर आगामी जन्म में तो जो उन्होंने दूसरों से किया है, वही उनके सामने आयेगा। वह तो उनको मिलेगा ही! तब वे निर्धन होंगे और तड़पेंगे। तब वे ठुकराये जायेंगे। तब वे कर्म संगियों में उत्पन्न होंगे। तब वे काम्य कर्म करने वालों के चाकर बनेंगे ही!

तमोगुण में बीज आरोपण :

क) तमोगुण की प्रधानता वाले लोग स्वयं तो मूर्ख होते ही हैं, वे औरों को भी मूर्खता की ओर ले जाते हैं।
ख) वे स्वयं तो कर्त्तव्य विमुख होते ही हैं, वे औरों को भी कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।
ग) वे तो मिथ्या सिद्धान्तों का आसरा लेते ही हैं, वे औरों को भी वही सिद्धान्त सिखाते हैं।

उन मूढ़ लोगों को और भी मूढ़ योनियां मिलती हैं।

नन्हूं! याद रहे, सम्पूर्ण गुण :

१. सत्मय होते हैं।
२. मन की अवस्था के सूचक हैं।
३. आपके दृष्टिकोण के सूचक हैं।
४. आपकी देहात्म बुद्धि की तीव्रता या गौणता के सूचक हैं।

इनके द्वारा आप अपने आप को तोल लो!

अधिकांश लोग कह देते हैं कि, 'हमारी नीयत ठीक है' इत्यादि! यह कहना ही काफ़ी नहीं होता, जीव को,

क) अपने आप को तोल लेना चाहिए।
ख) अपने कर्मों को तोल लेना चाहिये।
ग) अपनी कामनाओं को भी तोल लेना चाहिये।
घ) अपनी इन्सानियत को भी तोल लेना चाहिये।

आपको जो कहानी अच्छी लगती है, उसके मुख्य नटों का व्यवहार भी आपको

पसन्द ही होगा। उनके सिद्धान्त भी पसन्द ही होंगे। उनकी कुर्बानियां भी पसन्द होंगी, उनका प्रेम भी पसन्द ही होगा, उनकी वफ़ा भी पसन्द ही होगी।

जो गुण आपको औरों में पसन्द आये हैं, वे गुण क्या आप अपने आप में नहीं लाना चाहते ?

जो लोग आपको पसन्द हैं, जिन लोगों को आप श्रेष्ठ कहते हैं, जिन बातों को आप श्रेष्ठ कहते हैं, जो व्यवहार आप औरों से चाहते हैं, वह यदि आप स्वयं नहीं करते तो आप अपने आपको कैसे पसन्द कर सकते हैं ?

नन्हूं! यदि आप अपनी चेत पसन्द स्वयं बन जायें तो आप सत्‌गुण की ओर बढ़ ही जायेंगे।

जन्म तो कर्म के चक्र पर आधारित है। जब तक तनत्व भाव का अभाव नहीं हो जाता, तब तक आपके तन के द्वारा हुए सम्पूर्ण कर्म आपके हैं। तनत्व भाव के अभाव के पश्चात् केवल 'कर्म' रह जायेंगे, किन्तु वे आपके नहीं होंगे।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. सुकृत कर्म का फल सतोगुणी और निर्मल होता है,
२. रजोगुण का फल दुःख होता है
३. और तमोगुण का फल अज्ञान होता है।

तत्त्व विस्तार :

सुकृत :

नन्हीं! प्रथम 'सुकृत' को समझ ले!

१. सुकृत का अर्थ है, जो कृपापूर्ण व्यवहार किया गया है।
२. परोपकार पूर्ण कर्म सुकृत होते हैं।
३. स्वार्थ रहित कर्म सुकृत होते हैं।
४. औरों की सहायता रूप किये गये कर्म सुकृत होते हैं।
५. औरों की स्थापना अर्थ किये गये कर्म सुकृत होते हैं।
६. औरों को सुख देने वाले कर्म सुकृत होते हैं।
७. कुशल कर्म सुकृत होते हैं।
८. सुकृत कर्म वह होगा जो दूसरे को प्रधानता देने वाला होगा।

सुकृत वह है जो निष्काम कर्म हो और जो यज्ञ, तप, दान पूर्ण हो।

दान :

सात्त्विक दान वह होगा जो,

क) दूसरे को प्रधान जानकर दिया जाये।
ख) अपने हिस्से में से दिया जाये।
ग) श्रद्धापूर्ण मन से दिया जाये।
घ) अपना कर्त्तव्य जानकर दिया जाये।

ङ) बिना अपनी किसी श्रेष्ठता के भाव से दिया जाये।

श्रेष्ठ तो वह है, जो :

- आपके पत्थर जैसे दिलों को हिला सकता है।
- आपसे पुण्य करवा सकता है।
- आपसे आपको चुरा सकता है।
- आपसे आपकी वस्तु को ले सकता है।
- आपको आपकी मान्यता से उठा सकता है।
- आपको वास्तविक खुशी दे सकता है। दूसरे के लिये कुछ करके, खुशी तो आपको ही मिलती है।

धन का दान दिया तो क्या दिया ? धन के साथ अपने आपको भी दे देना धन के दान से श्रेष्ठ है। दान श्रद्धा युक्त चाहिए।

दरिद्र तो आप हैं, जिसे दे रहो हो, वह तो नारायण है! नारायण ने आपके पत्थर दिल को पिघला दिया, तभी तो आपने दान दिया।

जीव जितना श्रेष्ठ होगा, वह सात्त्विक कर्म सम्पन्न,

१. उतना ही झुककर सब कुछ देगा।
२. उतने ही प्यार से सब कुछ देगा।
३. उतना ही दूसरे को मनाकर सब कुछ देगा।
४. उतना ही छुपाकर सब कुछ देगा।
५. उतना ही अहं रहित होकर सब कुछ देगा और दूसरे को स्थापित करेगा।

निष्काम भाव से दूसरे की स्थापना करना ही महायज्ञ है। यही ज्ञान और प्रकाश को उत्पन्न कर सकता है। सात्त्विक, सत्त्व स्थित लोगों का यह चिह्न है। ज्ञान का प्रचार सत्त्व का चिह्न नहीं है, जीव से प्यार सत्त्व का चिह्न है।

तप :

सत्त्व गुण वाले जीव के हर कर्म में तप निहित होता है, क्योंकि :

१. वह हर विपरीत परिस्थिति में मौन होता है।
२. वह विपरीतता के प्रति निरन्तर मौन होता है।
३. दान, सेवा या किसी के लिए कुछ करते हुए वह स्वयं छिपा रहता है। अनेकों बार उसे मान की जगह पर अपमान ही मिलता है।
४. वह अपने अपमान के प्रति मौन रहता है।
५. वह अपने कष्ट के प्रति मौन रहता है।
६. अपनी बात वह उतनी ही करता है जितनी दूसरे के लिए आवश्यक हो।
७. जिसे वह स्थापित करता है, वह भी अनेकों बार उसके विपरीत हो जाता है। स्थापित होने के लिये उसने सतोगुण सम्पन्न से मित्रता की थी, जब वह स्थापित हो गया तो वह झुकना पसन्द नहीं करता। स्थापित होने वाला तो सतोगुण सम्पन्न नहीं।

क) इस कारण उसमें कृतज्ञता का अंश नहीं होता।
ख) उसने सीस उठाने के लिये मित्रता की थी, सीस झुकाने के लिये नहीं।

ग) रजोगुण प्रधानता के कारण रजोगुणी, सतोगुण सम्पन्न के द्वार पर जाता है। आशा, तृष्णा तथा लोभ की पूर्ति के पश्चात् उसके लिए सतोगुण पूर्ण दाता निष्प्रयोजन हो जाता है।

घ) वह तो सतोगुणी को झुकाना चाहता है। रजोगुण में झुकने का गुण नहीं होता, वह केवल अपने स्वार्थ के लिये झुकता है।

इस कारण सतोगुणी को बेवफ़ाई, अपमान तथा बेरुख़ी भी मिलती रहती है। रजोगुणी केवल अपने काज अर्थ ऊपर ऊपर से बनाकर भी रखता है। सतोगुणी अपने अपमान के प्रति मौन रहते हैं; मौन रहते हुए वे नित्य गुण लीला के दर्शन करते हैं। इनका यह मौन ही इनका तप है।

तमोगुणी तो सतोगुणी का नाम ही मिटा देना चाहते हैं। सतोगुण की तीव्रता तथा गौणता, रजोगुण की तीव्रता तथा गौणता पर आधारित है। सतोगुण की तीव्रता तथा गौणता, तमोगुण की तीव्रता तथा गौणता पर आधारित है। रज और तमोगुण की तीव्रता तथा गौणता पर उनकी सतोगुण पर प्रहार की तीव्रता तथा गौणता आधारित है। सतोगुणी का निरन्तर मौन ही उसका तप है।

यज्ञ :

दान और तप मिलकर यज्ञ बनता है। सत्कर्मी का जीवन यज्ञ पूर्ण होता है, इस कारण उसका फल निर्मलता है।

रजोगुण :

रजोगुण के कर्मों का फल दु:ख है। रजोगुण जीव को तृष्णा, कामना और लोभ से बांधता है। कमला! रजोगुणी की स्थिति बहुत हद तक सतोगुण के तप के विवरण में स्पष्ट हो गयी होगी।

१. लोभी तथा नित्य नव चाहना पूर्ण कर्म करने में लगे हुए लोग रजोगुण पूर्ण होते हैं।
२. यह गुण नित्य अतृप्त रहने वाला है।
३. जो केवल उपभोग की चाहना रखता है, वह रजोगुणी है।
४. जिसके जीवन का उद्देश्य केवल रुचिकर की प्राप्ति है, वह रजोगुणी है। उसके कर्म क्या होंगे, अब समझ ले।

धन लोभ :

क्योंकि धन के पास विषय ख़रीदने की शक्ति है, इस कारण वह बहुत हद तक आपकी रुचि पूर्ण कर सकता है। धन के अनुरूप मान मिल सकता है। लोभी तथा ज़रूरतमन्द लोगों की वफ़ा भी कुछ हद तक धन से ख़रीदी जा सकती है। धन, तन को सुख देने वाली अनेकों सुविधायें ख़रीद सकता है।

जीवन संरक्षण कर गुण भी धन में होते हैं (ऐसा प्रतीत होता है)! रजोगुणी लोग, लोभ की प्रधानता के कारण,

- केवल धन प्राप्ति में लगे रहते हैं।
- मान के लोभ के कारण कई बड़े बड़े काम भी करते हैं।

जितना धन, मान का लोभ हो, उसके अनुकूल ही,

क) काज में परिश्रम होता है,
ख) ज्ञान परिश्रम होता है, यानि ज्ञान उपार्जित करते हैं।
ग) जग में मिलन वर्तन होता है।
घ) ज्ञान बखान होता है।
ङ) जग की सेवा भी होती है।
च) श्रेष्ठ कर्म भी होते हैं।
छ) निकृष्ट कर्म भी होते हैं।

- वे श्रेष्ठ बनना नहीं चाहते, श्रेष्ठ कहलाना चाहते हैं।
- वे इज़्ज़त देना नहीं चाहते, इज़्ज़त लेना चाहते हैं।
- वे झूठ और सच में भेद नहीं जानते, उनके कर्म में भी झूठ भरा होता है।
- रजोगुणी का दान भी कामना पूर्ण होता है।
- रजोगुणी का ज्ञान भी कामना पूर्ण होता है।

यह ज्ञान आध्यात्मिक हो या व्यावसायिक हो, केवल बेचने के लिए एकत्रित किया जाता है।

देख कमला! महा ज्ञान जानने वाले लोग भी रजोगुण प्रधान हो सकते हैं। ज्ञान होने का अर्थ यह न लेना कि जिसके पास ज्ञान है, वह सतोगुणी है।

कर्त्तव्य कर्म भी इनका व्यापार है। अपनी कोई चाहना हृदय में धर कर यह कर्त्तव्य करते हैं। यदि मान, धन, या कोई और चाहना की बात न हो तो ये सब नाते तोड़ देते हैं और कोई न कोई बहाना लगाकर अपने आप को दोष विमुक्त कर लेते हैं। जैसे,

१. माता पिता बुरे हैं।
२. माता पिता कठोर हैं।
३. माता पिता हमें पसन्द नहीं करते।
४. माता पिता रोब जमाते हैं।
५. माता पिता हमारे जीवन में ख़लिश डालते हैं।
६. माता पिता के विचार हमारे विचारों से नहीं मिलते।
७. माता पिता पुराने ज़माने के हैं।
८. नाते बन्धु हमारे स्तर के नहीं हैं।
९. नाते बन्धुओं की लेन देन में कौन पड़े ? इत्यादि।

ऐसा कह कर उनके प्रति अपने कर्त्तव्य छोड़ देते हैं।

उनके पास जितना अधिक धन आ जाता है, उतने ही उनके कर्त्तव्य कम हो जाते हैं। वास्तव में, उनके कर्त्तव्य उतने ही बढ़ जाने चाहिएं थे; किन्तु नन्हीं! इनके पास जितना धन आता है ये उतना ही और बटोरना चाहते हैं।

इन्हें तो केवल अपना मतलब सिद्ध करना है।

- जब काम हो गया तो नाता ख़त्म!
- इस गुण के पूर्ण यत्न केवल अपनी कामना पूर्ण करने के लिये होते हैं।

जो वे चाहें उन्हें मिल जाये, किसी तरह भी मिल जाये, यह वे चाहते हैं।

क) दूसरा चाहे मिट जाये,
ख) दूसरा चाहे मर जाये,
ग) दूसरा चाहे दु:खी हो जाये,

इसकी उन्हें परवाह नहीं होती।

घ) मुझे मिलता रहे, चाहे दूसरे को भी मिल जाये।
ङ) 'दूसरा मेरे लिए होना चाहिए', इनका ऐसा भाव होता है।
च) दूसरा उसका तब तक है जब उसमें उनका लाभ निहित हो और दूसरा इनके अनुकूल रहे।

रजोगुण परिणाम :

इस गुण का परिणाम दुःख ही होगा, क्योंकि इनको पत्नी से, पिता से, मां से, बच्चों से, बन्धुओं से, तथा सखा मित्रों से अधिक धन और मान प्रिय होता है। या यूं कहो इन्हें जीव से जड़ अधिक प्रिय है।

सुख सजातीय से मिलता है, विजातीय से नहीं। लोभ पूर्ण कर्म का परिणाम केवल दुःख है।

जो गुण अपना जी बहलाता है, जब वह ही गुण अपने बच्चों में आ जाता है तो रजोगुणी तड़प जाते हैं।

तमोगुण :

तमोगुणी के कर्मों का फल अज्ञान होता है।

१. तमोगुणी प्रवृत्ति त्यागी हैं।
२. तमोगुणी कर्त्तव्य त्यागी हैं।
३. यह गुण जीवन से विमुख करने वाला होता है।
४. यह गुण भगवान से भी विमुख करने वाला होता है।
५. यह गुण दूसरे का अनिष्ट करने वाला होता है।
६. मोह और अज्ञान तमोगुण से उत्पन्न होते हैं और तमोगुण ही इनका वर्धक है।
७. तमोगुणी जीते जी दूसरे के लिये मरा हुआ है।
८. मोह के कारण वह सबका त्याग करता है।
९. तमोगुणी अभिमानी है। देहात्म बुद्धि तमोगुण के कारण होती है। तमोगुण का फल अज्ञान कहा है।

क) तनत्व भाव अज्ञान है,
ख) कर्तृत्व भाव अज्ञान है,
ग) संग और मोह भाव अज्ञान है,
घ) बुद्धि गुमान का भाव अज्ञान है,
ङ) सतोगुण का अभाव अज्ञान है,
च) मान्यता बन्धन अज्ञान है,
छ) किसी भी गुण से संग अज्ञान है,

इन सब में तमोगुण की अधिक मात्रा होती है।

देख कमला! भगवान ने यहां स्पष्ट किया है कि जीव को कैसे और किस दृष्टिकोण से जीना चाहिए।

भगवान ने भक्त के लक्षण बताये, स्थित प्रज्ञ की बातें कीं, ज्ञान के साधन कहे, विभिन्न आदेशों के राही ज्ञान पथ का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने अध्यात्म पथ तथा सत् पथ, योग पथ और भक्ति पथ की राह सुझाई और यह भी समझाया कि ये सब पथ विभिन्न नहीं, एक हैं। साधक का स्वभाव भी जो बताया, वह दूसरे के साथ व्यवहार करते हुए ही दिख सकता है; इसी विधि उसका अभ्यास भी हो सकता है तथा साधक की स्थिति प्रमाणित हो सकती है।

जो भगवान के गुणों का व्यक्तिगत रूप में अभ्यास न करे, समष्टिगत रूप में वह गुण कैसे पायेगा ?

क) जीवन में सतोगुण का अभ्यास ही ज्ञान है।
ख) जीवन में सतोगुण का अभ्यास ही अध्यात्म है।
ग) जीवन में सतोगुण से पूर्ण विमुखता ही अज्ञान है।
घ) जीवन में सतोगुण से विपरीत व्यवहार ही अज्ञान वर्धक है।
ङ) जीवन में राम जैसे गुण जीना, ज्ञान वर्धन का उपाय है।
च) भगवान के गुणों से व्यवहारिक स्तर पर विमुखता अज्ञान वर्धक है।

१. तमोगुण ज्ञान अभिमान में निहित है।
२. तमोगुण कर्म अभिमान में निहित है।
३. तमोगुण मान अभिमान में निहित है।

तमोगुण सबमें होता है, क्योंकि अभिमान तमोगुण का लक्षण है।

- कर्त्तव्य त्यागी ज्ञानी भी तमोगुणी है।
- कर्त्तव्य त्यागी कर्मशील भी तमोगुणी है।
- कर्त्तव्य त्यागी भक्ति गुमानी भी तमोगुणी है।

क्योंकि :

क) कर्त्तव्य ही महान् निष्काम कर्म है।
ख) कर्त्तव्य ही महान् तप है।

कर्त्तव्य जब समष्टिगत रूप धरता है, तब वह महान यज्ञ बन जाता है। कर्त्तव्य विमुखता ही अज्ञान वर्धक बन जाती है और यह तमोगुण का परिणाम है।

देख! तमोगुण का परिणाम अज्ञान कहा है और रजोगुण का परिणाम दुःख कहा है।

- रजोगुण मनोप्रधान है।
- तमोगुण तन प्रधान है।
- सतोगुण बुद्धि प्रधान गुण है।

रजोगुण अपनी कामना पूर्ति के कारण दूसरों पर आश्रित है। यह वह जानता भी है। क्योंकि,

१. दूसरा बिगड़ जाये तो उसका लोभ तथा उसकी कामना पूरी नहीं होती।
२. वह औरों की सहायता तथा सहयोग को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानता है।
३. सबसे बड़ा दुःख तो रजोगुणी लोगों का तब आरम्भ होता है जब इनके बच्चे बड़े होते हैं और उनके सहयोगी बनने से इन्कार कर देते हैं।

   भाई! बच्चों को ये पालते तो नवाबों की तरह हैं और पूर्ण बचपने में वे जो कहते रहे, ये वही करते रहे और उनकी मानते रहे, वे बच्चे इनकी चाकरी नहीं कर सकते। उनका स्वभाव कहना मानना नहीं, बल्कि हुक्म चलाना है।
४. रजोगुणी ने अपना आप नहीं दिया था बच्चों को, रजोगुणी ने अपनी कमाई दी थी, उसने धन दिया था, जो भी धन मोल ले सका, उसने वह दिया था।

भाई! वे बच्चे अपने आपको आपसे और दूसरों से बहुत श्रेष्ठ मानते हैं। जब वे

बिछुड़ गये तो दुःख ही होगा। गरीब मां बाप ने स्वयं बिककर भी बच्चों को सब दिया।

रजोगुण के लोभ के कारण अधिकांश समस्याएं झूठी होती हैं। फिर हर समय 'और मिले, और पाऊं' यही चिन्ता खाती है उन्हें, इस कारण वे दुःखी हो जाते हैं।

तामसिक गुण वाले लोग अन्धे होते हैं, वे परवाह नहीं करते किसी की भी। सारी दुनियां छोड़ देना उनके बायें हाथ का काम है। लोक लाज, लोक मर्यादा की परवाह वे नहीं करते। वे मान अपमान की भी परवाह नहीं करते।

सच कहूं तो समझ लो! महा सत्त्व पूर्ण, ज्ञानवान् तथा पूर्ण तामसिक लोगों के कई गुण मिलते हैं!

सत्	तम
१. सत् वाला अपने प्रति उदासीन है।	१. तम वाला दूसरे के प्रति उदासीन है।
२. सत् वाला अपने प्रति मौन है।	२. तम वाला दूसरे के प्रति मौन है।
३. सत् वाला दूसरे को देने के कारण संतुष्ट है।	३. यह दूसरे का छीन कर संतुष्ट है।
४. सत् वाला कर्त्तव्य परायणता राही वैराग्य पाता है।	४. तम वाला कर्त्तव्य त्याग करके अपने आपको वैरागी मानता है।
५. यह नित्य आनन्द में है।	५. मिथ्या भ्रम में अपने आपको सुखी मानता है।

- दैवी सम्पदा बहाव सतोगुण है।
- दैवी सम्पदा बहाव सतोगुण का कर्म है।
- दैवी सम्पदा बहाव सतोगुण का पथ है।

तमोगुण इससे विपरीत है।

१. बहुत लोगों को तड़पा कर सतोगुण उत्पन्न नहीं होता।
२. बहुत लोगों पर अधिकार जमा कर सतोगुण उत्पन्न नहीं होता।
३. कर्त्तव्य त्याग राही सतोगुण उत्पन्न नहीं होता।

जीव ने तो गुणातीत होना था, गुणों से अप्रभावित होना था; गुणों से भाग जाने से गुणातीत नहीं होते। विपरीतता से भागने वाले का तो अज्ञान ही बढ़ेगा।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

भगवान अर्जुन से कहने लगे कि इन सब गुणों के कार्य पुनः समझ ले!

शब्दार्थ :

१. सतोगुण से ज्ञान,
२. और रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है,
३. ऐसे ही तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।
४. सत्त्व गुण में स्थित उत्तरायण की ओर जाते हैं,
५. रजोगुण में स्थित मध्य लोकों में रहते हैं,
६. तामस गुण पूर्ण वृत्ति में स्थित लोग अधोगति को पाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

सत्य अभिलाषी नन्हूं! भगवान कहते हैं कि,

१. सतोगुण जीव को ज्ञान की ओर ले जाता है।
२. रजोगुण जीव को लोभ की ओर ले जाता है।
३. तमोगुण जीव को प्रमाद, मोह और अज्ञान की ओर ले जाता है।

सतोगुण उत्तरायण की ओर ले जाता है :

भगवान पुनः कहते हैं कि सतोगुण जीव को ऊपर की ओर ले जाता है, यानि,

क) जीवत्व भाव के मिटाव की ओर ले जाता है,
ख) श्रेष्ठता की ओर ले जाता है,
ग) उत्तरायण की ओर ले जाता है,
घ) श्रेय पथ पे ले जाता है,
ङ) साधुता की ओर ले जाता है।

रजोगुण परिणाम - मध्य लोक की प्राप्ति :

रजोगुण जीव को मध्य में ठहराता है। यानि,

१. रजोगुण, जीव को साधारण आदमी की तरह मिश्रित गुण वाला बना देता है।
२. रजोगुण जीव को नीच वृत्ति तथा निकृष्ट गुण सम्पन्न बना देता है।
३. रजोगुण जीव को साधारण आदमियों की तरह पाप और पुण्य में प्रवृत्त करता है।

तम नीचे की ओर ले जाता है :

तमोगुण जीव को नीचे की ओर ले जाता है। तमोगुण शरीर से अत्यधिक संग रखने के कारण मोह उत्पन्न करता है, मोह

उत्पन्न करने के पश्चात् अज्ञान उत्पन्न करता है, और अज्ञान उत्पन्न करने के पश्चात् प्रमाद उत्पन्न करता है।

*** प्रमाद**

प्रमाद को पुनः समझ ले। प्रमाद का अर्थ है,

क) असावधानी,
ख) गलत निर्णय ले लेना,
ग) नशे में चूर रहना,
घ) तन के नशे में मदमस्त रहना,
ङ) तन के नशे के पागलपन में सारी भूलें करके भी अपने आपको ठीक सिद्ध करना।

भगवान कहते हैं कि तमोगुण वाले और भी नीच योनियों को पाते हैं; यानि, और भी निकृष्ट गुण पाते हैं, जिनके कारण उनका अन्धकार और बढ़ जाता है। उनकी आदतें जानवरों जैसी हो जाती हैं, उनकी वृत्ति मूढ़ों जैसी हो जाती है। वे तो घोर अन्धकार में गिरते हैं।

नन्हीं! उन्हें झूठ और सच में भेद नज़र नहीं आता, वे तो कुछ भी सहन नहीं करते। एक झूठ छिपाने के लिये वे लाखों झूठ बोल देते हैं। अपना घर बचाने के लिये वे सबको तबाह करने को तैयार होते हैं। 'यदि स्वयं मर जायें तो क्या परवाह, दुश्मन भी तो मर जायेगा,' ऐसा उनका भाव होता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

देख भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जब देखने वाला द्रष्टा,
२. गुणों के सिवा अन्य कोई कर्त्ता नहीं देखता,
३. और गुणों के परे जो आत्मा है, उसे जानता है,
४. वह मेरे भाव को प्राप्त होता है।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! गुण गुणों में वर्त रहे हैं, जीव के अपने हाथ में कुछ नहीं है। जड़ गुण, जो त्रिगुणात्मिका शक्ति की देन हैं, आपस में एक दूसरे को कार्यान्वित कर रहे हैं। जब जीव यह जान लेता है तो वह यह भी जान लेता है कि :

१. गुण प्रभावित करते हैं,
२. गुण परिवर्तित करते हैं,
३. गुण उत्साहित करते हैं,
४. गुण निस्तेज करते हैं,
५. गुण आकर्षित करते हैं,
६. गुण प्रलोभित करते हैं,

* प्रमाद के विस्तार के लिये श्लोक १४/१३ देखिये!

७. गुण वशीभूत करते हैं,
८. गुण विचलित करते हैं,
९. गुण उत्तेजित करते हैं,
१०. गुण समर्थन देते हैं,
११. गुण प्रतिकर्षित करते हैं,
१२. गुण परित्याग करते हैं,
१३. गुण तड़पाते हैं,
१४. गुण अन्ध अनुयायी बनाते हैं,
१५. गुण मित्र बनाते हैं,
१६. गुण पक्षपाती बनाते हैं,
१७. गुण सहयोगी बनाते हैं,
१८. गुण विच्छेद करवाते हैं,

अन्य विषयों के गुणों को प्रभावित करते हैं। यानि, एक व्यक्ति के गुण दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

किसी व्यक्ति के गुण किसी अन्य व्यक्ति को उससे दूर कर देते हैं, और किसी अन्य को उसके पास ले आते हैं। किसी व्यक्ति के गुणों के कारण कोई दुःखी हो जाता है और कोई सुखी हो जाता है।

किसी व्यक्ति के गुणों के कारण कोई श्रेष्ठ बन जाता है और कोई निकृष्ट बन जाता है।

भाई! यह सब गुणों पर आश्रित है। कौन सा गुण किसको कैसे प्रभावित करेगा, यह साधारण जीव के लिये समझना कठिन है।
- हर विषय में त्रैगुण हैं,
- हर वाक् में त्रैगुण हैं,
- हर कर्म में त्रैगुण हैं।

सब में ही गुण हैं। गुण सहयोगी भी हैं; गुण गुण वर्धक भी है; गुण गुण वर्जक भी हैं।

जो यह जान ले कि पूर्ण संसार पर गुण ही राज्य करते हैं, गुण ही विषयों से सब कुछ करवा रहे हैं, वह :
१. किसी को दोष नहीं लगायेगा।
२. क्षमा स्वरूप आप हो ही जायेगा।
३. करुणा पूर्ण आप हो ही जायेगा।
४. अनुकम्पा और अनुग्रह पूर्ण हो ही जायेगा।
५. अपने ऊपर जो कोई भी प्रहार करे, उस प्रहार के प्रति उदासीन हो जायेगा।

क्योंकि वह जानता होगा कि किसी का दोष नहीं है, यह संसार गुणों का खिलवाड़ है।

अज्ञानी, मूर्ख, जानते नहीं कि क्या हो रहा है। अपने को कर्त्ता मानते हुए ये जड़ गुणों के नौकर होते हैं। इन्हें इनके गुण विवश खेंचे लिये जा रहे हैं। जो अनुभव सहित गुण राज़ को समझेगा, वह जान जायेगा कि स्वरूप इन सब गुणों से परे हैं।

जो ऐसा जानता है :
१. वह ज्ञान के तद्रूप होकर ही जानता है।
२. वह गुणों से संग छोड़कर ही जानता है।
३. यानि वह तनत्व भाव से उठ ही जायेगा।
४. वह पुनः जड़ गुण, कर्म नहीं अपनायेगा।
५. वहां कर्तृत्व भाव का अभाव हो ही जायेगा।
६. गुणों के भोक्ता भी गुण ही हैं; जो यह जान जायेगा, उसका गुण अभिमान मिट ही जायेगा।

इस राह से भी जान लो, वह परम को ही पायेगा। 'मैं' की जगह वहां भगवान ही रह जायेगा।

नन्हीं! कोई लाख कहे कि वह स्वयं कर्त्ता है, इससे वह कर्त्ता नहीं बन जाता। कोई लाख कहे कि वह आत्मा नहीं है, इससे वह आत्मा रहित नहीं हो जाता।

क) सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हैं, चाहे वे आत्मवान् नहीं हैं।
ख) सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हैं, चाहे वे इसे समझते नहीं हैं।
ग) सम्पूर्ण लोगों के कर्म गुणों के ही खिलवाड़ हैं, चाहे वे यह मानते नहीं हैं।

उनके मानने या न मानने से हकीकत तो नहीं बदल सकती। भेद केवल इतना है कि ज्ञानवान् यह जानते हैं और इसे जीवन में मानते हैं। ज्ञानवान् जानते हैं कि किसी का कोई दोष नहीं; इस नाते वे सबको समभाव से देखते हैं और वे सबके गुणों को सह लेते हैं।

वास्तव में वे न किसी को देखते हैं और न कुछ सहते हैं। यह भी कहने को ही कह रहे हैं।

वे तो सत् स्वरूप हैं और भगवान भी कहते हैं- 'ऐसे लोग मुझे ही पाते हैं।'

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

आत्मा को अकर्त्ता तथा गुणातीत जानने का फल बताते हुए भगवान कहने लगे, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जीवात्मा, स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप,
२. इन तीनों गुणों का उल्लंघन करके,
३. जन्म, मृत्यु, वृद्ध अवस्था और दुःख से छूटकर,
४. अमृत को प्राप्त होता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जाने जान सुन! गुण विवेक से,
क) गुण खिलवाड़ जानकर,
ख) गुणों का राज़ जानकर,
ग) गुणों का राज्य जानकर,
घ) गुणों की विवशता जानकर,
ङ) गुणों की प्रधानता जानकर,
च) गुणों को जड़ जानकर,
जीवात्मा गुणातीत बन जाता है।

गुण संग छोड़कर जीव :
१. नित्य आनन्द को पा लेता है।
२. दैवी सम्पदा सम्पन्न हो जाता है।
३. नित्य द्वन्द्व रहित हो जाता है।
४. गुणातीत हो जाता है।
५. सुख दुःख से परे हो जाता है।

नन्हूं! स्थूल शरीर की उत्पत्ति का

कारण त्रिगुणात्मिका शक्ति है। इन गुणों से संग और प्रभाव के कारण ही कर्म फल बीज बनते हैं। फिर, इन गुणों से संग ही जीव को तन से बान्धता है। इन गुणों का रूप ही तो यह तन है।

क) जब जीव इन गुणों को अच्छी प्रकार से समझ जाता है तो वह गुण संग को त्याग देता है।
ख) गुण विवेक के पश्चात् जीव कर्तृत्व भाव और भोक्तृत्व भाव का स्वतः त्याग कर देता है।
ग) गुण विवेक के पश्चात् जीव मानो देह अभिमान का भी स्वतः त्याग कर देता है।

तब वह तन की विभिन्न अवस्थाओं से भी संग नहीं कर सकता और जन्म मृत्यु, जरा और अन्य दुःखों से विमुक्त हो जाता है। फिर वह नित्य आनन्द स्वरूप में स्थित होकर, अमृत को भोगता है।

नन्हीं! बात भी सच्ची है, जिसने यह जान लिया कि सम्पूर्ण गुण जड़ हैं,

१. वह किसी के भी गुणों से प्रभावित कैसे होगा ?
२. वह किसी के भी गुणों का दोष उन्हें कैसे दे सकेगा ?
३. वह सम्पूर्ण लोगों के और अपने भी गुणों से संग नहीं कर सकेगा।
४. गुणों के कारण उसके मन में प्रतिद्वन्द्व उठने बन्द हो जायेंगे।
५. उसमें विद्रोह उठने बन्द हो जायेंगे।
६. उसमें कभी विक्षेप नहीं होगा।
७. उसमें विकार नहीं उठेंगे।
८. उसमें द्वेष या राग नहीं उठेंगे।
९. उसका चित्त स्वतः निर्मल होता जायेगा।

नन्हूं! वह स्वतः गुणातीत हो ही जायेगा। जिसे गुण कभी भी प्रभावित नहीं कर सकते, वह तो नित्य आनन्द में ही रहेगा, वह तो ब्रह्म में समा ही जायेगा।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥ २१॥

भगवान से अर्जुन पूछते हैं कि हे भगवान! आप मुझे बताईये कि :

शब्दार्थ :

१. इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष,
२. किन किन लिंगो (चिन्हों) से युक्त होता है ?
३. किस प्रकार के आचरण वाला होता है ?
४. हे प्रभो! (मनुष्य) किस उपाय से,
५. इन तीनों गुणों से अतीत होता है ?

तत्त्व विस्तार :

अब अर्जुन भगवान से पूछ रहे हैं कि हे प्रभो! इन गुणों से अतीत पुरुष किन लिंगों से युक्त होता है? लिंग का अर्थ है लक्षण, गुण, सबूत का साक्षित्व। 'लिंग' प्रमाण को कहते हैं।

यहां अर्जुन भगवान से गुणातीत के लक्षण पूछ रहे हैं। फिर पूछते हैं कि गुणातीत का आचरण कैसा होता है? यानि, वह जीवन में कैसे होता है, जीवन में कैसा व्यवहार करता है, वह जीवन में कैसे कर्म करता है, इत्यादि।

अर्जुन फिर आगे जाकर इस प्रश्न को बढ़ाते हुए कहते हैं कि :

क) गुणातीत कैसे बनते हैं ?
ख) गुणों को कैसे उलांघ सकते हैं ?
ग) गुणों से कैसे परे हो जाते हैं ?

श्री भगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

भगवान गुणातीत के लक्षण बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! प्रकाश और प्रवृत्ति, और मोह के भी होने पर,
२. जो द्वेष नहीं करता है,
३. और उनके निवृत्त होने पर (उनकी) आकांक्षा नहीं करता है,
४. (वह गुणातीत है।)।

तत्त्व विस्तार :

गुणातीत के लक्षण बताते हुए भगवान कहने लगे कि सतोगुण का प्रकाश, रजोगुण का कार्य रूप प्रवृत्ति, और तमोगुण का मोह, जब अपने अपने गुण में प्रवृत्त होते हैं तो गुणातीत को उनकी प्रवृत्ति से द्वेष नहीं होता; न ही वह इनसे निवृत्त होने की इच्छा करता है।

क) नन्हूं! गुणातीत को ज्ञान तथा प्रकाश से संग नहीं होता।
ख) गुणातीत को दैवी सम्पदा से संग नहीं होता।
ग) गुणातीत को श्रेष्ठता से संग नहीं होता।
घ) गुणातीत को सतोगुण से भी संग नहीं होता।
ङ) गुणातीत को सतोगुण की चाहना भी नहीं होती।
च) गुणातीत को सतोगुण से कोई द्वेष भी नहीं होता।
छ) गुणातीत को प्रवृत्ति (जो रजोगुण का कार्य है) से भी संग नहीं होता और न ही उससे द्वेष होता है।
ज) गुणातीत को प्रवृत्ति के कर्म रूप

परिणाम से भी निवृत्ति की चाह नहीं होती।

झ) गुणातीत न रजोगुण को अपनाना चाहता है और न ही उसे त्यागना चाहता है।

ञ) गुणातीत तमोगुण के कार्य रूप मोह से भी न संग करता है और न ही द्वेष करता है।

ट) गुणातीत न ही तमोगुण के कार्य रूप मोह से प्रभावित होता है और न ही उससे निवृत्ति चाहता है।

नन्हूं! जैसी परिस्थिति आ जाये, वह वैसा ही बन जाता है। जैसा जीव उसके सामने आ जाये, वह वैसा ही बन जाता है। वह तो हर परिस्थिति में समचित्त रहता है। निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों के प्रति वह समभाव रखता है। ज्ञानवान् योगी तो,

१. अपने तन से ही संग छोड़ देते हैं।
२. अपने गुणों को जड़ जानते हैं।
३. अपने गुणों के प्रति उदासीन होते हैं।
४. अपनी आत्मा से मानो आकर्षित होते हैं।
५. गुणों की और गुण प्रभाव की कोई परवाह नहीं करते।

जब किसी के हाथ में ही कुछ नहीं तो किसी से क्या लड़ना ? उनका तन स्वत: जो भी गुण बहाता है, वे उसे मानो निरपेक्ष भाव से बहने देते हैं। वे न प्रवृत्ति से संग करते हैं और न निवृत्ति की ही चाहना करते हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति :

नन्हीं आभा! पहले निवृत्ति तथा प्रवृत्ति को समझ ले। ज्ञानवान्, पण्डित, योगी, या स्थित प्रज्ञ, इन दोनों से संग नहीं करते।

प्रवृत्ति :

प्रवृत्ति का अर्थ है आगे बढ़ना, उदय होना, प्रकट करना, आरम्भ करना, प्रयोग करना, आचार व्यवहार काम में लगाना, क्रियाशीलता, सांसारिक सहज जीवन, व्यापार, प्रवाह की तरह बह जाना।

प्रवृत्ति को अधिकांश सांसारिकता तथा स्वार्थ से सम्बन्धित बताते हैं और कहते हैं संसारी प्रवृत्ति मार्गीय होता है। कई लोग मानते हैं कि यह मार्ग कर्मयोग की ओर ले जाता है।

निवृत्ति :

निवृत्ति का अर्थ है लौट जाना, अस्त हो जाना, अन्तर्ध्यान हो जाना, कुछ भी आरम्भ न करना, लोगों से व्यवहार छोड़ देना, निष्क्रियता, काम करना छोड़ देना, सांसारिक जीवन से दूर रहना, व्यापार न करना, क्षय।

निवृत्ति को अधिकांश संन्यास, त्याग, उदासीनता, आनन्द इत्यादि से सम्बन्धित मानते हैं और कहते हैं कि यह ज्ञान की ओर ले जाता है।

आभा मेरी जान! गुणातीत तो नित्य प्रवृत्ति या निवृत्ति से अप्रभावित रहते हैं। जैसी भी परिस्थिति आई, वे वैसा ही कर लेते हैं।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

गुणातीत की स्थिति बताते हुए भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. वह उदासीन की तरह स्थित हुआ,
२. गुणों से विचलित नहीं किया जा सकता।
३. 'गुण ही गुणों में वर्तते हैं',
४. ऐसा समझता हुआ जो स्थिर रहता है और चलायमान नहीं होता,
५. वह गुणातीत है।

तत्त्व विस्तार :

गुणातीत तो अपने तन से ही मानो उदासीन है।

१. वह संग रहित होकर द्रष्टा मात्र ही रहता है।
२. वह तो अपने तन से भी कुछ नहीं चाहता।
३. उसके तन, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति की ओर बढ़ें, तो भी वह मौन रहता है।
४. आलस्य, निद्रा आ घेरें, तो भी वह मौन रहता है।
५. उसे अपमान मिले या मान, ऐसी चाहना वह नहीं करता।
६. जो भी मिले उसके प्रति वह निरपेक्ष रहता है।
७. वह अपने ही प्रति उदासीन होता है।
८. वह अपने सुख दुःख के प्रति भी उदासीन होता है।
९. उसने अपने ही बारे में कभी कुछ नहीं सोचा होता।
१०. द्रष्टावत् वह देखता तो सब कुछ है, पर कहीं रोक टोक नहीं करता।

सुन कमला! तम वाले भी अपनी रोक टोक को भूल जाते हैं। वे मनमानी करते हैं और दूसरे से कुछ नहीं सहते। गुणातीत मनमानी नहीं करता, वह तो विधान के आश्रित होता है। उसे जो मिले, उसके प्रति वह नित्य उदासीन होता है। उसका अपने प्रति दृष्टिकोण यूं है कि तन कुचला गया तो क्या हुआ ? तन अपमानित हुआ तो क्या हुआ ?

क) तन ने क्या पाया,
ख) तन ने क्या नहीं पाया,
ग) तन ने यह करना है,
घ) तन ने यह नहीं करना है,
ङ) लोग मुझे बुरा कहेंगे,
च) मेरी मान्यता टूटेगी,
उन्हें ऐसी कोई भी चिन्ता नहीं होती।

ऐसे भाव गुणातीत के पास नहीं होते, वह न मान चाहता है, न अपमान चाहता है। वह अपमान नहीं चाहता या वह मान नहीं चाहता, ऐसी भी बात नहीं। चाहना तो उसके पास है ही नहीं, वह तो गुणातीत है। वह न क्षमा करना चाहता है, न करुणा

करना चाहता है, न दाता बनना चाहता है और न ही वह कुछ लेना चाहता है, क्योंकि ये सब गुणों की और गुण बधित की बातें हैं।

जैसे गुण जिसके पास होंगे, वैसा वह करेगा ही, यह राज़ गुणातीत जानता है। उसके कर्म स्वतः होते हैं। वहां सोच विचार की बात नहीं। उसकी बातें कौन समझ सकता है ?

उसकी तो भाषा ही अलग है। उसकी और आपकी भाषा में दृष्टिकोण का ही भेद है। उसे अपना दृष्टिकोण ही भूल गया होता है और आप अपने दृष्टिकोण से ही बात करते हैं। उसका तन ही अपना नहीं रहता और आप अपने तनोकोण से ही बातें करते हैं।

कमला सुन! वह एक दर्पण है, जो सामने आये, वह वैसा ही बन जाता है। वह न अच्छा है न बुरा है, वह तो सत् असत् से परे हैं।

क) जिसे संसार अति घृणात्मक तमोगुण कहता है, वह उसके प्रति भी उदासीन है।
ख) जिसे संसार अति पूज्य सतोगुण कहता है, वह उसके प्रति भी उदासीन है।
ग) उसका जीवन तो विधाता के विधान अनुकूल होता है।
घ) उसका जीवन तो उसके सहवासी गण पर आश्रित है।
ङ) भला, बुरा जो भी हो, गुणातीत दोष रहित है।

वह कहीं भी रोक टोक नहीं करता, वह तो अपने तन को गुण सहित दान दे चुका है।

देख कमला! तू ठीक कहती है कि 'क्या वह बुरे काम भी कर सकते हैं?' देख! बुरा भी उनके पास रहकर अच्छा बन जाता है। दुर्जन भी उनके पास रहकर सज्जन बन जाता है। पर यह तो बहुत काल के पश्चात् होता है। यह तब होता है जब दूसरा, यानि जो आपकी भाषा में बुरा है, वह :

क) स्वयं उस गुणातीत की विलक्षणता को पहचान लेता है।
ख) स्वयं उस गुणातीत की विलक्षणता का अनुभव कर लेता है।
ग) स्वयं उस गुणातीत की विलक्षणता की सत्यता का अनुभव करता है।
घ) स्वयं उस गुणातीत की गुणातीतता रूप तत्त्व का अनुभव करता है।

तब वह उस गुणातीत के गुणों से प्रभावित होने लगता है और सहवासी गण के गुण परिवर्तित होने लगते हैं।

गुणातीत :

१. गुणातीत तो नित्य उदासीन है।
२. गुणातीत तो किसी को दोष नहीं देता।
३. गुणातीत को किसी भी गुण से न राग है, न द्वेष है।
४. भाई वह अज्ञानी के साथ अज्ञानी सा दर्शाता है और ज्ञानी के साथ ज्ञानी सा दर्शाता है।
५. वह अज्ञानियों के साथ अज्ञानियों जैसा बनकर रहता है। वह तो ज्ञान अज्ञान,

दोनों से परे है, वह तो पाप पुण्य, भले बुरे, सबसे परे है।

६. महा कर्मनिष्ठ लोगों के साथ वह कर्म निष्ठ दर्शाता है।
७. महा भक्तिपूर्ण लोगों के साथ वह महा भक्त दर्शाता है।
८. महा कुटिल लोगों के साथ वह कुटिल सा दर्शाता है।
९. महा कामी लोगों के साथ वह महा कामी रूप दर्शाता है।

वास्तव में वह यह सब कुछ भी नहीं है। यही उसका अद्वैत है। यही उसकी विलक्षणता है। व्यक्तिगत कर्म से वह नहीं पहचाना जा सकता। वह तो दीर्घकाल के पश्चात् ही पहचाना जाता है। फिर उसका प्रभाव जन्म जन्म तक चलता है।

पर याद रहे, गुणातीत अपने प्रति उदासीन हैं, गुणातीत दूसरे के प्रति उदासीन नहीं हैं। उनकी उदासीनता का प्रमाण ही यह है कि वे,

१. अपनी परवाह नहीं करते।
२. अपने मान की परवाह नहीं करते।
३. अपनी श्रेष्ठता की परवाह नहीं करते।
४. अपने सतीत्व की परवाह नहीं करते।
५. अपने गुणों की परवाह नहीं करते।
६. अपने आसन की परवाह नहीं करते।
७. सत् असत् की परवाह नहीं करते।
८. उन्हें मार पड़ेगी, इसकी परवाह नहीं करते।

यानि, उन्हें जो भी मिले, उसके प्रति वे उदासीन हैं, किन्तु सहज स्वाभाविक वे,

क) दूसरों के साथ मिल जाते हैं।
ख) दूसरों के तद्रूप हो जाते हैं।
ग) दूसरों के अनुरूप हो जाते हैं।
घ) दूसरे की मान्यता भंजित नहीं करते।
ङ) दूसरे में गुण परिवर्तन नहीं चाहते।
च) दूसरे में आचरण परिवर्तन नहीं चाहते।

उनकी दृष्टि सहज ही निर्दोष है। वे किसी को भी दोष नहीं लगाते। वे गुण देखकर मौन रहते हैं, वे तो जानते हैं कि गुण गुणों में वर्त रहे हैं।

वे गुणों से विचलित नहीं होते, वे गुणों से प्रभावित नहीं होते, क्योंकि वे एकाकी भाव से आत्मा में टिके हैं और अपने स्वरूप से पल भर के लिए भी नहीं डोलते।

नन्हूं! जब वे अपने को आत्मा मानते हैं तो उनका तन मानो सर्प की केंचुली के समान होता है।

लोग यदि उसे अपने आपको मांजने के लिए इस्तेमाल करें, तो 'केंचुली' पर मैल लग ही जायेगी ! परन्तु,

१. यह मैल उन आत्म स्वरूप को मैला नहीं कर सकती।
२. यह मैल उन गुणातीत, अखिल गुण सम्पन्न रूप को क्या छू पायेगी ?

इस नाते ही तो भगवान कहते हैं कि गुणातीत पाप और पुण्य से परे होते हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो निरन्तर आत्म भाव में स्थित हुआ,
२. सुख दुःख को सम समझने वाला,
३. मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समभाव वाला धैर्यवान्,
४. अप्रिय और प्रिय को समान समझने वाला,
५. निन्दा और स्तुति सुनकर सम रहने वाला,
६. मान अपमान में तुल्य रहने वाला,
७. मित्र और वैरी के पक्ष में भी तुल्य रहने वाला है,
८. वह सम्पूर्ण कार्यों के आरम्भ का परित्यागी,
९. गुणातीत कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

गुणातीत :

देख कमला! पहले समत्व समझ ले। यहां गुणातीत के समत्व की कहते हैं। याद रहे,

क) गुणातीत गुण विवेक पूर्ण होते हैं।
ख) गुणातीत अपने प्रति उदासीन होते हैं।
ग) गुण गुणों में वर्तते हैं, यह वे जानते हैं।
घ) उन्हें अपने तन से संग नहीं होता॥
ङ) तन को वे प्राकृतिक रचना मानते हैं।
च) तन को वे त्रिगुणात्मिका शक्ति की रचना मानते हैं, इस कारण उनका तनो संग, और गुणों से संग नहीं रहता है।
छ) अपने गुणों से ही नहीं, उन्हें दूसरे के गुणों से भी संग नहीं रहता।
ज) वे दूसरे के गुणों से भी प्रभावित नहीं होते।
झ) वे दूसरे के गुणों को भी श्रेष्ठ या न्यून नहीं कहते।

क्योंकि वे जानते हैं कि किसी के बस में कुछ नहीं है। सब कुछ गुण खिलवाड़ है।

इस कारण वे :

१. मान तथा अपमान के गुणों के प्रति उदासीन हैं।
२. मित्रता तथा दुश्मनी के गुणों के प्रति उदासीन हैं।
३. स्तुति तथा निन्दा के गुणों के प्रति उदासीन हैं।
४. प्रिय तथा अप्रिय के गुणों के प्रति उदासीन हैं।

ध्यान से देख! प्रिय भी है अप्रिय भी है, स्वर्ण भी है और मिट्टी पत्थर भी है, पर वे उदासीन हैं। यानि,

क) इनसे वे प्रभावित नहीं होते।
ख) इनसे वे विचलित नहीं होते।
ग) इनमें वे परिवर्तन नहीं चाहते।
घ) वे किसी पर अपना अधिकार नहीं समझते।
ङ) वे किसी को अपने लिये नहीं चाहते।

वे तो तन को ही गुणों का खिलवाड़ जानते हैं और संसार को मौन, जड़ गुण का विस्तार जानते हैं। वे नित्य समचित्त, नित्य स्वस्थ, यानि अपने आप में स्थित हैं। सर्वारम्भपरित्यागी भी वे ही हैं।

सर्वारम्भपरित्यागी :

कुछ भी स्वयं आरम्भ करना,

१. अपनी चाहना दर्शाता है।
२. अपनी कोई मांग दर्शाता है।
३. अपनी मान्यता दर्शाता है।
४. अपना कोई व्यक्तित्व दर्शाता है।
५. अपनी बुद्धि की श्रेष्ठता दर्शाता है।

सर्वारम्भपरित्यागी न अपने को श्रेष्ट समझते हैं, न ही तनो गुण को अपनाते हैं और न ही उन्हें कुछ चाहिए, इसलिए वे स्वयं कुछ भी आरम्भ नहीं करते।

क) न वे स्वयं ज्ञान देते हैं।
ख) न वे स्वयं स्थूल में कोई संस्थायें बनाते हैं।
ग) न ही वे स्वयं किसी चीज़ में प्रधानता लेते हैं।
घ) कोई प्रश्न पूछे तो जो जानते हैं, वे कह देते हैं।
ङ) कोई काज आ जाये तो कर देते हैं।
च) देखा जाये तो वे चाकर बनते हैं, ठाकुर नहीं बनते।

देख कमला! यह गुणातीत की बात है, यह स्थित प्रज्ञ की बात है और उसके परे के स्वरूप की बात है।

सर्वारम्भपरित्यागी लोग स्वयं कुछ आरम्भ नहीं करते, वे गुणातीत होते हैं।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

अब भगवान अर्जुन के तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए, गुणातीत बनने की सहज विधि बताते हैं :

शब्दार्थ :

१. और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति योग से,
२. निरन्तर मेरे को ही सेवता है,
३. वह इन तीनों गुणों को उलांघ कर,
४. ब्रह्म भाव के योग्य होता है।

तत्त्व विस्तार :

यहां भगवान गुणातीत बनने की सहज विधि कहते हैं। वह कहते हैं, 'अव्यभिचारी

भक्ति द्वारा जो मेरे को सेवता है वह गुणातीत हो जाता है।'

अव्यभिचारी :

अव्यभिचारी वह होता है, जो,

क) धर्मात्मा हो,

ख) श्रद्धालु हो,

ग) सद्‌गुण पूर्ण हो,

घ) अविरोधी हो,

ङ) वफ़ादार हो,

च) स्थिर हो।

भक्ति :

१. श्रद्धापूर्वक उपासना को भक्ति कहते हैं।
२. श्रद्धापूर्ण भागवद् गुण आवाहन की पुकार भक्ति है।
३. परम को अंगीकार करने की आर्त पुकार भक्ति है।
४. परम की अखण्ड चाहना भक्ति है।
५. परम के प्रति अनन्य अनुरक्ति भक्ति है।
६. आत्म समर्पण का दूसरा नाम भक्ति है।
७. परम मिलन की उमंग और उत्कण्ठा भक्ति है।
८. परम मिलन की महा शक्ति भक्ति है।
९. परम योग की महान् तथा सरल राह भक्ति है।
१०. जो पुकार भगवान को प्रकट कर दे उसे भक्ति कहते हैं।

सेवते :

सेवा का अर्थ है :

क) अनुगमन करना,

ख) उपयोग करना,

ग) आसरा लेना,

घ) पीछा करना,

ङ) रखवाली करना।

ये सब कहकर, भगवान कह रहे हैं कि जो :

१. अहर्निश भगवान को ही याद करते हैं,
२. अहर्निश भगवान के ही गुण इस्तेमाल करते हैं,
३. अहर्निश भगवान के ही गुणों का आसरा लेते हैं,
४. अहर्निश भगवान के ही गुणों के परायण होते हैं,
५. अहर्निश भगवान के ही गुणों की रखवाली करते हैं,
६. यानि, अहर्निश भगवान के ही गुणों का संरक्षण करते हैं,
७. अहर्निश जो भगवान के ही भक्तों का संरक्षण करते हैं,

वे जल्द ही गुणातीत हो जाते हैं और ब्रह्म स्वरूप होने के योग्य हो जाते हैं।

देख! गर कृष्ण को तुम सच ही भगवान मानते हो और उनमें श्रद्धा भी है, तो हर वाक्, जो गीता में कहा है, वह भगवान कृष्ण का है; तुम्हारे भगवान का वाक् है, तुम्हारे अपने भगवान का आदेश है! फिर क्या तुम गीता रूपा वाङ्मय प्रतिमा की कोई बात ठुकरा सकोगे? जितनी तुम्हें समझ आई, उतनी ही बात मान लो तो काम बन जायेगा और बाकी बातें भी समझ आ जायेंगी।

इस विधि शनैः शनैः तुम,
१. गुणातीत हो ही जाओगे।
२. दैवी गुण सम्पन्न हो ही जाओगे।
३. स्थित प्रज्ञ हो ही जाओगे।

यह अनन्य भक्ति का प्रसाद है। नन्हूं! इस बात को एक बार फिर से समझ ले! अव्यभिचारी भक्ति तब होगी, जब हर विषय को भूल कर तुम केवल आत्मा को याद रखोगे। तब आपको तन, मन, बुद्धि, संसार इत्यादि से कुछ नहीं चाहिए होगा। आपको केवल भगवान चाहिए होंगे; केवल भगवान प्रिय होंगे। यदि एक ही चाह रह जाये तो गुणों को कौन देखेगा, गुणों से कौन प्रभावित होगा ? फिर कहां सुध होगी कि आपके साथ किसी ने क्या किया ? फिर आप अपने आपको भूल चुके होंगे।

अनन्य भक्ति जीव को गुणातीत बना देती है। अनन्य भक्ति जीव की आत्म विस्मृति करा देती है। अनन्य भक्ति जीव को अखण्ड मौन में स्थित करवा ही देती है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

भगवान कहते हैं कि देख अर्जुन!

शब्दार्थ :
१. अविनाशी परम ब्रह्म का,
२. और अमृत का,
३. तथा नित्य धर्म का,
४. नित्य अखण्ड सुख का,
५. मैं ही आश्रय हूं।
(इसलिये मुझमें ही भक्ति भाव रख)

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं लाडली आत्म स्वरूप! भगवान कहते हैं :
क) जगत की उत्पत्ति, स्थिति, लय कारण परम ब्रह्म वह आप हैं।
ख) अमरत्व का आश्रय भी भगवान आप हैं।
ग) नित्य सनातन जगत धर्म वह आप हैं।
घ) अखण्ड आनन्द स्वरूप वह आप हैं।

वही सबका आधार हैं, इसलिये उन्हीं का भजन करना चाहिए।

याद रहे कमला! भगवान ने अपने तन की पूजा की बात नहीं कही। यह तो वह पहले ही कह आये हैं कि वह तन नहीं। भगवान यहां गुणातीत बनने की विधि बता रहे हैं।
१. भगवान के गुणों को अपने जीवन में लाना ही भगवान की भक्ति है।
२. भगवान के वाक् को अपने जीवन में सर्वोच्च आदेश मानना ही भगवान की

भक्ति है।

३. भगवान का आदेश मानो तो निष्काम कर्म ही भक्ति है।
४. दैवी गुण का जीवन में अभ्यास ही भगवान की भक्ति है।
५. यज्ञमय जीवन ही भक्ति है।
६. संग त्याग ही भक्ति है।
७. अहं भाव का अभाव ही भक्ति है।
८. कर्तृत्व भाव अभाव ही भक्ति है।
९. मोह और अज्ञान का वर्जन ही भक्ति है।
१०. सत्‌मय जीवन ही भगवान की सच्ची भक्ति है।

इस भक्ति में भगवान निहित रूप में रहते हैं तथा भगवान के स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं। भगवान के स्वरूप का आवाहन भी इसी में निहित है।

भगवान जिस परम यज्ञ का प्रतीक स्वयं हैं, उस परम तत्त्व का राज़ बता रहे हैं और कहते हैं कि अविनाशी परम ब्रह्म का, अमृत का, नित्य धर्म का और अखण्ड एक रस आनन्द का आश्रय वह आप ही हैं।

अमृत पद :

भगवान का भक्त अमृत पद पा लेता है; यानि,

१. जन्म मरण से तर जाता है।
२. तनत्व भाव त्याग कर आत्मा में स्थित हो जाता है।
३. अक्षर में अक्षर हो जाता है।

इस अमरत्व में भगवान स्वयं स्थित हैं और वह स्वयं इस अमरत्व का परम आश्रय हैं।

धर्म :

धर्म का आचरण करने वाला भी परम पद को पाता है। जीवात्मा का धर्म परम पद की प्राप्ति और परम पथ का अनुसरण ही है। इस नाते,

क) दान, तप तथा यज्ञ जीव का धर्म है।
ख) निष्काम कर्म ही जीव का धर्म है।
ग) काम तथा क्रोध का त्याग ही जीव का धर्म है।
घ) लोभ और मोह का त्याग ही जीव का धर्म है।
ङ) अहंकार का त्याग ही जीव का धर्म है।
च) देहात्म बुद्धि का त्याग ही जीव का धर्म है।

भगवान कहते हैं, 'इनका परम आश्रय मैं ही हूं।'

- सगुण ब्रह्म तथा भगवान में भी अभेदता है।
- आत्म तथा भगवान में भी अभेदता है।
- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म का ही अंश मात्र है।

इस नाते भी ये सब नित्य, अखण्ड, आत्म स्वरूप, ब्रह्म रूप, भगवान पर ही आश्रित हैं। नन्हीं! जो इसे जान ले, वह नित्य अखण्ड आनन्द को पाता है और यह अखण्ड आनन्द भी भगवान पर ही आश्रित है।

यह अखण्ड आनन्द तब ही मिल

सकता है, जब जीव सगुण भगवान के गुणों को अपने में लाकर निर्गुण स्वरूप भागवत् तत्त्व में विलीन हो जाता है।

नन्हीं! यहां आत्म स्वरूप भगवान कहते हैं, ब्रह्म, मोक्ष, धर्म और आनन्द के आश्रय वह स्वयं हैं।

अब इसे ध्यान से देख नन्हीं! भगवान,

१. आत्म स्वरूप होने के नाते नित्य अविनाशी तत्त्व हैं।
२. नित्य निर्लिप्त, यज्ञ स्वरूप होने के नाते अविनाशी ब्रह्म हैं।
३. तनधारी निराकार स्वरूप होने के नाते, शाश्वत, अविनाशी, धर्म स्वरूप और धर्म रूप हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, वैसा होने के कारण वह नित्य आनन्द स्वरूप हैं और इस नाते वह स्वयं प्रकाश रूप भी हैं। नन्हूं! उन्हीं से उनका दृष्टिकोण समझने के प्रयत्न कर।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

अथ पंचदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

अब भगवान पीपल के वृक्ष का उदाहरण देकर संसार का वर्णन करते हुए कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. (यह संसार),
२. ऊपर जड़ वाला, नीचे शाखाओं वाला,
३. अविनाशी अश्वत्थ है,
४. छन्द जिसके पत्ते हैं;
५. जो इसको जानता है, वह वेदवेत्ता है।

तत्त्व विस्तार :

संसार रूप वृक्ष का वर्णन :

नन्हूं! अब भगवान संसार को वृक्ष की उपमा से समझाते हैं और कहते हैं कि इस संसार रूपी वृक्ष का मूल :

क) ऊपर की ओर है
ख) यह स्थूल धरती नहीं है।
ग) अव्यक्त आत्म तत्त्व है।
घ) त्रिगुणात्मिका शक्ति है।

- इसका उद्गम स्थान ब्रह्म आप ही हैं।
- इसका उद्गम स्थान ब्रह्म की माया शक्ति है।

फिर भगवान कहते हैं, 'इसकी शाखायें नीचे की ओर बढ़ती हैं।' इसे यूं कह लो, यह आत्मा से नीचे की ओर उतरता है। यह आत्मा से उत्पन्न होकर धरती की ओर आता है। उत्तरायण की ओर परम तत्त्व है और दक्षिणायन की ओर सृष्टि है। इस संसार की पीपल के वृक्ष के साथ तुलना करते हुए भगवान इसे 'अव्यय' कहते हैं। यानि,

क) यह परिवर्तनशील होते हुए भी सनातन है।
ख) यह अनित्य नाशवान् होते हुए भी अनादि है।
ग) यह उत्पत्ति, स्थिति, लय को पाते हुए भी सनातन है।
घ) संसार रूपी प्रवाह का कोई अन्त नहीं है।

नन्हूं! इस संसार का मूल आत्मा है, इस कारण यह अविनाशी होगा ही। इस संसार का मूल अक्षर तत्त्व है, इस कारण यह सनातन होगा ही।

'वेद ही संसार रूपी वृक्ष के पत्ते हैं।'

फिर भगवान कहने लगे कि वेद ही इस संसार के पत्ते हैं।

नन्हूं! पत्ते ही वृक्ष की रक्षा करते हैं, इन्हीं से वृक्ष की वृद्धि मानी जाती है। वेदों में कर्म चक्र का राज़ कहा है, वेदों में जीवन सफल बनाने की विधि कही है, वेदों में वांछित फल पाने की भी विधि कही है।

यह वेद ही जीवन की क्रिया प्रणाली हैं। यह क्रिया प्रणाली ही सृष्टि को कायम रखती है। ज्यों वृक्ष पूर्णतय: पत्तों से ढक जाता है, इसी तरह सम्पूर्ण संसार कर्मों से आवृत्त है। कर्मों से संग करने से ही यह वृक्ष और बढ़ता है।

संसार रूपी वृक्ष का मूल, आत्मा :

नन्हूं! अब इसे ज़रा दूसरे दृष्टिकोण से समझ लो।

१. परम तत्त्व ही इस संसार का मूल है।
२. परम ब्रह्म ही इस संसार का मूल है।
३. परम सत्त्व ही इस संसार का मूल है।

परम आत्म तत्त्व की सत्ता में ही यह संसार स्थित है। वह परम आत्म तत्त्व ही तो प्रकृति का रूप धारण करता है। परा प्रकृति तथा अपरा प्रकृति का रूप वही धरता है।

क) उस परम तत्त्व रूपा मूल से ही त्रिगुणात्मिका शक्ति चेतनता पाती है।
ख) उस परम तत्त्व रूपा मूल से ही पंच तत्त्व भी उत्पत्ति पाते हैं।
ग) प्रकृति की राह से वह परमात्म तत्त्व खण्डित सा होने लगता है।
घ) वह स्वयंभू, मौन स्वरूप ही मानो अपना वैश्वानर रूप बनाने लगते हैं।
ङ) वह परमात्म तत्त्व ही विभिन्न शक्तियों का रूप धारण करते हैं।
च) वह परमात्म तत्त्व ही सृष्टि रचते हैं और सृष्टि में अन्न भी बनाते हैं।
छ) परम की सृष्टि अविनाशी ही है।
ज) परम की प्रकृति अविनाशी ही है।
झ) परिवर्तनशील होने के नाते इसे पीपल के वृक्ष की भांति बढ़ने वाली कह लो।
ञ) यह अखण्ड में, अखण्ड से, अखण्ड ही है।
ट) अखण्ड में यह अव्यय ही है।
ठ) इस जग रचना को परम यज्ञ कह लो, इसको ब्रह्म यज्ञ भी कहते हैं।
ड) तप, दान का सार भी तो पात पात पर लिखा होता है।
ढ) सृष्टि रचना में पूर्ण अध्यात्म तत्त्व ज्ञान भरा होता है।

इतनी बड़ी जो ब्रह्म की सृष्टि है, उसमें क्या नहीं है ? ये जो उसकी शाखायें हैं, यदि आप इनको ध्यान से देखो तो वहां परम का यज्ञ दिख जायेगा। हर अंश में वह आप विराजित हैं किन्तु अखण्ड मौन धारे हुए हैं।

ब्रह्म का स्वरूप :

पूर्ण सृष्टि रचकर वह स्वयं नित्य उदासीन हैं, निर्लिप्त हैं, नित्य तृप्त हैं, नित्य सम स्थित हैं।

पूर्ण सृष्टि की रचना में,

१. पूर्ण ज्ञान समाहित है।
२. क्षर अक्षर विवेक नित्य प्रतिपादित हो रहा है।

३. जड़ चेतन का राज़ नित्य प्रतिपादित हो रहा है।
४. पुरुष प्रकृति का ज्ञान नित्य प्रतिपादित हो रहा है।
५. जन्म मृत्यु का दर्शन नित्य मिल सकता है।
६. निराकार का रूप (विश्व रूप) तुम देख सकते हो।
७. पूर्ण अध्यात्म, ज्ञान विज्ञान सहित तथा प्रमाण सहित देखा जा सकता है।

साधक सुन!

क) कर्त्ता और कर्तृत्व भाव अभाव की समिधा इसी में निहित है।
ख) मैं, मम, मोह मिटाव का अविनाशी सनातन ज्ञान यहां निहित है।
ग) यह सृष्टि, यह परम कर्म, परम यज्ञ ही है।
घ) नित्य अध्यात्म ज्ञान प्रकाश, तुम जान लो, यह ही है।
ङ) दिव्य विशुद्ध तत्त्व सार यह ही है।
च) ब्रह्म की परम विभूति, यह ही है।
छ) त्रिगुणात्मिका शक्ति विवेक इसमें ही भरा हुआ है।

साधना विधि :

साधना विवेक का राज़ भी तो इसमें ही निहित है। गर परम की सृष्टि को तू पढ़ ले, गर परम की सृष्टि पर तू ध्यान धरे; तो,

१. अकर्त्ता पल में हो जायेगा,
२. गुण राज़ पल में समझ आ जायेगा,
३. गुणातीत हो ही जायेगा,
४. निर्मम हो ही जायेगा।
५. तब किसी बात का अहंकार नहीं कर सकेगा।
६. संग छूट ही जायेगा।
७. यज्ञमय जीवन हो ही जायेगा।
८. निर्द्वन्द्व, निर्विकार हो ही जायेगा।
९. तन को प्राकृतिक रचना जानकर तन से संग भी छूट जायेगा।

यदि समझ पड़े तो समझ लो, संसार रूपा वृक्ष का हर पात

- छन्द ही है।
- ब्रह्म की महिमा ही है।
- स्वयं ब्रह्म दर्शन ही है।

भगवान कहते हैं, 'जो यह सत् जानता है, वह सब कुछ जानता है।'

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके॥ २॥

भगवान कहते हैं, आगे सुन!

शब्दार्थ :

१. नीचे और ऊपर फैली हुई हैं शाखायें जिसकी,
२. जो गुणों से, पुष्टि (तथा वृद्धि) पाई हुई हैं।
३. विषय (जिनकी) कोंपलें (अंकुर) हैं,
४. और, नीचे मनुष्य लोक में,

५. कर्म के बन्धन वाली उसकी जड़ें फैली हुई हैं।

तत्त्व विस्तार :

ब्रह्म यज्ञ, जीव कोण से :

अब भगवान जीव कोण से कहते हैं, या यूं कहें कि जीव अंश की कहते हैं। वह बता रहे हैं कि इसकी शाखाएं भी बहुत फैली हुई हैं। त्रैगुण पूर्ण गुणों राही जीव पुष्टित होता है, वह विषयों से संग करता है तथा कर्म से संग करके अपने को जड़ धरती से बांधता है।

गर जीव परम ब्रह्म के कर्म को देखता और परम ब्रह्म के समान कर्म करता तो उसे न गुणों से संग होता और न ही कर्मों से संग होता।

१. तब वह ब्रह्म की विभूति होता,
२. तब वह ब्रह्म के समान उदासीन होता,
३. तब वह ब्रह्म के समान निर्लिप्त होता,
४. तब वह ब्रह्म के समान कर्तृत्व भाव रहित होता।

संग से गिरावट :

क) किन्तु जीव अपने मूल से उतर कर नीचे पांव की ओर बढ़ गया।
ख) पांव तले जो धरती और धरती पर जो विषय थे, जीव ने उन्हीं से संग कर लिया।
ग) पंच तत्त्व जनित त्रैगुण रंगी विषय तथा त्रैगुण रंगी तन से संग होने पर, त्रैगुण से पुष्टि पाकर, वह त्रैगुण रंगी, कर्म संगी हो गया।
घ) संग ही जीव भाव को जन्म देता है।
ङ) संग ही मोह तथा अज्ञान का कारण है।
च) संग ही कर्मों को अपावन करता है।
छ) संग ही कर्मों से बान्धता है।
ज) संग ही जन्म मरण का कारण है।
झ) इस संग ने ही गुणों को भी पुष्टित किया है।
ञ) तब ही गुण भी संग को पुष्टित कर पाये हैं।
ट) नित नव विषय अंकुर फूटते हैं और नित नव गुण अपनी पुष्टि चाहते हैं।

इस विधि जीव उत्तरायण की ओर न जाकर, दक्षिणायन में जाकर कृष्ण पक्ष में गिरता है। यही जीवन चक्र है जो सदा चलता रहता है।

नन्हीं! इसे पुनः समझ ले! इस संसार की विषय भोग रूपी कोंपलें तीन गुणों के जल के द्वारा वृद्धि पाती हैं। ये विषय, ऊपर, नीचे, सर्वत्र फैले हुए हैं। जीव इन्हीं विषयों से संग कर लेता है और कर्मों में कर्त्तापन के भाव को भरकर संसार से बन्ध जाता है। यह संग ही चहुं ओर उसकी जड़ें बन जाता है। विषय जड़ ही होते हैं, किन्तु जब जीव की वृत्तियां उनसे लिपट जाती हैं, तब मानो वह विषय उसे पकड़ लेते हैं।

वास्तव में, विषय जीव को नहीं पकड़ते, जीव की वृत्तियां उन विषयों से लिपट जाती हैं और मानो कहती हैं, 'हम तुम्हारे बिना नहीं जी सकते, तुम्हीं हमारे प्राणाधार हो।'

नन्हीं! अन्य विषय तो दूर रहे, तन से भी तुम ही लिपटे हो। जड़ तन तो प्रकृति की रचना है और प्रकृति के दिए हुए गुणों

से भरा है। वह तो अपने सहज धर्म के अनुकूल जन्मता है, जवान होता है, बुढ़ापे की ओर जाता है और मर जाता है। तुम्हीं अपनी अज्ञानता के कारण इसे 'मैं' 'मैं' कहती रहती हो। क्या कभी तन भी तुम्हारी बात मान कर परिवर्तन छोड़ देता है ?

तुम्हारे कहे :

१. कान सुनना बन्द नहीं करते।
२. पेट अपनी भूख नहीं छोड़ता।
३. तन के आन्तर के अंग न तो कार्य बन्द कर देते हैं और न ही तुम्हारे कहे वे कार्य आरम्भ करते हैं।

- जो तुम्हें पहचानता ही नहीं, उसे तुम 'मैं' कहती हो!
- जो तुम्हारी बात ही नहीं मानता उसे तुम 'मेरा' कहती है!
- जो तुम्हारे कहे बना ही नहीं, उसे तुम 'मेरा' कहती है!
- जिस पर तुम्हारा अधिकार ही नहीं, उसे तुम 'मैं' कहती हो!

वह तुम्हारे प्रति पूर्णतयः उदासीन है। अरे! थोड़ी सी शर्म खाओ! किसे मनाती रहती हो? अरे! तुम लाख इसकी खातिर करो, यह है ही बेवफ़ा। फिर इसमें तन का भी कोई दोष नहीं! उसने कब कहा था 'मैं तुम्हारा हूं;' उसने कब कहा था कि 'मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ूंगा ?'

तो इससे यूं समझो कि तन बेवफ़ा नहीं, तुम मूर्ख हो। वास्तव में तन को चाहिये कि वह तुम से गिला करे कि तुम्हारी सवारी अच्छी नहीं थी और तुमने तन का दुरुपयोग किया है। बेचारा जड़ तन भगवान का हो सकता था, बेचारे जड़ तन का नाम अमर हो सकता था। तुम जैसा उस शरीफ़ को मिल गया और वह शर्म के मारे जल्द से जल्द धरती में लौट गया।

नन्हूं जान! यह सब आपके कारण हुआ। इसमें विषयों का क्या दोष है? आप ही अपनी मूर्खता के कारण विषयों को चेतन समझते हैं, उनसे संग कर लेते हैं और उनकी शान बढ़ाते हैं। इसी कारण,

१. आप नित्य अतृप्त रहते हैं।
२. आप नित्य अशान्त रहते हैं।
३. आपका प्रलोभन नित्य बढ़ता रहता है।
४. आपकी जड़ें विषयों से बन्ध जाती हैं।

विषय इस्तेमाल करने के लिये होते हैं, उनसे बंध जाने के लिये तो नहीं। विषय आपके अधीन होने चाहियें; आप नाहक विषयों के नौकर बन गये और विषय उपासक हो गये।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूय:।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

भगवान कहते हैं, देख!

शब्दार्थ :

१. इस (संसार वृक्ष) का यहां वैसा रूप नहीं पाया जाता है, (क्योंकि)
२. न (तो इसका) अन्त, न आदि, न आधार स्थान ही है।
३. इस जमी हुई जड़ वाले (संसार रूपी पीपल के) वृक्ष को,
४. दृढ़ असंग शस्त्र से काटकर,
५. फिर उस धर्म पद को अच्छी प्रकार ढूंढना चाहिये,
६. जहां पहुंचकर फिर वापस नहीं लौटते हैं।
७. उसी आदि पुरुष की मैं शरण लेता हूं,
८. जिससे यह पुरातन प्रकृति फैली हुई है।

तत्त्व विस्तार :

सुन मेरी प्रिय! देख भगवान क्या कह रहे हैं!

संग अभाव :

वह कहते हैं, 'संग छोड़ दे।'

दृढ़ असंग रूपा शस्त्र ही संग रूपा संसार बन्धन को काट सकता है।

क) संग ही हमें स्वरूप से दूर करवाता है।
ख) संग ही अज्ञानता का कारण है।
ग) संग अभाव के पश्चात् उस परम को ढूंढ, जो पूर्ण सृष्टि का आदि कारण है।

सुन भगवान ने क्या कहा! वह कहते हैं, 'मैं भी उस आदि तत्त्व की शरण में हूं।'

भगवान कहते हैं कि साधक को आत्म तत्त्व जानने के यत्न करने चाहियें।

१. उसी परम तत्त्व को जानने के यत्न कर।
२. उसी पथ पर चलने के यत्न कर।
३. केवल वही प्राप्तव्य है।
४. केवल वही ज्ञातव्य है।
५. उसे जानकर पुनः जग में लौटना नहीं होता।
६. उसे जानकर, पुनः जन्म मरण के चक्र का बन्धन नहीं रहता।

इस संसार का न तो आदि और न अन्त ही जाना जा सकता है।

क) यहां कब क्या हुआ, क्यों हुआ, कौन जान सकता है?
ख) कौन गुण कब, कहां पर खेंच कर ले

जाये, कौन जान सकता है ?

ग) क्यों मिले, क्यों बिछुड़ गये, यह सब कौन जान सकता है ?

घ) आगे पीछे क्या है, कौन जान सकता है ?

भाई एक जीव को भी जानना इतना कठिन है तो इतने बड़े संसार को कौन जान सकता है ?

अपने आपको ही जानना कठिन है, दूसरे करोड़ों जीवों को कौन जान सकता है ?

इस कारण यहां भगवान समझा रहे हैं कि :

१. देख! गुण गुणों में वर्त रहे हैं।
२. तू संग छोड़ दे।
३. द्रष्टा बनकर जहान को देख।
४. निसंग निर्लिप्त होकर जहान में विचरण कर।
५. वही कर, जो ब्रह्म करते हैं, तू भगवान के गुण अपना ले।
६. ब्रह्म स्वभाव ही अध्यात्म है, वह अपना स्वभाव बना ले।
७. केवल उसी को खोजना चाहिये।
८. केवल उसी के पथ का अनुसरण करना चाहिए।

अध्यात्म ब्रह्म का स्वभाव है। ब्रह्म के स्वभाव का अनुसरण ही अध्यात्म है।

देख कमला! भगवान यहां बस इतना ही कहते हैं, सब भूल जा, केवल परम ही प्राप्तव्य है, उसी को पाने के प्रयत्न कर।

नन्हूं देख! फिर भगवान क्या कह रहे हैं ? वह कहते हैं कि उस आदि पुरुष यानि परम पद स्वरूप, परम आत्मा की शरण में भगवान स्वयं रहते हैं, ऐसा मान कर, साधक निरन्तर परम तत्त्व को पाने के प्रयत्न करे।

नन्हूं! केवल उस तत्त्व को खोजना चाहिए। केवल वह तत्त्व ही खोजने योग्य है।

मेरी नन्हीं आत्म अभिलाषी, आत्म स्वरूपा आभा! 'मैं स्वयं उस आदि पुरुष की शरण में रहता हूं,' यह स्वयं भगवान ने कहा है। प्रथम इसे समझ!

वह आदि पुरुष ही,

क) क्षेत्रज्ञ है।

ख) अखण्ड आत्मा है।

ग) अखण्ड ब्रह्म स्वरूप है।

घ) नित्य निर्लिप्त, मौन स्वरूप हैं।

बाकी सब जड़ है।

इसी तत्त्व के एकरूप होकर भगवान ने,

१. पूर्ण जीवों को आत्म स्वरूप कहा है।
२. पूर्ण सृष्टि को आत्म रूप कहा है।

भगवान अर्जुन से कह रहे हैं, 'तू भी यही कर।'

नन्हीं! तू भी वास्तव में आत्मा ही है। तू भी वास्तव में नित्य निर्दोष है। केवल संग ही अज्ञानता है, इसे छोड़ दे।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

भगवान कहते हैं, देख अर्जुन! तुझे बताऊं परम पद स्थित के लक्षण और उसको प्राप्त करने की विधि क्या है?

शब्दार्थ :

१. मान और मोह रहित,
२. संग दोष को जीते हुए,
३. नित्य अध्यात्म में तत्पर,
४. कामना से निवृत्ति पाये हुए,
५. दुःख सुख रूप द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानी जन,
६. जो मूढ़ नहीं हैं,
७. उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

साधना क्या है?

भगवान कहते हैं, मान और मोह से रहित होना ही साधना है, अध्यात्म है, भागवत् प्राप्त हुए के लक्षण हैं।

इसी प्रकार संग दोष रहित, कामना रहित, सुख दुःख रूप द्वन्द्व रहित होना ही साधना है और परम में स्थिति का लक्षण है।

नित्य अध्यात्म में स्थिति ही,
१. परम का लक्षण है।
२. ज्ञान का लक्षण है।
३. आत्मवान् का लक्षण है।

देख मेरी जान! ज़रा ध्यान से समझ! अध्यात्म सार समझने के यत्न कर!

'ब्रह्म' का स्वभाव अध्यात्म है', यह भगवान ने स्वयं कहा है। भगवान जो आदेश हमें देते हैं, वह दृष्ट रूप में:
१. विरोधात्मक दिखता है।
२. परस्पर विरोधपूर्ण कथनियां सी लगती हैं।
३. विवादजनक असंगत बातें दिखती हैं।

साधना में विरोधी भाव केवल दृष्ट रूप से विरोधात्मक हैं। देखो! तुम स्वयं कहते हो न कि भगवान ने :

एक ओर,	**दूसरी ओर,**
१. उदासीन होने को कहा।	१. करुणा, दया और मैत्री भक्त के लक्षण कहे।
२. सर्वारम्भपरित्यागी होने को कहा।	२. यज्ञ, दान, तप आदि करने को कहा।
३. कहा एकान्त वासी हो जा।	३. सर्वभूतहितेरतः होने को भी कहा।
४. महाज्ञान देकर विविक्त देश सेवन को कहा।	४. अज्ञानियों के साथ अज्ञानी बनकर रहने को कहा।

एक ओर,	दूसरी ओर,
५. पूर्ण सत् में स्थित होने को कहा।	५. किसी के मन में उद्विग्नता न लाओ, यह भी कहा।
६. अहिंसा आर्जवता का भी आदेश दिया।	६. साथ ही युद्ध करने को भी कह दिया।
७. गुणातीतता की भी बात कही।	७. साथ ही गुण विवशता की भी बात कह दी।
८. 'मेरा कुछ भी नहीं, मेरा अधिकार किसी पर नहीं', इस प्रकार ममत्व रहित तथा अनभिष्वंग होने को कहा।	८. सर्वभूतों के प्रति द्वेष रहित, करुणा पूर्ण तथा धर्म परायणता की बात कही, फिर कर्त्तव्य करने को भी कहा।
९. नित्य मौनी होने को कहा।	९. प्रवृत्ति और निवृत्ति में सम रहने को कहा।
१०. दृढ़ निश्चयी होने को भी कहते हैं।	१०. 'किसी की मान्यता भंजन न करो', यह भी कहा। फिर लोगों के काम निष्काम भाव से करने को कहते हैं।
११. जीव को निर्लिप्त, आत्म स्वरूप, कहते हैं।	११. कर्म फल की बात भी कहते हैं।
१२. कर्म संन्यास को भी कहते हैं।	१२. कर्म करने को भी कहते हैं।
१३. परम उपासना को भी कहते हैं।	१३. साधारण जीवन व्यतीत करने को भी कहते हैं।

कमला! तुम जितना समझी हो, ठीक है, अब आगे समझो!

ब्रह्म को पाने के लिये :

क) ब्रह्म का स्वभाव पाना ज़रूरी है।

ख) जीवन में ब्रह्म का प्रमाण ज़रूरी है।

ग) ब्रह्म को जानना ज़रूरी है।

जीव के दृष्टिकोण से गर भगवान को देखो, तो भगवान का स्वरूप निर्विकार, निरासक्त, उदासीन, गुणातीत, निर्दोष, नित्य तृप्त, नित्य आनन्द स्वरूप, समदर्शी, दैवी गुण सम्पन्न, सर्वभूत हितकर, इत्यादि है।

फिर भगवान क्षमा स्वरूप, करुणा पूर्ण, दयानिधि, पतित पावन, अशरण के शरणा, विपद् विनाशक, दुःख विमोचक, भक्त वत्सल, प्रेम स्वरूप इत्यादि गुण पूर्ण भी माने जाते हैं। उन्हें यज्ञपति, यज्ञस्वरूप, तपपति, तप स्वरूप,' दानपति, दान स्वरूप, न्यायपति, न्याय स्वरूप भी कहते हैं। भाई! ये सब उनके सहज स्वाभाविक गुण होंगे, तभी तो आप ये सब कहते हैं। यह उनका सहज स्वभाव होगा ही; तभी तो साधु, दुष्ट, भले, बुरे, सब ही ये कहते हैं।

ब्रह्म ने सृष्टि रच कर इन्हीं गुणों का मौन प्रमाण दिया है। भगवान ने जन्म लेकर इन्हीं गुणों का जीवन में प्रमाण दिया है।

भगवान ने वाक् राही भी इन्हीं गुणों को पाने के विधि कही है।

तब ही तो भगवान और ब्रह्म को,

१. नित्य अध्यात्म प्रकाश स्वरूप,
२. नित्य अध्यात्म तत्त्व रस सार,
३. अखण्ड दिव्य शाश्वत प्रकाश
४. परम चेतन आत्म तत्त्व,
५. नित्य ज्ञान विज्ञान स्वरूप,
६. सत् चित्त आनन्द घन,

कहते हैं।

अन्य भी ऐसे अनेकों ही नामों से उन्हें पुकारते हैं क्योंकि इनमें उनका स्वभाव निहित है।

१. वह नित्य सत् हैं।
२. वह नित्य प्रमाणित हैं।
३. ये गुण नित्य सत्य थे, सत्य हैं और सत्य रहेंगे।

नन्हीं! यही गुण प्राप्तव्य भी हैं।

ज्ञान का अभ्यास :

ज्ञान, यदि जीवन में न उतरे तो वह:

- महा अज्ञान है।
- तमोगुण पूर्ण है।
- प्रमाद उत्पन्न करता है।
- निवृत्ति की ओर ले जाता है।
- मोह बनकर रह जाता है।

ज्ञान का अभ्यास सहज जीवन में करना चाहिए। तब आप :

क) गुण विवेक राही गुणातीत बनने का अभ्यास कर सकते हैं।
ख) मान अपमान से उठने का अभ्यास कर सकते हैं।
ग) संग से उठने का अभ्यास कर सकते हैं।
घ) समता का अभ्यास कर सकते हैं।

तब ही तो आप भगवान के स्वभाव का अभ्यास कर सकते हैं। यही नित्य अध्यात्म में रहना है।

ये जो आपको परस्पर विरोध पूर्ण बातें लगीं, वास्तव में ये विरोधी नहीं, सहयोगी हैं।

जिसे पहले कहा, वह परिणाम है, यज्ञ शेष है। जो बाद में कहा, वह साधना है, यज्ञ है।

१. गुण पूर्ण के साथ विवेकपूर्ण व्यवहार के पश्चात् ही आप गुणातीत बन सकते हैं। यानि, फिर गुणातीत शेष रह जायेगा।
२. जब अपमान हो, तब ही आप मौन तथा निरपेक्ष रहने के अभ्यास से, यज्ञ शेष रूप मान, अपमान में समता पा सकते हो।
३. जो सबके लिए सब कुछ करे, वह सर्वभूत हितकर है।

परिणाम में जो अपने लिए कुछ करना ही भूल जायेगा, वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' हो ही जायेगा।

जो नित्य अध्यात्म में स्थित हों, वे कामना रहित ही होते हैं। जो दुःख सुख नामक द्वन्द्व रहित हैं, वे मूढ़ता रहित हो ही जायेंगे।

देख नन्हूं! यहां भगवान ने 'मान से संग' न होने की बात कही है।

१. जीव, मान की ओर बहुत जल्दी बह जाता है।
२. जीव, मान से मानो ख़रीदा जाता है।
३. मान की चाह ही जीव को महामूढ़ बना देती है।
४. संसार में अधिकांश मानसिक रोग, मान की चाहना के कारण होते हैं।
५. लोग मान के लोभी होते हैं।
६. लोग मीठा सुनना चाहते हैं, चाहे वह झूठ ही हो।

मान से उठ जाना कठिन ही नहीं, असम्भव सा प्रतीत होता है। इस कारण साधक को मान के प्रति अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। लोग धन देकर, ज्ञान बेचकर, तन बेचकर भी मान ख़रीदना चाहते हैं। लोग मान के कारण बहुत कष्ट उठाने को भी तैयार हैं। यही एक कारण है कि भगवान बार बार कहते हैं कि मान अपमान में तुल्य होना चाहिए।

क) इसी कारण उन्होंने कहा है कि काम्य कर्म का त्याग कर देना चाहिए।
ख) काम्य कर्म त्यागी ही संन्यासी है।
ग) जो काम्य कर्म त्याग देगा, वह अपने तन को स्थापित करने के कोई प्रयत्न नहीं करेगा।

वह तब तनो भाव से उठ ही जायेगा। उसे सच ही अपने तन की परवाह नहीं होगी। वही भागवद् तत्त्व पाने के काबिल होगा। वही आत्मवान् बन सकता है।

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन देख!

शब्दार्थ :

१. उस परम पद को,
२. न सूर्य प्रकाशित कर सकता है,
३. न ही चन्द्रमा प्रकाशित कर सकता है,
४. न ही अग्न प्रकाशित कर सकता है;
५. जहां पहुंचकर लौटना नहीं होता,
६. वही मेरा परम धाम है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! जिस परम धाम के लिए भगवान बार बार न्यौता दे रहे हैं और जिसकी राह भी बता रहे हैं, अब उसके बारे में बताते हैं।

ब्रह्म स्वरूप :

१. ज्योति उसे ज्योतिर्मय नहीं कर सकती।
२. कोई विषय नहीं जो उसे दिखा सके।

भगवान यहां कहना चाह रहे हैं कि :

क) वह अप्रकट प्राकट्य है।
ख) अचिन्त्य रूप है।
ग) अनुपम, अतुल्य स्वरूप है।

घ) अतीन्द्रिय तत्त्व है।
ङ) अग्राह्य तत्त्व है।

जो सर्वथा निर्विशेष हो, उसे देखना तो दूर रहा, समझना भी असम्भव है। भगवान कहते हैं, 'ऐसे मेरे धाम को जो पा ले, वह कभी लौट कर नहीं आता। इसे ज़रा समझ ले कमला!

१. तनत्व भाव अभाव का,
२. जीवत्व भाव अभाव का,
३. कर्तृत्व भाव अभाव का,
४. अहं, मम, मोह मिटाव का,
५. 'मैं' आत्म में विलीन हो जाने का,
६. 'मैं' की जगह पर तन में भगवान के बस जाने का,

दर्शन क्या हो सकता है? ब्रह्म स्वभाव का दर्शन नहीं होता, वह तो दीर्घ काल में प्रमाणित होता है। ऐसे तत्त्व को सूर्य, चन्द्रमा या अग्न कैसे प्रकाशित कर सकते हैं?

नन्हीं! इसे दूसरे ढंग से समझ!

ऐसे लगता है, कि निमन्त्रण भगवान ने दिया है और भण्डारा तुम्हारे क्षेत्र में होना है। कहते तो हैं कि 'तुम मेरे धाम में आओगी', किन्तु वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाये तो वह कहते हैं :

१. 'अपना सिंहासन छोड़ के आ।
२. अपना राज्य मुझे दे दे।
३. अपने घर में तुम न होना, जब मैं आऊं।
४. तुम्हारे घर में आकर मैं उसे सम्पूर्ण प्रकाश से भर दूंगा।
५. तुम्हारे घर में आकर मैं उसे महा दैवी सम्पदा से श्रृंगारित कर दूंगा, पर तुम न होना वहां! वहां मैं अकेला ही रह सकता हूं।'

क्यों, ऐसा करना ज़रा मुश्किल है न?

किन्तु नन्हूं! घबरा नहीं! जब तू भगवान के धाम में पहुंचेगी, तू वहां की मालकिन बन जायेगी। सच तो यह है, वहां जाकर कोई लौटना नहीं चाहता। तेरा तन तब चाहे भगवान का ही हो जाये, तब भी तुम उसे अपनाना नहीं चाहोगी। तेरा तन चाहे सम्पूर्ण जग के ऐश्वर्य पा ले, तब भी तुम लौट के इसमें आना नहीं चाहोगी।

क्यों नन्हीं! क्या सलाह है?

जब आत्मा आत्मा में जा मिलेगा, फिर तन को विधान जहां भी ले जाये, तुझे क्या?

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

भगवान कहने लगे कि अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जीव लोक में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।
२. वही प्रकृति में स्थित,
३. मन सहित, पांच इन्द्रियों को आकर्षित करता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि इस जीव लोक में जीव उनका ही सनातन अंश है, यानि परम आत्मा का ही सनातन अंश है। जीव परम का अंश है।

किन्तु नन्हूं! अविभाजनीय का विभाजन कैसे हो सकता है? सो क्यों न कहें कि वहां आत्मा ही वास करता है।

क) अंश तथा अंशी में भेद नहीं होता।
ख) अंश तथा अंशी के गुणों में भी भेद नहीं होता।
ग) अंश और अंशी में मानो एक ही शक्ति निहित रूप में वास करती है।
घ) अंश को अंशी का सीमित रूप कह लो!
ङ) अंशी का प्रमाण, पूर्ण सृष्टि में दर्शाता है।
च) अंशी का प्रमाण, तन पुंज 'मैं' में दर्शाता है।

किन्तु, वास्तव में पूर्ण अंशी के तत्त्व में अनन्यता है। जीवत्व भाव युक्त जीवात्मा यदि अपने आपको जान ले, तब वह समझ जायेगा कि वास्तव में वह, पूर्ण की पूर्णता में पूर्ण ही है। केवल :

१. भूले से उसने अंश को अपना लिया है।
२. भूले से उसने तनत्व भाव को अपना लिया है।
३. संग के कारण उसने अपने आत्म स्वरूप को छोड़कर बिम्ब मात्र को अपना लिया है।

ब्रह्म और जीव अंश में भिन्नता क्यों दिखाई देती है?

ब्रह्म अंश तथा आत्म रूप जीव स्वरूप तत्त्व से भिन्न नहीं है।

क) वह केवल प्रकृति रचित उपाधियों को अपना लेने के कारण भिन्न सा दर्शाता है।
ख) अज्ञानता के कारण देहात्म बुद्धि वास्तविकता को नहीं समझ रही।
ग) गुण तथा नाम और रूप से तद्‌रूपता के कारण जीव को अपना ही स्वरूप याद नहीं रहा।

भगवान यहां कह रहे हैं कि जीव में मेरा ही सनातन अंश है। यह मुझ चेतनता स्वरूप से चेतन अंश लेकर जीव लोक को चेतन सा कर देता है। परमात्म सम्पूर्ण सृष्टि में चेतना भर देता है, फिर यही तनत्व भाव पूर्ण जीवात्मा मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यहां भगवान ने मन को भी 'इन्द्रिय' कहा है।

संग से गिरावट

नन्हूं बच्चू! संग के कारण जीवात्मा प्रकृति रचित मन तथा इन्द्रियों को तथा उनके गुणों को अपना लेता है और इनके द्वारा किये गये कार्यों को भी अपना लेता है।

यानि, वह प्रकृति रूप उपाधियों को आकर्षित करता है। इस संग और अज्ञान के कारण वह बार बार जन्मता और मरता है। यह अज्ञान ही उसका मोह भी परिपक्व करता है।

आवरण रहित जीवात्मा,
क) भगवान ही होता है।
ख) ब्रह्म की विभूति ही होता है।
ग) आत्मवान् ही होता है।
घ) अध्यात्म स्वरूप ही होता है।

नन्हीं! इस जीवात्मा में परम अंश होने के कारण,
१. रचनात्मक शक्ति है।
२. जड़ को चेतन करने की शक्ति है।
३. इस जीवात्मा में तत्त्वों को समेट कर, तन रच देने की शक्ति है। संग रहित जीवात्मा गर मौन हो जाये, यानि :
क) अपनी क्रियात्मक शक्ति से संग न करे,
ख) अपनी विचारात्मिका शक्ति से संग न करे,
ग) अपनी रचना से संग न करे,
तो यह गुणों और अज्ञान रचित उपाधियों का अतिक्रमण कर जाये। तब, बाकी भगवान ही रह जायेंगे

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन! ध्यान से समझ!

शब्दार्थ :
१. जैसे वायु स्थानों से गन्ध ले जाता है,
२. वैसे ही ईश्वर (जीवात्मा) भी, जिस देह को छोड़ता है,
३. उससे इन इन्द्रियन् रस को पकड़ कर,
४. जिस देह को पुनः रचता है,
५. उसमें ले जाता है।

तत्त्व विस्तार :
जीवात्मा ईश्वर कैसे ?
यहां जीवात्मा को 'ईश्वर' कहा;
क) परम से अभेदता दर्शाने के लिए कहा।
ख) परम अंश की सनातनता बताने के लिये कहा।
ग) परम की अखण्डता सुझाते हुए कहा।
घ) जीव को उसके स्वरूप की ओर ले जाने के लिये कहा।
ङ) जीव को उसकी वास्तविकता दर्शाने के लिये कहा।
च) जीव को भगवान कभी नहीं छोड़ते, वह इस बात से समझ सके, इसलिये कहा।
छ) जीव में शक्ति परम की है, वह इस बात को समझ सके, इसलिये कहा।

मन इन्द्रिय समूह की गन्ध ही बीज बनती है, यह समझ ले। देख न! तन, मन, बुद्धि, और इन्द्रिय :
१. रचना तो परम की हैं,
२. इनमें शक्ति तो परम अंश की है,
३. इनमें चेतना तो परम ने ही दी है।

परन्तु,

क) मन, बुद्धि और अहं ने अपने आपको व्यक्तिगत कर लिया है।
ख) उन्होंने अपने में अहंकार भर लिया है और अपने तन से संग कर लिया है।
ग) उन्होंने कर्मों से भी संग कर लिया है।
घ) उन्होंने गुणों से भी संग कर लिया है।
ङ) वे न्यून श्रेष्ठ निज को मानने लगे हैं।
च) वे कहीं इतराने, कहीं घबराने लगे हैं।
छ) वे कुछ चाहने लगे, कुछ ठुकराने लगे हैं।

संग का परिणाम :

यह सब ही,

क) निरर्थक था,
ख) आवरण के कारण हुआ,
ग) अज्ञान के कारण हुआ,

यह संग ही मोह है। इसके कारण ही जीवत्व भाव उत्पन्न हुआ और ब्रह्म की विभूति यह तन, एक जड़ माटी बुत बनकर रह गया।

उस ब्रह्म का स्वभाव देख! उस ब्रह्म की करुणा देख! जो काज इस जन्म में मन, बुद्धि के अधूरे रह गये, जो चाहना अतृप्त रह गई, वह पुनः रूप धर आयेगी आपके लिये। इस जीवन में आपके पूर्व जीवन की चाहना का फ़ल मिला। अगले जीवन में आधुनिक चाहना का फल मिल जायेगा। आपका संग, मोह, अहंकार, राग द्वेष, मनोविकार, संकल्प विकल्प, सद्भाव दुर्भाव, यही तो आपके जीवन की गन्ध है।

कहते हैं, परमात्म अंश जीवात्मा इसी गन्ध को लेकर और इन्हीं बीजों को लेकर पुनः नव तन का निर्माण कर देता है।

बच्चू जान! आत्मा, या कहो जीवात्म तत्त्व, गन्ध रूप में कर्म फल बीजों को ऐसे ले जाता है, जैसे वायु गन्ध को ले जाती है और फिर उन बीजों के आसरे प्रकृति नव तन रचती है।

क) यह सब आत्मा के साक्षित्व में होता है।
ख) यानि, जीवन यात्रा के अन्त में जो कर्म में फल बीज रूप शेष रह जाता है, वह आत्मा के आसरे नव तन ग्रहण करता है।
ग) किन्तु नन्हूं! आत्मा मानो इन बीजों को छूता तक नहीं है। वह तो उन बीजों को, मानो प्रकृति को, ज्यों का त्यों दे देता है।

नन्हीं! ईश्वर का अर्थ पुनः समझ ले!

१. ईश्वर मालिक को कहते हैं।
२. ईश्वर शक्ति सम्पन्न को कहते हैं।
३. ईश्वर योग्य तथा समर्थ को कहते हैं।
४. ईश्वर अपनाने वाले को कहते हैं।
५. ईश्वर राज्य करने वाले को कहते हैं।
६. ईश्वर शासन करने वाले को कहते हैं।
७. ईश्वर आदेश देने वाले को कहते हैं।
८. ईश्वर अधिकार में लेने वाले को कहते हैं।

इस नाते, यहां कर्म संस्कार को अधिकार में लेने वाले मालिक जीवात्मा को 'ईश्वर' कहा है।

इसी ईश्वर में संस्कारों पर राज्य करने की तथा उनका पुनर्निर्माण करने की शक्ति निहित होती है।

यह जीवात्मा मानो नव तन निर्माण करके उसमें इन्द्रिय रस गन्ध को भर देता है।

ऐसे ही देख नन्हूं! मन तथा इन्द्रिय संयोग से यह रस बनता है और इस गंध को ईश्वर खेंच ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

भगवान ने कहा कि :

शब्दार्थ :

१. यह जीवात्मा, कान, नेत्र, त्वचा, रसना (और) प्राण,
२. और ऐसे ही मन का आश्रय लेकर,
३. विषयों को भोगता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! जीवात्मा का अपने आपको तन मान लेना ही तन के आश्रित हो जाना है। वह बिना इन्द्रियों के कुछ भी भोग नहीं सकता। बिना मन के संग के जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकता। क्यों न कहें, संग के पश्चात् ही जीवात्मा उपभोगी बनता है और जीवत्व भाव को उत्पन्न करने वाले ये मन और बुद्धि ही हैं।

आत्मा का स्वरूप परम समान है :

परम अंश आत्मा तो,

- नित्य निरासक्त ही है।
- नित्य तृप्त ही है।
- नित्य मौन स्वरूप ही है।
- नित्य अभोक्ता ही है।
- नित्य निर्विकार ही है।
- नित्य उदासीन ही है।

यानि, पूर्ण परम गुण सम्पन्न है। किन्तु मैं, मन, बुद्धि और इन्द्रियां ही जीवत्व भाव और भोक्तृत्व भाव को जन्म देती हैं। यह ही अज्ञान का जन्म स्थान है।

अति सूक्ष्म दृष्टि से लिया जाये तो यूं समझ!

ब्रह्म अंश आत्म तत्त्व :

१. मौन है।
२. संकल्प विकल्प रहित है।
३. चाहना रहित है।
४. केवल देता है, लेता कुछ भी नहीं।
५. सब कुछ ज्यों का त्यों धर देता है।
६. उसमें परिवर्तन की कोई चाह नहीं होती।
७. उदासीन इतना है कि जो बीज अपने साथ ले जाता है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं लाता।
८. बुरा भला, जैसा भी बीज हो, वैसा ही पुनः रच देता है।

तन, परिस्थितियां, संसार, मन, बुद्धि

और अहंकार भी बीज के अनुकूल ही रचता है।

गर इसे ध्यान से देखा जाये तो जीव की चाहना ब्रह्म के स्वरूप की ही है। वह उसी नित्य आनन्द को ही चाहता है, उसकी उसी शान्ति के लिये चाहना नित्य अतृप्त है। उसकी विधि अध्यात्म है, यानि, परम स्वभाव अपने में लाना है।

सुख, चैन, आनन्द में ब्रह्म से :

क) मानो निरन्तर होड़ लगी रहती है।
ख) मानो प्रतियोगिता, भिड़ाव रहता है।
ग) मानो निरन्तर द्वेष रहता है। यदि जीव ब्रह्म जैसा स्वभाव बना ले तो पल में यह होड़ मिट जायेगी और वह ब्रह्म का चाकर हो जायेगा।

भाई! सुख परम की चाकरी में है, सुख ठाकुर बनने में नहीं मिल सकता। सुख यज्ञ, तप, दान में है, सुख संग, लोभ, मोह में नहीं मिल सकता। ब्रह्म अंश तो जीवात्मा है, उसे ही देख ले। कुछ पल मन, बुद्धि, तन को भूल तो सही, तब जान सकोगे कि भगवान क्या कहना चाह रहे हैं।

फिर से समझ ले नन्हीं! चाहता तो मन भी निहित आनन्द ही है, जो स्वरूप में ही मिलता है। वह भी नित्य आनन्द की ही तलाश करता रहता है।

१. मन, विषय अपने सुख के लिये मांगता है।
२. मन, मान अपने सुख के लिये मांगता है।
३. जीव की मांग भी केवल सुख की ही है।

मन भी नित्य तृप्त होना चाहता है किन्तु बुद्धि की कमज़ोरी के कारण उसका संग स्थूल से हो गया है। वह मानने लग गया है कि सुख स्थूल विषयों में है।

आपकी बुद्धि को इतनी सी बात समझ लेनी चाहिये कि विषय भोग्य सुख केवल क्षणिक है।

१. तन आपको सुख नहीं दे सकता।
२. तन की इन्द्रियां आपको सुख नहीं दे सकतीं।
३. इन्द्रियां तो केवल क्षणिक सुख या चैन दे सकती हैं।
४. जो मान तुझे आज मिला है, वह कल भी मिलना चाहिए, वरना फिर दु:खी हो जाओगे।
५. जिस विषय या भोग ने आपको आज सुख दिया है, वह आपको कल भी चाहिए होगा।

इन्द्रियों के राही जो भी आपको सुखद लगता है, उसे आपको सुख देते रहना पड़ेगा वरना आप दु:खी हो जायेंगे। इस कारण जीव लोभी हो जाता है, इस कारण ही जीव संग्रह करता है। किन्तु जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण हो गई, वह जान लेगा कि विषयों से सुख की चाहना मूर्खता है; विषयों से सुख की आशा, पर आश्रितता है।

जीव धन पर आश्रित है, विषयों पर

आश्रित है। वह समझता है कि यदि उसके पास धन होगा तो वह जीवन भर इच्छित विषयों को प्राप्त कर सकेगा। इस कारण सम्पूर्ण शास्त्र पुकार पुकार कर यही कह रहे हैं कि विषयों से संग छोड़ दो। तुम विषयों पर आश्रित हो गये हो, उनसे संग छोड़ दोगे तो इस आश्रितता के चले जाने के पश्चात् तुम नित्य तृप्त हो जाओगे। फिर, जो मिल गया सो मिल गया, जो न मिला सो न मिला, तुम्हारा चित्त हमेशा सम रहेगा। वरना जीव नित्य असुरक्षित ही महसूस करेगा।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

भगवान की कथनी के अनुसार शरीर को धारण करने, उपभोग करने व छोड़ने को कौन लोग देख सकते हैं ? इसके बारे में भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. (देह) से निकलते हुए,
२. (देह में) स्थित हुए, और
३. गुणों से युक्त हुए को भी,
४. मूढ़ नहीं देखते हैं,
५. ज्ञान के नेत्रों वाले देखते हैं।

तत्त्व विस्तार :

जीव गुण खिलवाड़ देखते हुए भी नहीं देखता। नन्हूं! देख न! जीव रोज़ लोगों को,

१. मरते देखता है।
२. जन्म लेते देखता है।
३. गुणों से युक्त हुआ देखता है।
४. गुणों को भोगते हुए देखता है।
५. उनके अपने ही गुणों से विरोध देखता है।
६. औरों के गुणों से विरोध देखता है।
७. आकर्षण देखता है।
८. औरों के गुणों पर प्रभाव देखता है।

फिर, जीव यह भी देखता है कि उसका गुणों पर वश नहीं है। किन्तु ये सब कुछ देखते हुए भी :

क) जीव कुछ नहीं देखता।
ख) जीव कुछ देखना नहीं चाहता।
ग) जीव अपने आपको बिल्कुल ही नहीं देखना चाहता।
घ) सच तो यह है कि वह अपने आपको जानना भी नहीं चाहता, वह सच से डरता है।
ङ) सच को सच जानकर भी वह सच मानना नहीं चाहता।
च) क्योंकि यदि सच को सच मान लेगा तो उपाधि रूपा 'मैं' बेचारी किधर जायेगी ?

ज्ञाननेत्र तथा मूढ़ की दृष्टि का आधार :

इसलिए भगवान कहते हैं कि स्थूल

दर्शन की बात नहीं है, स्थूल दर्शन तो सबको होते हैं। जीव का दृष्टिकोण उसके विषय अर्थ तथा मूल्यों पर आधारित है।

नन्हूं! जब ये नेत्र मन के राही देखते हैं तब नेत्र मन के होते हैं। जब नेत्र ज्ञान की राही देखते हैं तब नेत्र ज्ञान के होते हैं। जिसका दर्शन हो, उस विषय में ज्योति अर्थ की होती है, वह अर्थ किसने दिया, सोच तो लो!

आपके लिये विषय का जो मूल्य होगा, उस पर वह अर्थ आधारित है। तनो संगी विषयासक्त के लिए प्रेम का अर्थ कुछ और है, तनत्व भाव त्यागी निरासक्त के लिए प्रेम का अर्थ कुछ और ही होगा।

इसी विधि मूढ़ और ज्ञानवान् के लिये जन्म मरण का अर्थ भी भिन्न होगा। इन दोनों की समझ भी फ़र्क होगी।

ज्ञान के नयन से देखो, उदासीन होकर देखो तो आत्म राज़ समझ आ जाता है। नित्य निर्लिप्त तथा निर्विकारी दृष्टि से देखो तो जन्म मरण का चक्र भी गुण खिलवाड़ ही नज़र आयेगा। आत्मा और कर्म बीज का मिलन भी गुण खिलवाड़ ही है।

नन्हूं! यदि आप आत्मा की बात समझ जायें तो,

१. आप जीवन को गम्भीर समस्या नहीं मानेंगे।
२. आप जीवन के प्रति मुसकराते रहेंगे।
३. आप अपने पर ही स्वयं मज़ाक कर सकेंगे।
४. आप अपने ही तन मन तथा बुद्धि को एक मनोरंजन का विषय ही मानेंगे।
५. आप अपने बारे में कभी चिन्ताशील नहीं होंगे।
६. जिस तन को आपने छोड़ ही देना है, उसकी क्या परवाह करनी ?
७. जो तन आपका है ही नहीं, और जो आप हो ही नहीं, उससे आपका संग क्यों ?

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

भगवान कहते हैं, देख अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. यत्न करने वाले योगी जन,
२. अपने में इस आत्मा को स्थित देखते हैं,
३. परन्तु अशुद्ध चित्त वाले अविवेकी पुरुष,
४. यत्न करते हुए भी इसको देख नहीं पाते।

तत्त्व विस्तार :

कहते हैं, कि योगी जन यत्न करते हुए इस सत् को अपने में देख सकते हैं, क्योंकि:

१. योगी जन अपने आत्म तत्त्व में स्थित

रहते हैं।
२. वे परम से योग लगाये होते हैं।
३. वे परम स्वभाव जीवन में लाने के यत्न कर रहे होते हैं।
४. वे परम सदृश् मौन होते जाते हैं।
५. वे परम सदृश् उदासीन होते जा रहे हैं।
६. वे परम सदृश् सबके लिए सब कुछ किये जा रहे हैं।
७. वे परम सदृश् अपना तन, पूर्ण शक्तियों सहित जग को दे रहे हैं।
८. वे परम सदृश् यज्ञ कर रहे होते हैं।
९. वे परम सदृश् मौन रह कर तप कर रहे होते हैं।

इस कारण वे परम तत्त्व को जान लेते हैं। वे व्यक्तिगत 'मैं' को भूले होते हैं।

वे परम प्रेम में खोये हुए :

क) अपना तन, मन, बुद्धि परम को ही दिये जाते हैं।
ख) आशा को भी भूल जाते हैं, क्योंकि परम की रज़ा ही उनकी एकमात्र आशा रह जाती है।
ग) चाहना और रुचि को परम चरण में धर आते हैं।
घ) संकल्प, विकल्प क्या करें, जब चिन्ता की बात ही नहीं रही। मानो अब चिन्ता उनकी भगवान करते हैं।
ङ) शुभ, अशुभ की भी बात नहीं रह जाती, क्योंकि वे तनत्व भाव छोड़ रहे होते हैं।

ये सब तब हुआ, जब परम के प्रेम में खो गये।

अन्य साधक गण यत्न करते हुए भी देख नहीं पाते क्योंकि उनका चित्त अशुद्ध है। वह अशुद्ध चित्त क्या है, समझ ले!

चित्त अशुद्धि :

देख! सबसे बड़ी अशुद्धता 'मैं' है, सबसे बड़ी अशुद्धता 'संग' है। 'मैं' और 'संग' एक ही बात समझ लो। 'मैं' शब्द तनो संग के साथ सप्राण हो जाता है। फिर, व्यक्तिगतता का जन्म होता है। परम आवरण, मूल मल 'मैं' है। मूल अशुद्धि यह ही है।

चित्त अशुद्धि परिणाम :

१. जब लौ तन प्रधान है,
२. जब लौ मन प्रधान है,
३. जब लौ बुद्धि प्रधान है,
४. जब लौ 'मैं' प्रधान है,
५. जब लौ संग प्रधान है,

चित्त में जो भी है, अशुद्ध है,

ऐसे जीव जीवन में,

क) जो कुछ भी सोचते हैं,
ख) जो कुछ भी करते हैं,
ग) जो कुछ भी भोगते हैं,
घ) जो कुछ भी बोलते हैं,
ङ) जो कुछ भी छुपाते हैं,
च) जो कुछ भी देखते हैं,
छ) जो कुछ भी जानते हैं,

उसमें स्वार्थ पूर्ण 'मैं' निहित है।

जो गुण कहीं भी दिखते हैं, उन्हें भी अपने लिये ही चाहते हैं। जो गुण अपने में पाते हैं, वे सब केवल अपने लिये ही

इस्तेमाल करते हैं।

अशुद्ध चित्त पूर्ण का व्यवहार :

अशुद्ध चित्त पूर्ण लोग,

- आसुरी गुण प्रधान होते हैं।
- अज्ञान तथा प्रमाद पूर्ण होते हैं।
- कामना तथा लोभ पूर्ण होते हैं।
- केवल अपने भोग ऐश्वर्य में लगे रहते हैं।

नन्हूं! अशुद्ध चित्त वाले लोग दूसरों को इन्सान नहीं मानते। वे तो केवल अपनी और अपनों की स्थापना में नित्य प्रवृत्त रहते हैं। वे तो अपने अभिमान में डूबे रहते हैं। वे किसी को कोई सुख नहीं देते। वास्तव में वे सबको दुःख ही देते हैं। भगवान ने यज्ञ, तप और दान की विधि कही है, जो ऋषिगण को भी पावन करने वाली है; किन्तु अशुद्ध चित्त वाले लोग तो निष्काम कर्म करते ही नहीं।

१. वे तो अपने स्वार्थ को पल भर के लिये भी नहीं भूलते।
२. वे परम तत्त्व को नहीं जान सकते।
३. वे जन्म मरण के चक्र को नहीं समझ सकते।
४. वे यत्न करते हुए भी आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकते।

नित्य निरासक्त योगी जन ही तत्त्व सार समझ सकते हैं, क्योंकि उनका चित्त शुद्ध होता है। वे गुण खिलवाड़ को दूर से देख सकते हैं, इस कारण वे जन्म मरण के राज़ को भी समझ लेते हैं।

नन्हूं! वे जानते हैं कि :

क) संग ही बीजों को पकाता है।
ख) संग ही बीजों में पुनः जन्म की शक्ति भरता है।
ग) जीवात्मा में भी परम का अंश ही मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को चेतन बनाता है।
घ) ज्यों परम की प्रकृति त्रिगुणात्मिका शक्ति के आसरे सृष्टि रच देती है, त्यों उस अंशी के अंश के आसरे, मन, बुद्धि और इन्द्रियां भी पुनः नव तन रच लेती हैं।
ङ) बच्चू! चेतन अंश होने के कारण, 'मैं' में बीज को मानो पुनः सप्राण करने की शक्ति है।

आत्मा के गुण जीवात्म तत्त्व में निहित हैं और जीवन का हर कर्म बीज भी गुण पूर्ण है। इन गुणों के मिलन के पश्चात् नव जन्म का होना भी गुण खिलवाड़ ही बन जाता है। नन्हूं! ये बातें कोई योगी ही ज्ञान नेत्रों से देख सकता है और अनुभव सहित समझ सकता है।

यदि जीव ज्ञानवान् होगा तो,

१. उसका हर कर्म निष्काम होगा।
२. उसकी हर नज़र भक्ति पूर्ण होगी।
३. उसका हर वाक् ज्ञान पूर्ण होगा।
४. उसका जीवन अध्यात्म का प्रमाण होगा।

तब ही वह इस तत्त्व सार को समझ सकेगा।

नन्हूं! यहां भगवान ने साधकों को एक

बड़ी भारी चेतावनी दी है। इसे पुनः समझ ले!

भगवान ने कहा, कि जो 'अकृत' है, वह आत्मा को नहीं जान सकता।

जो 'अचेतसः' है, वह आत्मा को नहीं जान सकता।

भगवान ने स्पष्ट कहा है कि ऐसे लोग चाहे उम्र भर प्रयत्न करते रहें, वे आत्मा को नहीं जान सकते।

अकृतात्मा :

पहले 'अकृत' का अर्थ समझ ले :

१. जिसने कोई काम न किया हो।
२. जिसने काम अधूरे छोड़े हों।
३. नाते होते हुए भी जो उन्हें न माने।
४. जो करने योग्य को न करे।
५. जो असफल हो।

अकृत आत्मा, अज्ञानी, ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न, मूर्ख तथा असंतुलित मस्तिष्क वाले को कहते हैं।

यानि,

क) विरोधात्मक कार्य करने वाला अकृतात्मा है।
ख) विरोधात्मक पथ का अनुसरण करने वाला अकृतात्मा है।
ग) विरोधात्मक कार्य करने के निमित्त भूत होने वाला अकृतात्मा है।
घ) अपने कर्त्तव्यों से विमुख होने वाला अकृतात्मा है।

अचेतस :

नन्हीं! अब 'अचेतसः' को समझ ले! अचेतसः का अर्थ है,

१. विचार शक्ति के रहित।
२. तर्क शक्ति के रहित।
३. चिन्तन शक्ति रहित।
४. जड़वत् जीव।
५. मूर्छित सा हुआ जीव।

सो नन्हीं! यहां भगवान स्पष्ट कह रहे हैं कि,

क) अकृतात्मा बनकर, करने योग्य कर्त्तव्यों से पलायन करके, आप आत्मा को नहीं जान सकते।
ख) अपनी विचार शक्ति तथा बुद्धि को त्याग कर आप आत्मा को नहीं जान सकते।
ग) लाख मौन होने के प्रयत्न कीजिये, बिना सुकृत तथा सुचेत बने आप आत्मा को नहीं जान सकते। सो,

- जीवन में शुभ कर्म करने ही पड़ेंगे।
- जीवन में निष्काम कर्म करने ही पड़ेंगे।
- जीवन में यज्ञमय कर्म करने ही पड़ेंगे।

यदि यह नहीं करोगे तो आत्मा को नहीं समझ सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

अब भगवान के तेज की महिमा कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो तेज सूर्य में स्थित हुआ,
२. सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकाशित करता है,
३. तथा जो (तेज) चन्द्रमा में (स्थित है),
४. और जो तेज अग्नि में है,
५. वह तेज तू मेरा समझ।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! अब भगवान अपने तेज के विषय में कहते हैं। याद रहे नन्हूं! भगवान अपने आत्म रूप की बात कह रहे हैं, वह नन्द नन्दन कृष्ण की बात नहीं कह रहे। वह तो अखण्ड, दिव्य, नित्य, प्रकाश स्वरूप परम तत्त्व के विषय में कह रहे हैं। वह कहते हैं कि :

क) जो सूर्य में स्थित ज्योति स्वरूप तेज है, वह तू मेरा ही समझ।
ख) यानि, जिस तेज से यह पूर्ण संसार देदीप्यमान हो रहा है, उसे तू मेरा ही मान।
ग) आंखों में जो ज्योति है, उसको मेरी ही जान।
घ) फिर कहा कि चन्द्रमा में जो तेज है, वह भी मेरा ही मान।
ङ) यानि, मन में जो तेज है वह मेरा ही जान।
च) मन में जो विचार तथा संकल्प करने की शक्ति है, वह भी तू मेरी ही जान।

फिर भगवान ने कहा कि अग्नि में तेज मेरा ही है।

अग्नि में भी जो तेज है, वह मेरा ही जान। यानि, वाणी में जो विषय प्रकाशित करने की शक्ति है, वह तू मेरी ही जान। जो भी जहां भी प्रकाशित होता है, वे सब तू मुझमें ही प्रकाशित हुआ जान ले। किसी भी तेज पूर्ण शक्ति में जो तेज है, वह उसका अपना तेज नहीं है। वह तेज भगवान का ही है। वह तेज आत्मा का ही है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

फिर भगवान कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. पृथ्वी में प्रवेश करके,
२. मैं अपनी शक्ति से,
३. सब भूतों को धारण करता हुआ।
४. रसात्मक सोम होकर,
५. सम्पूर्ण औषधियों को पुष्टित करता हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं बीज उत्पत्ति कर शक्ति आत्म तत्त्व ही है।

अब भगवान कहते हैं कि,

क) मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण भूतों को धारण करता हूं;
ख) यानि, सम्पूर्ण भूत योनियों में जो शक्ति है, वह मेरी ही है।
ग) जिसमें भी बीज उत्पत्ति की शक्ति है, वह मेरी ही है।

और भगवान कहते हैं कि,'मैं रसमय सोम होकर, सृष्टि की सम्पूर्ण औषधियों को पुष्टित करता हूं।'

'सोम' चन्द्रमा को कहते हैं। चन्द्रमा का स्वरूप रसमय होता है। चन्द्रमा के काल में पड़ने वाली ओस से सम्पूर्ण औषधियां पुष्टि पाती हैं। उस चन्द्रमा से रस पाकर वनस्पति स्वादिष्ट तथा रसयुक्त बनती है। 'सोम' यज्ञ में काम आने वाले रस को भी कहते हैं।

सोम = सु+मन् , यानि :

क) सुन्दर मन को सोम कहते हैं।
ख) श्रेष्ठता वर्धक मन को सोम कहते हैं।
ग) सर्वोत्तम मन को सोम कहते हैं।
घ) जो रस पुष्टि दे, उसे सोम रस कहते हैं।

यहां भगवान कहते हैं : वह रस, जो सम्पूर्ण औषधि का पालन करता है, वह भगवान स्वयं ही हैं।

औषधि :

नन्हीं! औषधि सम्पूर्ण वनस्पति को कहते हैं।

औषधि वह है,

१. जो जीव के तन को स्वस्थ बनाये।
२. जो जीव के तन को पुष्टित रखे।
३. जो जीव के तन का बल और शक्ति बनाये रखे।
४. जो जीव के हर अंग को पुष्टित रखे।

भगवान कहते हैं कि देख अर्जुन! यह सब मेरे ही अतुल्य तेज का प्रताप है जिसकी राह से संसार की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि होती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

अब भगवान आगे अपने तेज के विभाजन को समझाते हुए कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मैं (ही) सब प्राणियों के शरीर में स्थित हुआ,
२. वैश्वानर होकर,
३. प्राण और अपान से युक्त होकर,
४. चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं।

तत्त्व विस्तार :

वैश्वानर :

नन्हूं! प्रथम वैश्वानर को समझ ले।

१. वैश्वानर जठर अग्नि को कहते हैं।

२. वैश्वानर पाचन शक्ति को कहते हैं।
३. वैश्वानर के कारण शरीर में गर्मी रहती है।
४. वैश्वानर के कारण शरीर ज़िन्दा रहते हैं।
५. वैश्वानर की ऊष्णता ही पेट में अन्न को पकाती है।

भगवान कहते हैं, 'मैं ही प्राण और अपान से युक्त होकर, जठर अग्नि रूप वैश्वानर, भूतों की पाचन शक्ति बनता हूं।'

भगवान ने यह भी कहा, 'चार प्रकार के अन्न को मैं पचाता हूं।'

चार प्रकार के अन्न :

यानि,

क) चबा कर खाने वाले अन्न (रोटी इत्यादि),
ख) निगले जाने वाले अन्न (दूध इत्यादि),
ग) चाट कर खाने वाले अन्न (चटनी, शहद इत्यादि),
घ) चूस कर खाने वाले अन्न (गन्ना इत्यादि),

को मैं पचाता हूं।

भगवान ही इन सब को पचाते हैं और विभिन्न अन्न रूप औषधियों को पृथक् पृथक् करके उचित मात्रा में विभिन्न अंगो को पहुंचाते हैं। इससे विभिन्न अंग पुष्टित होते हैं। जो व्यर्थ अन्न होता है, भगवान ही उसे तन से बाहर निकाल देते हैं।

भगवान ने यहां कहा कि प्राण और अपान वायु से युक्त होकर वह अन्न को पचाते हैं। नन्हीं! प्राण आंन्तर में ऑक्सीजन ले जाते हैं और अपान आन्तर से कार्बनडॉक्साइड निकालते हैं। ऑक्सीजन से ही शरीर के सब आन्तरिक अंग अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। कार्बनडॉक्साइड द्वारा शरीर से मानो हानिकारक वायु बाहर निकल जाती है।

भगवान कहते हैं, कि यह सब वह आप हैं, और इसकी राह से जीव जो अन्न खाता है और पचाता है, उससे ही जीव जीवित रहता है।

यानि, भगवान कह रहे हैं कि जीव का पालन पोषण वह आप ही करते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अब भगवान अपना प्रभाव बताते हुए कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप में स्थित हूं,
२. मेरे से ही स्मृति, ज्ञान और विस्मृति होती है,
३. सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं,
४. मैं ही वेदान्त का कर्त्ता हूं,
५. और वेद को जानने वाला भी मैं ही हूं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं अर्जुन से, 'सम्पूर्ण व्यक्तियों के हृदय में मेरा ही वास है। वास्तव में वे मुझे ही चाहते हैं।'

जीव भगवान को किस रूप में चाहते हैं?

देख नन्हीं! भगवान कहते हैं, यदि वे,

क) आनन्द चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि आनन्द मुझी में है, वह मेरा ही नाम है।

ख) प्रेम चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि प्रेम मुझी में है, वह मेरा ही नाम है।

ग) प्रकाश चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि प्रकाश मुझी में है, वह मेरा ही नाम है।

घ) अमृत चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि अमृत मुझी में है, वह मेरा ही नाम है।

ङ) शोक विमुक्ति चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि शोक विमोचक मैं आप ही हूं।

च) नित्य तृप्ति चाहें तो मुझे ही चाहेंगे, क्योंकि नित्य तृप्ति मुझी में पा सकते हैं।

छ) निर्भयता चाहें तो मुझी को चाहेंगे, क्योंकि निर्भयता मेरे स्वरूप में ही रहती है।

दूसरे से भी तुम जो कुछ चाहते हो, वह मेरा ही कोई गुण चाहते हो।

१. वफ़ा चाहो तो मुझे चाहते हो।
२. कृतज्ञता चाहो तो मुझे चाहते हो।
३. सत्यता चाहो तो भी तुम मुझे ही चाहते हो।
४. न्याय चाहो तो भी तुम मुझे ही चाहते हो।
५. दैवी सम्पदा चाहो तो भी तुम मुझे ही चाहते हो।
६. श्रेष्ठता चाहो तो भी तुम मुझे ही चाहते हो।

भगवान कहते हैं कि :

– सबके हृदय में आत्मा बनकर मैं ही स्थित हूं।
– सबके हृदय में तेज बनकर मैं ही स्थित हूं।
– सबके हृदय में शक्ति बनकर मैं ही स्थित हूं।

इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों की स्मृति, ज्ञान, तथा विस्मृति भी मैं ही हूं।

स्मृति :

प्रथम स्मृति को समझ ले! स्मृति का अर्थ है याद रखना, मन में रखना, चिन्तन करना, ध्यान में रखना। यह स्मृति जो आप में है, भगवान कहते हैं, 'वह जीव मेरे से ही पाता है।' जो आप जीवन में याद रखते हैं, उसकी शक्ति आप भगवान से ही पाते हैं। किन्तु नन्हूं! स्मृति की शक्ति भगवान से पाकर जीव स्मृति का कितना दुरुपयोग करते हैं।

जीव द्वारा स्मृति का दुरुपयोग :

जीव की स्मृति में से :

१. घृणा जाती ही नहीं।
२. द्वेष जाता ही नहीं।
३. नफ़रत जाती ही नहीं।
४. गिले शिकवे जाते ही नहीं।

जीव की स्मृति में,

५. अपने नाते बन्धुओं के प्रति भी असत् विचार भरे रहते हैं।
६. विषयों की भरमार लगी रहती है।
७. लोभ तथा तृष्णापूर्ण भाव भरे रहते हैं।

नन्हूं! यह भागवद् देन का दुरुपयोग है। यह भगवान का ही दुरुपयोग है।

भगवान कहते हैं कि, 'ज्ञान भी वह आप ही हैं।' नन्हीं! भगवान ने श्लोक १३/११ में सविस्तार बताया है कि ज्ञान क्या है।

ज्ञान क्या है?

नन्हूं!

क) आत्मा में आत्मवान् होना ही ज्ञान है।
ख) अपने स्वरूप में स्थित होना ही ज्ञान है।
ग) परम स्वभाव को अपना बना लेना ही ज्ञान है।
घ) परम गुण सम्पन्न होना ही ज्ञान है।
ङ) शास्त्रों में जो कहा है, उसकी प्रतिमा बन जाना ही ज्ञान है।

और फिर ज्ञान ही भगवान हैं।

यानि,

- ज्ञान का स्वरूप भी भगवान ही हैं।
- ज्ञान पर प्रकाश भी भगवान ही हैं।
- अध्यात्म का प्रमाण भी भगवान हैं।
- ब्रह्म की धरती पर प्रतिमा भी भगवान हैं।

अपोहन :

फिर भगवान ने कहा कि अपोहन भी वह आप हैं।

१. तर्क वितर्क करके, मिथ्या शंकाओं का लुप्त हो जाना वह आप ही हैं। युक्तियों के साथ अज्ञान को मिटा देना वह आप ही हैं।
२. वास्तव में 'अपोहन', दूर करने को कहते हैं, हटा देने को कहते हैं।
३. अज्ञान को हटा देना अपोहन है।
४. अज्ञान की विस्मृति हो जाना अपोहन है।
५. अपने तन को भूल जाना ही अपोहन है।

वेदों में ज्ञातव्य भगवान ही हैं :

अब भगवान कहते हैं कि, 'वेदों में ज्ञातव्य भी मैं ही हूं।' यानि,

क) सम्पूर्ण शास्त्रों में प्राप्त करने योग्य केवल परम तत्त्व स्वरूप मैं ही हूं।
ख) सम्पूर्ण शास्त्रों का केवल मात्र लक्ष्य मैं ही हूं।
ग) सम्पूर्ण शास्त्रों में निहित ज्ञान भी मैं ही हूं।
घ) सम्पूर्ण शास्त्रों में, जिसका वह वर्णन करना चाहते हैं, वह भी मैं ही हूं।
ङ) सम्पूर्ण शास्त्रों में अनुभव करने योग्य मेरा ही आत्म तत्त्व है।
च) सम्पूर्ण शास्त्रों में जिस ब्रह्म की महिमा गाई गई है, वह भी मैं ही हूं।
छ) सम्पूर्ण शास्त्रों में कथित ब्रह्म स्वरूप रूप मैं ही हूं।

वेदान्त का कर्त्ता :

वेदों के अन्त को वेदान्त कहते हैं।

सम्पूर्ण वेदों से ज्ञान पाकर अन्त में जो स्थिति मिलती है, उसे वेदान्त की स्थिति कहते हैं। वेदान्त अखण्ड आत्मतत्त्व की अखण्डता को प्रतिपादित करता है।

भगवान कहते हैं, 'वेदान्त भी मैं ही हूं।' यानि, वेदान्त की प्रतिमा भी मैं ही हूं; वेदान्त का प्रमाण भी मैं ही हूं।

वेदान्त, पूर्ण विभाजित रूप ब्रह्म को पुनः वास्तविक एकत्व में स्थित करने वाला है। वेदान्त, विरोधपूर्ण द्वन्द्वात्मक शास्त्रीय कथनियों को पुनः एकत्व में स्थित करने वाला है।

भगवान कहते हैं कि, 'उस वेदान्त का कर्त्ता भी मैं ही हूं। उस वेदान्त को प्रकट करने वाला भी मैं ही हूं।'

फिर भगवान ने कहा कि, 'वेदों द्वारा जानने योग्य भी मैं ही हूं, यानि, शास्त्र प्रतिपादित धर्म भी मैं ही हूं।'

नन्हूं समझ! भगवान कह रहे हैं कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय मैं ही हूं। स्मृति तथा ज्ञान के परिणाम स्वरूप अपनी विस्मृति मैं ही हूं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

अब भगवान क्षर और अक्षर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. इस संसार में, नाशवान् और अविनाशी, दो प्रकार के पुरुष हैं।
२. सम्पूर्ण भूत प्राणी तो क्षर हैं,
३. और (जीवात्मा) कूटस्थ, अविनाशी कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान यहां दो पुरुषों की बात करते हैं। एक को 'क्षर पुरुष' कहते हैं, और दूसरे को 'अक्षर पुरुष' कहते हैं। प्रथम इन्हें समझ लो!

भगवान ने अनेक बार इन दोनों पुरुषों को सम्बोधित करके बताया है।

क्षर अक्षर पुरुष

क्षर पुरुष	अक्षर पुरुष
१. एक पुरुष क्षर है।	१. एक पुरुष अक्षर है।
२. एक पुरुष क्षेत्र है।	२. एक पुरुष क्षेत्रज्ञ है।
३. एक पुरुष परा अपरा संयोग जनित है।	३. एक पुरुष परा अपरा से परे है।
४. एक पुरुष जड़ चेतन संयोग जनित है।	४. एक पुरुष जड़ चेतन से परे है।
५. एक पुरुष भूत मात्र है।	५. एक पुरुष अध्यात्म है।

६. एक पुरुष गोचर है।
७. एक पुरुष प्राकृतिक है।
८. एक पुरुष देह है।
९. सृष्टि 'क्षर पुरुष' कहलाती है।
१०. 'क्षर पुरुष' विकार तथा उपाधियां अपनाता है।
११. एक 'मैं' के सहित है।
१२. एक तनत्व भाव पूर्ण है।
१३. एक तनोसंगी होने के कारण अध्यात्म विरोधी है।
१४. एक अज्ञान रूप है।
१५. एक नित्य मनो झमेलों से युक्त है।
१६. एक विकार पूर्ण है।
१७. एक सुखी दु:खी होता रहता है।

६. एक पुरुष अगोचर है।
७. एक पुरुष आत्म अंश है।
८. एक पुरुष जीवात्मा है।
९. चैतन्य तत्त्व 'अक्षर पुरुष' कहलाता है।
१०. निर्विकार तथा नित्य निर्लिप्त तत्त्व 'अक्षर पुरुष' कहलाता है।
११. एक 'मैं' के रहित है।
१२. एक आत्मवान् है।
१३. एक अध्यात्म स्वरूप है।
१४. एक प्रकाश स्वरूप है।
१५. एक मौन है।
१६. एक नित्य निर्विकार है।
१७. एक आनन्द स्वरूप है।

जीवात्मा, जो नित्य कूटस्थ तथा अचल है, वह अक्षर पुरुष है। नन्हूं! यह क्षर तथा अक्षर भाव परमात्म तत्त्व को समझाने के लिये यहां कह रहे हैं, वह चेतन, अखिल रचयिता मानो समस्त उपाधि रहित है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

अब फिर भगवान 'उपाधि रहित पुरुष' के विषय में बताते हैं।

शब्दार्थ :

१. इन दोनों से (परे) उत्तम पुरुष (कोई) और है,
२. जो परमात्मा कहलाता है,
३. और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है,
४. जो अविनाशी (ईश्वर) कहलाता है।

तत्त्व विस्तार:

अब भगवान कहते हैं कि क्षर अक्षर से परे एक और पुरुष है, जो भगवान कहलाता है। वह न तो तन रूपा क्षर तत्त्व है और न ही वह जीवात्म रूपा अक्षर तत्त्व है। भगवान कहते हैं, वह इन दोनों से विलक्षण

है। उसे अविनाशी ईश्वर तथा परमात्मा कहते हैं।

क्षर अक्षर से परे अविनाशी ईश्वर का स्वरूप :

१. वह शुद्ध दिव्य तत्त्व है।
२. वह नित्य अप्रकट है।
३. वह साकार होते हुए भी नित्य निराकार है।
४. सम्मुख दृष्ट तन होते हुए भी, वह केवल अलौकिक रचना है।
५. अतीव साधारण होते हुए भी वह विलक्षण है।
६. वास्तव में वह जीव होते हुए भी भगवान है।
७. वास्तव में वह जीव होते हुए भी ब्रह्म रूप है।
८. वेदान्त की पराकाष्ठा वही तो है।
९. योग का स्वरूप वही तो है।
१०. भक्ति का वरदान वही तो है।
११. कर्म या यज्ञ रूप स्वरूप वही तो है।
१२. हर साधक की आस वही तो है।
१३. हर जीव की प्यास वही तो है।
१४. परम सत्त्व, दिव्य प्रकाश वही तो है।
१५. पूर्ण रूप से ब्रह्म में एक रूप वही तो है।
१६. पूर्ण रूप से अद्वैत में स्थित वही तो है।
१७. अध्यात्म की व्याख्या वही तो है।
१८. अध्यात्म का ज्ञान वही तो है।
१९. अध्यात्म का विज्ञान वही तो है।
२०. परम चेतन आत्म स्वरूप वही तो है।
२१. सत् चित्त आनन्द स्वरूप वही तो है।
२२. परम चेतन, आत्म तत्त्व सार वही तो है।
२३. अमर स्वरूप, अमृत रूप वही तो है।
२४. नित्य शाश्वत आत्म स्थिति वही तो है।
२५. पूर्ण सृष्टि में अलौकिक पुरुष पुरुषोत्तम वही तो है।
२६. वह आत्मा में आत्मा, परम आत्मा वही तो है।

आत्म में आत्म होकर,
बाकी आत्म रह जाता है।
उस नाते तू जान ले,
अखिल वह आप हो जाता है

इक तन से नाता क्या गया,
पूर्ण आप ही हो गया।
कर्म गये भक्ति गई,
कोई कर्त्तव्य ही नहीं रहा॥

कर्त्तव्य स्वरूप वह आप भया,
जीवन यज्ञ ही रह गया॥

पर ये सब कहने की बातें हैं। क्या हुआ, कैसे हुआ, कब हुआ, क्यों हुआ, ये सब भगवान जानें या उनके भक्त गण!

वह नित्य अव्यय, अक्षर स्वरूप, अखण्ड आत्म तत्त्व पुरुष हैं। वह तन में तो रहते ही नहीं पर तन धारी उन्हें तन मानते हैं। यहां ब्रह्म तत्त्व की बात कर रहे हैं।

अब इन तीनों पुरुषों को समझ ले।

१. जीव, जो अपने को तन मानता है, यानि 'मैं' भाव!
२. जीवात्मा, जो अक्षर है, किन्तु कर्म बीज धारण करता है।
३. परम पुरुष पुरुषोत्तम, जो नित्य निराकार है और आत्म स्वरूप होने के नाते अखिल रूप आप है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

भगवान अब अपने विषय में बता रहे हैं।

शब्दार्थ :

१. क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूं,
२. और अक्षर से भी उत्तम हूं,
३. इसलिये लोक में और वेद में,
४. मैं पुरुषोत्तम (नाम से) प्रसिद्ध हूं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं लाडली! यहां भगवान अपनी ही बात कर रहे हैं। ध्यान रहे!

- एक तन धारी, एक तनधारी से बातें कर रहा है।
- एक योद्धा से उसका साथी मित्र बातें कर रहा है।
- एक साधारण सा दिखने वाला जीव बातें कर रहा है।

और देख क्या कहते हैं! क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूं और अक्षर से भी उत्तम हूं, इस कारण जीव लोक में तथा वेद में मुझे पुरुषोत्तम नाम से पुकारते हैं।

ध्यान से समझ नन्हीं जान!

१. भगवान तनत्व भाव से सर्वथा अतीत हैं।
२. वह स्वप्न में भी तन से संग नहीं करते।
३. वह स्वप्न में भी तन के तद्रूप नहीं होते।
४. उनके पास देहात्म बुद्धि होती ही नहीं।
५. वह अपने तन को अपना तन मानते ही नहीं।
६. वह तो नाम और रूप से सर्वथा अतीत होते हैं।
७. वह तो तन के गुणों से भी सर्वथा अतीत होते हैं।
८. वह तो मनो विकार तथा उपाधियों से भी सर्वथा अतीत होते हैं।

फिर जीवात्मा, जो परम का चेतन अंश है, मृत्यु इत्यादि से भी जिसका नाश नहीं होता, भगवान तो इससे भी परे हैं।

भगवान कहते हैं कि वह लोक में लोक व्यवहार करते हुए भी पुरुषोत्तम ही कहलाते हैं।

नन्हूं! ज्यों जीवात्मा सुषुप्ति तथा स्वप्न अवस्था से भिन्न है त्यों ही परमात्मा चेतन तथा क्षर से भिन्न है। इस परम पुरुष पुरुषोत्तम की स्थिति का कोई कैसे वर्णन करे ?

वहां तो :

क) सब कुछ है भी और कुछ भी नहीं है।
ख) न एकत्व है, न द्वैत ही है।
ग) न 'यह' है और न ही 'वह' है, बस 'है'।

नन्हूं! उनका तो जन्म ही नहीं होता, फिर भी वह तन धरकर सम्मुख खड़े हैं।

जिनकी मृत्यु का सवाल ही नहीं उठता, वह मृत्यु धर्मा बनकर सम्मुख खड़े हैं। जीवात्मा तो जीव के साथ ही रह जाता है, वहां जीव ही नहीं, तो जीवात्मा कहां रहे ?

जो तन अर्जुन के सम्मुख खड़ा था, वह तो एक दिव्य अलौकिक रचना थी। कृष्ण तो ब्रह्म स्वरूप ज्ञानघन आप हैं। वह तो,

१. अखिल गुण पति, नित्य गुणातीत, निर्गुण स्वरूप आप हैं।
२. अखण्ड, अद्वैत तत्त्व, दिव्य प्रकाश स्वरूप आप हैं।
३. परम पुरुष पुरुषोत्तम, परम तत्त्व, ब्रह्म स्वरूप आप हैं।
४. नित्य अविनाशी, अप्रमेय, अचिन्तय स्वरूप आप हैं।
५. अज्ञेय, अनुपम, अप्रतिम, असीम तत्त्व आप हैं।

नन्हूं! इस कारण वह प्राकृतिक, क्षर, तनो रूप पुरुष, तथा परमात्म अंश जीवात्म पुरुष, दोनों से उत्तम हैं, इनसे बहुत परे हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

अब भगवान उसकी महिमा गान करते हैं, जो भगवान को पुरुषोत्तम रूप से जानते हैं। भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार,
२. तत्त्व से मेरे को पुरुषोत्तम जानता है,
३. वह सर्वज्ञ पुरुष,
४. सर्वभाव से मेरे को भजता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहने लगे, 'जो मोह रहित हुआ मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह पूर्ण रूप से, जो कुछ भी जानने योग्य है, उस सबको जानता है और वह निरन्तर मुझे ही भजता है।'

नन्हूं! ठीक ही तो है! जो पूर्ण रूप से अखण्ड, अद्वितीय, आत्म तत्त्व को जानता है, वह व्यवहारिक स्तर पर भागवद् अखण्डता को मानेगा ही और उसको सर्वव्यापक, अखिल रूप जानकर, सबको आत्म स्वरूप ही मानेगा। ऐसा व्यक्ति जीवन में जिस से, जो भी करेगा, उसे आत्म तत्त्व जानकर ही करेगा। ऐसे सर्वज्ञ व्यक्ति का निजी अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। वह :

क) सब भूतों में स्थित आत्म तत्त्व में नित्य ब्रह्म के दर्शन पायेगा।
ख) अखिल नाम रूप, भगवान को ही मानेगा।
ग) जीवन में भागवद् गुणों का ही इस्तेमाल करेगा।
घ) जीवन में, जहां भी भागवद् गुण के दर्शन पायेगा, उनकी चाकरी करेगा।

ङ) जीवन में भगवान के कथन का अक्षरश: अनुसरण करेगा।

नन्हीं जाने जान! वास्तव में वह स्वयं तनत्व भाव को त्याग चुका होगा। वह स्वयं परम के योग में स्थित हो चुका होगा।

नन्हूं! अपने आपको बिन जाने, भगवान के इस तत्त्व को अनुभव सहित जानना कठिन है और जिसने इसको जान लिया, वह स्वयं सर्वज्ञ हो ही जायेगा।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

भगवान कथित गुह्य ज्ञान समझने का फल बताते हुए श्रीकृष्ण से कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. हे निष्पाप अर्जुन!
२. इस प्रकार से यह गुह्यतम शास्त्र,
३. मेरे द्वारा कहा गया (है);
४. इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान तथा कृत् कृत् हो जाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन! यह अति गुह्य से भी गुह्यतम ज्ञान जो मैंने तुझे कहा, गर तू इसको जान ले, तो ज्ञान सम्पन्न बुद्धिमान हो जायेगा तथा आप्तकाम हो जायेगा।' यानि, फिर कुछ भी :

क) करने को नहीं रहेगा।
ख) प्राप्तव्य नहीं रहेगा।
ग) ज्ञातव्य नहीं रहेगा।
घ) फिर कोई भी पहचान नहीं रहेगी।
ङ) फिर जीवन में निजी प्रयोजन या योजन नहीं रहेगा।
च) फिर तू नित्य मुदित मनी हो जायेगा।
छ) तब तो मानो तू अपने सब कर्त्तव्य पूर्ण कर चुका होगा।

देख मेरी रूठी हुई कमल! ज़रा मुसकरा के सुन। भगवान कहते हैं :

जो मेरे इस पुरुषोत्तम तत्त्व को समझ लेगा, वह :

- कृत् कृत् हो ही जायेगा।
- वह हर भाव में मुझे ध्यायेगा।
- वह बुद्धिमान् हो ही जायेगा।

हां, भाई ठीक है!

१. साकार को जो निराकार जाने, निराकार को जो अखिल रूप जाने, अखिल रूप को जो रूप रहित जाने, भगवान कहते हैं, 'वह मुझे जान जायेगा। वह मुझे ही ध्यायेगा।'
२. गुण बधित को जो गुणातीत जाने, गुणातीत को जो निर्गुणिया जाने, निर्गुणिया को जो अखिल गुणी जाने, तब शायद वह भगवान को जान ले।

३. काल बधित को जो कालातीत कहे, कालातीत कहकर काल पति कहे, कालग्रसित भी देख कर 'काल आप हैं', जो कह सके, वह शायद भगवान को जान सके, वह परम पुरुषोत्तम को जान लेगा।
४. जिन्हें मथुरा छोड़कर जाना पड़ा क्योंकि वह जरासंध को न हरा सके, जो उन्हें सर्वशक्तिमान जान ले, रण छोड़ कर जो भाग गये, उन्हें रणपति पहचान ले, नीति से अर्जुन को विजय दिलाने वाले, वह अखिल संरक्षक, अखिल पति, अशरण के शरण आप हैं, जो यह जान सके, वही भगवान को पहचान सकेगा।
५. जो अर्जुन को कहते हैं, 'तुम युद्ध करो', फिर भी जो उस प्रेम स्वरूप, करुणा पूर्ण, कर्त्तव्य स्वरूप को पहचान ले, वह ही भगवान को जान सकता है।

इसका राज़ गर समझ पड़े, तब जान सकोगे तुम पुरुषोत्तम को, वरना उन्हें जानना कठिन है।

किन्तु जिसने उन्हें जान लिया, वे कृत् कृत् हो जाते हैं। वे जीवन में सम्पूर्ण कर्त्तव्यों का फल पा लेते हैं। वे जीवन में सम्पूर्ण यज्ञों का फल पा लेते हैं। वे तो आत्मा में आत्मा हो चुके हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तमयोगोनाम
पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्याय:

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! ले तुझे बताऊं दैवी सम्पदा क्या है।

शब्दार्थ :

१. अभय,
२. सत्त्व संशुद्धि,
३. ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति व निष्ठा,
४. दान, दम और यज्ञ,
५. स्वाध्याय,
६. तप और आर्जवता,
(यह दैवी सम्पदा है।)

तत्त्व विस्तार :

देख मेरी जान! भगवान देवत्व स्थित के गुण कह रहे हैं।

अभय :

डर, त्रास, ख़तरा, कायरता, भीति को भय कहते हैं। इसके विपरीत गुणों को अभय कहते हैं।

दैवी सम्पदा सम्पन्न निर्भय होते हैं, यानि,

१. मृत्यु भय उनको नहीं होता।
२. अपमान मान का भय उनको नहीं होता।
३. क्षति का भय उनको नहीं होता।
४. हानि लाभ का भय उनको नहीं होता।
५. रुचिकर अरुचिकर का भय उनको नहीं होता।
६. उनके मन को किसी का भय नहीं होता।
७. उनकी बुद्धि को किसी का भय नहीं होता।
८. उनके कर्म में किसी का भय नहीं होता।
९. उनकी वाणी को किसी का भय नहीं होता।
१०. भाई! निर्भय को अपने आप से भी भय नहीं होता।
११. अपनी मान्यता का भय नहीं होता।
१२. अपनी लाज का भय नहीं होता।
१३. उन्हें पराजित होने का भी भय नहीं होता।

वह स्वयं निर्भय हैं और दूसरों को निर्भयता प्रदान करते हैं।

सत्त्व संशुद्धि :

क) निर्मल सत्त्व में वास करने वाला,
ख) विशुद्ध अन्त:करण वाला,
ग) नितान्त पावन चित्त वाला,

घ) मिथ्यात्व का त्याग किये हुए,
ङ) असत् रहित, सत् वर्तन करने वाला,
च) राग द्वेष से अप्रभावित चित्त वाला,
छ) मान्यता बंन्धन विमुक्त चित्त वाला,
ज) मनो पावनता, जो परम तत्त्व समझने में सार्थक हो, ऐसे अन्तःकरण वाला सत्त्व संशुद्धि वाला है।

विघ्न विध्वंसक सत् निष्ठा को भी सत्त्व संशुद्धि कह लो। जो सत् पथ को समझ सके, उसे ही सत् जाने, अपने जीवन में सहज ही ला सके और उसे जीवन में प्रमाणित करने में सहयोगी बने, ऐसी निर्मल बुद्धि और विशुद्ध मन हो, तो परिणाम सत्त्व संशुद्धि होता है।

१. सत् का स्वरूप और सत् का रूप, दोनों को समझना सत्त्व संशुद्धि पर आधारित है।
२. सत्त्व ज्ञान और सत् का विज्ञान, दोनों को समझना अन्तःकरण की शुद्धि पर आधारित है।
३. आन्तरिक स्थिति और उसका जीवन में रूप, अन्तःकरण की शुद्धि पर आधारित है।

सत्त्व संशुद्धि का परिणाम उदासीनता है।

क) उदासीन वह नहीं जो जग को छोड़ कर चला जाये।
ख) उदासीन वह है जो अपने तन मन से नाता तोड़ दे।
ग) आपको अपनी रुचि अरुचि के प्रति उदासीन होना है।
घ) आपको अपने मान अपमान के प्रति उदासीन होना है।
ङ) आपको अपने सुख दुःख के प्रति उदासीन होना है। उदासीन लोग गुणों से प्रभावित नहीं होते, वह गुणों से लिप्त नहीं होते।
च) भाई! किसी दूसरे के दुःख, अपमान, कष्ट, दर्द के प्रति चुप हो जाना उदासीनता नहीं है। अपने पर आये हुए दुःख, अपमान, कष्ट और दर्द के प्रति मौन हो जाना उदासीनता है।
छ) कर्त्तव्य त्याग उदासीनता नहीं, कर्त्तव्य परायणता उदासीन बना सकती है।
ज) प्रेम त्याग उदासीनता नहीं, अखण्ड प्रेम उदासीन का गुण है।

भगवान उदासीन हैं, पर वह,

१. करुणा के सागर हैं।
२. प्रेम स्वरूप हैं।
३. भक्त वात्सल्यता पूर्ण हैं।
४. सबको पूर्ण निर्भयता का आश्वासन देते हैं।
५. अखिल संरक्षक हैं।
६. अखिल संहारक हैं।
७. अखिल सुख देने वाले हैं।

किन्तु परम मौन स्वरूप होने के कारण वह नितान्त उदासीन हैं। देखना यह है कि वह किस के प्रति उदासीन हैं ?

सत्त्व का समाधान तभी हो सकता है, यदि जीव लक्ष्य को सम्मुख धरे।

यह कहना कि 'भगवान को पाना है', काफ़ी नहीं। साधक को सोचना चाहिये कि,

क) भगवान क्या हैं ?
ख) भगवान के गुण क्या हैं ?
ग) कौन से गुण अपने में लाऊं कि इन्हें जान सकूं ?
घ) भगवान किन गुणों से पहचाने जाते हैं ?
ङ) मैं भगवान का बनना चाहता हूं या उन्हें अपना बनाना चाहता हूं ?

यह तन, जो भगवान का है, क्या इसे भगवान को दे देना चाहते हो या अपने तन को स्थापित करवाना चाहते हो ? लक्ष्य पूर्ति की राहों में विघ्न क्या आयेंगे ?

इन सब बातों का पल में निर्णय करके आगे बढ़ जाना सत्त्व संशुद्धि है। ज्ञान और विज्ञान का यथार्थ राज़ समझ लेना सत्त्व संशुद्धि है।

परम के गुण, उनका जीवन में रूप और उनके परिणाम में जग से क्या मिलेगा, इसका सविस्तार स्पष्टीकरण हो, तब ही सत्त्व संशुद्धि हो सकेगी।

नन्हूं! सत्त्व संशुद्धि का अर्थ :

१. अन्तःकरण की शुद्धि है।
२. निरावरण बुद्धि से सत् असत् के दर्शन करने की शक्ति है।
३. अपने आन्तर को स्पष्ट देखने की शक्ति है।
४. अपने आन्तर तथा मन की स्थिति को सत्यता पूर्ण देखने की शक्ति है।

ज्ञान योग व्यवस्थिति :

१. ज्ञान में अचल निष्ठा को ज्ञान योग कहते हैं।
२. ज्ञान में अचल श्रद्धा को ज्ञान योग कहते हैं।
३. ज्ञान के साथ एकरूपता ही ज्ञान योग है। यानि, जो ज्ञान आप जानते हैं, वह आप हो ही जायें, यही ज्ञान योग है।
४. जीवन केन्द्र ही ज्ञान की वाङ्मय प्रतिमा बन जाये, यह ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति है।
५. ज्ञान के साथ आपके तन,मन,बुद्धि समूह रूपा 'मैं' का एक रूप हो जाना ही ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति है।
६. आपका हर कर्म मौन में ज्ञान की भाषा ही हो, यही ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति है।
७. आपका हर वाक् ज्ञान का सम्बोधक हो, यही ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति है।
८. आपका जीवन अध्यात्म पर प्रकाश डालने वाला हो, यही ज्ञान योग में दृढ़ स्थिति है।

– 'योग' अनुभव की ओर ले जाता है।
– 'योग' ज्ञान और जीव की एकरूपता को कहते हैं।
– 'योग' के बिना ज्ञान अज्ञान रह जाता है।

योग के बिना ज्ञान निष्प्राण रह जाता है।

दान :

भगवान दैवी सम्पदा की बात कह रहे हैं तो दान को भी उसी दृष्टिकोण से समझने के यत्न करें।

१. साधक ज्ञान के चरण में अपने तन को दान दे देता है।

२. योग पूर्ति के लिए जीवन दान ही दैवी दान है।
३. भगवान का तन भगवान के लिये दे देना ही दान है।
४. ज्ञान को सार्थक करने की विधि दान है।
५. योग की सफलता का रूप दान है।
६. निष्काम कर्म ही दान है।
७. निष्काम ज्ञान ही दान की राह है।

ध्यान रहे, परम दृष्टिकोण से ज्ञान की बात कर रहे हैं। जो सत्त्व स्थिति की ओर जाना चाहता है, उसका लक्ष्य भी दान है और पथ भी दान है।

- सप्राण तन भगवान को दे देना ही लक्ष्य है।
- सप्राण तन भगवान को देते जाना ही पथ है।

मन को भगवान के चरण में लुटाकर, अपना तन भगवान को देकर, भगवान को पुनः सप्राण कर देना, यही तो दान है।

क) पूजा की नींव यह दान है।
ख) परम से प्रीति दान से प्रमाणित होती है।
ग) योग से प्रीति दान से प्रमाणित होती है।
घ) अपना तन, सम्पूर्ण उपयोगी गुण तथा सम्पूर्ण धन सम्पदा भगवान को दे देना दान है।

नाम सफल तब ही होये,
गर निज तन नामी को दे दो।
मान अपमान फिर जो भी हो,
केवल उस नामी का हो॥

कौन मिला कौन बिछुड़ गया,
कौन अरि कौन मित्र तेरा ?
कौन घर कौन लोक तेरा,
जब सब मालिक का हो गया ?

किसी ने कब ठुकरा दिया,
किसी ने कब मुखड़ा फेरा ?
किसी ने कब तुझे कुचल दिया,
तुझको कब कुछ भी हुआ ?

नाम रूप तेरा नहीं,
तूने राम को दे दिया।
गर सच ही तूने दे दिया,
तो जो भी मिला, उसको ही मिला॥

गर यह तूने मान लिया तो जीवन राममय हो ही जायेगा।

ले नन्हीं! दान के चिह्न समझाऊं तुझे! गर तूने सच ही राम का नाम लिया है तो तेरा जीवन निष्काम ज्ञान, निष्काम कर्म पूर्ण ही होगा, यही इस प्रेम का चिह्न है।

अब दैवी सम्पदा के दृष्टिकोण से 'दम' समझ ले।

दम :

१. विषय प्रवृत्त मन का परम में टिकाव दम है।
२. चित्त वृत्ति निरोध रूप योग का पथ दम है।
३. दुर्वृत्ति नितान्त अभाव दम है।
४. विषय सम्पर्क तो जो होना है होता रहता है, किन्तु जब विषय मन को

प्रभावित नहीं कर सकते, तब मानो दम सफल हुआ है।

५. बुद्धि को जब मन आवृत्त नहीं करे, तब मानो दम सफल हुआ है।
६. विषय प्रधानता का अभाव ही दम है।
७. राग द्वेष रहित मन दमपूर्ण होता है।
८. मान अपमान के प्रति निरुद्विग्नता दम का परिणाम है।
९. अरि और मित्र के प्रति निर्वैर भाव और तुल्य दृष्टि दम का परिणाम है।
१०. आशा तृष्णा रहितता दम का चिह्न है।

गर आपका दान सच्चा है, तो तन आपका नहीं रहता; गर तन आपका नहीं तो मन भी आपका नहीं रहता; परिणाम में इन्द्रिय संयम हो ही जायेगा। जब प्रेमास्पद में मन लगा तो विषयों से संग छूट ही जायेगा।

यज्ञ :

- तन दिया भगवान को, दान हो गया।
- मन दिया भगवान को, दम हो गया।
- बुद्धि भगवान के चरण धरी, यज्ञ हो गया।

इसे विस्तार से समझ :

क) ज्ञान को विज्ञान रूप में उतारना यज्ञ है।
ख) कर्तृत्व भाव का त्याग यज्ञ है।
ग) भोक्तृत्व भाव का त्याग यज्ञ है।
घ) परम गुण जीवन में लाने के यत्न ही यज्ञ है।
ङ) तन मन में से अहं अभाव यज्ञ राही होता है।
च) अपनी मान्यता की आहुति दे देना यज्ञ है।
छ) अपने संग की आहुति दे देना यज्ञ है।
ज) अपनी रुचि अरुचि से संग का त्याग ही यज्ञ है।

यज्ञ की अग्र :

- आत्म ज्ञान रूपा अग्र ही होती है।
- परम प्रेम रूपा अग्र ही होती है।
- परम सत् की चाह रूपा अग्र ही होती है।

यज्ञ में आहुति, साधक :

१. अपने आप की देता है।
२. अपने मन की देता है,
३. अपने अहंकार की देता है।
४. अपने तन की देता है।
५. अपने संग की देता है,
६. अपने मोह की देता है।

यज्ञ करने वाला :

- निष्काम कर्म करने वाला होता है।
- उपासना तथा भजन करने वाला होता है।
- निष्काम ज्ञानपूर्ण होता है।

'मैं' को भूलकर केवल दूसरे व्यक्ति के लिए किये गये श्रेष्ठ कर्म को यज्ञ कहते हैं।

क) ज्ञान का जीवन में अभ्यास यज्ञ है।
ख) यज्ञ राही, ज्ञान विज्ञान का रूप धरता है।
ग) यज्ञ ही दैवी सम्पदा का रूप है।

घ) यह ही अनुभव को जन्म देता है।

नन्हीं! क्षमा करना; प्रेम करना; करुणा करना; दूसरे को स्थापित करना; अपने को भूलकर कर्त्तव्य करना; यह सब यज्ञ के अंग हैं।

वास्तविक ज्ञान इस यज्ञ के पश्चात् उत्पन्न होता है।

यज्ञ करने वाली 'मैं' ही शनैः शनैः अनुभवी बन जाती है।

स्वाध्याय :

क) जो साधक अपने आप पठन करे,
ख) जो साधक अपने आप सोच विचार करे,
ग) जो साधक अपने आप ध्यान लगाने का अभ्यास करे, वह स्वाध्याय करता है।
वास्तव में साधक का :
घ) अपने आपको पढ़ने, अपने आपको जानने का अभ्यास,
ङ) भगवान को जानने के प्रयत्न,
च) परम गुण का रूप तथा स्वरूप समझने के यत्न,
छ) परम गुण को जीवन में लाने की विधि पर ध्यान लगाना,
ज) साधना का लक्ष्य तथा प्राप्ति विधि, फिर पथ के विघ्नों की बोध विधि,
ये सब 'स्वाध्याय' हैं।

जाने जान फिर समझ! परम पद उपलब्धि अर्थ ही स्वाध्याय होता है।

जीव शास्त्र पढ़ता है; ध्यान लगाता है; जीवन में गुण अभ्यास करता है; अपने आपको जानना चाहता है। उसकी राहों में विघ्न क्या हैं, क्यों हैं, कैसे मिटें, वह ये सब जानना चाहता है, यह सब स्वाध्याय ही है।

यानि, पठन, चिन्तन, मनन, सब स्वाध्याय के अंग हैं।

तप :

१. सहन शक्ति को तप कहते हैं।
२. जो भी मिले, उसे मुसकरा कर स्वीकार कर लेना ही तप है।
३. सत् के गुणों का अभ्यास करेगा, तो इससे जीवन यज्ञमय बन जायेगा।

क) याद रहे निष्काम भाव आपका है, दूसरे का नहीं।
ख) दैवी गुणों का अभ्यास साधक करता है, दूसरे नहीं करते।
ग) अहं मिटाव साधक चाहता है, दूसरे नहीं चाहते।
घ) अपने तन से उठना साधक चाहता है, दूसरे नहीं चाहते।
ङ) अपने मान अपमान में समचित्त होना साधक चाहता है, दूसरे नहीं चाहते।

इस पथ पर :

१. परम गुणों का अभ्यास करते हुए न जाने जग से आपको क्या मिले ?
२. कर्त्तव्य करने लगे तो तकलीफ़ तो बहुत होगी ही।
३. अनेकों बार दुश्मनों को भी गले लगाना होगा।
४. बेवफ़ा से भी वफ़ा करनी होगी। आपकी वफ़ा का प्रमाण तो तब ही मिलेगा।

कौन जाने कितने लोग,
क) आप पर शंकित हो जायेंगे।
ख) आप पर कलंक लगायेंगे।
ग) आपको ठुकरायेंगे।
घ) आपको तड़पायेंगे।

गर झुक जाओगे तो विपरीतता मिलेगी ही, कई लोग और अकड़ जायेंगे। जितने लोगों के काम करोगो, वह उतने और करवायेंगे।

अजी! इसको सह लेना तप है।

राम को गर मिलने चले,
तब नाम आसरा बन जाये।
गर सांचो लग्न तुम्हारी है,
तो नाम कवच भी बन जाये॥

तप किये हो तप नहीं,
सत् सों संग तप बल जानो।
जितनी तीव्र लग्न तेरी,
उतना ही प्रबल कवच जानो॥

तप सहे प्रहार सभी,
तपस्वी को प्रहार न छू सके।
अपमान, ठुकराव, दुराचार,
कोई जग प्रहार न छू सके॥

सत् बराबर कोई तप नहीं,
सत् लाये कष्ट महान्।
पर सत् से संग है जिसे,
उसे छू न सके जहान॥

आर्जव :

क) तन, मन तथा बुद्धि की सरलता को आर्जवता कहते हैं।
ख) निष्कपट तथा सरल स्वभाव को आर्जवता कहते हैं।
ग) स्पष्टवादिता को आर्जवता कहते हैं।
घ) विनम्रता को आर्जवता कहते हैं।
ङ) सरल हृदय को आर्जव कहते हैं।
च) उदार मनी को आर्जव कहते हैं।
छ) जो व्यापार में ईमानदार हो, उसे आर्जव कहते हैं।

नन्हूं! आर्जव तो वह होगा जो नित्य झुका हुआ हो, जो नित्य अपने आपको भूला हुआ हो और लोगों के सुख के प्रयत्न करता रहे। आर्जव, सरल हृदय, उदार मन वाला और निष्काम कर्मी होगा।

यह सब ही दैवी सम्पदा है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से, 'ले आगे सुन, दैवी सम्पदा क्या है!'

शब्दार्थ :

१. अहिंसा, सत्त्व, अक्रोध;
२. त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना;
३. सब भूतों के प्रति दया का भाव;
४. निर्लोभता, कोमलता, लज्जा;

५. व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।
(यह दैवी सम्पदा है)

तत्त्व विस्तार :

दैवी सम्पद् याचिका! ले आगे सुन!

अहिंसा :

अहिंसक लोग वे हैं जो :

क) दैवी सम्पदा पूर्ण हैं,
ख) जो किसी का हनन न करें,
ग) किसी का मिटाव न चाहें,
घ) किसी का हक न छीनें,
ङ) किसी का अनिष्ट न चाहें,

- अपने ही स्वरूप को आवृत्त कर लेना, घोर हिंसा है।
- अपने आप से अपने स्वरूप को छीन लेना, हिंसा ही है।
- सत् स्वरूप होते हुए निकृष्ट रूप हो जाना, हिंसा ही है।
- परम विभूति प्राकट्य यह तन है; इसमें 'मैं' सम्मिलित करके, इस माटी के तद्रूप होकर इसे पुनः माटी बना देना, हिंसा ही है।
- अपने को अपनी ही नज़रों से गिरा देना हिंसा ही है।

देख मेरी जान! जो बाहर होता है, वह रेखा की बात है; विधान की बात है; उसे परिस्थिति की बात कहलो। इस सत्य में न जीना और वास्तविकता का त्याग ही हिंसा है।

नन्हीं!

१. 'मैं' में हिंसक वृत्ति निहित होती है।
२. 'मैं' केवल कल्पनात्मक, मौलिक आधार रहित भ्रम है, जो महाविशाल सत् प्रतीत होता है। इसने मन की सहायता से, आपको आपके स्वरूप से वंचित कर दिया है।
३. 'मैं' ही महा चोर है जिसने आपको आपके स्वरूप से भी चुरा लिया है।
४. 'मैं' ही वह भूत प्रेत है जो तत्त्वहीन होते हुए भी आपके सम्पूर्ण जीवन में आपको ही लूटता रहता है।
५. 'मैं' ही वह भ्रान्ति है जो आपको सम्पूर्ण जीवन, आंख होते हुए भी अन्धा बनाये रखती है।
६. 'मैं' निर्मूल होते हुए भी आप पर पूर्ण रूप से राज्य करता है।
७. 'मैं' ऐसा हिंसक डाकू है जो आपके घर में आ बैठा है। फिर आपके लिये यह भी मानना कठिन हो गया है कि यह केवल उपाधि है और आपका विजातीय है।

नन्हूं! यह 'मैं' केवल हिंसक ही नहीं, महा भयानक असुर है। यह ऐसी सफ़ाई से मारता है कि आपके अपने ही स्वरूप का नामोनिशान मिटा देता है। यह आपकी इज़्ज़त का खून पीता है; आपके तन को रोज़ दबाता और ख़राब करता है। इससे बड़ा हिंसक और क्या होगा ? आप पर राज्य पा लेने के पश्चात् यह लोगों से भी यही करना चाहता है। हिंसक 'मैं' का त्याग ही अहिंसा है।

सत्यम् :

१. सत्य 'हकीकत' को कहते हैं।
२. जो वास्तविकता में स्थित हो, उसे सत् जानो।
३. यथार्थ को सत् जानो।

मन सत् नहीं हो सकता क्योंकि,
क) यह रुचि प्रधान है।
ख) जो न पसन्द हो, उसे वह समझता ही नहीं।
ग) यह मन निर्दोष नहीं।
घ) यह मन नित्य अतृप्त है।

देख कमला! जड़ और चेतन का मेल अनित्य है। तन अनित्य वस्तु है, आत्मा अमर है। इनका मेल मान लेना ही असत् है।

जन्म मरण का चक्र जीव के वश में नहीं, यह सत्य है। संसार गुण ख़िलवाड़ है, यह सत्य है। फिर साधारण जीव की ओर देख :

१. जो कुल तेरा है, वह है, यह सत् है।
२. जो कर्त्तव्य तेरा है, वह है, यह सत् है।
३. जो तेरे सम्मुख खड़ा है, वह इन्सान है, यह सत् है।
४. जो तेरे सम्मुख खड़ा है, वह तेरे समान है, यह सत् है।
५. हर इन्सान अपनी समस्या से तंग होने के कारण या किसी भी कारण से कह लो, अपनी ही उलझनों में उलझा है, यह सत् है।

हकीकत को देखना सत् है, हकीकत को न देखना ही असत् है। फिर हकीकत की ओर सब का अपना अपना दृष्टिकोण है।

ज्ञान के नेत्र हों तो दृष्टिकोण में सत्यता अधिक होगी। मोह तथा अज्ञान से आवृत्त हुआ दृष्टिकोण असत्पूर्ण होगा। सत् पर दृष्टि रखकर जीवन में विचर, यही सत् है।

१. एक ओर से जहान् भगवान का मान ले;
२. फिर तन की क्षण भंगुरता जान ले;
३. फिर जीवन कर्त्तव्य ही है, यह जान ले;
४. दूसरे को भी इन्सान जान ले, वह भी बुद्धि और मन का गुमान रखता है, यह भी जान ले।
५. जग गुण खिलवाड़ है, यह जान ले;
६. फिर, यज्ञ ही जीवन का राज़ है, यह जान ले।

यह सब जानते हुए, इन्हीं तत्त्वों को मिलाकर अपने नयन बना और फिर उन आंखों से देखे जा। तब ही यथार्थ दिखेगा, वही सत् होगा; वरना जो कुछ भी दिखेगा, ठीक तरह से नहीं देख सकेगा।

अक्रोध को समझने के लिए पहले क्रोध को समझ ले :

१. चाहना पूर्ति में विघ्न उत्पन्न होने के कारण अत्यधिक मानसिक उद्वेग क्रोध है।
२. अपरिपक्व मानसिक स्थिति क्रोध की नींव है।
३. अस्वस्थ मन का चिह्न क्रोध है।
४. बुद्धि न्यूनता का परिणाम क्रोध है।

५. मानसिक विवशता का परिणाम क्रोध है।
६. मिथ्या दम्भ और दर्प का रूप क्रोध है।
७. असत् तथा अवास्तविकता रमणी का शस्त्र क्रोध है।
८. अपनी न्यूनता छिपाव की विधि क्रोध है।
९. अविवेक और अज्ञान का चिह्न क्रोध है।
१०. निर्णयात्मिका शक्ति का अभाव क्रोध है।
११. अहंकार को जब ठेस लगे तो जो प्रतिकार झंकार उठती है, वह क्रोध है।
१२. अतृप्त चाहना के तृप्त होने की राह में विघ्न आ जाये तो अन्धी चाहना की कराहट क्रोध है।
१३. असुर की भूख की आवाज़ क्रोध है।

देख! क्रोध, ज़रूरी नहीं कि स्थूल में भड़कने से ही होता है या पता लगता है। क्रोध अपरिपक्व मनोस्थिति का असत् रमण है। रुचि पूर्ति की राह में साधारण या भीषण विघ्न आ जाने के कारण, अत्यधिक उद्वेगपूर्ण मानसिक आवेश रूपा मनोविकार का नाम क्रोध है।

क्रोध, प्रतिद्वन्द्व, मनो प्रतिध्वनि, मनो उद्वेग इत्यादि, अनेकों प्रकार के रूप धर सकता है।

क्रोध के कारण जीव :
१. खामोश भी हो जाते हैं।
२. प्रहार भी करते हैं।
३. अपवाद भी करते हैं।
४. कर्त्तव्य विमुख भी हो जाते हैं।
५. नियम मर्यादा भी छोड़ सकते हैं।
६. जो भी दूसरे के लाभ में कर सकें, वह नहीं करते; जो भी दूसरे की हानि के लिये कर सकें, वह करते हैं।

भाई! क्षणिक क्रोध ही क्रोध नहीं!
क) क्या आप जानते नहीं कि आपका क्रोध कई बार जीवन भर शान्त नहीं होता ?
ख) आप जीवन भर गिले शिकवे अपने सीने से लगाये रखते हैं और जब मौका मिले, उन्हीं गिलों के कारण भड़क उठते हैं। तब आप कैसे कह सकते हैं कि आपका क्रोध शान्त हो गया ?
ग) जब क्रोधास्पद सामने आ जाये तो मनोमलिनता पुनः भड़क पड़ती है। इतना ही नहीं, क्रोधास्पद का नाम सुनकर भी मनोमलिनता पुनः भड़क पड़ती है। तो फिर कैसे कहें कि क्रोध शान्त हो गया ?

नन्हूं! अनेक बार यह क्रोध जीवन पर्यन्त चलता है।

क्रोध तम का रूप है, तम का शस्त्र है, तम का जीवन है, असुरत्व का प्रमाण है, मूर्खता की निशानी है।

अक्रोध :

जो क्रोध से विपरीत है, उसे अक्रोध कहते हैं।
१. नित्य तृप्त का चिह्न अक्रोध है।
२. कामना रहित का चिह्न अक्रोध है।

३. बुद्धिमान का चिह्न अक्रोध है।
४. समचित्त का चिह्न अक्रोध है।
५. उदार हृदय का चिह्न अक्रोध है।

अक्रोध, दैवी सम्पदा का एक मुख्य गुण है। गर क्रोध को समझ ले, तो उसके विपरीत जो है, वह शान्त, सौम्य, प्रेम है; यह अक्रोध है।

सुन कमला! यदि आपका जीवन :
१. सत्मय है,
२. तपपूर्ण है।
३. दमपूर्ण है,
४. यज्ञमय है,

तो क्रोध हो ही नहीं सकता। गर आप साधक हैं, गर आपका भगवान से प्रेम है, तो क्रोध अभाव होगा ही।

सत् का नौकर अक्रोध है, झूठ का पति क्रोध है। सत् की आवाज़ मौन है; असुरत्व की आवाज़ क्रोध है। गर अपने को मिटाना है, तो मौन है; गर दूसरे के मिटाव की चाहना है, तो उसकी गुंजार क्रोध है। अहंकार की आवाज़ क्रोध है, अनहंकार की आवाज़ मौन है।

अतृप्त चाहना जब तृप्त होने जायेगी, किसी को तो राह में विघ्न पायेगी। अहंकार जब स्थापित होने जायेगा, किसी को तो राह में विघ्न पायेगा। तब मन में उद्विग्नता उठ ही आयेगी, मन भी तब प्रहार तो करना चाहेगा ही; प्रहार कर पायेगा या नहीं, यह दूसरी बात है। क्रोध कौन सा रूप धरेगा, यह तो अन्य गुणों पर आश्रित है।

त्याग :

लो! अब त्याग को दैवी सम्पदा रूप में कहते हैं।
- संग त्याग ही त्याग है।
- कर्मफल त्याग ही त्याग है।

गर तन से संग छूट गया तो,
क) मिथ्यात्व की जड़ कट जायेगी।
ख) वैराग्य हो ही जायेगा।
ग) आत्मवान् बन ही जायेगा।
घ) गर अहंकार में ही संग न रहा तो परम पद पा ही लेगा।
ङ) तो मानो सब छूट गया, क्योंकि संग ही बन्धन है, संग रहितता मुक्ति है।
च) विषय त्याग त्याग नहीं, विषय से संग छोड़ देना त्याग है।
छ) कर्म त्याग भी त्याग नहीं, कर्मों से संग छोड़ देना त्याग है।
ज) गर त्याग करके त्याग याद रहे तो जान लो अभी त्याग नहीं हुआ।

भाई! वास्तव में तो,
१. मिथ्यात्व का त्याग करना है।
२. कर्तृत्व भाव का त्याग करना है।
३. अहंकार का त्याग करना है।
४. दम्भ, दर्प का त्याग करना है।
५. मनोविकारों का त्याग करना है।

या कह लो कि अवास्तविकता का त्याग करना है और सत्त्व में वास करना है।
क) तनो संग का त्याग ही त्याग है।
ख) मनो संग का त्याग ही त्याग है।
ग) गुण संग का त्याग ही त्याग है।

घ) गर संग का त्याग हो गया तो कर्मफल का त्याग हो ही जायेगा।
ङ) 'मैं' की स्थापति का जब प्रयोजन नहीं रहेगा, तो दैवी सम्पदा रूप त्याग को तनो संग त्याग ही जानना चाहिये।

शान्ति :

१. चित्त में चंचलता के अभाव को शान्ति कहते हैं।
२. उद्विग्नता रहित मन को शान्त मन कहते हैं।
३. निर्विकार शुद्ध चित्त को शान्त चित्त कहते हैं।

शान्त चित्त, शान्त मन तब होगा, जब हर परिस्थिति में सम रह सकेगा। तब कर्म फल की चाहना नहीं रहेगी और संग अभाव होने लगेगा। जब रुचिकर या अरुचिकर दोनों के मिलने पर जीव संतुष्ट रहे; जब मान या अपमान के प्रति मन निरपेक्ष हो जायेगा, तो शान्त चित्त हुआ मानो।

देखो कमला!

१. गर तन से संग न रहे,
२. गर कर्मफल की चाह न रहे,
३. गर सत् में वास हो जाये,
४. यदि सब गुणों का खिलवाड़ जान ले, तो शान्ति ही रह जायेगी।

यह शान्ति निरन्तर चेरी बन कर सत् पथिक के चहुं ओर फिरती है।

भगवान ठीक ही कहते हैं, सत् से प्यार करके देख लो। सत् के पथ पे चल कर देख लो और आजमा कर देख लो। इस पथ पर पाखण्ड करने वालों को भी बहुत कुछ मिल जाता है। उस सच्चे भक्त की तो बात ही क्या जो राम के बिना कुछ नहीं चाहता। वह तो अपने आपको राम को दे देता है और मानो राम उसमें आकर बस जाते हैं। दु:ख, मान, अपमान उसे क्या छुएंगे ? वह तो पहले दिन से ही आनन्द में रहता है।

अपैशुनम् :

अपैशुनम् का अर्थ है :

१. किसी की निन्दा न करना,
२. किसी की उसकी पीठ के पीछे बदनामी न करना,
३. किसी को अपनी आंख से न गिराना, इत्यादि।

दैवी दृष्टि कोण से क्यों न कहें :

क) जब साधक गुण खिलवाड़ जान लेगा, तो दोष क्या देगा किसी को ? वह तो सबको निर्दोष मानता है।
ख) जब कर्त्ता गुण हो जायें, तो जीव का दोष क्या है ?
ग) जब गुण ही श्रेष्ठ या न्यून की रेखा रचें, तो किसी का दोष कहां रहा ?
घ) उच्च कुल या न्यून कुल के कारण दोष आरोपण मूर्खता है।
ङ) परिस्थिति के कारण कोई उजड़ गया तो उसका क्या दोष है ?
च) परिस्थिति के कारण कोई श्रेष्ठ हो गया तो इसमें उसकी क्या महिमा ?
छ) रेखा के कारण कोई धनी हो तो इसमें

उसकी क्या महत्ता है ?

ज) रेखा के कारण कोई निर्धन हो गया तो इसमें उसका क्या दोष है ?

झ) रेखा के कारण कोई अपमानित हो गया तो इसमें उसका क्या दोष है ?

भाई! यह सब गुण गुणों में वर्त रहे हैं! मिथ्या दोष आरोपण उचित नहीं होता, दैवी सम्पद् सम्पन्न जानता है कि :

१. जीव के वश में कुछ नहीं है।
२. जड़ गुण राज्य कर रहे हैं।
३. विधान कभी नहीं बदल सकता।
४. जीव अपनी अपनी रेखाओं से बन्धे हुए हैं।
५. गुण निन्दनीय हो सकते हैं पर जड़ गुणों की निन्दा करने से क्या लाभ है ?
६. दैवी सम्पद् सम्पन्न मुख पर कुछ भी कह दें, पर बिन मुख पर सत् बात किये वह पीठ के पीछे कुछ भी नहीं कहते।
७. निन्दा करके वह अपने आपको स्थापित करना नहीं चाहते और दूसरों को गिराना नहीं चाहते।

दया :

जब गुण समझोगे, तो :

क) लोगों की विवशता देख सकोगे।
ख) लोगों का अन्धापन देख सकोगे।
ग) लोगों के दर्द को समझ सकोगे।
घ) अपने आपको समझ सकोगे।
ङ) अपनी उपमा से दूसरे को भी समझ सकोगे।

नन्हूं! दुखियों पर तो दया तथा कृपा दृष्टि साधक की होती ही है, परन्तु साधुओं की बुरे आदमियों तथा दुष्टों के प्रति भी दया पूर्ण दृष्टि होती है, क्योंकि वे जानते हैं कि :

१. अत्याचारी भी गुणों से बन्धे हुए होते हैं।
२. अत्याचारी अन्धे लोग होते हैं।
३. अत्याचारी लोग मोह के कारण अपना ही भला नहीं देख सकते।
४. अत्याचारी तम तथा रजो गुण से अन्धे हुए, सत्य को नहीं देख सकते।
५. अत्याचारी, घोर अन्धकार में बन्धे हुए हैं।

याद रहे नन्हुआ! आंखों वाले अन्धों से नहीं लड़ते; बुद्धि वाले मूर्खों से नहीं लड़ते।

क) भक्त तथा ज्ञानी जन असुरों को भी दया का पात्र समझते हैं।
ख) वे यह जानते हैं कि रजो और तमो गुणी अन्धे, अपनी रुचि के पीछे जाते हुए, अपनी वास्तविक शान्ति खो रहे हैं।
ग) वे अपने स्वरूप को भी खो रहे हैं।
घ) वे बड़ी मेहनत करके दु:ख की ओर जा रहे हैं।
ङ) वे अपना मानुषी जीवन गंवा रहे हैं।

सब जानते हुए, वह सत्त्व द्रष्टा ज्ञानी, इन सब पर दया की दृष्टि रखते हैं। दैवी सम्पद् सम्पन्न, गुणातीत अनुकम्पा पूर्ण ही होते हैं, दु:ख विमोचक होते हैं, पूर्ण भूतमात्र के हितकर होते हैं।

क्षमा की बात वहां नहीं होती, पर वे बुरा किसी को नहीं कहते।

अपने गुण पर वे इतराते नहीं हैं, दूसरे के गुणों के कारण उसे ठुकराते नहीं हैं।

भाई! वे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहते, न वे निवृत्ति चाहते हैं, न प्रवृत्ति चाहते हैं।

अलोलुप्त :

निर्लोभता को कहते हैं, कामना रहितता को कहते हैं। रुचिकर का जो लोभ नहीं करते, मान का जो लोभ नहीं करते हैं, उन्हें अलोलुप्त कहते हैं।

क्यों न कहें, नित्य तृप्त को अलोलुप्त कहते हैं। जो अपने ही प्रति नित्य उदासीन हो, वह विषय का लोभ किसके लिये करेगा ? जब कामना तृष्णा नहीं रहेगी, तो कोई किस विषय का लोभ करेगा ? प्रिय अप्रिय के प्रति सम हो गये तो तरसाई हुई नज़रों से किसे देखेगा ? जब राग द्वेष के प्रति सम हो जाये, तब वह 'अलोलुप्त' हो ही जायेगा।

कोमलता :

कोमल हृदयी :

१. विशाल हृदय वाले को कहते हैं।
२. अनुकम्पा पूर्ण हृदय वाले को कहते हैं।
३. दुःख विमोचक को कहते हैं।
४. करुणामयी तथा नर्म दिल वाले को कहते हैं।
५. क्षमापूर्ण दयानिधि को कहते हैं।
६. जो रोक ही न सके अपनी दरियादिली को, उसे कहते हैं।
७. दुश्मनों को भी जो अपना ले, उसे कहते हैं।
८. जो कठोरता कर ही न सके, उसे कहते हैं।

शुद्ध अन्तःकरण को कोमल हृदय पूर्ण कहते हैं। जो कोमल हृदय होगा, वह दयापूर्ण कर्म करने वाला होगा।

ह्री :

१. ह्री, लज्जा को कहते हैं,
२. गुमान रहितता को कहते हैं,
३. वास्तव में जो अपने ही गुणों से अनभिज्ञ हो, उसे 'ह्री' कहते हैं।
४. अपनी स्थापना न चाहने वाले को कहते हैं।

भाई! जो तन को ही अपनाते हुए डरता है, वह लज्जा पूर्ण है। वह तो तन को ही नहीं अपनाता, वह तनो गुण सहराव क्या चाहेगा, क्या अपनायेगा ? वह तनोगुण सहराव से स्वतः संकोच करेगा; तनो स्थापना से सहज ही दूर भागेगा। वह साधारण सा होगा, संकोच युक्त सा दर्शायेगा। वह तो सबसे पीछे रहने वाला होगा। वह :

१. मान की बातों में,
२. आसन की बातों में,
३. प्रधानता की बातों में, सामने नहीं आयेगा।
४. अपनी रुचि के प्रति वह मौन रहता है।
५. अपने ही सद्गुणों के प्रति वह मौन रहता है।

क) मौन ही उसकी मर्यादा है।
ख) मौन ही उसका श्रृंगार है।
ग) मौन ही उसका घूंघट है।
घ) मौन ही उसका आधार है।
ङ) मौन ही उसका स्वरूप है।
च) मौन ही उसका काज है।
छ) मौन ही उसका जीवन है।
ज) मौन ही उसका ज्ञान है।
झ) मौन ही उसका राज्य है।
- वह बातें करता है, पर मौन है।
- वह काज करता है, पर मौन है।

भाई! इसे समझना मुश्किल है। वह सामने खड़ा बातें करता हुआ दिखता तो है, परन्तु निराकार और मौन है।

अचपलता :

१. चंचलता और उद्विग्नता के अभाव को अंचपलता कहते हैं।
२. व्यर्थ चेष्टा के अभाव को अचपलता कहते हैं।
३. संकल्प विकल्प पूर्ण मनोचंचलता का अभाव अचपलता है।
४. नित नव योजन के निर्माण का अभाव अचपलता है।

भाई! वे **सर्वारम्भपरित्यागी** होते हैं- इसे समझ ले। देख नन्हीं!

क) उन्हें कुछ पाना हो अपने लिये, कोई प्रयोजन हो तो योजन बनायें।
ख) वे अपने को लायक समझें तो योजन बनायें।
ग) उन्हें बुद्धि गुमान हो तो कुछ आरम्भ करें।
घ) उन्हें किसी पे कोई एहसान करना हो तो कोई काज आरम्भ करें।
ङ) उन्हें अपनी कोई मान्यता पूरी करनी हो तो कोई काज आरम्भ करें।
च) भाई! जिन्होंने अपने तन को ही छोड़ दिया, वे क्या योजन बनायेंगे ?

जो उनके पास आता है, वे उसके पीछे हो लेते हैं। वे हाथ पकड़ कर आगे भी नहीं चलते, अपने आगे वे दूसरों को ही चलाते हैं।

यह सब गुणातीत के सहज गुण हैं, गुण रहित के सहज गुण हैं, दैवी गुण सम्पन्न के सहज गुण हैं।

पर याद रहे, केवल यही उसके गुण नहीं हैं, वे अपने प्रति उदासीन हैं। यह गुण दृष्टि उसकी उस उदासीनता को सम्मुख रखकर समझो, तो शायद कुछ कुछ समझ सको। जिसे अपनी परवाह नहीं, ये सब गुण उसके होते हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन! आगे सुन!

शब्दार्थ :

१. तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह भाव;
२. अतिमान का न होना;
३. दैवी सम्पदा में उत्पन्न हुए के लक्षण हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं बिट्टू!

तेज :

क) परम प्रेम के परिणाम रूप साधक की शक्ति का नाम तेज है।
ख) वह ज्ञान, जो सत्त्व को दीदायमान कर दे, उसमें जो जीवन प्रमाण रूपा शक्ति का अंश है, उसका नाम तेज है।
ग) यानि, परम से संग रूप बल का नाम तेज है।
घ) श्रद्धा का वरदान तेज है।
ङ) परम की श्रद्धा का रूप तेज है।
च) तप का प्रताप तेज है।
छ) ज्ञान की ज्योति तेज है।
ज) तेज, तपस्वी की तप शक्ति है, जिसके बल पर साधक सब कुछ मुसकरा कर सह लेता है।
झ) आन्तरिक शक्ति, आन्तरिक ज्योति, आन्तरिक पराक्रम, ये सब तेज के विभिन्न नाम हैं।

देख कमला! ज़रा ध्यान से समझ! जब सत् में श्रद्धा हो जाती है तो साधक सत् के गुण अपने जीवन में लाना चाहता है। फिर वह झुक जाने से, लुट जाने से, मर जाने से, हानि हो जाने से, अपमान व निर्धनता इत्यादि से नहीं डरता।

जब तन ही भगवान को देने की ठान ली, अब इनसे क्या डरना? यह परम मिलन रूप निर्णय ही उसमें तेज उत्पन्न कर देता है, जिसके आसरे वह पथ जान भी लेता है, पथ पर चल भी सकता है और लक्ष्य पर पहुंच भी सकता है।

क्षमा :

अपने प्रति :

१. अपराध करने वाले को दण्ड न देना,
२. विपरीत करने वालों को अभय दान देना,
३. अपमान करने वालों को अभय दान देना,
४. हानि करने वालों को अभय दान देना, क्षमा है, यानि दण्ड न देना, क्षमा है।

वास्तव में, जीव क्षमा अपने आपको करता है; क्योंकि कोई भी अपराध करे, दण्ड तो आप भोगते हैं, दुःखी तो आप होते हैं, उद्विग्नता आपके मन में उठती है, लोभ आपके मन में उठता है, तड़प आपके मन में उठती है, गिला सालों भर आपका

मन करता रहता है। यदि ध्यान से देखो तो क्या यह सब दण्ड नहीं है ?

इतना कुछ जो सहोगे, पहले ही भूल जाओ और अपने आपको क्षमा करो! अपने आपको दण्ड मत दो। अपने मन और अपनी बुद्धि को नाहक द्वेष से आवृत्त न करो; क्षमा कर दो और आज़ाद रहो।

धृति :

१. धीरज का दूसरा नाम धृति है।
२. उत्साहितकर तेज का वरदान धृति है।
३. प्रगाढ़ श्रद्धा का परिणाम धृति है।
४. धैर्यवान् कभी हार नहीं मानता। यह धृति महा शक्तिशाली होती है।
५. धैर्यवान् कभी भी थकता नहीं है।
६. धैर्यवान् कभी विपत्ति से नहीं घबराते।
७. धैर्यवान् एक पल के लिये भी कर्त्तव्य विमुख नहीं होते।
८. धैर्यवान् मर जाते हैं पर पीछे नहीं हटते।
९. वे एक ही बात को समझाने में बरसों लगा सकते हैं।
१०. वे ज्ञान को विज्ञान में परिणित करने के अभ्यास में सारा जीवन लगा देते हैं।
११. वे बहु धैर्य से और बहु दक्षता से भगवान का तन भगवान को लौटाने के यत्न करते हैं।

भगवान आसानी से किसी का तन स्वीकार नहीं करते। देख मेरी जान! धैर्यवान् साधक दूसरों के लिये धैर्यवान् है, अपने लिये नहीं। स्वयं तो वह हर पल, हर स्वास, परम पथ पर बढ़ता जाता है और रुकना सह ही नहीं सकता। दूसरे की बात और है, उसके लिये उनके पास अथाह धैर्य है। ज्यों आमतौर पर लोग अपनी सब ज़्यादतियों को सह सकते हैं, परन्तु दूसरे की एक नहीं सहते, वैसे ही साधक जग की सब सह सकते हैं, अपनी एक नहीं सह सकते।

शौच :

१. शौच पावनता को कहते हैं।
२. शौच निर्मलता को कहते हैं।
३. शौच विशुद्ध मन को कहते हैं।
४. अज्ञान अपावनता है और ज्ञान ही शौच है।
५. अहंकार अपावनता है और अहं त्याग ही शौच है।
६. शौच शुद्ध बुद्धि को कहते हैं।
७. चाहना और संग अपावनता है और इनका त्याग ही शौच है।
८. संकल्प विकल्प रूपा मनोविकारों का अभाव शौच है।

मन पावन हो तो साधक नाम ले सकता है; बुद्धि पावन हो तो भागवद् गुणों में श्रद्धा हो सकती है ; चित्त पावन हो तो परम का आन्तर में आवाहन हो सकता है; 'मैं' रूपा अपावनता मिटे तो वह स्वरूप में स्थित हो सकता है।

अद्रोह :

क) जो किसी से द्रोह न करे।
ख) जो किसी की मान्यता से भिड़े नहीं।

ग) जो किसी के अहंकार से भिड़े नहीं।
घ) जो किसी की चाहना से भिड़े नहीं।
ङ) जो किसी के बिन पूछे ज्ञान बखान न करे।
च) जो किसी को निकृष्ट न समझे।
छ) जो सर्वभूत हितैषी हो।
ज) जो किसी को प्रभावित भी न करना चाहता हो।
झ) जिसकी अहं किसी की अंह से न टकराती हो।
ञ) जो स्वयं स्थापित होना नहीं चाहता।
ट) जो वैर और द्वेष रहित हो।
वह अद्रोही ही है।

न अतिमानिता :

१. दैवी सम्पदा सम्पन्न अपने गुणों का मान नहीं करते।
२. दैवी गुण पूर्ण जो हैं, वे अपने गुणों के कारण अहंकार नहीं करते।
३. वह श्रेष्ठ भी होगा, वह ज्ञानवान् भी होगा, वह विज्ञानवान् भी होगा, वह मानवान् भी होगा, तो भी नित्य झुका हुआ ही होगा।
४. ये सब होने पर जो 'अमानी' होगा, वह मान दूसरे को देगा।
५. प्रेम वह स्वयं करता है, किन्तु सराहता वह अपने प्रेमास्पद को है।
६. सब कुछ वह स्वयं करता है, किन्तु सेहरा दूसरों को देता है।
७. अपने को मिटाकर भी वह मान दूजे को दिला देता है। सबका काम करके भी वह स्वयं झुक जाता है और स्वयं छुप जाता है।
८. वह विलक्षण, आत्म स्वरूप, साधारण बनकर रहता है।
९. उसको तो समझना भी मुश्किल है।
१०. उसको तो पहचानना भी मुश्किल है।

भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन! ये सम्पूर्ण गुण, दैवी सम्पदा पूर्ण के लक्षण हैं। उसके स्वभाव में ये निहित रूप से भरे रहते हैं। ये गुण, देवताओं में दर्शाते हैं। ये गुण, भगवान के होते हैं।

- परम पथ के यही गुण हैं।
- परम पथिक के यही लक्षण हैं।
- सिद्ध के भी यही चिह्न हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. दम्भ, दर्प,
२. अभिमान, क्रोध,
३. कठोरता और अज्ञान,
४. आसुरी सम्पदा के गुण हैं।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान आसुरी सम्पदा के विषय में कहते हैं।

दम्भ :

दम्भ आसुरी गुण है।

क) अवगुण छिपाकर सत्‌गुण दिखाना

दम्भ है।

ख) वास्तविकता छिपाकर मिथ्या रूप दिखाना दम्भ है।

ग) वृथा अभिमान, दम्भ है।

घ) सौम्य दर्शन, उज्जवल चेहरा, पर आन्तर में लोभ का छिपा होना, यह दम्भ है।

ङ) भक्त, महात्मा का भेस और लोभ तृष्णा पूर्ण मन का होना दम्भ है।

च) दुष्ट मन वाला दूसरे जीव को बाह्य रूप में धोखा देता जाये, यह दम्भ है।

छ) पाखण्डी का दर्शन दम्भ पूर्ण होता है।

ज) जितने न्यून हों, उतनी ही अकड़ का होना, यह दम्भ के कारण होता है।

विश्वासघाती ऐसे ही लोग होते हैं; क्योंकि जिस गुण को दिखाकर ये विश्वास के पात्र बने थे, वह गुण उनमें था ही नहीं। भाई! ऐसे गुण वाले तो हर पल अपनी पूर्ण सामर्थ्य से :

१. अपने अवगुण छिपाव में लगे रहते हैं।
२. अपनी न्यूनता छिपाव में लगे रहते हैं।
३. अपनी श्रेष्ठता दिखाने के तरीकों में लगे रहते हैं।

यानि झूठ को सच दर्शाने और सच को छिपाने में ये लोग बहुत दक्ष, प्रवीण और निपुण होते हैं। चेत, अर्धचेत और अचेत में बस निरन्तर ये :

क) अज्ञानी, ज्ञान बखान करते हैं।

ख) अहित चाहुक, सेवा करने का ढोंग रचते हैं।

ग) बेवफ़ा, वफ़ादार बनकर लूटना चाहते हैं।

घ) दुश्मन, झूठी सज्जनता दिखाकर अपना मतलब सिद्ध करते हैं।

ङ) दूसरे को मिटाना चाहते हैं स्थापित ख़ुद होना चाहते हैं, किन्तु दिखाते उलटा हैं।

च) असलीयत छिपाकर निज चाहना पूर्ति चाहते हैं।

दर्प :

१. मिथ्या अभिमान को दर्प कहते हैं।
२. ग़रूर को दर्प कहते हैं।
३. रोब जमाना दर्प का परिणाम है।
४. धाक जमाना दर्प का परिणाम है।
५. धृष्टता तथा ढीठपन को दर्प कहते हैं।
६. बेअदबी करना दर्प है।
७. सबको नीचा दिखाना दर्प है।
८. सबको न्यून समझना दर्प है।
९. अक्खड़पन दर्प है।
१०. ज़िद पकड़ना भी दर्प के कारण होता है।

इस गुण के परिणाम रूप,

- जीव क्रोध करता है।
- उसका तीखा मिजाज़ उत्पन्न हो जाता है।
- वह खिझ जाता है।
- वह बुद्धि स्तर पर बात नहीं करता।
- वह दूसरे की बात सुनता ही नहीं।
- वह केवल अपने को ही लायक समझता है।

ये सब इस गुण के संगी साथी गुण हैं।

क) यह गुण जीवन में बार बार जीव को हराता है और ख़राब करता है।
ख) इस गुण राही जीव दूसरों को तड़पाता है।
ग) इस गुण के कारण जीव अपनी अच्छी योजनाओं को भी पूरा नहीं कर सकता।
घ) दर्पपूर्ण लोग दूसरे को इन्सान ही नहीं समझते।
ङ) ये अन्धे लोग होते हैं।
च) दर्प दूसरों का तिरस्कार करता है।
छ) दर्प दूसरों को तुच्छ समझता है।
ज) दर्प अपना सम्मान चाहता है।
झ) दर्प केवल मतलबी होता है।

अभिमान :

१. अभिमानी अपने को ही श्रेष्ठ मानता है।
२. वह अपने ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानता है।
३. वह अपने योजन को ही श्रेष्ठ मानता है।
४. वह अपनी आत्म प्रशंसा में नित्य मग्न रहता है।
५. वह अपने आपको सर्व पूज्य मानता है।
६. वह अपने आपको सबका नेता बनाना चाहता है।
७. वह राज्य चाहता है पर राजा के कर्त्तव्य निभाना नहीं चाहता।
८. वह कर्त्तव्य करना नहीं चाहता, परन्तु हक चाहता है।

अन्धापन इतना है कि,

क) वह मान पर अपना हक मानता है।
ख) श्रेष्ठता पूर्ण गुणों पर भी अपना हक मानता है।
ग) वह साधु गुणों पर भी अपना हक मानता है।
घ) वह नेता के गुणों पर भी अपना हक मानता है।

उसके पास गुण नहीं होते पर वह अपना हक मानता है। उन कल्पित गुणों के अनुरूप वह दूसरों से मान चाहता है। वह साधु महात्मा की भी बेकदरी करता है और अपनी बुद्धि को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है।

याद रहे, हम आसुरी सम्पदा की बात कह रहे हैं। असुर वह है जो,

१. दूसरे का नाम छीन ले।
२. दूसरे से केवल अपनी पुष्टि अर्थ काज करवाये।
३. दूसरे का नामो निशान मिटा देना चाहे।
४. भगवान को भी चाकर बना लेना चाहे।
५. 'मैं' की स्थापना अर्थ सारे जहान को झुका देना चाहे।
६. लोगों की इज़्ज़त का खून पिया करे। दम्भ, दर्प, अभिमान, असुरत्व की नींव हैं। कृतघ्नता इनका स्वरूप है। ऐसे लोग अपने आपको भगवान मानते हैं, अपने आपको पूज्य मानते हैं। इनको अपनी श्रेष्ठता के सिवा कुछ नहीं दिखता है।

क्रोध :

क्रोध १६/२ में सविस्तार कह आये हैं। यहां इतना कहना काफ़ी है कि,

१. क्रोध असुरों का महाबली अस्त्र है।

अन्धे का अस्त्र क्रोध ही हो सकता है, ज्ञानवान् का अस्त्र बुद्धि होती है।

२. असुर निरपेक्ष बुद्धि को नहीं सह सकते, क्योंकि वह आसुरी वृत्ति का साथ नहीं देगी।
३. क्रोध क्षणिक ही नहीं होता, क्रोध दीर्घकालीन भी हो सकता है।
४. क्रोध केवल भड़कन को ही नहीं कहते, क्रोध महा सोच विचार कर दूसरे की हानि के योजन भी बना सकता है।

याद रहे, यह असुर का गुण है, मज़ाक नहीं।

क) वे क्रोध में मुसकरा भी सकते हैं।
ख) वे क्रोध में मौन भी हो सकते हैं।
ग) वे क्रोध में भाग भी जाते हैं।
घ) वे क्रोध में झुक भी जाते हैं।

अजी! क्या क्या खेल नहीं रचता यह क्रोध! फिर, अन्त में क्रोधी दूसरे को काट लेते हैं।

पारुष्य :

पारुष्य आसुरी सम्पदा है।

१. कठोर वाणी, जो दूसरों को जला दे, पारुष्य है।
२. किसी का अपमान करने के लिये अपमान जनक वाक् कहना पारुष्य है।
३. दूसरे को मिटा देने वाले काज कर्म करना पारुष्य है।
४. क्रूरता, धृष्टतापूर्ण कार्य तथा वाक् पारुष्य है।
५. अपराध और अपभाषा को पारुष्य कहते हैं।
६. निन्दा चुगली को भी पारुष्य कहते हैं।

पारुष्य दूसरों को गिरा कर अपनी स्थापना चाहने वाले का गुण है। वह और करेंगे भी क्या? जैसे भी हो सके, वह तो खुद स्थापित होना चाहते हैं और स्थापित होकर स्थापित करने वाले को भी मिटा देना चाहते हैं।

अज्ञान :

क) सोच लो, जहां दम्भ, दर्प, अभिमान का राज्य हो, वहां ज्ञान कैसे रह सकता है ?
ख) जहां क्रोध और अपावनता लक्ष्य प्राप्ति के साधन हों, वहां ज्ञान क्या अर्थ रख सकता है ?
ग) वहां अज्ञान के सिवा हो ही क्या सकता है, जहां मन का राज्य है ?
घ) जहां केवल 'मैं' रहता हो, जिसे ऐसा लगे कि 'बाकी सब केवल 'मैं' के लिये ही है', वह अन्धा ही होता है।

यह सब निहित अज्ञान के कारण ही होता है।

अज्ञान वह है जो,

१. ज्ञान नहीं है।
२. सत् नहीं है।
३. झूठ ही है।
४. वास्तविकता को देखने नहीं देता।
५. स्पष्ट को भी अस्पष्ट कर देता है।
६. स्पष्ट को देखने भी नहीं देता।

७. रोशनी के होते हुए भी अन्धे के समान कर देता है।
८. आंखों के होते हुए भी अन्धा कर देता है।
९. हकीकत सामने हो और देखना भी चाहो, फिर भी न देखने दे।
१०. सत् को छुपा कर असत् को ही सत् रूप दर्शाता है।
११. असत् को छुपाकर सत् सा बना देता है।

भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन! यह आसुरी सम्पदा सम्पन्न के लक्षण हैं।'

कमला! ध्यान से देख और समझ! भगवान भी सामने खड़े हों तो अज्ञान निवृत्त नहीं होता। जब तक तुम 'मैं' को स्थापित करना चाहते हो, तन को स्थापित करना चाहते हो तो ज्ञान का अर्थ भी गलत कर दोगे। परिणाम अज्ञान ही होगा, अंधेरा ही होगा।

भागवद् गुण चाह ही यह अन्धेरा हटा सकती है। यह तब ही हो सकता जब आप अपना आप भगवान को देना चाहोगे! वरना पूर्ण ज्ञान होने पर भी अभिमान बढ़ता जाता है।

नन्हीं! सर्वप्रथम अभिमान बुद्धि का होता है। जब आपकी आंख देखती है, आप समझते हैं, 'मैंने देखा है, मैंने समझा है, मैंने जाना है!' बस, फिर जीव अहंकार पूर्ण हो जाता है। फिर देह बुद्धि अभिमान उठ आता है। तत्पश्चात् अज्ञान बढ़ने लगता है।

नन्हीं! आसुरी सम्पदा पूर्ण लोग सत्य को बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनकी 'मैं' अपने ही अनावरण को कैसे सह सकती है ? वह अपनी ही क्षति कैसे सह सकती है ?

नन्हूं! एक बार पुनः 'मैं' को समझ ले!

नन्हूं! पहले १६/२ में 'मैं'* का स्वरूप पढ़ लो, फिर आगे पढ़ो।

नन्हीं! सत्यप्रिय आभा!

१. यह माया स्वरूप, प्रेत रूप, असुर स्वभाव 'मैं' ही सब मुसीबत की जड़ है।
२. 'मैं' के बराबर कोई झूठ नहीं है।
३. 'मैं' ही सब झूठ का वर्धक है।
४. 'मैं' ही झूठ का कारण है।
५. 'मैं' सत्य को पसन्द ही नहीं कर सकती, क्योंकि सत्य के आते ही 'मैं' की क्षति होती है।
६. 'मैं' ज्ञान को पसन्द नहीं कर सकती।
७. 'मैं' बुद्धि को बिल्कुल पसन्द नहीं कर सकती।
८. 'मैं' रूपा भ्रान्ति जम तथा 'मैं' रूपा भ्रान्ति वर्धक भूत प्रकाश को कैसे सह सकेगा; क्योंकि ज्ञान प्रकाश के आते ही 'मैं' की पोल खुल जायेगी!
९. यह कल्पनात्मक 'मैं' तत्त्वहीन होने के नाते आपके मन को नित्य रिझाता है। यह मन अन्धा है और अन्धे के राज्य में ही यह 'मैं' रूपा असुर जीवित रह सकता है।

---

* 'मैं' के स्पष्ट अर्थ के लिये ७/४, १२/१३, १६/२, १६/४ और १६/१८ देखिये।

१०. वह 'मैं' रूपा छाया मात्र असुर बहुत ही चालाक, चतुर तथा दक्ष है।

११. इस 'मैं' रूपा भूत को आपके मन की हर कमज़ोरी का पता है और 'घर का भेदी' होने के नाते यह बड़ी चतुराई तथा अदृष्ट रूप से आपकी बुद्धि को ज्ञान समझने ही नहीं देता। यह ज्ञान से पर्दा उठने ही नहीं देता। यह ज्ञान के यथार्थ अर्थ को ही बदल देता है।

१२. इस 'मैं' के कारण ही जीव बौद्धिक ज्ञान विनोद में तो रमण कर सकते हैं, किन्तु यह 'मैं' जीव को ज्ञान का विज्ञान रूप समझने ही नहीं दे सकता। इसमें उसका दोष नहीं है, वह मरना नहीं चाहता। जब तक साधक स्वरूप की बातें करता है, 'मैं' को कोई फ़र्क नहीं पड़ता, किन्तु यदि साधक जीवन में स्वरूप के अनिवार्य रूप को लाने लग जाये, तो असुरत्व बेचारा कहां जाये ?

१३. ध्यान से देख नन्हीं! इस 'मैं' से भिड़ना कोई आसान काम नहीं है! यह वही 'मैं' है जिसने आपको आपके ही स्वरूप से दूर कर दिया है। इसने आपके मन का पूरा फ़ायदा उठाया है। इसने आपकी बुद्धि की आपके देखते देखते ही सफ़ाई कर दी है और आपको पता भी नहीं चला।

यह वही 'मैं' है, जिसने आपको आपके सामने ही भगवान से ऐसा जानवर बना दिया है, कि आप मान भी नहीं सकते कि आप जानवर हैं। यह आपको समझने ही नहीं देती कि आपके पास इन्सानियत के गुण नहीं रहे बल्कि हैवानों के गुण आ गये हैं। यह 'मैं' आपको जितना अधिक बुद्धिहीन करता है, उतना ही आप में बुद्धि का अहंकार भर देता है।

१४. नन्हीं! जिस तरीके से इस असुर रूप, भूत स्वरूप 'मैं' ने आपको लूटा है, उसी तरह आपके अन्दर बैठकर यह आपके तन राही औरों को भी लूटना चाहती है।

१५. यह 'मैं' आपके अन्दर इतनी सफ़ाई से सफलता पा गई है कि अब वह अपना विस्तार औरों के तनों पर करना चाहती है।

१६. नन्हूं! यह 'मैं' रूपा भूत औरों के तनों में भी पैदा हो गया है और उनके तनों को भी घुन की तरह खा गया है। वह तन भी आप जैसे ही भूत प्रेत की बस्ती बन गये हैं। अब, जब वह अपने आपको खा चुके हैं, तब वह एक दूसरे को खाना चाहते हैं और एक दूसरे को दबाने में लग जाते हैं। वह एक दूसरे पर राज्य करना चाहते हैं और एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीनना चाहते हैं।

१७. नन्हीं! यह असुर स्वरूप 'मैं' अपने आपको महा चालाक और सुघड़, निपुण, मानती है। बात भी सच है, उसकी विजय भी तो छोटी सी नहीं हुई। उसने कैसे आपको चुपके से जीत लिया है और कैसे मज़ाक से आपकी बुद्धि को दबा लिया है। हंसते हंसाते ही उसने आपके मन को अपनी

तरफ़ कर लिया है और आपकी आंखों पर पट्टी बान्ध दी है। जाने जान! उसका अपने पर इतराना बहुत हद तक ठीक ही है।

१८. नन्हीं! यह 'मैं' रूपा कंस, साधुवृत्ति को जन्म के समय ही मार देता है और यह केवल उन्हीं वृत्तियों को जीने देता है जो इसका समर्थन करें।

१९. आज हर तन में निहित 'मैं' अपने विरुद्ध कुछ भी सहन नहीं करती।

२०. आज हर तन में निहित 'मैं' समष्टि का विकराल रूप धारण कर चुकी है। अब वह आत्मवान् के रूप को बर्दाश्त नहीं कर सकती। इसी कारण कहते हैं, कि यह कलियुग है।

अब सोचो मेरी परम प्रिय सत्य चाहुक नन्हीं जान!

क) एक तो आपकी अपनी ही 'मैं' आपके अन्दर ही आपकी दुश्मन बन गयी है।

ख) दूसरी ओर, समष्टि 'मैं' रूपा संसार भी साधुता का दुश्मन बन गया है।

ग) फिर साधुता तथा धर्म के ठेकेदार भी इसी बीमारी के शिकार हो गये हैं। इस कारण, वे भी आत्मवान् की बातें तो करते हैं, किन्तु आत्मवान् के रूप को नहीं जान सकते।

घ) वे मान लेते हैं कि वे स्वरूप समझते हैं, किन्तु उन्हें रूप भी समझ नहीं आता। वे भी 'मैं' के दम्भ के नीचे दब गये हैं, वे भी मान तथा 'मैं' की स्थापना में निरन्तर अग्रसर रहते हैं।

ङ) कोई वाल्मीकि ही राम जैसे साधारण व्यक्ति को भगवान सिद्ध कर सकते है। कोई व्यास ही कृष्ण जैसे साधारण व्यक्ति को भगवान सिद्ध कर सकते हैं। और फिर, वह स्वरूप स्थिति के रूप को भी समझ सकते हैं।

सो नन्हीं! तू सोच ले कि इस 'मैं' को हटाने के लिए कैसी बुद्धि चाहिए, इस 'मैं' को हटाने के लिये कैसी लग्न चाहिये, इस 'मैं' को हटाने के लिये कितना मौन चाहिए!

सो नन्हीं जान! साधना छुप के ही करना। साधना पर पर्दा डाले रखना। हंसते हंसते, मन को मनाते रिझाते हुए साधना करना। अपनी दिनचर्या में भी किसी को पता न लगने देना कि तुम 'मैं' को मिटाने चली हो।

बाहर की दुनियां तो दूर रही, तुम्हारी अपनी ही 'मैं' तुम्हारे मन के साथ मिल कर तुम्हें ही राह से हटाने के नित्य नव प्रयत्न करेगी। इसके बारे में अतीव सावधान तथा सचेत रहना। मन को सत् ज्ञान से स्वयं समझाना सीख ले। जीवन में कोई भी ऐसा कदम न उठाना जिससे आप ही की 'मैं' को गुमान रूपा अन्न मिल जाये। साधारण जीवन में ही स्वरूप तथा रूप में स्थिति मिल सकती है।

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. दैवी सम्पदा मोक्ष के लिए,
२. और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिए,
३. मानी गई है।
४. पर अर्जुन! तू शोक न कर,
५. क्योंकि तू दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! पहले दैवी सम्पदा का फल समझ ले :

क) दैवी सम्पदा बन्धन से विमुक्त करने वाली है।
ख) दैवी सम्पदा कर्म चक्र से विमुक्त करने वाली है।
ग) दैवी सम्पदा जन्म मरण से विमुक्त करने वाली है।
घ) दैवी सम्पदा को परम पथ भी जान लो।
ङ) दैवी सम्पदा को स्वरूप के आह्वान का पथ भी जान लो।
च) दैवी सम्पदा जीवन में व्यय करना परम के चिह्न जानो।
छ) दैवी सम्पदा जीवन में व्यय करना परम यज्ञ जानो, परम पथ जानो, यही परम धन है।
ज) स्वार्थ से उठकर दैवी सम्पदा के आसरे पुरुष अर्थ कर्म (पुरुषार्थ) आरम्भ करो।
झ) पुरुषार्थ से उठकर दैवी सम्पदा के आसरे परमार्थ पूर्ण जीवन हो जायेगा। दैवी सम्पदा रूपा धन, जीवन में व्यय करने से,

१. चित्त पावन हो जाता है।
२. बुद्धि शुद्ध हो जाती है।
३. तुम नित्य तृप्त हो सकोगे।
४. तुम संग विमुक्त हो सकोगे।
५. तुम मोह रहित हो सकोगे।
६. तुम निर्मम, निरहंकार हो सकोगे।

दैवी सम्पदा के बहाव के परिणाम स्वरूप, जीव :

क) उदासीन हो जाता है।
ख) निर्विकार हो जाता है।
ग) निर्दोष हो जाता है।
घ) संग रहित हो जाता है।
ङ) तनत्व भाव से परे हो जाता है।
च) आशा, तृष्णा से परे हो जाता है।
छ) गुणातीत हो जाता है।

नन्हीं! दैवी गुण का अभ्यास करते करते गुण ज्ञान हो जाता है, ज्यों ज्यों दैवी गुण परिपक्व होने लगते हैं, जीव को स्वरूप समझ आने लगता है और शनैः शनैः सम्पूर्ण गुण, ज्ञान सहित प्रकट हो जाते हैं। आसुरी सम्पदा :

- अज्ञान और मोह जम होती है।
- अहंकार वर्धक होती है।
- संग, लोभ, तृष्णा और मोहवर्धक होती है।

इस कारण यह बन्धन कारक मानी गई है।

बुद्धि :

असुरत्व वर्धन, बुद्धि की न्यूनता के कारण होता है।

यदि बुद्धि का संग मन से छूट जाये और सत् से हो जाये तो इसके गुण बदल जायेंगे। आपकी बुद्धि आज़ाद नहीं है, क्योंकि यह आपकी रुचि से, अरुचि से, मनोविकारों से, अतृप्त चाहनाओं से, मान्यताओं से तथा लोभ, कामना से, प्रभावित हो जाती है। यह आपकी तनो स्थापति, अपने मनो ढंग से चाहती है।

यह बुद्धि सत् असत् विवेकपूर्ण नहीं है। वास्तव में इन्द्रियां विषयों की नौकर बन गई हैं, मन इन्द्रियों का चाकर बन गया है, बुद्धि मन की चाकर बन गई है। यदि ध्यान से देखा जाये, तो समझ पड़ेगा कि बुद्धि जड़ विषयों की नौकर बन गई है, यानि, बुद्धि नित विषय उपार्जन में रत है।

क) तन ही इन्द्रिय राह विषय सम्पर्क करता है।
ख) जीव अपने आपको केवल तन मानता है।
ग) जीव निरन्तर तनो इन्द्रियों की रसना का रस संगी बना रहता है।

यह जड़ तन अन्धा होता है, इन्द्रियां स्वयं अन्धी हैं। जीवात्मा इनके तद्‌रूप होकर जड़ हो गया है। जीव आजकल तन प्रधान, यानि इन्द्रिय प्रधान हो गया है। जीव बुद्धि प्रधान होना चाहिये था, किन्तु बुद्धि जड़ संगी होने के कारण, जड़ हो गई है। रुचि प्रधान जीव बुद्धि प्रधान नहीं हो हो सकता। जिसके जीवन में रुचि प्रधान होती है, उसकी बुद्धि के निर्णय उसकी रुचि के अनुकूल होते हैं। उसने निर्णय नहीं किया उसने तो केवल रुचि समर्थन रूपा तर्क वितर्क दिया है।

बुद्धि तो निर्णयात्मिका, सत् असत् विवेकदायिनी, न्यायकर, द्वौ पक्ष दर्शायिनी, वास्तविकता दर्शायिनी शक्ति को कहते हैं।

इस कारण बुद्धि का,

क) नितान्त अप्रभावित रहना अनिवार्य है।
ख) अपने से भी, यानि अपनी रुचि से भी अप्रभावित रहना अनिवार्य है।
ग) अतीव सत्प्रिय होना अनिवार्य है।
घ) अतीव दक्ष तथा तीक्ष्ण होना अनिवार्य है।
ङ) दूरदर्शिता अनिवार्य है।
च) अति प्रवीण तथा सावधान होना अनिवार्य है।
छ) आवरण रहित होना अनिवार्य है।
ज) अति सूक्ष्म, अदृष्ट तत्त्व हेरने की क्षमता पूर्ण होना अनिवार्य है।

नन्हीं! साधक की बुद्धि में तो अतीव सावधानीपूर्ण सत् दर्शन अनिवार्य है। भाई! बुद्धि की बात कह रहे हैं, मन की नहीं! बुद्धि न्याय शक्ति है, इसे न्यायाधीश के समान होना चाहिये, यदि साधना करनी है तो जीव की बुद्धि को न्यायाधीश से अधिक तीक्ष्ण होना चाहिए।

१. साधक तो स्वयं ही परम ब्रह्म के विधान को, यानि, शास्त्रों में भगवान ने जीव के लिये जो कानून रचे हैं, उन्हें समझकर उन्हीं को अपने लिये तुला बनाता है।
२. जीव अपनी रुचि का वकील भी सहज में आप ही बनता है, सत् पथ का वकील भी उसे स्वयं ही बनना है।
३. अपनी असत्यता का तो वकील वह है ही, अब अपने को अपनी असत्यता दिखाने वाला वकील भी उसे स्वयं ही बनना है।

सोच तो सही! जिसने परम को पाना है, उसे कैसे मन तथा बुद्धि की आवश्यकता होगी ? जिसे शुद्ध बुद्धि कहते हैं, जिसे सत् बुद्धि कहते हैं, साधक के लिये उसे पाना अनिवार्य है।

भाई! साधक को उसकी ही तलाश है; क्योंकि निरपेक्ष बुद्धि ज्ञान वर्धक है और ज्ञान होने से गुण बदल जाते हैं। इस कारण कहते हैं, ज्ञान में वे गुण हैं जो आसुरी सम्पदा को परिवर्तित कर देते हैं।

बुद्धि गुमानी तो आजकल सभी होते हैं, पर बुद्धि क्या है, यह वे नहीं जानते। क्या उनके पास बुद्धि है भी, वे यह नहीं देखते।

१. बुद्धि प्रधान तथा बुद्धि प्रिय जीव के लिये गीता, यानि शास्त्र से बढ़कर कुछ नहीं हो सकता।
२. वह गीता को ही अपनी तुला बनायेगा।
३. वह गीता को भगवान का आदेश मानकर उसके हर वाक् तथा श्लोक को जीवन में शिरोधारण करेगा। तब गीता के श्लोक उसके लिये मन्त्र बन जायेंगे।
४. ज्यों ज्यों साधक शास्त्र पढ़ेगा, वह तत्काल वही रूप धरता जायेगा।
५. ज्यों ज्यों साधक ज्ञान पढ़ेगा, तत्काल वह उसकी प्रतिमा बनता जायेगा।
६. ज्यों ज्यों साधक गीता पढ़ेगा, तत्काल वह गीता को मानो अपने जीवन राही सप्राण करता जायेगा।
७. अन्त में गीता का स्वरूप और प्रमाण वह स्वयं हो जायेगा। यानि,

क) गीता कथित अध्यात्म स्वरूप वह स्वयं हो जायेगा।
ख) वह स्वयं अध्यात्म प्रकाश स्वरूप हो जायेगा।
ग) गीता अनुरूप जीवन होने के कारण वह स्वयं नित्य अविनाशी विज्ञान स्वरूप हो जायेगा।
घ) तनत्व भाव से उठकर वह नित्य शाश्वत, आत्म स्वरूप हो जायेगा।
ङ) अहं का नितान्त अभाव हुआ तो वह ब्रह्म की विभूति और ब्रह्म स्वरूप स्वयं हो जायेगा।

नन्हूं! दैवी सम्पदा का जन्म तथा वर्धन बुद्धि प्रधानता में हो सकता है, बुद्धि के राज्य में हो सकता है।

दैवी सम्पदा का जन्म तथा वर्धन तब होता है, ज़ब मन बुद्धि के अधीन हो, और बुद्धि का संग सत् से हो।

आसुरी सम्पदा का वर्धन तब होता है जब बुद्धि,

१. रुचिकर विषयों की चाकर बन जाती है।
२. मन की चाकर बन जाती है।
३. इन्द्रियों की चाकर बन जाती है।

ऐसा होने से बुद्धि अन्धी हो जाती है और जीव को केवल विषय उपार्जन के ढंग सुझाती रहती है, तब उसका असुरत्व बढ़ने लगता है। नन्हूं! इन्सान तो वह है, पर इन्सानियत वहां ख़त्म होने लगती है।

आसुरी गुण वर्धन तनो संग के कारण होता है, यह बन्धन का कारण है।

दैवी गुण वर्धन अपने तन को भूलता है, इस कारण यह मुक्ति की विधि है और मुक्त करने वाला है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु॥ ६॥

अब भगवान आसुरी सम्पदा को विस्तार पूर्वक समझाने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. (अर्जुन) इस लोक में भूतों की सृष्टि दो प्रकार की है,
२. दैवी और आसुरी,
३. दैवी विस्तार से कही गई है,
४. अब आसुरी को तू मुझसे सुन।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहने लगे, 'इस संसार में जीव के दो प्रकार के सर्ग हैं।'

नन्हूं! पहले 'सर्ग' का अर्थ समझ ले।

सर्ग :

सर्ग
क) सृष्टि को कहते हैं।
ख) प्रकृति को कहते हैं।
ग) कल्पना को भी कहते हैं।
घ) प्रगमन को भी कहते हैं।
ङ) बढ़ने की विधि को भी कहते हैं।
च) स्वाभाविक को भी कहते हैं।
छ) नैसर्गिक को भी कहते हैं।
ज) पूर्व निश्चित तथा स्थिरता पाये हुए अन्तःकरण को भी कहते हैं।

इसे यूं समझना चाहिये, कि भगवान की सृष्टि में, जीव भूत दो प्रकार की सृष्टि रच लेते हैं; यानि, एक देवताओं की सृष्टि है और दूसरी, असुरों की सृष्टि कह लो! बाह्य सृष्टि भगवान रचित है और उसमें देवत्व पूर्ण और असुरत्व पूर्ण भूतों की सृष्टियां हैं।

भगवान कहते हैं, 'यह जीवों की सृष्टि दो प्रकार की होती है।' पहले इसे समझ ले।

दैवी सृष्टि	आसुरी सृष्टि
१. दैवी दृष्टिकोण पूर्ण लोगों की दृष्टि भगवान को देखती है।	१. आसुरी गुण पूर्ण लोग सृष्टि को आसुरी दृष्टिकोण से देखते हैं।
२. इनके हृदय में भागवद् गुण महत्ता रखते हैं।	२. इनके दिल में आसुरी गुण महत्ता रखते हैं।
३. ये लोग भगवान के दृष्टिकोण से संसार को देखते हैं।	३. ये लोग 'मैं' के दृष्टिकोण से सब कुछ देखते हैं।
४. ये लोग भगवान को ही प्राप्तव्य मानते हैं।	४. ये लोग संसार को ही प्राप्तव्य मानते हैं।
५. ये लोग उत्तरायण पथ का अनुसरण करते हैं।	५. ये लोग दक्षिणायन पथ का अनुसरण करते हैं।
६. ये लोग तनत्व भाव को भी त्याग देना चाहते हैं।	६. ये लोग तन से बन्धते जाते हैं।
७. ये लोग सद्गुण उपासक हैं।	७. ये लोग दुर्गुण उपासक हैं।
८. ये लोग दूसरों को खुशी देते हैं।	८. ये लोग दूसरों की खुशी को चुरा लेते हैं।
९. ये लोग भगवान को अपना तन देते हैं।	९. ये लोग भगवान का नामो निशान मिटा देते हैं।
१०. ये लोग भागवद् देन, आत्म शक्ति का इस्तेमाल भगवान के गुणों के प्राकट्य के लिये करते हैं।	१०. ये लोग भागवद् देन, उस शक्ति का इस्तेमाल जड़ तन को स्थापित करने के लिए करते हैं।
११. ये लोग दूसरों की सेवा करते हैं और उन्हें स्थापित करते हैं।	११. ये लोग दूसरों को असुरक्षित करते हैं और अपनी स्थापति चाहते हुए उनसे सेवा करवाना चाहते हैं।

नन्हूं! आसुरी लोक और दैवी लोक, यह दोनों जीव के आन्तरिक दृष्टिकोण पर ही आधारित हैं। बाह्य दृष्टिकोण तो जैसा है, वैसा ही है, यह आन्तरिक भाव तथा संग ही जीव की दृष्टि को आवृत्त कर देता है और विभिन्न कामों में प्रेरित करता है।

भगवान यहां कह रहे हैं कि दैवी गुण वाले की सृष्टि की तो वह बता आये हैं, अब आगे वह आसुरी गुण वालों की सृष्टि के बारे में कहते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुरी स्वभाव को सविस्तार बताते हुए भगवान कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. आसुरी स्वभाव वाले लोग
२. निवृत्ति और प्रवृत्ति को भी नहीं जानते।
३. उनमें न ही पवित्रता,
४. न ही श्रेष्ठ आचरण
५. और न ही सत्य होता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान! आसुरी स्वभाव वाले लोग, किसी भी कार्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति की उचितता या अनुचितता को नहीं जानते।

कमला! इन लोगों में :

क) रुचि की प्रधानता होती है।
ख) अज्ञान ही प्रधान होता है।
ग) अहंकार और अभिमान प्रधान होते हैं।
घ) कामना पूर्ण तन प्रधान होता है।
ङ) केवल 'मैं' की प्रधानता होती है।
च) 'मेरे लिये जो है', बस वही दिखता है।
छ) अहंपूर्ति को ही वे उचित जानते हैं।

उनकी प्रवृत्ति या निवृत्ति उनकी कामना पूर्ति पर आश्रित होती है। वास्तव में, निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्तृत्व भाव पर आश्रित नहीं होती, यह तो संग की बात है। गर संग नहीं तो निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों ही कोई महत्त्व नहीं रखते।

१. आसुरी दृष्टिकोण से,कर्त्तव्य कोई चीज़ नहीं।
२. 'दूसरों के लिए कुछ भी क्यों करें', यह भावना प्रधान होती है।
३. किसी और का भी उन पर हक है, यह वह मान ही नहीं सकते।
४. अपने से जब किसी की टक्कर हो, तब दूसरे को वे इन्सान भी नहीं मानते।
५. प्रवृत्ति या निवृत्ति तो किसी कार्य के सम्बन्ध में होती है। जिसका हर कार्य भीषण स्वार्थ पूर्ण ही हो, वह :

क) संसार के दृष्टिकोण से निवृत्ति या प्रवृत्ति को नहीं समझता।
ख) परमार्थ के दृष्टिकोण से निवृत्ति या प्रवृत्ति को नहीं समझता।
ग) अन्य पुरुष के दृष्टिकोण से निवृत्ति या प्रवृत्ति को नहीं समझता।

ये असुर अपावन लोग होते हैं।

पहले यह समझ ले, कि पावन कौन है :

१. जिसमें असत् का कण नहीं,
२. जिसमें मल का कण नहीं,
३. जिसमें 'मैं' का नामो निशान नहीं,
४. यानि, जिसमें सत् का वास है,
५. जो भगवान की चोरी नहीं करता,
६. जो भगवान को अपना तन, मन, और बुद्धि अर्पित करता है, वह पावन है।

अपावनता :

सच तो यह है, यह तन परम की विभूति है। इसमें अहं का मिलन ही इसे मिट्टी बना देता है। इसमें 'मैं' का मिलन ही इसकी दिव्यता को मानो चुरा लेता है, भगवान से दूरी का दूसरा नाम अपावनता है। भगवान को दूर रखने वाली समिधा ही अपावनता है। यह ही सत् पथिक की राहों में महा विघ्न है।

गर सहज में समझना हो तो व्यक्तिगत कर 'मैं' ही अपावनता का मूल है। यह जिस भी भाव, चाहना, विषय, या जीव के सम्बन्ध में आरोपित कर दी जाये, वही अपावन हो जाता है।

आसुरी लोगों का आचरण शुभ नहीं होता, क्योंकि वे :

क) दूसरों को देखकर भी नहीं देखते।
ख) केवल अपने स्वार्थ के लिए सब कुछ करते हैं।
ग) सारे ज़माने पर अपना हक मानते हैं।

वे समझते हैं कि 'जो हमें पसन्द हो, वह हमें मिल जाना चाहिये', और यदि वह उन्हें न मिले, तो वे सारे संसार को बुरा भला कहने लगते हैं। जैसे निर्धन धन चाहते हैं और धनवान् को बुरा कहते हैं; किन्तु यदि वे स्वयं धनवान् हो जायें, तो अपने निर्धन नातों को भी ठुकरा देते हैं। धनवान् लोभ में चूर हुए और अधिक धन मांगते हैं और इन्सान की परवाह नहीं करते। ऐसे जीव अपवित्र होते हैं और मानो इस अशुद्धता के कारण उनका आचरण भी दुराचार पूर्ण होता है। उनका आचरण :

१. लोभ से प्रेरित होता है।
२. कामना से प्रेरित होता है।
३. औरों को असुरक्षित करने वाला होता है।
४. औरों को भयभीत करने वाला होता है।
५. औरों का अपमान और निन्दा करने वाला होता है।
६. घृणा तथा तिरस्कार पूर्ण होता है।
७. कठोर तथा निर्दयता पूर्ण होता है।

नन्हूं! वे अपने लोभ में मदमस्त हुए, सम्पूर्ण संसार का धन केवल अपने लिये ही चाहते हैं। उनके लिये कभी कुछ भी काफ़ी नहीं होता। वे कभी भी तृप्त नहीं होते। वे कर्ज़ा लेते हैं तो लौटाना नहीं चाहते। वे किसी भी ढंग से अपना सब कुछ बचा लेना चाहते हैं।

नन्हूं! ऐसे लोगों के पास जितना अधिक हो, वे उतना ही और चाहते हैं। आसुरी लोगों में लोभ, तृष्णा, कामना अन्धकार इत्यादि गुण प्रधान होते हैं और इनकी दृष्टि नित्य इन्हीं गुणों से आवृत्त रहती है। आजकल अधिकांश लोग असुर ही होते हैं। इस लोक में सत्य भी नहीं होता।

नन्हूं!

क) जब झूठ से धन का वर्धन हो तो सच कौन बोले ?
ख) जब झूठ से कामना की पूर्ति हो तो सच कौन बोले ?
ग) जब झूठ से मान मिल सके तो सच कौन बोले ?
घ) जब झूठ से लोग प्रभावित हो सकें तो सच कौन बोले ?
ङ) जब झूठी महिमा गाकर लोगों को लूट

सके तो लूटने वाला सच क्यों बोलेगा ?

जब तन से संग हो जाता है तो जीव को जीवन भर मानो झूठ ही बोलना पड़ता है।

नन्हीं बच्चू! जब तन से संग हो जाता है, तब जीव सब कुछ अपने तन के लिये ही करता है। तब वह तन की स्थापति के लिये ही जीता है। तन के लिए झूठ बोलने के बाद फिर वह 'मम' के लिए भी झूठ बोलने लगता है, क्योंकि उसे 'मम' को भी स्थापित करना होता है। जो इन्सान अपने तन को रिझाने में लगा हो, उसे अपनी रुचि पूर्ति से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। उसके पश्चात् वह जिन्हें अपना मानता है, उनके लिए भी चाकर बन जाता है। फिर उसके पास फ़ुर्सत ही कहां कि वह किसी और के लिए कुछ करे ? फिर ऐसे झूठों में सत् बसेगा ही कहां ? वह सत् समझना कब चाहते हैं ?

हां! वे ज्ञान की बातें तो करते हैं, लोगों को भला बुरा भी कहते हैं, किन्तु अपने आप को वे नहीं देखते।

नन्हूं! अच्छे आदमियों का तो ये खूब फ़ायदा उठाते हैं और उनसे तो ये मुफ़्त काम करवाते हैं, पर स्वयं तो अपने मां बाप, भाई, बहिन, किसी के लिये भी एक उंगली नहीं उठाते।

१. इनका प्यार भी व्यापार है।
२. इनका नाता भी व्यापार है।
३. इनकी दोस्ती भी हक है।
४. इनकी सेवा भी हक है।
५. इनकी पूजा भी हक है।

इनके जीवन में सत्यता का कोई काम नहीं होता।

नन्हीं! इन लोगों का मौलिक दृष्टिकोण ही असत्पूर्ण है, इस कारण इन लोगों का आचरण असत्पूर्ण है, दृष्टिकोण असत् है, मन अशुद्ध होता है और आचरण आसुरी होता है।

नन्हूं! असुर लोग लोगों का खून पीते हैं, लोगों के तनों से इतना काम निकलवाते हैं, कि उनके प्राण निकल जायें, यही उनका मांस खाना होता है। फिर लोगों के कामों पर अपना नाम धर लेना और अपनी महिमा बढ़ा लेना ही औरों को खा पीकर दबा देना है। इसी का नाम 'राक्षस' है। असुर के यही गुण होते हैं। इसी का नाम 'असुर' है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ध्यान से देख! भगवान आगे स्पष्ट करते हैं :

शब्दार्थ :

१. आसुरी सम्पदा पूर्ण लोग कहते हैं कि जग असत् है,
२. बिना प्रतिष्ठा के है
३. और बिना ईश्वर के है,
४. (यह) अपने आप, परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है।

५. काम भोगों के अतिरिक्त इसका दूसरा हेतु क्या हो सकता है?

तत्त्व विस्तार :

यहां भगवान आसुरी वृत्ति वालों की मूल भाव धारा समझा रहे हैं। आसुरी दृष्टिकोण पूर्ण जीव कहते हैं कि,
क) जग मिथ्या है, जग झूठा है।
ख) जग अवास्तविक है।
ग) जग कोई अर्थ नहीं रखता।

देख कमल! यह बात साधुता गुमानी या साधारण जीव, जो भी कहे, यह गलत है। जग को मिथ्या कहना गलत है।

भगवान कहते हैं :
१. जो जीव दूसरों को मिथ्या कहता है, वह स्वयं झूठा है।
२. अपने आपको 'अहं ब्रह्मस्मि' कहने वाले जग को झूठा कैसे कह सकते हैं?
३. यदि आप ब्रह्म हो तो दूसरा भी ब्रह्म है।
४. यदि आप आत्मा हो तो दूसरा भी आत्मा है।
५. यदि आप परम का अंश हो तो दूसरा भी परम का अंश है।
६. यदि आप भगवान हो तों दूसरा भी भगवान है।
७. यदि आप इन्सान हो तो दूसरा भी इन्सान है।

ज्ञान गुमानी अन्धे भी असुर ही होते हैं। अपने आपको महान समझने वाले भी असुर ही होते हैं।

वास्तव में, जो जग मिथ्या है वह आपका :
क) अहं का जग है।
ख) मनो जग है।
ग) मान्यताओं का जग है।
घ) असत्यता का जग है।
ङ) असुरत्व का जग है।

जग को मिथ्या केवल :
१. सत् विमुख जीव ही कहता है।
२. कर्त्तव्य विहीन जीव ही कहता है।
३. दुष्ट ही कहता है।
४. वह कह सकता है, जिसे भगवान से प्रेम नहीं है।
५. वह कह सकता है, जो यज्ञमय जीवन नहीं बनाना चाहता।
६. वही कहता है, जो न गुणातीत है न दैवी सम्पद् पूर्ण है।
७. वही कहता है, जो न यथार्थ ज्ञान समझता है, न सत् का अनुसरण करना चाहता है।
८. वही कह सकता है जो सत् को जानना ही नहीं चाहता।

इससे यह अर्थ न लेना, कि वे लोग साधना नहीं करते। अजी!
क) ऐसे लोग अनेक बार घर बार छोड़कर और धन दौलत ठुकरा कर भी भगवान की तलाश में जाते हैं
ख) वे सुबह शाम पूजा करते हैं।
ग) वे जंगलों में साधुओं की तलाश करते हैं।
घ) वे कीर्तन पूजन में निमग्न रहते है।
ङ) वे कठिन तप भी करते हैं।

किन्तु मेरी जान! सब कर करा के भी वे केवल अज्ञान में बैठे हैं। वे नाम तो लेते हैं, पर राम, क्राईस्ट, नानक या मुहम्मद जैसे बनना नहीं चाहते। वे कहते तो हैं 'हम तन नहीं' पर नन्हूं! जानती हो, ये लोग क्या करते हैं!

जिन लोगों का इन पर हक होता है, उन्हें यह छोड़ देते हैं। जिन लोगों के प्रति इनके कर्त्तव्य होते हैं, उनसे यह नाता ही तोड़ देते हैं। ये कृतघ्नता की प्रतिमा बन जाते हैं। अपनी श्रेष्ठता के मद में मस्त हुए, ये एक भी श्रेष्ठता का गुण अपने में उत्पन्न नहीं कर सकते।

साधारण आसुरी गुण पूर्ण लोगों की बात तो दूर रही, आजकल के साधुता गुमानी भी साधु गुणों का त्याग कर देते हैं।

क) त्याग 'मैं' का करना था, उन्होंने लोगों को छोड़ दिया।
ख) उठना तनत्व भाव से था, उनके तन पर जिनका हक हो सकता था, वे उन्हें छोड़ देते हैं।
ग) उठना अपने मन से था, वे औरों के दिलों को तोड़ने लग जाते हैं।
घ) उठना अपनी बुद्धि से था, वे औरों की बुद्धि को अपनी मान्यताओं से और भी बान्ध देते हैं। यानि, वे अपने प्रति उदासीन नहीं होते बल्कि औरों के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

यदि तुम यह मानते हो कि जग माया है तो :

१. अपने लिये जग से कुछ न मांगो।
२. अपने इस तन को मिथ्या मान लो।
३. यदि यह मानते हो कि 'मैं' केवल आभास मात्र है, तो 'मैं' की स्थापना की चाहना छोड़ दो।

ज्यों आसुरी गुण वाले केवल अपने आपको ही श्रेष्ठ मानते हैं, त्यों साधुता गुमानी भी अपने आपको ही श्रेष्ठ मानते हैं।

नन्हूं! ये सब असुरत्व प्रधानता के कारण ही होता है। असत् में प्रतिष्ठित असुर लोग जग को मिथ्या कहते हैं। जैसे वे स्वयं होते हैं, औरों को भी अपने जैसा ही मानते हैं। भाई! अपने मन से ही तो वे सम्पूर्ण लोगों को देखते हैं।

क) जैसे बेवफ़ा वे स्वयं होते हैं, वैसा बेवफ़ा औरों को भी समझते हैं।
ख) जैसे प्रेम हीन वे स्वयं होते हैं, वैसा प्रेम हीन वे औरों को भी समझते हैं।
ग) जैसे झूठे वे स्वयं होते हैं, वैसा झूठा औरों को भी समझते हैं। ये आसुरी लोगों के गुण हैं।

असुर लोग कहते हैं कि जग बिना प्रतिष्ठा के है। यानि :

१. यह जग आधार रहित है।
२. जीवन में धर्म अधर्म कोई अर्थ नहीं रखते।
३. इस जग का क़ोई मूल नहीं है।
४. इस जग में पाप पुण्य कोई अर्थ नहीं रखते।
५. शास्त्र कथन सब मिथ्या बातें हैं।
६. जिसे भगवान ने ज्ञान कहा, वे उसे अज्ञान कहते हैं।
७. दैवी सम्पदा को वे मूर्खता कहते हैं।

ऐसी मान्यता हिय में धर कर वे लोग भगवान को भी नहीं मानते।
क) जग का नियन्ता, रचयिता, नियमन करने वाला, ईश्वर को नहीं मानते।
ख) कर्मफल चक्र को नहीं मानते।
ग) आत्मा के अमरत्व की बात नहीं मानते।

ये कहते हैं कि सृष्टि का जन्म,
क) काम से होता है।
ख) काम के लिये होता है।
ग) केवल संयोग की बात है।
घ) मैथुन से ही होता है।

चाहे वे जग का आधार गुणों को मानते हैं, किन्तु उसके पीछे सत् सार को वे नहीं मानते।

यानि, गुण मिले गुण से, जग उपज पड़ा, यह वे मान भी लें, पर गुण का आधार कोई और है, यह वे नहीं मानते। वे काम को श्रेष्ठ जानते हैं और उपभोग को ही जीवन मानते हैं। उपभोग ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है।

यह आसुरी वृत्ति वालों की वृत्ति है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. इस दृष्टि का आसरा लेकर,
२. वे उग्र कर्म करने वाले,
३. नष्टात्मा और अल्पबुद्धि वाले लोग,
४. जग के अहितकर (हैं),
५. (वे) जग के नाश के लिये उत्पन्न होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'जग को मिथ्या मानने वाले लोग,
क) नष्टात्मा होते हैं।
ख) अल्प बुद्धि होते हैं।
ग) जग के अहितकर होते हैं।
घ) जग का नाश करने वाले शत्रु होते हैं।
ङ) अति क्रूर कर्मी होते हैं।
च) बहुत भयानक कर्म करने वाले होते हैं।'

भाई! वे धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, श्रेय, प्रेय, में भेद नहीं जानते।
ऐसे लोग,
क) लोभ तृष्णा से भरे हुए होते हैं।
ख) केवल कामना पूर्ति के लिये ही जीते हैं।
ग) केवल उपभोग के कारण ही जीते हैं।
घ) केवल 'मैं' के कारण ही जीते हैं।
ङ) केवल निज इन्द्रिय उपभोग के कारण ही जीते हैं।
च) केवल रुचिकर ही करना चाहते हैं। वे अपना बोझ नहीं उठा सकते, दूजे

का क्या उठायेंगे ?

- उनका ज्ञान कामना पूर्ण होता है।
- उनकी उपासना कामना पूर्ण होती है।
- उनके कर्म कामना पूर्ण होते हैं।

वे सब कुछ 'मैं' की स्थापना अर्थ ही करते हैं।

ऐसे लोग :

१. ज्ञान कहें, तो झूठ ही कहते हैं।
२. प्रेम करें, तो झूठा ही करते हैं।
३. काज करें, तो वे स्वार्थ पूर्ण ही होते हैं।
४. ऐसों के जीवन का आधार ही झूठ होता है।
५. इनकी साधुता भी झूठी होती है।
६. इनकी पूजा भी झूठी है।
७. इनका व्यवहार भी झूठा है।
८. इनका व्यापार भी झूठा है।
९. जग के ये नित्य दुश्मन होते हैं।
१०. प्रेम के ये नित्य दुश्मन होते हैं।
११. दैवी सम्पद् के ये नित्य दुश्मन होते हैं।
१२. सुख शान्ति के ये नित्य दुश्मन होते हैं।

भाई! गर सच पूछो तो जो भी जग को झूठा कहता है, वह जग का दुश्मन है। वह जग में झूठ फैलाता है। वह जो भी करता है जहान में, पाप ही करता है।

ये लोग जग के दुश्मन कैसे हैं, यह समझ ले।

क) अन्धकार में रहना जग से दुश्मनी है।
ख) अन्धकार में रहना ब्रह्म से दुश्मनी है।
ग) अन्धकार में रहना सत् से दुश्मनी है।
घ) 'मैं' की प्रधानता 'परम' से दुश्मनी है।
ङ) मिथ्या रमण और दूसरे को मिथ्या मानना, जग से दुश्मनी है।
च) मिथ्या रमण ही सबसे बड़ा पाप है।
छ) मिथ्या रमण ही जग क्षय का कारण है।

ऐसा मानने वाले को अल्प बुद्धि मानना चाहिये, इसी को अज्ञान जानना चाहिए।

इस दृष्टिकोण के आसरे जो भी करो, वह :

क) क्रूर कर्म ही होगा।
ख) अशुद्ध कर्म ही होगा।
ग) अशुद्धि वर्धक ही होगा।
घ) अज्ञान वर्धक ही होगा।
ङ) दुष्टता ही बढ़ायेगा।
च) क्लेश उत्पन्न करने वाला ही होगा।
छ) अशान्ति वर्धक ही होगा।
ज) स्वार्थ पूर्ण ही होगा।

नष्टात्मा :

ऐसा आसुरी वृत्ति पूर्ण जीव आत्मा का नाश करने वाला ही होगा।

- वह आत्मवान् के तत्त्व से दूर करने वाला ही होगा।
- वह परम से दूर करने वाला ही होगा।
- वह अन्धकार वर्धक ही होगा।

नन्हीं! जो लोग ऐसी वृत्ति वाले होते हैं, वे काम तो बहुत करते हैं, किन्तु जगत का नाश करने के लिये वे शत्रु रूप ही उत्पन्न हुए होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

भगवान आसुरी गुण के विषय में कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. कठिनता से पूर्ण होने वाली कामनाओं का आसरा लेकर,
२. दम्भ, मान और मद से भरे हुए,
३. मोह से झूठे सिद्धान्तों को ग्रहण करके,
४. अशुद्ध व्रत धारण करके,
५. वे संसार में वर्तते हैं।

तत्त्व विस्तार :

पूर्ण न होने वाली कामना

कामनापूर्ण लोग, नित्य अतृप्त ही होते हैं। ठीक ही तो है,

क) कामना कभी भी पूर्ण नहीं होती।
ख) रुचि कभी भी तृप्त नहीं हो सकती।
ग) स्थूल विषयों की रुचि कैसे ख़त्म हो सकती है ? कुछ न कुछ पाना तो रह ही जायेगा।
घ) संसार का पूर्ण धन भी आ गया, तब भी आप संसार में अपने समस्त रुचिकर विषय नहीं ख़रीद सकेंगे। कुछ न कुछ तो रह ही जायेगा जो आपकी पहुंच में नहीं होगा!
ङ) फिर, मान की चाहना को कैसे पूरी करेंगे और कैसे निर्णय करेंगे कि कितना मान चाहिए ?
च) फिर जग पे राज्य भी तो चाहिए; अपने तन की प्रतिष्ठा भी तो चाहिए!

गर चाहिए तो सब कुछ चाहिए, गर नहीं चाहिए तो कुछ भी नहीं चाहिए। यहां कहने का जो अभिप्राय है, उसपे ध्यान लगाईये और समझ जाईये कि कामना कभी पूर्ण नहीं होती, उसका उदर अनन्त है।

आसुरी वृत्ति वाले लोग :

१. दम्भ पूर्ण होते हैं।
२. पाखण्डी होते हैं।
३. विश्वासघाती होते हैं।
४. वास्तविकता को छुपाने वाले होते हैं।
५. ईर्ष्या, द्वेष और शत्रुता पूर्ण होते हैं।
६. ढोंगी और डींगे मारने वाले होते हैं।
७. बिन कारण अकड़ते रहते हैं।
८. दूसरे को इन्सान नहीं मानते।

वास्तव में ये लोग:

- अज्ञान मद पिये हुए होते हैं।
- मोह मद पिये हुए होते हैं।
- अहंकार मद पिये हुए होते हैं।
- 'मैं' को बलवान मानने वाले होते हैं।
- अपने धन की मद पिये हुए होते हैं।
- अपने ज्ञान के अहंकार की मद पिये हुए होते हैं।
- अपनी सांसारिक और सामाजिक स्थिति की मद पिये हुए होते हैं।

मद को समझ ले। मद तो वह है जो :

क) वास्तविकता से दूर कर दे।

ख) होश उड़ा दे।

ग) इन्सानियत को भुला दे।

घ) असत् को सत् दर्शाये।

ङ) सत् को असत् दर्शाये।

मोह से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके, दम्भ और मान की मद में चूर हुए लोग अशुद्ध आचरण वाले होते हैं।

कर्त्तव्य त्याग करके ये लोग अपने को निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले साधक मानते हैं। ज्ञान का मान तथा ज्ञान की मद पिये हुए लोग सबसे बड़े असाधु होते हैं। धन का मान तथा धन उपार्जन विधि और ज्ञान मद पिये हुए भी असुर होते हैं।

नन्हीं!

१. सबसे बड़ा पाप ज्ञान का अहंकार है।
२. ज्ञानी के लिए सबसे बड़ा दुष्कर्म सत्य तथा धर्म से विमुख होना है।
३. सबसे बड़ा अत्याचार, ज्ञानवान् का मिथ्यात्व पूर्ण आचरण है।
४. सबसे बड़ा दुराचार ज्ञानवान् की कर्त्तव्य विमुखता है।
५. यही जग क्षय करने वाला तथा जग का सबसे बड़ा दुश्मन है। जग को मिथ्या कहने वाला अभिमानी है, ढोंगी है।
६. यदि आसुरी सम्पदा में धनी हों तो महाज्ञानी भी अज्ञानी ही होते हैं।
७. जो ज्ञान कर्त्तव्य से विमुख करे उससे बड़ा अज्ञान कोई नहीं होता।
८. जो ज्ञान का यथार्थ अर्थ न समझ सके उससे बड़ा प्रमादी कोई नहीं।
९. जो जीवन को यज्ञमय न बना सके वह अज्ञान ही है, वह मोह ही है।

भगवान ने स्वयं कहा है कि यदि वह स्वयं भी कर्त्तव्य नहीं करेंगे तो वह वर्ण संकर वर्धक ही बनेंगे। इसे समझ!

भगवान में मानने वाले अपना जीवन भगवान जैसा बनाना चाहेंगे। वह अध्यात्म ज्ञान का प्रमाण भगवान के जीवन से पायेंगे। भगवान का जीवन ही नित्य शाश्वत अध्यात्म प्रकाश होता है, क्योंकि उनके जीवन का मौन सारांश और मौन सार ही भगवान का स्वरूप होता है; इसीलिए, भगवान को परम अखण्ड मौन स्वरूप कहते हैं।

भगवान ने स्वयं ही कहा :

क) यदि भगवान ही जीवन में कर्त्तव्य छोड़ दें तो लोग पथभ्रष्ट हो जायेंगे।

ख) यदि भगवान ही जीवन में तप करना छोड़ दें तो लोग दुष्ट बन जायेंगे।

ग) यदि भगवान ही जीवन में यज्ञ करना छोड़ दें तो लोग सत्त्व तत्त्व को जान नहीं सकेंगे।

घ) यदि भगवान ही जीवन में न्याय करना छोड़ दें तो लोग सत्त्व तत्त्व को नहीं समझ सकेंगे।

भगवान ने स्वयं कहा कि यदि वह कर्त्तव्य नहीं करेंगे तो मानसिक वर्ण संकर पैदा हो जायेंगे।

मानसिक वर्ण संकर उत्पन्न करना ही :

१. सबसे बड़ा पाप है।
२. सबसे बड़ा मोह है।

३. सबसे बड़ी अपावनता है।
४. सबसे बड़ा संसार का अहित है।

देख! भगवान का जन्म साधु संरक्षण के लिए हुआ है, साधु की साधुता के संरक्षण के कारण हुआ है। भगवान जो भी कह रहे हैं, वह साधु को कह रहे हैं और साधुता के अभिलाषी को कह रहे हैं।

दुष्टता चाहुक गीता नहीं पढ़ेगा, साधुता चाहुक ही गीता को पढ़ेगा। उस साधुता चाहुक में जो असाधु वृत्ति पथ में विघ्न बन जाती है, यहां भगवान उसी के विषय में कह रहे हैं।

नन्हूं! मिथ्या सिद्धान्त का आसरा जीव तब लेता है, जब वह शास्त्र कथित सिद्धान्त को अपने जीवन में नहीं उतार सकता।

साधुता अभिलाषी के पथ में विघ्न :
- उसी की मान्यता होती है।
- सत् का अर्थ समझने में न्यूनता होती है।
- उसी का कोई मिथ्या सिद्धान्त होता है।

गीता समझने की विधि :

क) नन्हीं! गीता पढ़ते समय गीता कथित शब्दों को भगवान के जीवन से तोल कर समझो; तब ही आपको गीता का यथार्थ अर्थ समझ आ सकता है।

ख) यदि गीता का कोई भी शब्द ऐसा लगे जो भगवान को लागू नहीं होता, तो जान लो कि आपकी समझ गलत है। भगवान गलत नहीं कह सकते।

ग) जो भी भगवान ने गीता में कहा है, वह स्वयं वह आप ही हैं।

घ) जो भी भगवान ने गीता में कहा है, उस पर प्रकाश भगवान का निजी जीवन है।

ङ) ज्ञान का रूप और स्वरूप भिन्न होता है, यह भी आप भगवान के जीवन से ही समझ सकते हैं।

च) अध्यात्म पर नित्य प्रकाश स्वरूप भगवान स्वयं हैं।

भगवान कहते हैं, 'यदि मैं सावधान हुआ कदाचित कर्म में न वर्तूं तो सब प्रकार से पुरुष मेरे वर्ताव के अनुसार वर्तने लग जायेंगे।'

सत्य प्रिय आत्म स्वरूप चाहुक नन्हीं! पहले, जो भगवान ने स्वयं अपने बारे में समझाया है, उसे समझ ले। भगवान ने कहा :

१. 'मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, और कोई भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूं।' (३/२२)
२. 'यदि मैं कर्म न करूं तो ये सब लोक भ्रष्ट हो जायेंगे,मैं वर्ण संकर का करने वाला होऊंगा और इस सारी प्रजा का हनन करने वाला बनूंगा।' (३/२४)

फिर भगवान ने ज्ञानियों के लिए स्पष्ट कहा और आदेश दिया कि :

३. 'अनासक्त हुआ विद्वान, लोक संग्रह के लिए वैसे ही कर्म करे, जैसे कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन कर्म करते हैं।' (३/२५)
४. 'ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों में बुद्धि भेद उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं युक्त रहता

हुआ, सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ, उनसे (भी कर्म) करवाये।' (३/२६)

५. 'श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वही करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जो प्रमाण स्थापित कर देते हैं, बाकी लोग उसका अनुसरण करते हैं।' (३/२१)

नन्हीं!

१. यदि यह सब पढ़कर भी जीव कहें कि साधु लोग अज्ञानियों से मेल जोल नहीं करते, तो यह मिथ्या बात होगी।
२. गर वे कहें कि साधु लोग अज्ञानियों जैसे कर्म न करें, तो यह भी मिथ्या सिद्धान्त होगा।
३. साधु लोग तो अपने आपको आत्मा समझते हैं, फिर वे किसी को भी अछूत कहें तो बनता ही नहीं।
४. साधु लोग यदि साधारण जीवन को त्याग दें तो गीता के सिद्धान्तों के विरुद्ध बात होगी।
५. तुम साधुता अभिलाषी हो, आत्मवान् बनना चाहती हो, संन्यास भी लेना चाहती हो, उदासीन भी होना चाहती हो, परम पद भी चाहती हो। यदि ये सब चाहती हो तो भगवान का जीवन ही तुम्हारे लिए गीता की व्याख्या है।
६. यदि ये सब चाहती हो तो कर्त्तव्य परायणता कभी न छोड़ना।
७. नित्य उदासीन होते हुए भगवान जैसी प्रेम स्वरूप तथा प्रेम रूप बनना, वरना 'अशुचिव्रता' हो जाओगी!

अशुचिव्रता :

यानि,

क) अज्ञानपूर्ण, मिथ्या सिद्धान्ती हो जाओगी।
ख) भ्रष्ट आचरण से युक्त हो जाओगी।
ग) इस अपवित्रता का कारण मिथ्याचारी ज्ञानी जन हैं, तुम भी मिथ्याचारी न हो जाना।
घ) अपने पिता और माता की बेटी उनसे छीन कर संन्यास नहीं मिलेगा।
ङ) अपनी बहिन की बहिन उनसे चुरा कर संन्यास नहीं मिलेगा।

यदि सच ही संन्यास चाहिए, तो वही करो जो भगवान ने कहा है। यानि,

- अपने हक छोड़ दे।
- स्वयं उन पर अपना ज्ञान मढ़ना छोड़ दे।
- राग और द्वेष छोड़ दे।

भगवान कहते हैं :

१. राग और द्वेष रहित नित्य संन्यासी होते हैं। (५/३)
२. कर्म फल की चाहना छोड़ दे, कर्म फल चाह रहित संन्यासी है। (६/१)
३. सम्पूर्ण कर्मों का मन से त्याग कर देना ही संन्यास है। (५/३)
४. काम्य कर्म त्याग ही संन्यास है। यानि, कोई भी कर्म निजी चाहना पूरी करने के लिये न करना। (१८/२)
५. नन्हूं! भगवान ने स्वयं बार बार कहा है कि यज्ञ, तप, दान तो तुम करते रहना। याद रहे, यह भगवान ने कहा है, तुम वही करो। वरना नन्हीं! तुम भी आसुरी गुण वाली और आसुरी गुण

वर्धक हो जाओगी।

भागवद् गुणों का सहज जीवन में प्रमाण दो। आज तुम्हारा एक कुल है, कल सब कुल तुम्हारे हो जायेंगे। जिसको तुम्हारी जितनी ज़रूरत होगी, तुम उसके लिए यथाशक्ति सब करोगी। तुम्हारा फर्ज़ केवल एक कुल के प्रति नहीं होगा, बल्कि सबके साथ होगा। नन्हूं! जब तुम महा उदार हो जाओगी, तब तुम अपना सहज नाम भी सार्थक कर लोगी।

साधारण जीव और संन्यासी में बस इतना ही भेद है कि साधारण आदमी एक कुल का होता है, संन्यासी सारे जहान का होता है। वह तो नित्य सर्वभूतहितकर होता है। 'सर्वभूत' में अपना कुल भी आ जाता है।

यदि सहज जीवन में ये सब न मान सको तो तुम भी अज्ञान पूर्ण मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करने वाली, भ्रष्ट आचरण युक्त हो जाओगी। बाकी शब्द ज्ञान का झूठा अभिमान रह जायेगा और सम्पूर्ण ज्ञान केवल दम्भ वर्धक रह जायेगा।

मान के लिये ज्ञान का व्यापार करना मूढ़ों का काम है। अपनी स्थापना के लिए ज्ञान का व्यापार करना, मूर्खों का काम है। आत्मवान् रूप या परिस्थिति को नहीं बदलते। उनकी तो आन्तरिक स्थिति फ़र्क होती है। उनका दृष्टिकोण जीवन के प्रति और जीवों के प्रति फ़र्क होता है।

गीता कथित जीवन प्रणाली ही जीव में देवत्व उत्पन्न करते करते उसे आत्मवान् बना देती है। यदि इस जीवन प्रणाली को सहज जीवन में न मानो तो पूर्ण ज्ञान भी असुरत्व वर्धक हो जाता है।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मरण पर्यन्त रहने वाली, अनन्त चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले,
२. 'विषयों का उपभोग ही परम है, केवल इतना मात्र ही आनन्द है,'
३. ऐसे निश्चय वाले, आसुरी सम्पदा पूर्ण होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भाई! विषय उपभोग को ही परम मानोगे तो जीवन अतृप्त रहेगा ही,

क्योंकि :

क) न रुचि कभी ख़त्म होती है और न चाहना ही कभी तृप्त होती है।

ख) उपभोग राही तृप्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

ग) उपभोग राही तृप्ति की चाह उतनी ही मूर्खता है, जितनी मिट्टी के तेल से आग बुझाने का प्रयत्न!

फिर, चाहना रुचिकर की होती है।

संसार में मान लो, आपको आधा संसार रुचिकर है; तो आप ही सोच लो, तृप्ति कैसे होगी ? गर रुचिकर पाना है, तब आप ही सोच लो, परिणाम क्या होगा ? इस कारण जीवन भर तृप्ति नहीं मिल सकती! विषय प्राप्ति तथा विषय उपभोग जीव को तृप्त नहीं कर सकते।

दूसरी ओर,

१. विषय संग्रह की चाहना कभी पूरी नहीं होती।
२. विषय उपार्जन की चाहना कभी पूरी नहीं होती।
३. चाहना पूर्ति की विधि की चिन्ता भी हर पल लगी रहती है।
४. चाहना पूर्ति करने वाले विषयों के संरक्षण की चिन्ता भी हर पल लगी रहती है।
५. मान पाने की भी चिन्ता लग जाती है।
६. मान चला न जाये, यह चिन्ता भी लग जाती है।
७. मान्यता छूट न जाये, यह चिन्ता भी सताती है।
८. कोई साथ छूट न जाये, यह चिन्ता भी खाती है।
९. दुश्मन जीत न जाये, यह चिन्ता भी जलाती है।
१०. सज्जन बिगड़ न जाये, यह चिन्ता भी दुःख देती है।
११. सम्बन्धीगण यह न करें, यह चिन्ता भी सताती है।

भाई! जग की, घर की, अपनी, दूजे की चिन्ता लगी रहती है; नौकरी की, कारोबार की चिन्ता भी लगी ही रहती है।

आसुरी सम्पदा सम्पन्न लोग चिन्ता को ही हिय से लगाये रहते हैं। फिर जब साधना करते हैं, तब भी चिन्ता खाती है। साधक परम के नाम पर चिन्ता करते हैं।

'यह नहीं पाया, क्यों नहीं पाया, कब पाऊंगा' इसकी भी चिन्ता करते हैं। गर ध्यान से देखो, तो जान लोगे कि यह चिन्ता :

१. अहंकार के कारण होती है।
२. कुछ पाना हो तो होती है।
३. अपनी स्थापना के लिये होती है।
४. अपनी रुचि पूर्ति के लिये होती है।
५. वास्तविकता में परिवर्तन चाहने वाले की होती है।
६. कर्त्तापन अभिमानी की होती है।

चिन्ता और मोह अज्ञानपूर्ण मन और बुद्धि का गुण है।

मन का स्वभाव चिन्तन है, चिन्ता नहीं।

चिन्तन-चिन्ता :

कर्म फल से अतीव संग, विजय पराजय, सिद्धि, असिद्धि में अहंकार पूर्ण तद्रूपता और केवल 'मैं' की प्रधानता की चाहना ही चिन्ता को जन्म देते हैं। चिन्तन चिन्ता का रूप धर लेता है।

'मैं', मोह अहंकार और संग रहित विचार धारा, चिन्तन कहलाती है, और 'मैं', मोह, अहं और संग सहित विचार धारा चिन्ता कहलाती है।

भाई! जब तक 'मैं', के लिये कुछ भी चाहिए, चिन्ता लगी ही रहेगी। सच्चा साधक वह ही है जिसे कोई चिन्ता नहीं। वह तो भगवान को भी अपना तन, मन, और बुद्धि देने जाता है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिए। वह तो जग को भी केवल देता ही है। वह वास्तव में कर्त्तव्य भी नहीं करता। उसका सहज जीवन ही कर्त्तव्य होता है। कर्त्तव्य उससे हो जाता है।

जब तन दिया भगवान को तो जीवन प्रवाह राम समान होगा ही।

भाई! देने वाले को क्या चिन्ता, चिन्ता लेने वाले को होती है।

क) सच्चा साधक तो सबका दाता होता है।
ख) भगवान में मानने वाले को चिन्ता हो ही नहीं सकती।
ग) जब तन भगवान को देना है, तो तन को क्या मिला या क्या नहीं मिला, इससे आपको क्या?
घ) गर तन राम का है, तो सब राम को मिला।

बुरा भला सब राम से हुआ, मान अपमान सब राम का हुआ। जो भी हुआ तन को हुआ, आपको कुछ नहीं हुआ।

तब साधक चिन्ता रहित हो जाता है। किन्तु, यदि केवल विषय उपभोग को ही,

१. परम माने तो चिन्ता निरन्तर रहेगी ही।
२. सर्वश्रेष्ठ माने तो चिन्ता निरन्तर रहेगी ही।
३. प्राप्तव्य माने तो चिन्ता निरन्तर रहेगी ही।

जो मानता है कि जीवन केवल उपभोग के लिये है, वह अज्ञानपूर्ण, अन्धा, नित्य चिन्ता ग्रसित, आसुरी सम्पदा सम्पन्न है।

नन्हीं! विषयों के बारे में पूछती हो, तो सुनो :

पूर्ण ब्रह्माण्ड किसी न किसी का विषय है।

क) स्थूल सृष्टि, इन्द्रियन् का विषय कह लो।
ख) ज्ञान, बुद्धि का विषय कह लो।
ग) स्पर्श मात्र जो भी है, वह विषय ही है।

जीव, ज्ञान उपभोगी भी होता है। स्थूल विषय उपभोगी भी होता है।

ज्ञान अगर अशुद्धता मिटा दे और आत्मवान् बना दे, तो ज्ञान को गंगा कह लो, पावनकर कहलो। ज्ञान भी बुद्धि का विषय ही है। आत्मा किसी का विषय नहीं है। ज्ञान, अज्ञान का नाश कर सकता है। विषय ही विषयों का नाश कर सकते हैं। ज्ञान वह है जो अज्ञान को मिटाता है और अज्ञान को मिटाकर ख़ुद भी मिट जाता है। जो बाकी रह जाता है, वह आत्मा है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

भगवान आसुरी सम्पदा वालों के गुण बताते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. सैंकड़ों आशा रूपी फन्दों में फंसे हुए,
२. काम और क्रोध के परायण हुए,
३. केवल विषय भोगों की पूर्ति के लिए,
४. अन्याय पूर्वक विधि से,
५. धनादि के संचय की चेष्टा करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान! जीव संसार में अनेकों कामनाओं की पूर्ति चाहता है और फिर जितनी चाहनाओं की पूर्ति की चेष्टा करता है, उतनी उसकी अपनी फल प्राप्ति की आशा बढ़ जाती है। यह आशायें उसे नित्य बान्धती हैं। वह निरन्तर सोचता है कि जो वह चाहता है, उसे वह एक दिन पा ही लेगा। एक दिन वह :

क) महा धनवान् हो ही जायेगा।
ख) महा बलवान् हो ही जायेगा।
ग) उच्च पद पा ही लेगा।
घ) श्रेष्ठ कहलायेगा।
ङ) संसार में उच्चतम ज्ञानी हो ही जायेगा।
च) सम्पूर्ण संसार के लोग उसकी पूजा करेंगे।
छ) सम्पूर्ण संसार के लोग उसे देखकर हैरान रह जायेंगे।

ऐसे लोग अपने काम उपभोग के लिए अन्याय पूर्ण विधि से :

१. धन संचित करते हैं।
२. ज्ञान चोरी करते हैं।
३. लोभ की पूर्ति चाहते हैं।

ऐसे लोग झूठ सच बोलकर दूसरों को लूट लेना चाहते हैं। दूसरे चाहे तबाह हो जायें,

क) उन्हें अपना धन चाहिए।
ख) उन्हें अपना मान चाहिए।
ग) उन्हें अपना आसन चाहिए।
घ) उन्हें अपना भोग ऐश्वर्य चाहिए।

ये लोग :

क) देश के दुश्मन और गद्दार होते हैं।
ख) झगड़ा फ़साद फैलाने वाले होते हैं।
ग) दुःख दर्द फैलाने वाले होते हैं।
घ) महा हत्यारे होते हैं।
ङ) सबको तड़पाने वाले होते हैं।
च) इन लोगों का पिता माता, पुत्र, बहिन, पति, भाई, सब कुछ धन ही होता है। ये लोग अपने बेटे बेचते हैं, अपनी बहुएं ख़रीदते हैं। अपनी बेटियों का भी व्यापार करते हैं।
छ) धन पाने के लिये ये लोग अपने ईमान को भी बेच देते हैं
ज) धन पाने के लिये ये लोग अपने घर और कुटुम्ब को बेच देते हैं। इन लोगों

का भगवान धन है, ईमान धन है, ज्ञान धन है।

ये धन देवता को रिझाने के लिये, सब इन्सानों को तबाह करने को तैयार होते हैं, सबको तड़पाते हैं।

आजकल असुरत्व में मानो बहार आ गई है। ये आसुरी गुण बहुत ही ज़ालिम होते हैं।

१. वे नाते रिश्तों को धन से तोलते हैं।
२. वे प्रेम तथा कृतज्ञता को भी धन से तोलते हैं।
३. वे शराफ़त को भी धन से तोलते हैं।
४. वे वफ़ा तथा ईमानदारी को भी धन से तोलते हैं।
५. वे दया अनुकम्पा के नाम को भी नहीं जानते।
६. वे क्षमा, धैर्य इत्यादि के नाम से भी घृणा करते हैं।

नन्हूं! ऐसे लोग न दैवी गुणों को समझ सकते हैं और न ही समझना चाहते हैं।

नन्हूं! इसमें किसी का दोष नहीं है।

क) आजकल के नेतागण भी धन के पुजारी हैं।
ख) आजकल के धनवान् भी धन के भिखारी हैं।
ग) आजकल के पण्डित भी धन के भिखारी हैं।
घ) आजकल के सन्त भी धन के भिखारी हैं।

ये धन के पुजारी भागवद् गुणों को बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनके दिल कमज़ोर होते हैं। धन यदि कम होने लगे तो दिल की कमज़ोरी के कारण दिल का दौरा पड़ जाता है। फिर, विषय रसना रसिक, विषय उपभोग करते करते अनेकों बीमारियों को गले लगा लेते हैं।

नन्हूं! धन चीज़ ही ऐसी है। यह बहुत प्यारी लगती है, क्योंकि इस धन के आसरे ही तो जीव अपने रुचिकर विषयों को पा सकता है। और फिर, एक बेचारा दिल ही तो है! भाई उसकी भी खुशी पूरी न की तो क्या किया ?

ये अपने दिल को हल्का करने के लिए,

१. अपनी ज़ुबान का चाबुक लगाते हैं।
२. अपने हाथों से चाबुक लगाते हैं।
३. किसी की ख़ुशी को नहीं देख सकते।

इस कारण वे दूसरों को मिटाने के प्रयत्न करते हैं। नन्हूं! जब इन्हें ईर्ष्या तथा द्वेष का रोग लग जाता है तो ये बेचारे पागलपन में कई लोगों को तबाह कर देते हैं। ये लोभी लोग क्या करें, अख़िर लोभ का उदर भरना ही होता है।

नन्हूं! वास्तव में ये कामना पूर्ति चाहुक लोग अन्धे होते हैं। ये लोभ और तृष्णा से कार्य में प्रवृत्त होने वाले लोग अन्धे होते हैं।

भाई! धन ही उनका भगवान है, उनका जीवन लक्ष्य धन पाना ही है, उनके जीवन का उद्देश्य धन प्राप्ति ही है, धन उपार्जन की विधि का वे निरन्तर ध्यान करते हैं। वे धन उपार्जन की नित नव युक्तियों का ध्यान करते हैं। धन उपार्जन ही उनका लक्ष्य है।

क) विधि उचित हो या अनुचित, इस पर वे ध्यान नहीं देते।
ख) वे झूठ और सच में भेद नहीं जानते। उनकी झूठ से काफ़ी बेतकल्लुफ़ी होती है।
ग) राहों में कौन तबाह हो गया, इसकी उन्हें परवाह नहीं होती।
घ) श्रेय क्या है, प्रेय क्या है, इसका भेद वे नहीं जानते।
ङ) उचित क्या है, अनुचित क्या है, यह वे सोच समझ नहीं सकते।
च) न्याय या अन्याय उनकी समझ में नहीं आता।

क्योंकि, अगर यह समझ आ गया तो उनके लोभ की पूजा भंग हो जायेगी।

अपनी स्थापना के कारण ये लोग,
१. ग़रीबों को लूट लेते हैं।
२. ग़रीबों को भड़का देते हैं।
३. शरीफ़ों को चोर बना देते हैं।
४. सत् वालों को दबा लेते हैं।
५. अपने आपको देशभक्त दर्शाते हैं। वास्तव में ये केवल अपनी स्थापति चाहते हैं और देश को भी धोखा देते हैं।
६. बीच में से दुश्मन होते हुए, ऊपर से हितैषी बनते हैं।
७. बातें कुछ और करते हैं, कर्म कुछ और करते हैं।
८. महा धोखेबाज़ होते हैं।
९. स्वयं धन वालों के पास बिकते हैं।

भाई!
- इनका मान झूठा होता है।
- इनका ज्ञान झूठा होता है।
- इनका रूप झूठा होता है।
- इनका कर्म झूठा होता है।

ये लोग काम, क्रोध के परायण होते हैं। (क्रोध सविस्तार १६/२, १६/४ में कहकर आये हैं)- यहां कुछ आगे सुन लो।
असुर लोग,
क) सत् और शराफ़त का जामा पहनते हैं।
ख) अपनी पोल न खुल जाये, इससे डरते हैं।
ग) दूसरों को डरा कर रखते हैं।
घ) दूसरों को धमका कर रखते हैं।
ङ) दूसरों को तबाह करना चाहते हैं।

असुरत्व का बल गुमान,
१. दूसरों को मिटाने की शक्ति है।
२. दूसरों को गिराने की शक्ति है।
३. दूसरों को तंग करने की शक्ति है।
४. दूसरों को भूखों मारने की शक्ति का नाम दम्भ है।
५. दूसरों की नौकरी छीन लेने का नाम दम्भ है।
६. रिश्ते नातों को तड़पा देने का नाम घमण्ड है।

भाई! न्याय इनकी शक्ति नहीं है, करुणा इनका धन्धा नहीं है। उनको तो अपना मतलब सिद्ध करना है।
क) वहां सत् और न्याय का क्या काम ?
ख) वहां दया और करुणा का क्या काम ?
ग) वहां उचित और अनुचित का क्या काम ?

इसलिये वे किसी नाते रिश्ते को पहचानते ही नहीं हैं।

भाई! उनका दोष नहीं है, वे अपनी आदत से मजबूर हैं। वे आततायी लोग हैं।

कमला! आजकल के अधिकांश लोग ऐसे ही हैं। आजकल के अधिकांश लोग इन्हीं गुणों से भरे हैं।

१. देश में देशभक्त कहलाने वाले नेता गण भी इन्हीं वृत्तियों से सम्पन्न हैं।
२. देश में धनवान्, मान सम्पन्न भी इन्हीं गुणों वाले हैं।
३. देश में साधुता गुमानी साधु भी इन्हीं गुणों वाले हैं।
४. देश में निर्धन भी इन्हीं गुणों से भरे हैं।

आसुरी गण, राज्य चाहते हैं;
- राजा बनना नहीं चाहते।
- कर्त्तव्य करना नहीं चाहते।
- अपनी रक्षा चाहते हैं, औरों का रक्षण नहीं करते।
- स्वयं निर्भयता चाहते हैं, औरों को निर्भयता नहीं देते। वे अपने काम उपभोग अर्थ अन्याय पूर्ण चेष्टा करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

भगवान कहते हैं, देख अर्जुन! इन लोगों की विचारधारा इस प्रकार होती है :

शब्दार्थ :

१. मैंने आज यह पाया है,
२. इस मनोरथ को मैं पाऊंगा,
३. मेरे पास इतना धन है,
४. और फिर, यह भी मेरा हो जायेगा।

तत्त्व विस्तार :

'मैं' में प्रतिष्ठित अहंकारी गण, मिथ्यात्व में स्थित दुराचारी गण, काम उपभोगी मिथ्याचारी गण, अपने भी और देश के भी दुश्मन होते हैं। इन लोगों की मनोभावना के विषय में भगवान कहते हैं।

ये लोग :

क) जो पाया, उस पर इतराते हैं।
ख) 'मैं' के बल पर पाया हूं', ऐसा कहते हैं।
ग) 'अपनी चालाकी से पाया हूं', यह समझते हैं।
घ) 'अपनी नीति से पाया हूं', यह मानते हैं।
ङ) 'लोगों को उल्लू बनाकर पाया हूं, पर पाया तो हूं और फिर अपने बल से पाया हूं।'

ये कहते हैं, 'यह जो पाया सो तो पा चुका, अब :

१. आगे यह चाहना पूर्ण करूंगा।
२. आगे यह मनोमौज पूर्ण करूंगा।

३. आगे अपनी यह मनोरुचि पूर्ण करूंगा।
४. इतना धन अभी पाना है।
५. इतना राज्य अभी पाना है।
६. इतना मान अभी पाना है।
७. इतना ज्ञान अभी पाना है।
८. इतना नाम अभी पाना है।
९. इतनों को अभी दबाना है।'

फिर ये लोग धन पर इतराते हैं, और समझते हैं :

क) 'इतना धन मेरे पास है।
ख) मेरे समान और कोई नहीं है।
ग) मैं जग को ख़रीद सकता हूं।
घ) मैं विषयों को ख़रीद सकता हूं।
ङ) मैं जीवों को ख़रीद सकता हूं।
च) मैं प्यार को ख़रीद सकता हूं।
छ) मेरे समान दुनिया में कौन है।'

भाई! ऐसे लोग समझते हैं कि मानो:

१. ख़ुदा उन्हीं का है।
२. वे जो चाहें कर सकते हैं।
३. वे जो चाहें सो होयेगा।
४. दुनियां उन्हीं की नौकर है।
५. सृष्टि उन्हीं के आसरे कायम है।

ये स्वार्थ पूर्ण लोग आसुरी सम्पदा सम्पन्न हैं। ये केवल अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिये जीते हैं और छल कपट ही उनके जीवन का सार है।

जाने जान कमला! याद रहे, यही वृत्तियां साधुता गुमानियों में भी पाई जाती हैं। उन्हें अपने ज्ञान धन का गुमान होता है; उन्हें केवल अपने मनोरथ को किसी और ढंग से पूर्ण करना होता है। दृष्ट रूप में भगवान का नाम लेकर भी वे

क) लोगों को धोखा देते हैं,
ख) भोले भाले लोगों को लूट लेते हैं,
ग) कर्त्तव्य सिखाने की जगह पर लोगों को कर्त्तव्य विमुख करते हैं,
घ) नाम के लोभी होते हैं,
ङ) जहान के लोभी होते हैं,
च) अपनी स्थिति चाहते हैं,

इस कारण वे सत्य नहीं कह सकते। वे, जो सामने आये उसकी वास्तविकता उसे नहीं बताते, उसे झूठा मान देकर लूट लेना चाहते हैं।

भगवान तो इन्हीं 'साधुओं' को बचाने के लिए जन्म लेते हैं। वे इन्हीं को इन्हीं के आन्तरिक असुरत्व से बचाते हैं। नन्हूं! जहान को तबाह आसुरी गुणों वाले साधु रूप धारियों ने किया है।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन! ले, तुझे आगे बताऊं कि आसुरी सम्पदा पूर्ण लोग कैसे सोचते हैं :

शब्दार्थ :

१. यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है,
२. दूसरे शत्रुओं को मैं मारूंगा,

३. मैं ईश्वर हूं,
४. मैं ऐश्वर्य भोगने वाला हूं,
५. मैं सिद्ध, बलवान् तथा सुखी हूं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! यह असुर सोचते हैं कि :

क) 'मैंने आज सब शत्रु मिटा दिये।
ख) मैंने आज सब शत्रु हरा दिये।
ग) मैंनें आज सब शत्रु मार दिये।
घ) मैंने आज राहों में सब शत्रु कुचल दिये।
ङ) जो मेरी चाहना की राहों में आयेगा, वह मिटा दिया जायेगा।
च) जो मेरी नहीं मानेगा, मैं उसके प्राण ले लूंगा।
छ) जो मेरी नहीं मानेगा, मैं उसको तबाह कर दूंगा।
ज) जो मुझसे आगे बढ़ना चाहेगा, मैं उसे मार दूंगा।'

कमला! आजकल तो जिसके पास कोई भी बल नहीं, वह भी इतना गुमानी है, पर जिनके पास भगवान की कृपा से कुछ राज्य की शक्ति आ गई, वह तो सम्पूर्ण बल :

१. अपनी ही स्थापना के लिये लगा देते हैं।
२. अपने ही संरक्षण के लिये लगा देते हैं।
३. जो आसन संयोगवश मिल गया, उसे अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं और उसे सदैव के लिये अपनाने के यत्न में अपनी सारी सामर्थ्य लगा देते हैं।

गर राज्य में कोई स्थिति मिल गई तो भी :

क) जो इनकी हां में हां मिलाये, उसे ही अपना सज्जन मानते हैं।
ख) जो इनकी हां में हां न मिलाये, उसे ही अपना दुश्मन मानते हैं।
ग) जो इनके चरण में बिछ जाये, उसे ही अपना मित्र मानते हैं।

भगवान कहते हैं, ये लोग असुरत्व की प्रतिमा होते हैं।

जीवन में ये समझते हैं कि :

१. 'मैं ही ईश्वर हूं।
२. मैं ही सबको मार सकता हूं।
३. मैं जिसे चाहूं, तबाह कर सकता हूं।
४. मैं जिसे चाहूं, मिटा सकता हूं।
५. मैं जिसे चाहूं, गिरा सकता हूं।
६. मैं ही सबका मालिक हूं।
७. मैं ही सर्व समर्थ हूं।
८. मैं सबका पति हूं, मैं सबसे बलवान् हूं।
९. मैं ही सबका पूज्य हूं।
१०. सबको मेरे लिये ही जीना है।
११. पूर्ण जहान के भोग्य पदार्थ मेरे पांव छूते हैं।
१२. पूर्ण जहान के भोग्य पदार्थ मेरे भोग के लिये हैं।
१३. पूर्ण लोग मेरी रुचि पूर्ति के लिये हैं।
१४. पूर्ण लोग मेरा समर्थन करने के लिये हैं।
१५. पूर्ण लोग मुझे सुख देने के लिये हैं।'

– आजकल छोटे और बड़े, सब ऐसी ही वृत्ति को धारण किये हुए हैं।

- आजकल के नेतागण भी ऐसी ही वृत्ति को धारण किये हुए हैं।
- आजकल के साधुगण भी ऐसी ही वृत्ति को धारण किये हुए हैं।
- आजकल के सभापति गण, धनवान् तथा निर्धन गण, घर में मां बाप तथा बच्चे बूढ़े, सभी ऐसी ही वृत्ति को धारण किये हुए हैं।

इस कारण समस्याएं बढ़ रही हैं और दु:ख बढ़ रहे हैं।

भगवान कहते हैं जो गण, जो भी सिद्धि पा जाते हैं, वे गुमान पूर्ण होकर दूसरों को गिराने में लग जाते हैं। यह आसुरी वृत्ति है; यही आसुरी सम्पदा है।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता:॥ १५॥

भगवान आगे कहते हैं अर्जुन से, कि देख यह आसुरी सम्पदा सम्पन्न लोग गुमान करते हुए कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मैं महा धनी हूं,
२. मैं महा कुलीन हूं,
३. मेरे समान दूसरा कौन है?
४. मैं यज्ञ करूंगा,
५. मैं दान करूंगा,
६. मैं मौज करूंगा, हर्षित होऊंगा,
७. अज्ञान से मोहित होने वाले लोग इस प्रकार मानते हैं।

तत्त्व विस्तार :

आसुरी लोगों की बात करते हुए भगवान कहते हैं कि ऐसे लोग मानते हैं, 'मैं महाधनी हूं और मैं ही कुलीन हूं, मेरे समान दूसरा कौन है?' यानि,

क) मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूं।
ख) मैं ही सर्व बुद्धि सम्पन्न हूं।
ग) केवल मैं ही पूज्य हूं।
घ) केवल मैं ही मान पाने के योग्य हूं।
ङ) हमारे कुल का मुकाबला कौन कर सकता है?
च) मेरे समान और कोई कहीं है ही नहीं!'

वह सोचता है, 'मेरे सामने कोई ठहर ही कैसे सकता है? मेरे पास धन, ज्ञान, मान, कुल, बुद्धि, राज्य, नौकरी, व्यापार और नेतापन आदि सभी का बल है।'

ये बल गुमानी बहुत यज्ञ भी करते हैं और दान भी करते हैं, परन्तु ये अपनी श्रेष्ठता के गुमानी होते हैं। ये अपने को श्रेष्ठ मानकर दान देते हैं, अपने को भगवान मानकर दान देते हैं। यानि, दूसरे को ये निकृष्ट मानकर उसे गिराते हैं।

अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने को ये यज्ञ और दान करते हैं। अस्पताल इत्यादि बनवाकर शुभ कर्म करते हैं।

भाई! ये लोग जो भी करते हैं, इसके

पीछे प्रेरणा उनका अहंकार, दर्प, तनो संग, कर्तृत्व भाव, भोक्तृत्व भाव, मोह और अज्ञान ही होता है।

जब वे दूसरे को इन्सान ही नहीं मानते तो सद्भावना का, प्रेम का, करुणा का, उदारता का, दया या क्षमाशीलता का, सत्यता का, जीवन को यज्ञमयं बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इन्हें किसी से सहानुभूति नहीं होती। ये लोग पाप विमोचक नहीं होते, बल्कि पाप वर्धक होते हैं। न ये स्वयं ही पावन हैं, न ये पावनता पसन्द करते हैं।

ये तो,

१. लोभी लोग हैं।
२. द्वेष करने वाले लोग हैं।
३. बदला लेने वाले लोग हैं।
४. शेखी मारने वाले लोग हैं।
५. वैमनस्यपूर्ण लोग हैं।
६. दूसरे को गिरा हुआ मानते हैं।
७. दूसरों की आलोचना करते हैं।
८. दूसरों को तुच्छ समझते हैं।
९. कुटिलता पूर्ण होते हैं।
१०. कठोर, निर्दयी होते हैं।
११. कुकर्मी, छल तथा कपटपूर्ण लोग हैं।
यानि, आसुरी सम्पदा पूर्ण हैं ये लोग।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

भगवान ऐसे लोगों के बारे में बताते हैं,

शब्दार्थ :

१. अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्त वाले,
२. मोह रूपा जाल में फंसे हुए लोग होते हैं,
३. काम और भोग में आसंक्त हुए,
४. ये लोग अपावन नरक में गिरते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भाई!

क) जो सत् न देखे, वह अनेक प्रकार से विभ्रान्त ही होगा।
ख) असत् को जो असत् न माने, वह विभ्रान्त ही होगा।
ग) जो सत् को असत् जाने, वह विभ्रान्त ही होगा।
घ) जो वास्तविकता देख ही न सके, वह विभ्रान्त ही होगा।
ङ) जो वास्तविकता समझ ही न सके, वह विभ्रान्त ही होगा।
च) जो काम उपभोग में अत्यन्त आसक्त हो,
- वह अन्धा ही हो जाता है।
- वह मोह ग्रसित ही होता है।
- वह विभ्रान्त चित्त ही होता है।

छ) जिसे दूसरा इन्सान ही नहीं दिखता, वह अन्धा नहीं, तो और क्या है?

ज) जिसे कर्त्तव्य समझ ही न आये, वह अन्धा ही तो है।

देख कमला भाभी! केवल साधारण जीव ही नहीं, साधु के भेष में भी लोग काम उपभोग आसक्त होते हैं। वे सच नहीं बोल सकते। जो उनकी शरण में आये, वे उन्हें भी धोखा देते हैं। असुर को भी वे श्रेष्ठ कह देते हैं और इसे विनम्रता कहते हैं। वे ज्ञान की बातें करते हैं पर ज्ञानपूर्ण जीवन जी नहीं सकते, क्योंकि इनका कहीं न कहीं संग हो गया है।

संग चाहे :

१. सतोगुण रूप ज्ञान और सुख से हो;
२. धन दौलत से हो;
३. किसी भी गुण से हो;
४. अपने नाम से या अपने मान से हो;

- संग सत् पथ विमुख कर ही देगा।
- संग, प्रलोभन बन ही जायेगा।
- संग, वास्तविकता नहीं देखने देगा।
- संग, भ्रम में डाल ही देगा।

मोह और संग के कारण ही जीव :

क) शत्रुता करते हैं।
ख) ईर्ष्या करते हैं।
ग) धृष्टता और लोभ करते हैं।
घ) दूसरे को लूट लेते हैं।
ङ) दोषारोपण और तिरस्कार करते हैं।
च) अकड़ते और ग़रूर करते हैं।
छ) क्रोध और पाप करते हैं।

भगवान कहते हैं, जब कोई कामना होती है, जब किसी भोग की चाहना होती है, तब अव्यवसायी बुद्धि बनती है और जीव दुष्ट बन जाते हैं। देवत्व छोड़कर वे असुर बन जाते हैं। फिर वे नरक में गिरते हैं; वे पूर्ण अपावन हो जाते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अपने आपको बड़ा मानने वाले,
२. अकड़ वाले,
३. धन, मान, मद से युक्त लोग,
४. दम्भ से अविधि पूर्वक,
५. नाम मात्र के यज्ञों द्वारा यजन करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान, आसुरी वृत्ति वाले लोगों की बात बताते हुए आगे कहते हैं कि ये लोग अपने आपको :

क) बहुत बड़ा मानते हैं।
ख) बहुत श्रेष्ठ मानते हैं।
ग) बाकी जहान से बहुत ऊंचा मानते हैं।
घ) बाकी जहान से बहुत लायक मानते हैं।
ङ) वे गुणहीन होते हुए भी, बहुत अकड़ वाले होते हैं।
च) धन का गुमान ही इनके नाश का कारण बन जाता है।

छ) धन तथा मान के मद से चूर हुए, औरों को ये इन्सान ही नहीं समझते।
ज) ये दूसरों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।
झ) ये दूसरों का तिरस्कार करते हैं।
ञ) ये दूसरों से घृणा करते हैं।
ट) इनके मन में द्वेष भरा होता है।
ठ) इनके मन में लोभ भरा होता है।
ड) आत्म सराहना इनका सहज गुण है।
ढ) आत्म अभिमान इनका सहज गुण है।
- ये लोग बहुत अकड़ वाले होते हैं।
- ये गुस्ताख़ और निर्लज्ज होते हैं।
- विनम्रता का इनके पास नामो निशान नहीं होता।
- प्रेम, सहानुभूति, करुणा को ये समझते ही नहीं हैं।
- क्षमा करना तो दूर रहा, ये तो स्वयं ही साधुओं पर झूठे दोष लगाते हैं।

धन और मान का इन्हें इतना गुमान होता है कि ये,

१. इन्सानियत ही भूल जाते हैं।
२. अपने को ही सर्वोत्तम मानते हैं।
३. नाते रिश्ते, धन से तोलते हैं।
४. माता पिता से भी ऐंठते हैं।
५. निर्धन को इन्सान ही नहीं समझते।

धन और मान के मद से चूर हुए ये लोग अनेक बार यज्ञ भी करते हैं, परन्तुः

क) केवल दिखाने के लिये ही करते हैं।
ख) अपनी स्थापना के लिये ही करते हैं।
ग) गुमान ही बढ़ाने के लिये करते हैं।
घ) मान ही बढ़ाने के लिये करते हैं।
ङ) अपने आप को भी ये धोखा देते हैं।
च) यज्ञ करके ये औरों को भी धोखा देते हैं।

ये नाम मात्र ही यज्ञ करते हैं; विधिवत् यज्ञ नहीं करते। यह साधुओं को भी मिलते हैं तो दम्भ सहित मिलते हैं।

भाई! क्या करें, जब मान की मद से पूर्ण होकर साधु भी असाधुता पूर्ण यज्ञ करें, धन के मद से पूर्ण होकर ज्ञानवान् भी जग को भरमायें! न इनके यज्ञ में श्रद्धा होती है न विधि में ही; न सत्य में श्रद्धा होती है, न प्रेम में ही।

भाई!

- ये लोग काम तो करते हैं, पर श्रद्धा रहित।
- ये लोग भगवान का नाम भी लेते हैं, पर श्रद्धा रहित।
- ये जहान में दान भी देते हैं, पर श्रद्धा रहित।

ये असुर लोग हैं, आसुरी वृत्ति पूर्ण लोग हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

नन्हूं! मेरी लाडली! भगवान बहुत विस्तार पूर्वक आसुरी सम्पदा समझा रहे हैं क्योंकि आजकल इन्हीं गुणों की प्रधानता है। ये वह गुण हैं जो अज्ञान की नींव हैं और जीव के पतन का कारण हैं। ये साधकों और साधुओं की राहों में विघ्न बन जाते हैं। नन्हीं! वास्तव में यही गुण साधुओं के भीषण दुश्मन हैं। साधुओं को इन्हीं गुणों से बचाने के लिए भगवान बार बार जन्म लेते हैं। साधु बाह्य अत्याचार से नहीं डरते, वे तो इन गुणों को अपने में बढ़ते हुए देखकर तड़प जाते हैं।

अर्जुन को यह गुण सविस्तार समझाते हुए भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अहंकार, बल, दर्प,
२. काम और क्रोध का सहारा लिए हुए,
३. वे निन्दक लोग,
४. अपने और दूसरों के देह में स्थित,
५. मुझसे द्वेष करते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! आसुरी गुणों का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं कि ये लोग अहंकार पूर्ण होते हैं।

*** अहंकार :**

मेरी सत् अभिलाषी नन्हूं! प्रथम 'अहंकार' को समझ ले।

अहंकार, यानि अहम्+कार।

अहम्, यानि :

१. अपनी सत्ता का बोध करने वाली वृत्ति।
२. द्रष्टा और दृष्टि को एक मानने वाली वृत्ति।
३. 'मैं' और बुद्धि को एक मानने वाली वृत्ति।
४. 'मैं', तन और मन को एक मानने वाली वृत्ति।
५. 'अहं' जीव की प्रथम व्यक्तिगत चेतना को भी कहते हैं।
६. 'अहं' आत्माभिमान को भी कहते हैं।
७. 'अहं' आध्यात्मिक अज्ञान के मूल बीज को भी कहते हैं।
८. 'अहं' मोह के मूल बीज को भी कहते हैं।

कार :

'कार' का अर्थ है :

क) बनाने वाला,
ख) कार्य करने वाला,

---

* अहंकार के विस्तार के लिए ७/४ और १६/२, ४ देखिये।

ग) रचयिता,
घ) प्रकट करने वाला,
ङ) चेष्ठा करने वाला,
च) पति या मालिक,
छ) शक्ति या सामर्थ्य।

इस नाते, 'अहंकार' का अर्थ है, तन को 'मैं' समझ लेना, यानि, देहात्म बुद्धि का होना। तनत्व भाव का जन्म ही अहंकार है।

फिर **अहं का कार्य** समझ ले, क्या होगा :

क) अहं केन्द्रित कार्य अहंकार पूर्ण होंगे।
ख) अपने तन के लिये जो भी कार्य किया जाये, वह अहंकार पूर्ण होगा।
ग) अपने आपको ही सब कुछ समझने वाली वृत्ति अहंकार है।
घ) अपने में ही रमण करने वाली वृत्ति अहंकार है।
ङ) केवल अपने हित के लिये कर्म करना अहंकार है।
च) केवल अपने लाभ के लिये कर्म करना अहंकार है।
छ) स्वार्थपरता, आत्मस्तुति और स्वाभिमान अहंकार का कार्य है।
ज) 'मैं' की स्थापना के लिए कुछ करना ही अहंकार है।
झ) तन के गुणों पर इतराना अहंकार का कार्य है।
ञ) दम्भ और दर्प अहंकार के गुण हैं।

अहंकार का रूप भी समझ ले :

१. अहंकार हमेशा दूसरे को दबाना चाहता है और अपने आपको स्थापित करता है।
२. अहंकार निरन्तर औरों की हानि करता है।
३. अहंकार हमेशा दूसरों को न्यून दिखाना चाहता है।
४. अहंकार अपने आपको सर्वश्रेष्ठ स्थापित करना चाहता है।
५. अहंकार का बल औरों को मिटाने के लिये होता है।
६. अहंकार कभी झुकना पसन्द नहीं करता; यह आसुरी सम्पदा अहंकार की ही देन है।
७. अहंकार 'मैं' 'मुझ' और 'मेरा' का चाकर है।
८. अहंकार कहता हैं, 'मैं तुझे मारूंगा।'
९. अहंकार कहता है 'मैं तुझे तड़पाऊंगा।'
१०. अहंकार कहता है, 'मैं ही सब कुछ कर सकता हूं, मैं ही बदला लेता हूं।'

अहंकार और दैवी सम्पदा जन्म सिद्ध विरोधी है। अहंकार और दैवी सम्पदा विरोधात्मक हैं। देवता दैवी गुण पूर्ण होते हैं और दूसरे को स्थापित करते हैं; असुर आसुरी गुण पूर्ण होते हैं और दूसरे को मिटाना चाहते हैं। देवत्व लोगों को पास झुकता है और उन्हें स्थापित करता है, अहंकार लोगों को मिटाता और दबाता है।

फिर नन्हूं रानी! किसी और की चीज़ को अपना लेना भी अहंकार है। इस नाते,

क) तनत्व भाव भी अहंकार है।
ख) कर्तृत्व भाव भी अहंकार है।
ग) भोक्तृत्व भाव भी अहंकार है।

नन्हीं! वास्तव में, तन की रचना जीव ने नहीं करी, फिर भी जीव तन को अपनाता है। वास्तव में कर्म गुण करते हैं, जीव स्वयं नहीं करता। फिर नन्हीं! गुण ही गुणों को भोगते हैं। किन्तु नन्हीं! अहं जब प्रथम संग कर लेता है अपनी बुद्धि से, तत्पश्चात् अहंकार होने लगता है। अहं का विस्तार ही अहंकार है। किसी दूसरे की वस्तु को अपना लेना अहंकार है।

जब जीव प्रथम बेला कुछ देखता है और अपने को 'देखने वाला, बुद्धिमान्' मानता है, वही 'अहं' का जन्म है। यानि, प्रथम चेतनता की चेतना के साथ ही जीव अपनी बुद्धि के तद्रूप हो जाता है। मान लो, बस यही मूल है अहंकार का।

फिर, यह अहं विस्तार स्वतः ही होता जाता है। यह 'अहं' रूपा घुन, जीव को फिर 'मैं' के रूप में उम्र भर खाता रहता है। यह मानो भगवान के तन को माटी बना देता है। बाकी जीवन यह 'मैं' रूपा कीड़ा कहता तो यह है कि 'मैं अपने तन को स्थापित कर रहा हूं,' परन्तु वास्तव में यह आपको तबाह करने में लग जाता है।

- यह 'मैं' अपने आपको धोखा देता है।
- यह 'मैं' आपकी अपनी बुद्धि को धोखा देता है।
- यह 'मैं' धोखा ही होता है।

यह 'मैं' बढ़ते हुए, अपने आप, यानि मन बुद्धि से मानो कहता है:

१. केवल मात्र मैं ही तुम्हारा परम हितैषी हूं।
२. केवल मात्र मैं ही तुम्हारे सुख के लिए प्रयत्न करता हूं।
३. केवल मात्र मैं ही तुम्हारे मान के लिए प्रयत्न करता हूं।
४. केवल मात्र मैं ही तुम्हारे संरक्षण के लिए प्रयत्न करता हूं।
५. केवल मात्र मैं ही तुम्हें स्थापित करने के लिए प्रयत्न करता हूं।'

मैं कहता है, 'मेरे सिवाय तुम्हारा इस संसार में कोई नहीं है', इत्यादि।

नन्हीं! वास्तविकता भी यही है।

यह 'मैं' आत्मा से चेतना पाती है और इस 'मैं' में चेतना का आभास होता है; किन्तु यह 'मैं' जब अपने आपको तन मानने लग जाती है तो जड़ बन जाती है। यदि यह 'मैं' केवल द्रष्टामात्र रहती तो यह पावनता स्वरूप होती। किन्तु यह 'अहं' जब अपने आपको बुद्धि तथा मन और इन्द्रियों के तद्रूप कर लेता है, तो बुद्धि भी अपने स्वरूप से वंचित हो जाती है। तब असुरत्व का जन्म होता है। तब एक जड़ तन, संसार को खाना आरम्भ करता है। यह 'मैं' ही असुर बनकर, आपके ही मन और बुद्धि को खाने लगती है। फिर आसुरी सम्पदा का वर्धन होने लगता है।

यह 'मैं' बुद्धि को अन्धा कर देती है।

क) अहं और बुद्धि मिलकर अन्धापन पैदा करते हैं। अहं रहित बुद्धि एक दिव्य विभूति है।
ख) अहंकार और मन, असुरत्व के दैत्य को जन्म देते हैं। अहं रहित मन तो प्रेम का प्रतीक है।

अहं का रूप अहंकार है।

१. यह जीव को लोभी बना देता है।
२. यह जीव में नित्य अतृप्ति उत्पन्न करता है।
३. यह जीव में अनेकों विकार उत्पन्न करता है।
४. यह जीव में मोह तथा अज्ञान को उत्पन्न करता है।
५. यह जीव में कामना तथा तृष्णा उत्पन्न करता है।
६. यह जीव में उद्विग्नता उत्पन्न करता है।

यही जीव के सम्पूर्ण दुःख दर्द का कारण है। अहं के कारण जीव स्वयं भी कर्त्तव्य नहीं जानते। अपने आन्तर में कभी कर्त्तव्य का भाव उठे भी, तो ये उसको कुचल देते हैं। अहंकार और बल का घमण्ड इनमें बहुत होता है।

जिसका बल :

क) धन हो, मान हो, कोई सामाजिक स्थिति हो या व्यापार हो,
ख) सरकारी नौकरी हो या पदवी हो,
ग) दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति हो,
घ) दूसरे को उजाड़ने की शक्ति हो,
ङ) दूसरे को मार देने की शक्ति हो।
च) दूसरे को तंग करने की शक्ति हो,

वह अहंकार पूर्ण जीव भगवान का विरोधी होता है।

निर्बल का बल :

१. जो प्रेम करते हैं, उनका बल स्थूल बल नहीं होता, उनका बल तो भागवद् गुण होते हैं।
२. करुणा का बल देखने में बहुत निर्बल होता है।
३. क्षमा और दया का बल देखने में बहुत निर्बल होता है।
४. सहन शक्ति का बल देखने में बहुत निर्बल होता है।
५. मौन का बल देखने में बहुत निर्बल होता है।
६. समर्पण का बल कोई कैसे समझ सकता है ?
७. समत्व का बल कोई कैसे समझ सकता है ?
८. धैर्य का बल कोई कैसे समझ सकता है ?

भाई! यह बल समझना है, इसका परिणाम देखना है तो देख! यह जीव को:

क) भगवान बना देता है।
ख) अमरत्व दिला देता है।
ग) महा भक्त बना देता है।
घ) पुरुष से पुरुषोत्तम बना देता है।
ङ) अखण्ड आनन्द दे सकता है।
च) नित्य तृप्त कर सकता है।
छ) गुणातीत बना सकता है।
ज) स्थित प्रज्ञ बना देता है।
झ) सबका पूज्य बना देता है।
ञ) सबके लिए वरण योग्य बना देता है।

नन्हीं! वास्तव में यही बल संसार का एक मात्र आसरा है। यह बल, जो निर्बल सा दिखता है, असुर से इन्सान, इन्सान से देवता, देवता से भगवान बना देता है।

किन्तु बल अभिमानी तो दूसरे के

मिटाव की बात करते हैं, दूसरे के झुकाव की बात करते हैं। वास्तव में बल की डींग मारने वाले बल की क्या बात कर सकते हैं ? वे तो भगवान के बल को पसन्द ही नहीं करते, वे तो भगवान से भी द्वेष करते हैं।

देख! जहान भगवान को किन गुणों से पहचानता है, उनको ज़रा ध्यान से समझ। भगवान के प्राकट्य का प्रमाण भगवान का जीवन होता है।

ये आसुरी सम्पदा वाले लोग,

क) भागवद् गुणों से रहित हैं।
ख) भागवद् गुण वालों को कुचलते हैं।
ग) भागवद् गुणों से घृणा करते हैं।
घ) भागवद् गुणों को नित्य दबाते हैं, यही उनका भगवान से द्वेष है।
ङ) कर्त्तव्य तो ये जानते ही नहीं।

जहां कर्त्तव्य होता है, जहां इन्हें झुकना होता है, जहां दूसरों की बात सहनी होती है, वहां ये लोग :

१. दोष आरोपण करते हैं।
२. क्रोध करते हैं।
३. ज्ञान बखान करके अपने को दोष विमुक्त कर लेते हैं।
४. झूठे सिद्धान्तों का आसरा लेकर अपने को श्रेष्ठ मानते हैं।

भाई! कर्त्तव्य तो सर्व प्रथम :

- अपने ही घर में करना होता है।
- अपने ही लोगों से करना होता है।
- अपने ही बड़ों के प्रति करना होता है।
- अपने ही बच्चों तथा नाते बन्धुओं से होता है।

असुर लोग सर्वप्रथम :

क) अपनों का ही नामो निशान मिटाते हैं।
ख) अपनों को ही गिराते हैं।
ग) अपनों को ही दबाना चाहते हैं।
घ) अपनों से ही नाता तोड़ते हैं।

यानि, भगवान को अपने दिल से तो वे निकाल ही देते हैं तथा भगवान के गुण भी अपने आन्तर में आने नहीं देते। मानो, वे भगवान से ही द्वेष करते हैं। दूसरा भी जो कर्त्तव्य करे, उससे भी ये लोग द्वेष करते हैं। खास करके इनका कर्त्तव्य कोई और निभा दे तो उसे ये अपना नित्य वैरी मानते हैं और उस पर ये कोई न कोई मतलब मढ़ देते हैं।

- किसी का मान हर लेना,
- किसी की निन्दा करना
- दूसरे को बदनाम करने के यत्न करना,
- अपनी दुष्टता दूसरों पर मढ़ना,

असुरत्व के सहज गुण हैं। दया, क्षमा, धैर्य, सहानुभूति, ऐसे शब्द तो वे जानते ही नहीं। ऐसों के हृदय से ये गुण क्या फूटेंगे ?

भाई! वे असुर हैं, वे तो सहज इन्सान भी नहीं हैं। वे इन्सानियत के गुण भूल जाते हैं। वे भगवान के गुण अपने में या किसी अन्य में नहीं सह सकते। वैसे भी, इनकी वृत्ति तो नित्य दोष दर्शन ही करती है।

कोई प्यार करे इनसे तो ये :

१. उस पर मिथ्या भावना मढ़ते रहते हैं।
२. उस पर कोई लोभ या चाहना मढ़ते हैं।
३. उसे भी नीचे गिराने के यत्न करते हैं।

भाई! ये लोग सद्गुण पूर्ण को पूर्ण यत्न से गिराते हैं। इस कारण भगवान कहते हैं, 'ये लोग मेरे से द्वेष करते हैं। मुझे अपने में भी नहीं रहने देते और मैं जिस दूसरे में रहता हूं, वहां भी मुझे कुचलने के यत्न करते हैं।'

देख मना! यह कथन ही भगवान का अखण्ड आंसू बन गया है। कोई भी तो नहीं जो आज सद्गुणों का संरक्षण करे।

क) गर 'राम नाम सत् है', यह मानते हो तो भगवान के गुणों की रक्षा करो।
ख) गर राम राम कहते हो तो राम जैसा बनने का प्रयत्न करो।
ग) गर राम परायण होना है तो राम के गुण सर्व श्रेष्ठ मानकर उन्हें जीवन में इस्तेमाल करो।
घ) गर राम की भक्ति हृदय में है तो भागवद् गुणों का जीवन में अभ्यास करो।
ङ) गर राम को सत् मानते हो तो भागवद् गुणों को ही सत् मान लो।
च) गर राम के लिए जीना चाहते हो तो प्रेम तथा करुणा का अभ्यास करो।
छ) गर राम की सेवा करना चाहते हो तो प्रेम करने वालों की नौकरी करो।
ज) गर सत्संग भाता है तो अपने मन में भागवद् गुणों के प्रति संग उत्पन्न करो।
झ) गर भगवान से प्यार है तो सत् की रक्षा करो; सत् वाले के लिये जान देकर भी सत् वाले का संरक्षण करो।

इससे बड़ी पूजा क्या होगी ? इससे बड़ी भक्ति क्या होगी ? इससे बड़ी नाम की महिमा क्या होगी ? भगवान की सच्ची पूजा, सत् पथिक का संरक्षण है, साधारण जीवन में सत् के कारण जो दु:खी हो रहे हैं, उनका ही संरक्षण है। भगवान का जन्म भी इसी कारण होता है, भगवान का सन्देश भी यही है, भगवान का आदेश भी यही है। तुम भी वही करो, जो भगवान करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

भगवान कहते हैं कि अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. इन द्वेष करने वाले,
२. अशुभ कर्म करने वाले,
३. क्रूर कर्मी व नर अधमों को,
४. मैं संसार में बार बार आसुरी योनियों में गिराता हूं।

तत्त्व विस्तार :

आसुरी योनियों का पात्र जीव :

भगवान कहते हैं उन,

क) पथ भ्रष्ट लोगों को,
ख) कर्त्तव्य विमुख लोगों को,
ग) ज़िद्दी और दुराग्रही लोगों को,
घ) तीख़े मिजाज़ वाले लोगों को,

वह बार बार आसुरी योनियों में गिराते हैं।

१. नित्य कुपित तथा शीघ्र क्रोध से उत्तेजित होने वालों को आसुरी योनियां मिलती हैं।
२. सत् विमुख लोगों को जन्म मृत्यु पूर्ण आसुरी योनियां मिलती हैं।
३. विभ्रान्त तथा मोह युक्त लोगों को दु:ख, दर्द, जन्म, मृत्यु पूर्ण योनियां मिलती हैं।
४. अहंकार, अभिमान तथा दर्प पूर्ण लोगों को आसुरी योनियां मिलती हैं।
५. नियम विरुद्ध वर्तन करने वाले लोगों को आसुरी योनियां मिलती हैं।
६. इन्सानियत के विरुद्ध चलने वालों को तथा पापाचारी लोगों को दु:ख, दर्द, जन्म, मृत्यु पूर्ण आसुरी योनियां मिलती हैं। अत्याचारी तथा क्रूर कर्मी लोगों को आसुरी योनियां मिलती हैं।

नन्हूं! आसुरी वृत्ति वाले लोग:

१. मां बाप को तड़पाते हैं।
२. पति या पत्नी को तड़पाते हैं।
३. भाई, बहिन पर अत्याचार करते हैं।
४. बच्चों को यतीम बना देते हैं।
५. देश पर कलंक लगा देते हैं।
६. झूठी तथा अनुचित विधि से धन उपार्जित करते हैं।
७. दूसरे की जान तथा आजीविका हरते हैं।
८. दूसरे का मान हरते हैं।
९. दूसरे को निरन्तर दु:ख देते हैं।
१०. वे केवल काम उपभोग के कारण जीते हैं।
११. वे केवल अपनी स्थापति के लिए जीते हैं और झूठ बोलते हैं।
१२. वे अपना झूठ बचाने के लिए सच बोलने वाले को दबाते हैं।

वे अपना मान और धन बचाने के लिए :

क) दूसरे को गिराते हैं।
ख) दूसरे पर दोषारोपण करते हैं।
ग) दूसरे को तंग करते हैं।

वे कृतघ्न, स्वार्थी, कठोर, छलकपट का आसरा लेने वाले तथा केवल आलोचना करने वाले होते हैं।

भाई ये सब पापी गण असुर होते हैं। यही राक्षस और खूनी होते हैं। भगवान कहते हैं, 'ऐसे लोगों को मैं बार बार आसुरी योनि में गिराता हूं, बार बार आसुरी योनि में जन्म देता हूं।'

ये असुर पुन: पुन: नव जन्मों में असुर संयोग ही पाते हैं।

अब समझ! जब भगवान कहते हैं, 'मैं इन्हें आसुरी योनि में गिराता हूं,' तो इससे क्या तात्पर्य है ?

देख! कर्मफल बीज जो बनता है, वह मानो :

१. सत् की अध्यक्षता में बनता है।
२. सत् के न्याय से बनता है।
३. पाप पुण्य का फल परम सत् के राही मिलता है।

यूं कहो जीव के कर्म की तुला गीता है, यानि,

– गीतामय जीवन है।

- गीता कथित जीवन है।
- गीता प्रतिपादित धर्म है।

या आप गीता की प्रतिमा हैं और गीता आपकी वाङ्मय प्रतिमा है, वरना आप सत् पथ से विमुख ही हैं।

यानि, न आप सत् स्थित हो और न ही सत् पथिक हो। गीता ही मानो भगवान कृष्ण हैं। गीता ही मानो भगवान कृष्ण का वाङ्मय दर्शन है। गीता ही सत् है। गीता राही ही तुलकर मानो जीव को कर्म फल मिलता है।

गीता में ही ब्रह्म का,

१. स्वभाव प्रतिपादित है।
२. स्वरूप प्रतिपादित है।
३. धर्म प्रतिपादित है।
४. विधान प्रतिपादित है।
५. मूल तत्त्व प्रतिपादित है।
६. शासन प्रणाली वर्णित है।
७. जीवन में निश्चित नियम धर्म की प्रदर्शनी है।
८. न्याय शास्त्र है।
९. संविधान सम्बन्धी रचना है।

यानि, गीता में ही ब्रह्म का कानून है। गीता ही वह सत् है, जिससे जीव का जीवन तोला जाता है। इस नाते कह लो, कृष्ण तत्त्व ही कर्म फल प्रदान करता है।

उस परम सत् से न्याय पाकर, परम आत्म की अध्यक्षता में कर्मफल रूप बीज पुनः विभिन्न योनियां पाते हैं। यानि, जीव, जैसा कर्म करते हैं, वैसा फल पा लेते हैं। इस कर्म चक्र को सत् कैसे रचता है, यह पहले ही कहकर आये हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

अब भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष,
२. जन्म जन्म में आसुरी योनियों को प्राप्त हुए,
३. मेरे को न प्राप्त होकर,
४. उससे भी अति नीच गति को पाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

असुर कौन हैं ?

नन्हीं! सर्वप्रथम यह जान ले कि,

क) ये आसुरी लोग जीव ही होते हैं।
ख) ये असुर लोग साधारण इन्सान ही होते हैं।
ग) असुरत्व गुणों की बात है।
घ) दुराचारी असुर ही होते हैं।
ङ) कामना परायण लोग असुर ही होते हैं।
च) दम्भपूर्ण लोग असुर ही होते हैं।
छ) मिथ्याचारी लोग असुर ही होते हैं।
ज) निन्दक लोग दूसरों का मान हरने वाले असुर ही होते हैं।
झ) अहंकार पूर्ण लोग नित्य दूसरों को

दबाने वाले असुर ही होते हैं।

ञ) क्रोध परायणता असुरों का गुण है।

ट) जग नाशक तथा जीव विनाशक लोग असुर ही होते हैं।

ठ) नित्य कर्त्तव्यविमुख रहने वाले लोग असुर ही होते हैं।

ड) देश विद्रोही गण असुर ही होते हैं।

ढ) नन्हूं जान! जो केवल अपनी रुचि के पीछे जाते हैं और अपनी रुचि पूर्ति करने के लिए राहों में जो भी आये, उसे तोड़ते या ठुकराते हैं, वे असुर ही बन जाते हैं।

ण) केवल अपने आपको ही श्रेष्ठ मानने वाले अन्धे तथा यतीम असुर ही होते हैं।

त) असुर लोग धोखेबाज़ होते हैं।

थ) असुर लोग औरों को दुःख देने वाले दुराचारी होते हैं।

द) असुर लोग निर्लज्ज, घृणा करने वाले तथा निन्दक होते हैं।

नन्हूं! इसे यूं समझ लो कि एक तो इनमें बुरे गुण होते हैं यानि ये लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार पूर्ण गुणों से भरे हुए होते हैं, ऊपर से ये :

१. अपने गुणों को छुपाने का प्रयत्न करते हैं।
२. अपने गुणों का दुरुपयोग करते हैं।
३. अपने दुर्गुणों को छिपाते हुए, अपने आपको और भी श्रेष्ठ दर्शाते हैं।
४. निर्लज्ज हो जाते हैं और दूसरों को भी तबाह करते हैं।
५. इन गुणों के कारण इन्हें झुक जाना चाहिए था, किन्तु ये और भी अकड़ जाते हैं।
६. अपने दुर्गुणों के कारण, इन्हें लोगों के दुर्गुण सहने आ जाने चाहिएं थे, परन्तु ये लोगों को और भी निकृष्ट समझने लगते हैं। अपने ही गुण जब दूसरों में इनके सामने आयें तो ये लड़ने लगते हैं।

नन्हूं!

क) बुरे ये स्वयं होते हैं, बुरा दूसरों को कहते हैं।

ख) बदमाश ये स्वयं होते हैं, बदमाश औरों को कहते हैं।

ग) ये स्वयं व्यभिचारी होते हैं और दूसरों को भी व्यभिचारी बनाना चाहते हैं।

ऐसे लोगों को दूसरों को गिराकर :

- निहित मज़ा आता है।
- सान्त्वना मिलती है।
- एक अजीब किस्म का चैन मिलता है।

ऐसे लोग अपने से श्रेष्ठ लोगों के मानो दुश्मन हो जाते हैं। एक तो वैसे ही ये आसुरी गुण बुरे होते हैं, ऊपर से उन गुणों का ये लोग दुरुपयोग करते हैं। फिर अपने आपको ये मिथ्या सिद्धान्तों के द्वारा दोष विमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये औरों को गिराते और दुःखी करते हैं, इस कारण इनको और भी नीच योनियां मिलती हैं और इनका पतन हो जाता है।

नन्हीं! 'योनि' गर्भ को कहते हैं, जहां से नव जन्म होता है।

जन्म मरण :

यह जन्म केवल स्थूल जन्म ही नहीं समझ लेना चाहिए। त्रैस्तर पर जन्म होता ही रहता है, यानि :

१. बुद्धि पर नित्य नव आवरण जो पड़ते रहते हैं, उन आवरणों का भी मानो जन्म होता है।
२. मन में भी नित्य नव वृत्तियों का जन्म व मृत्यु होती रहती है।
३. कर्म प्रणाली में भी नित. नव क्रिया प्रणालियों का जन्म व मृत्यु होती रहती है।
४. रुचि, अरुचि, ज्ञान, अज्ञान इत्यादि का भी जन्म मरण होता रहता है।

दो गुणों के मिलने से नव गुण उत्पन्न हो जाते हैं। एक के गुण दूसरे के गुणों को प्रभावित करते हैं और जो प्रभावित हो जाये, उसमें कोई नव गुण उत्पन्न हो जाता है। वह गुण प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, यह दूसरी बात है।

असुरत्व गुण पूर्ण लोग, दिनों दिन नीचे की ओर गिरते जाते हैं। वे दिनों दिन और अधम बनते जाते हैं।

नन्हूं! ये सम्पूर्ण योनियां आपके गुणों पर आधारित हैं और सम्पूर्ण योनियां जीव की ही होती हैं।

असुरत्व और देवत्व :

सत्य अभिलाषिणी, सत्य चाहुक नन्हूं!

क) असुरत्व या देवत्व मनोस्थिति पर आधारित है।
ख) असुरत्व या देवत्व आपके निहित दृष्टिकोण पर आधारित है।
ग) असुरत्व या देवत्व कार्य प्रवृत्ति या निवृत्ति की इतनी बात नहीं, जितनी कि इनके पीछे आपकी प्रेरक चाहना और प्रेरक शक्ति के कारण रूप और गुण की बात है, जिस पर कर्म आधारित हैं।
घ) आपके दूसरों के प्रति दृष्टिकोण पर आधारित हैं।

अहंकार पूर्ण आसुरी गुण औरों को तबाह करना चाहते हैं। यदि अहंकार रहित में ये गुण हों तो वह इन्हें औरों के हित तथा औरों की स्थापना के लिए इस्तेमाल करेगा।

नन्हूं! इन्सान जीते जी ही आसुरी योनि को और परिपक्व करता जाता है, फिर जन्म जन्म में तो वह गिरता ही जायेगा।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

अब भगवान अर्जुन को आसुरी सम्पदा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. काम, क्रोध तथा लोभ, तीनों नरक के द्वार हैं;

२. (और) आत्मा का नाश करने वाले हैं,

३. इसलिए इन तीनों को छोड़ देना चाहिए।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! भगवान यहां काम, क्रोध और लोभ को नरक के द्वार कहते हैं।

भगवान ने इन्हें :

क) महा पापी गुण कहा है। (३/३७)

ख) महा वैरी कहा है। (३/३७)

ग) भोगी, किन्तु नित्य अतृप्त रहने वाला कहा है। (३/३७)

ये गुण ही,

१. असुरत्व की नींव होते हैं।

२. असुरत्व का वर्धन करने वाले होते हैं।

३. जीव से महा पाप करवाते हैं।

४. जीव का महा पतन करवाते हैं।

*** काम :**

काम को पुन: समझ ले :

१. किसी भी विषय से अनुराग काम है।

२. अभीष्ट पदार्थ की रुचि को काम कहते हैं।

३. अभीष्ट पदार्थ की आकांक्षा को काम कहते हैं।

४. किसी भी विषय के उपभोग में अभिरुचि को काम कहते हैं।

५. किसी अर्थ के पाने के मनोरथ को काम कहते हैं।

नन्हूं! यह कामना स्थूल या सूक्ष्म, कोई भी हो सकती है। यह कामना:

क) विषयों की भी हो सकती है।

ख) विषयों राही उपलब्ध सुख की भी हो सकती है।

ग) विषयों राही उपलब्ध गुण की भी हो सकती है।

घ) विषयों राही मान की भी हो सकती है।

ङ) विषयों के उपभोग की भी हो सकती है।

फिर, 'काम' अहं का दास है।

१. काम केवल अपने तन के उपभोग के लिए ही किसी विषय को चाहता है।

२. काम केवल इन्द्रियों की रसना पूर्ति की चाहना को कहते हैं।

३. काम जीव को अन्धा बना देता है। यह काम ही राग का दूसरा नाम है। यह काम ही द्वेष को भी उत्पन्न करता है।

४. कामना सूक्ष्म की हो, चाहे स्थूल की हो, यह तबाह ही करती है।

भाई! हर रुचि, हर चाहना, जो भी हो, यह कामना ही है।

लोभ :

क) लोभ तब होता है, जब विषय संग्रह की चाह उठ जाये।

ख) गर विषय मिलें पर अतृप्ति बढ़े, तब अपने वांछित विषयों को इकट्ठा करने की चाहना लोभ है।

---

* विस्तार के लिए ३/३७ देखिये।

ग) जितना मिले, उतनी प्यास और बढ़ती है; यह प्यास ही लोभ है।
घ) इतनी प्यास बढ़े कि अन्धा बना दे, यह लोभ के कारण होता है।
ङ) इतनी प्यास बढ़े कि सत्यता को भूल जाये, यह लोभ के कारण होता है।
च) इतनी प्यास बढ़े कि उचित अनुचित भूल जाये, यह लोभ के कारण होता है।
छ) कर्त्तव्य विमुखता, सौन्दर्य पूर्ण गुणों का वर्जन, इन्सानियत का वर्जन तथा दैवी गुणों का वर्जन, लोभ के कारण ही होता है।

*** क्रोध :**

१. क्रोध तब उठता है, जब:
   - कामना तो उठे पर उसकी पूर्ति में विघ्न आ जायें।
   - बुद्धि पूर्ण रूप से अन्धी हो जाये।
   - कामना पूर्ति की विधि समझ न आये और मूर्ख मन रोंद मारने लगे।
२. अपने बचाव का मूर्खता पूर्ण तरीका क्रोध है।
३. वांछित फल पाने का मूर्खों का तरीका क्रोध है।
४. दूसरों के प्रति अन्धेपन से पूर्ण मानसिक उत्तेजना क्रोध है।
५. अपनी हार मानने का अन्धा तरीका क्रोध है।
६. अपनी बेसमझी के छिपाव का मूर्खता पूर्ण तरीका क्रोध है।
७. क्रोध बुद्धिहीनता का प्रमाण है।
८. हारे हुए का मूर्खता पूर्ण जीतने का तरीका क्रोध है।
९. न्यून जीव की अपने आपको श्रेष्ठ साबित करने की मूर्खता पूर्ण विधि क्रोध है।
१०. जब हकीकत का सामना करना कठिन हो तो मूर्ख की अपरिपक्व मानसिक अवस्था का परिणाम क्रोध है।
११. अप्रौढ़ बुद्धि का प्रमाण क्रोध है।

भाई! एक प्रकार के पागलपन का दूसरा नाम क्रोध है। जो थोड़ी सी बुद्धि बची है, यह पागलपन, उसे भी ख़त्म कर देता है।

- अपनी ज़िम्मेवारी से मुख मोड़ने की विधि भी क्रोध है।
- कमज़ोर इन्सान का बल क्रोध है।
- अज्ञानी का प्रहार क्रोध है।
- अहंकार और दर्प का रूप क्रोध है।
- क्रोध अन्धे की ज़ुबान है।
- क्रोध अन्धे का अन्धापन है।
- क्रोध मानसिक भीरुता की निशानी है।
- क्रोध बुद्धि की कायरता है।

शरीर की आयु चाहे जितनी भी बड़ी हो परन्तु क्रोधी मानसिक स्तर पर बच्चे ही होते हैं। यूं कह लो, क्रोधी की शारीरिक आयु बढ़ती है, स्थूल में कमाने की शक्ति भी बढ़ती है, परन्तु मनो स्थिति तथा मनो अवस्था बच्चे के समान ही रह जाती है।

---

* विस्तार के लिए ३/३७, १६/२, ४ देखिये।

क) रुचि, अरुचि में बंधे रहे, उचित, अनुचित न समझ सके।
ख) अपने हक तो समझ गये, दूसरे के हक न समझ सके।
ग) 'मैं श्रेष्ठ हूं', यह तो समझ गये, दूसरे भी श्रेष्ठ हैं, यह न समझ सके।
घ) 'मैं इन्सान हूं', यह तो समझ गये, दूसरे भी इन्सान हैं, यह न समझ सके।

'मैं' का प्रधान हो जाना ही जीव को अन्धा बना देता है।

भगवान कहते हैं, भाई! कामना से लोभ उठता है लोभ से क्रोध उठता है और क्रोध से अन्धापन हो जाता है। पूर्ण पाप इसके कारण होते हैं। ये सब ही नरक के द्वार हैं और त्याज्य हैं। इन्हें छोड़ दे, क्योंकि :

१. ये गुण ही आत्म हनन का कारण हैं।
२. ये गुण सत् से दूर करने वाले हैं।
३. ये गुण परम गुण से दूर करने वाले हैं।
४. ये गुण मिथ्यात्व गुण वर्धनकर हैं।
५. ये गुण भगवान के गुणों के विरोधी गुण हैं।
६. ये संग, मोह और अज्ञान वर्धक गुण हैं।
७. ये स्वरूप से दूर करने वाले गुण हैं।
८. ये अपने आपको गिराने वाले गुण हैं।
९. ये बुद्धि विनाशक गुण हैं।

इसलिए कहते हैं, इन गुणों को छोड़ दे।

नन्हूं! जीव क्रोध का अभ्यास अपने घर में शुरु करता है। जब वह दूसरे से अपनी रुचि पूर्ण करवाना चाहता है तो वह क्रोध करता है। मां बाप बच्चे को शान्त करने के लिए उसके क्रोध के कारण को दूर करना चाहते हैं और उसको वांछित विषय दे देते हैं। जब बच्चा बार बार क्रोध करके अपने रुचिकर विषय को पा लेता है, यह ही क्रोध के अभ्यास की नींव है। नन्हीं! क्रोध केवल अपने को प्यार करने वालों पर ही किया जाता है। क्रोध से सर्वप्रथम मां बाप झुकते हैं और अपने बच्चे की बात मान लेते हैं। फिर आपके भाई, बहिन झुकते हैं और आपकी बात मान लेते हैं। फिर आपके आश्रित लोग झुकते हैं और आप की बात मान लेते हैं। यही क्रोध के जन्म तथा वर्धन का पलना है।

क्रोधी :

क) अपने घर में क्रोध करते हैं और अपने घर वालों को दु:खी करते हैं।
ख) अपने नौकरों पर क्रोध करते हैं और अपने चाकरों को दु:खी करते हैं।
ग) अपने आश्रित गण, यानि बच्चों तथा पत्नी या पति पर क्रोध करते हैं और उन्हें दु:खी बना देते हैं।

नन्हूं! यह क्रोध ही महा दु:ख का कारण है। यह क्रोध ही जीव को इन्सान से हैवान बना देता है। क्रोध ही जीव को,

क) अन्धा बना देता है।
ख) कर्त्तव्य विमुख कर देता है।
ग) सम्पूर्ण दैवी गुणों से वंचित कर देता है।

फिर क्रोधी को जीवन में सुख तो कभी मिल ही नहीं सकता। सुख का स्थान अपना घर होता है और क्रोधी अपने क्रोध से उस घर को जला देता है। जिन लोगों से आप प्यार चाहते हैं, उनके मन को भी आपका क्रोध जला देता है।

- दु:ख का सबसे बड़ा सहयोगी क्रोध है।
- जीव का सबसे बड़ा दुश्मन क्रोध है।
- नरक का सबके बड़ा द्वार क्रोध है।

फिर नन्हूं! काम ही वह कारण है जो क्रोध को जन्म देता है। अपनी कामना पूरी करने के लिए ही तो जीव क्रोध करता है। काम से ही इन्सान दूसरों को दबाना चाहता है। काम के कारण ही इन्सान अन्धा होने लगता है। फिर लोभ भी कामना पूर्ति करने वाले विषय को अपने अधिकार में रखने की चाहना ही तो है।

वास्तव में देखा जाये तो :

१. अहं का प्रथम कर्म इन तीनों को जन्म देता है।
२. अहं का प्रथम कार्य जीव को व्यक्तिगत करके उसमें व्यक्तिगत कामना उत्पन्न करना है।
३. जब कामना पूर्ण नहीं होती तो वह क्रोध करता है।
४. जब कामना कभी पूरी होती है और कभी पूरी नहीं होती तब वह जीव कामना को पूरा करने वाले विषय का लोभ करता है और उस कामना को पूरा करने वाले विषय को अपने काबू में रखना चाहता है।

नन्हूं! सर्व प्रथम जब जीवात्मा तन से संग करता है तो अहं का जन्म होता है। अहं सर्वप्रथम तन के लिए कामना को उत्पन्न करता है। कामना, लोभ और क्रोध को जन्म देती है। फिर ये सब मिलकर जीव के लिए नरक बनाते हैं।

वास्तव में यह नरक उनके अपने लिए बन जाता है। अपना नाश तो ये करते हैं, ये दूसरों का भी नाश कर देते हैं, इसलिए ये त्याज्य हैं।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

अब भगवान काम, क्रोध तथा लोभ के त्याग का फल कहते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! तम के इन तीनों द्वारों से छूटा हुआ,
२. पुरुष अपने कल्याण का आचरण करता है।
३. फिर वह परम गति को प्राप्त होता है।

तत्त्व विस्तार :

सत्य अभिलाषिणी नन्हीं आभा!

भगवान ने काम, क्रोध और लोभ को तम के द्वार कहा है।

तम :

क) तम वह चादर है जो सत्त्व को छिपा देती है।
ख) तम वह आवरण है जो सत्य को देखने नहीं देता।
ग) तम वह आवरण है जो गुणों को विकृत कर देता है।
घ) तम वह आवरण है जिसके कारण जीव की बुद्धि काम नहीं करती।
- तम ही देहात्म बुद्धि को जन्म देता है।
- तम ही जीव को देह के तद्‌रूप कर देता है।

नन्हूं! तम के जन्म के बाद ही रजो गुण का वर्धन होता है, और रजोगुण के बढ़ने पर तमोगुण और बढ़ जाता है। तम के द्वार से ही काम, क्रोध और लोभ निकलते हैं और बढ़ते हैं।

भगवान कहते हैं, 'यदि ये तम के द्वार बन्द हो जायें तो मनुष्य अपने कल्याणमय पथ का आचरण करेगा। तब वह स्वतः श्रेयपथ का आचरण करेगा। क्योंकि नन्हीं जान!

यदि जीव में काम, क्रोध और लोभ न हों तो :

१. नरक के द्वार स्वतः बन्द हो जाते हैं।
२. क्रूर कर्म स्वतः बन्द हो जाते हैं।
३. मिथ्यात्व पूर्ण आचरण स्वतः बन्द हो जाते हैं।
४. सकाम कर्म, अहं प्रेरित कर्म, घृणा द्वेष और अत्याचार करने का कारण ही नहीं रहेगा।
५. अन्याय, किसी के प्रति वैमनस्य और किसी को धोखा देने का कारण ही नहीं रहेगा।
६. अवास्तविकता में रमण बन्द हो जायेगा।

नन्हूं! वास्तव में, असुरत्व पूर्ण व्यवहार की नींव ये तम के द्वार काम, क्रोध और लोभ ही हैं। यदि काम, क्रोध और लोभ न रहें तो देवत्व स्वतः सिद्ध हो जायेगा। सतोगुण, काम, क्रोध और लोभ के कारण डूबता है।

काम ही बीज है असुरत्व का, निष्कामता ही बीज है देवत्व का। काम न रहे तो कर्म निष्काम हो जाते हैं। निष्काम कर्म ही तो,

क) श्रेय पथ है।
ख) परम मिलन का पथ है।
ग) यज्ञमय पथ है।
घ) कर्त्तव्य प्रधान कर्म है।
ङ) परम के अपने कर्म हैं।
च) यज्ञ रूप हैं।

कोई कामना ही न रही तो :
- पूजा भी निष्काम हो जायेगी।
- ज्ञान भी निष्काम हो जायेगा।
- कर्म भी निष्काम हो जायेंगे।

तब ही तो जीव जो भी ज्ञान पायेगा, तत्काल विज्ञान में परिणित हो जायेगा। या यूं कह लो, ज्ञान के मिलते ही, ज्ञान के

समक्ष आते ही जीव उसे जीवन में ला सकेगा। तब जीव इक पल में उसकी प्रतिमा बन जायेगा। परम गति तो तब वह पा ही लेगा।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्याग कर
२. कामना के कारण वर्तते हैं,
३. वे न सिद्धि पाते हैं, न परम गति पाते हैं और न ही सुख पाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं जान!

'शास्त्र विधि त्याग' का अभिप्राय प्रथम समझ ले। यानि, जो शास्त्र कथित,

१. आदेश का, जीवन नियमों का, प्रशिक्षण का, उल्लंघन करते हैं,
२. प्रशिक्षण को यथार्थ न समझ कर, उसके विपरीत आचरण करते हैं,
३. प्रशिक्षण को अनुचित अर्थ देकर वर्तते हैं,
४. तत्त्व ज्ञान न जानते हुए, जीवन व्यतीत करते हैं,
५. कर्त्तव्य और कर्म राज़ न जानते हुए जीवन में वर्तते हैं।
६. सत् असत् पर चित्त न धरते हुए, जीवन में विचरते हैं,
७. आदेश भूलकर अपनी अपनी कामना का चाकर बनकर विचरते हैं,

वे लोग न सिद्धि पाते हैं और न परम गति; न ही वे सुख पाते हैं।

जन्म मरण कर्म चक्र तुला :

पुनः समझ! शास्त्र का अर्थ ही,

क) आदेश है।
ख) जीवन नियम है।
ग) जीवन का कानून है।
घ) जीवन का धर्म है।
ङ) जीवन की प्रणाली है।
च) ब्रह्म का न्याय शास्त्र है।

देख! ज्यों आगे भी कह आये हैं,

- जीव के कर्म की तुला भी शास्त्र ही होता है।
- कर्म फल, शास्त्र कथित सिद्धान्तों पर आधारित होता है।
- जीव के कर्म शास्त्र कथित विधान से तोले जाते हैं; तत्पश्चात् जीव को कर्मफल मिलता है।
- शास्त्रों में श्रेय पथ प्रदर्शित होता है।
- शास्त्रों में श्रेय मार्ग अनुयायी की बातें होती हैं।
- जीवन में उत्तरायण की ओर जाने की विधि उनमें कही होती है।

- जीवन में प्राप्तव्य परम गुण शास्त्रों में वर्णित होते हैं।
- जीवन में त्याज्य आसुरी गुण शास्त्रों में विवृत होते हैं।
- परम गुण पाने की विधि भी शास्त्र ही बताते हैं। यानि,

१. सत् असत् विवेक,
२. गुण विवेक,
३. जड़ चेतन विवेक,
४. स्थित प्रज्ञ स्वरूप विवेक,
५. तन तथा आत्म विवेक,
६. कर्म, कर्त्तव्य, यज्ञ, विवेक,
७. ज्ञान, अज्ञान तथा विज्ञान विवेक,
शास्त्रों में निहित होता है।

ये सब कहकर, शास्त्र ही परम में विज्ञानमय स्थिति पानें के पथ भी कहते हैं।

वास्तव में शास्त्र जीवन में,
क) अलौकिक दृष्टिकोण की बात कहते हैं।
ख) परम के साक्षित्व की बात कहते हैं।
ग) गुण वर्तन की बात कहते हैं।
घ) राम के समान जीवन की विधि की बात कहते हैं।
ङ) श्याम के समान जीवन की विधि की बात कहते हैं।
च) राम, कृष्ण, ईसा मसीह, नानक, मुहम्मद के समान जीवन की विधि की बात कहते हैं।

भगवान यह कहते हैं, 'जो जीव शास्त्र कथित परम विधान का उल्लंघन करते हैं, वे सिद्धि नहीं पाते' यानि, उन लोगों की,
१. भलाई नहीं होती।
२. समृद्धि नहीं होती।
३. प्रतिष्ठा नहीं होती।
४. सम्पूर्ति नहीं होती।
५. जीवन सफल नहीं होता।
६. जीवन सारांश सफलता नहीं पाता।

वे लोग तत्त्व ज्ञान नहीं पाते जीवन भर। न ही वे परम गति पाते हैं और न ही वे मोक्ष पाते हैं। वे जीवन से मुक्त नहीं होते और न ही जीवन में चैन पाते हैं। भाई! सिद्धि और परम गति तो दूर रही, वे तो सुख भी नहीं पाते! सच ही तो है :
क) आसुरी सम्पदा पूर्ण लोग सुख क्या पायेंगे ?
ख) पर आश्रित लोग सुख क्या पायेंगे ?
ग) हर पल काम, उपभोग, लोभ और क्रोध पूर्ण लोग सुख क्या पायेंगे ?
घ) दूसरे को इन्सान न मानने वाले अन्धे सुख क्या पायेंगे ?
ङ) जो प्रेम, दया, क्षमा, सहानुभूति से वंचित हों, वे सुख क्या पायेंगे ?

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन! तू देख ले।

शब्दार्थ :

१. इसलिए, तेरे इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्याख्या में,
२. 'शास्त्र ही प्रमाण हैं', ऐसा जानकर,
३. शास्त्र में विधान किए हुए कर्म ही करने योग्य हैं।'

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं देख! भगवान :

१. आदेश दे रहे हैं।
२. आज्ञा दे रहे हैं।
३. मना कर कहते हैं।
४. समझा कर कहते हैं।
५. प्रमाण सहित कहते हैं।
६. पूर्ण विचार और पूर्ण वाक् स्पष्टता से कहते हैं।
७. असत् सत् दर्शा कर कहते हैं।

आसुरी और दैवी सम्पदा बताकर भगवान स्वयं ही कहते हैं, 'अर्जुन! शास्त्र कथित तथा शास्त्र वर्णित जीवन विधान का अनुसरण कर!

यानि,

क) जीवन में करने योग्य कर्म कर।
ख) शास्त्र कथित कर्म ही तेरा कर्त्तव्य है।
ग) शास्त्र को ही अपनी दृष्टि बना और शास्त्र राही अपने आपको देख।
घ) शास्त्र से ही अपना दृष्टिकोण रंग ले।
ङ) शास्त्र से तुलते हुए कर्म कर।
च) तुम्हारा जीवन प्रवाह शास्त्र निरूपित प्रवाह होना चाहिए।
- शास्त्र जीवन का ही नाम है।
- गीता ज्ञान नहीं, जीवन है।

बाईबल, गुरु ग्रन्थ साहिब, कुरान और वेद पुराण इत्यादि ज्ञान नहीं, जीवन हैं।

भाई! इन्हें जीवन में ले आओ, इन्हीं की प्रतिमा बन जाओ!

भगवान यही कह रहे हैं यहां, यही तुम्हारा कर्त्तव्य है।

जीव का कर्त्तव्य :

जीव के कर्म की तुला गर गीता है, जीव के कर्मों का न्याय करने वाली गर गीता है, तो जीव का कर्त्तव्य क्या होगा ?

शास्त्र अनुकूल जीवन ही कर्त्तव्य है। गर जीवन शास्त्र अनुकूल नहीं तो जीवन धर्म विरुद्ध है। धर्म विरुद्ध जीवन ही कर्त्तव्य विहीन जीवन है।

गीता कथित कर्त्तव्य क्या होगा, उसका मूल क्या होगा, इसे समझ लेना चाहिए। यह समझने के प्रयत्न करो कि गीता कथित कर्त्तव्य करने के लिए मौलिक दृष्टि, गुण और बुद्धि कैसी होनी चाहिए ?

यह सब, जो आप अभी तक पढ़ कर आये हैं, उसे समझ लें! जीवन में

व्यवहारिक स्तर पर कर्त्तव्य करने के लिए भी गीता के आदेश का अक्षरश: अनुसरण करना अनिवार्य है। गीता ने आपको अभी तक क्या कहा है, उसे फिर समझ लो!

गीता सारांश :

भगवान कहते हैं :

१. आत्मवान् बनने के प्रयत्न करो!
२. योग युक्त होने के प्रयत्न करो।
३. योग राही परम से समत्व पायेगा।
४. स्थित प्रज्ञ बनने के प्रयत्न करो।
५. यज्ञमय कर्म करो।
६. कर्म करो पर फल की चाहना छोड़ दो।
७. संग छोड़ दो और कामना रहित हो जाओ।
८. समदर्शी हो जाओ।
९. क्रोध, लोभ, द्वेष को छोड़ दो।
१०. सर्वसंकल्प परित्यागी हो जाओ।
११. मान, अपमान, सुख, दु:ख में सम रहना सीख लो।
१२. मित्र वैरी के प्रति समभाव वाले हो जाओ और निष्काम कर्म करना सीख लो।
१३. ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम जीव है, तुम भी वही बनो।
१४. निरन्तर भगवान की शरण में रहना सीख लो।
१५. निरन्तर भगवान के साक्षित्व में रहना और निरन्तर उनका स्मरण करना सीख लो।
१६. सनातन परम पद को लक्ष्य बना लो।
१७. अनन्य भक्ति द्वारा उसे पा सकते हैं, इस कारण अनन्य भक्त बनो।
१८. केवल भगवान में चित्त टिकाने का प्रयत्न करो।
१९. दैवी गुणों का अभ्यास करो और भगवान के लिए जीना सीखो।
२०. सर्वभूतों के प्रति निर्वैर बनने के प्रयत्न करो।
२१. निर्मम, निरहंकार और क्षमावान् बनने के प्रयत्न करो।
२२. नित्य संतुष्ट हो जाओ।
२३. पुन: पुन: दैवी गुण की कहते हैं, इन्हें अपने में लाने का अभ्यास करो।
२४. औरों पर अधिकार न जमाओ, उन्हें स्वतंत्र रहने दो।
२५. औरों की मान्यता भंग न करो।
२६. सर्वभूत हितकर बनो और यह जान लो कि गुण गुणों में वर्तते हैं।
२७. अपनी बुद्धि को दूसरों के गुणों से या अपने गुणों से प्रभावित न होने दो।
२८. मोह को छोड़ दो और सत् में श्रद्धा रखो।
२९. भगवान के समान, परम धर्म वाले बनो।

कर्त्तव्य विवेक याचिका नन्हूं!

क) यही हर जीव का कर्त्तव्य है।
ख) यही हर जीव की तुला है।
ग) यही भगवान का स्वरूप और रूप है।
घ) यही ब्रह्म का विधान है और इसे ही जीवन में लाना चाहिए।
ङ) यही जीवन में प्राप्तव्य है और यही बनने की विधि ज्ञातव्य है।
च) यही अध्यात्म है।

अन्य सब अज्ञान है और कर्त्तव्य विहीन है। बिन ये गुण पाये कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता। कर्त्तव्य दूसरे के लिए होता है। कर्त्तव्य भगवान का जीवन है। कर्त्तव्य ही सेवा और प्यार है। सब शास्त्र हमें जीवन कर्त्तव्य ही बताते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे दैवासुरसंपद् विभागयोगोनाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन पूछते हैं भगवान श्रीकृष्ण से,

शब्दार्थ :

१. जो पुरुष शास्त्र विधि त्यागकर,
२. श्रद्धा से युक्त हुए पूजा करते हैं,
३. हे कृष्ण! उनकी निष्ठा कौन सी है- सात्त्विक, राजसिक या तामसिक?

तत्त्व विस्तार :

भगवान ने १६/२४ में कहा था कि,

क) कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में शास्त्र प्रमाण हैं।
ख) शास्त्र में विधान किए हुए कर्म ही करने योग्य हैं।

अर्जुन पूछते हैं कि अनेकों लोग बहुत श्रद्धा से पूजा करते हैं किन्तु वे शास्त्र विधि को नहीं जानते, क्या वे गलत हैं ?

शास्त्र विधि रहित पूजन :

विभिन्न लोग, विभिन्न ढंग से पूजा करते हैं भगवान की! बहुत श्रद्धा होते हुए भी उनकी :

क) साधना विधि में भेद होता है।
ख) दृष्टिकोण में भेद होता है।
ग) जीवन प्रणाली में भेद हो जाता है।
घ) समझ में भी भेद हो जाता है।

पूजा तो यह सब श्रद्धा से ही करते हैं। साधक साधना करता है, तो श्रद्धा से ही करता है। वह देवी, देवता , भगवान या ब्रह्म की उपासना तो श्रद्धा से ही करता है; परन्तु, क्योंकि भगवान ने कहा है कि शास्त्र में विधान किए हुए कर्म ही करने योग्य हैं और शास्त्र में विधान की हुई विधि का अनुसरण करना चाहिए, इस कारण यह प्रश्न उठता है कि, 'यदि श्रद्धा हो और पूजा हो, परन्तु शास्त्र विधि अनुकूल न हो, तो यह श्रद्धा कैसी हुई; सात्त्विक, राजसिक या तामसिक ?'

मेरी जान! एक बात समझ ले।

१. श्रद्धा से दृष्टिकोण बदलना है।
२. श्रद्धा से भाव बदलना है।
३. श्रद्धा से जीव परम गुण उपासक बनता है।
४. श्रद्धा से जीव परम गुण याचक बनता है।
५. श्रद्धा से जीव नित्य परम गुण का चाकर बनता है।
६. श्रद्धा से जीव परम गुण पूर्ण जीवों का नौकर बनता है।

७. श्रद्धा से जीव अपने में परम गुण लाता है।
८. श्रद्धा से जीव अपने आपको भूल कर दूसरे के लिए जीना सीखता है।
९. श्रद्धा से जीव का जीवन यज्ञमय बनता है।
१०. श्रद्धा राही जीव निष्काम कर्म पद्धति का अनुसरण करता है।

श्रद्धा को,
- जीव का जीवन की ओर दृष्टिकोण कह लो।
- जीव का दूसरे जीवों की ओर दृष्टिकोण कह लो।
- जीव का वास्तविक स्वरूप कह लो।

किन्तु यह श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है, सात्त्विक, राजसिक, तथा तामसिक।

अर्जुन पूछते हैं, 'जो पुरुष शास्त्र विधि त्याग कर, श्रद्धायुक्त होकर पूजन करते हैं, वह कैसा पूजन होता है ?'

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु॥ २॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन सुन!

शब्दार्थ :

१. मनुष्यों की,
२. स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा,
३. सात्त्विक, राजसिक, और तामसिक,
४. ऐसे तीन प्रकार की होती है;
५. (अब) इसको सुन।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, जीव की स्वाभाविक श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। प्रथम समझ, श्रद्धा किसे कहते हैं ?

श्रद्धा :

क) दृढ़ निष्ठा को श्रद्धा कहते हैं।
ख) प्रबल, उत्कृष्ट आदर को श्रद्धा कहते हैं।
ग) जिसे जीव अपना प्राप्तव्य मानता है, यह श्रेष्ठता देने की भावना श्रद्धा है।
घ) किसी गुण से ऐसा संग हो कि आप पर उसका रंग चढ़ जाये, यह श्रद्धा का परिणाम है।
ङ) जिसे पाने के लिए जीव चाकरी करता है, उसकी वहीं पर श्रद्धा है।
च) जीव केवल जिसको ज्ञातव्य मानता है और उस ज्ञातव्य का गर जीवन में आह्वान करना चाहता है तो उसमें ही उसकी श्रद्धा है।
छ) वह दृढ़ विश्वास, जो आपके दृष्टिकोण से आप को काम में प्रेरित करता है।
ज) परम को पाने के लिए जिस भी पथ पर आपको दृढ़ विश्वास हो और जिसका आप अनुसरण करें, उस पथ

पर आप अपनी श्रद्धा मानिये।

झ) भाई! जिसमें श्रद्धा होती है, उसके गुण आप में आ ही जाते हैं। उन्हीं गुणों का आप जीवन में आसरा लेते हैं और उन्हीं गुणों को आप उपार्जित करना चाहते हैं।

ञ) जीवन में आप जिसको सत् मानते हैं, यानि, जिसे सत् मानकर आप अपने जीवन में इस्तेमाल करते हैं, वहीं आपकी श्रद्धा है।

श्रद्धा स्वभावजम है :

स्वभावजम, यानि :

१. यह श्रद्धा प्राकृतिक गुण है।
२. यह श्रद्धा कर्म फल अनुरूप पाते हैं।
३. शास्त्र तो इस श्रद्धा को परम की ओर खेंचते हैं और इस राही परम पद दिलवाते हैं।

वास्तव में, इस शास्त्र ज्ञान राही श्रद्धा भी,

- पावनता पाती है।
- सत्मय हो जाती है।
- तोली जाती है।
- परम पथ बन जाती है।

श्रद्धा का परिणाम :

नन्हूं! जहां श्रद्धा हो जाये, जीव उसे पाने के लिए हर कष्ट सहने को तैयार हो जाता है।

गर परम में श्रद्धा हो जाये तो साधना रंग लाती है। परम में श्रद्धा का अर्थ है कि परम ही प्राप्तव्य है, ज्ञातव्य है, सत् है, पूर्ण है। साधक मानता है कि, 'यह मेरा तन परम का ही है, मेरा मन परम का ही है।' ऐसा मानना ही परम में श्रद्धा है। ऐसे सत् पथ अभिलाषी को गर भागवत् गुणों में सच्ची श्रद्धा होगी तो उसके :

क) कर्म निष्काम हो ही जायेंगे।
ख) पूजन, ज्ञान निष्काम हो ही जायेंगे।
ग) संग, मोह, मम और अहंकार का अभाव हो ही जायेगा।
घ) कर्तृत्व भाव का अभाव हो ही जायेगा।

सात्त्विक श्रद्धा :

भाई! यदि बुद्धिहीन की श्रद्धा देखो तो वह दु:खदे ही होती है। बुद्धि अधिक और श्रद्धा कम हो तो भी परम नहीं पा सकते।

१. बुद्धि तीक्ष्ण तथा दक्ष हो और साथ ही परम में श्रद्धा भी हो, तब ही परम मिलते हैं।
२. बुद्धि सावधान तथा मर्म जानने वाली हो और परम में श्रद्धा भी हो, तब परम मिलते हैं।
३. बुद्धि निष्पक्ष तथा निर्मल हो और भगवान में श्रद्धा व प्रेम हो, तब ही सत् से योग हो सकता है।

तब जीव शास्त्र को आदेश मान सकता है और परम पद पा सकता है।

बुद्धि श्रद्धापूर्ण नयनों से भगवान को देखे तो ही ज्ञानी भक्त का जन्म होता है।

राजसिक श्रद्धा :

भगवान कहते हैं, 'अर्जुन! श्रद्धा राजसिक भी होती है।' यानि, यहां लोभ

और कामना की पूर्ति चाहने वाले की श्रद्धा से तात्पर्य है। उग्र कामना की पूर्ति में निष्ठा रखने वाले की श्रद्धा राजसिक होती है।

१. ऐसे लोगों की श्रद्धा तो विषयों में होती है, पर पूजन भगवान का भी होता है।
२. यह दम्भ पूर्ण लोग, अभिमान वर्धन के कारण पूजन करते हैं।
३. भगवान की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए वे पूजन नहीं करते।

तामसिक श्रद्धा :

तमोगुणी श्रद्धा वाले तो सबको ही दुःख देते हैं।

क्यों न कहें कि वे जीते जी :

क) अपने बच्चों को यतीम बना देते हैं।
ख) अपने माता पिता को पुत्रहीन बना देते हैं।
ग) अपने पति को पत्नी रहित और पत्नी को पति रहित बना देते हैं। वे अपने को भी नाहक दुःख देते हैं, और धरती पर भी बोझ बन जाते हैं।

तामसिक श्रद्धा वाले :

१. लोगों को भी कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।
२. नियंत्रित नियमों के विरुद्ध वर्तते हैं।
३. संस्कृत मर्यादा का भी उल्लंघन करते हैं।
४. अध्यात्म के विरुद्ध कार्य कर्म करते हैं।

नन्हूं! श्रद्धा यदि तामसिक हो तो वह जीव को घोर अन्धकार की ओर ले जाती है। वह अपना संग छोड़ने की जगह जीव को संसार छोड़ने पर मजबूर कर देती है।

तामसिक श्रद्धा :

- जीव को अन्धा बनाती है।
- मूढ़ व्यक्ति का विश्वास है।
- अन्ध विश्वास को भी कहते हैं।
- भ्रमात्मक श्रद्धा को भी कहते हैं।

भगवान कहते हैं कि यह तीन प्रकार की श्रद्धा जीव को स्वभाव के अनुकूल मिलती है। यानि, जो श्रद्धा शास्त्रों से उत्पन्न नहीं हुई, ज्ञान और विवेक से उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि स्वभाव से उत्पन्न हुई है, वह तीनों गुणों से बधित होती है।

ज्ञान से उत्पन्न श्रद्धा :

ज्ञान से उत्पन्न श्रद्धा जीव को गुणातीत, ज्ञानी भक्त बना देती है।

नन्हूं! ऐसी श्रद्धा वाले को :

१. आत्मा में विश्वास है।
२. 'मैं तन नहीं हूं, मैं आत्मा हूं,', इसमें अगाध विश्वास है।
३. 'यह मन मैं नहीं हूं और मन के दुःख मेरे नहीं हैं', इसमें अगाध विश्वास है।
४. 'यह बुद्धि मेरे लिए नहीं है', इसमें अगाध विश्वास है।

मेरी जाने जान! गुणातीत ज्ञानी की श्रद्धा :

क) स्वभावजम नहीं है, विवेक जम है।
ख) आत्म प्रेम का प्रसाद रूप है।
ग) किसी के गुणों के कारण नहीं होती।

साधारण जीवों की श्रद्धा उनके स्वभाव अनुकूल होती है। अधिकांश जीव अपने

स्वभाव को ही उचित तथा ठीक मानते हैं और अपनी रुचि के पीछे जाते हैं। जैसा उनका स्वभाव होता है, वैसी ही उनकी रुचि बनती जाती है और रुचि वर्धन करते करते स्वभाव परिपक्व होता जाता है। जो लोग अपने गुण बधित त्रिगुणात्मक स्वभाव को ही उचित मानते हैं, वे अपनी मनोमान्यता अनुकूल ही श्रद्धा वाले होते हैं।

मान्यता अनुकूल श्रद्धा :

१. कर्मों से संग करने वाले लोग कर्मों में ही श्रद्धा रखते हैं।
२. तन से अतीव संग करने वाले लोग तनो व्यायाम रूप योग में ही श्रद्धा रखते हैं।
३. शास्त्र को पढ़ने में रुचि रखने वाले लोग शास्त्र पठन में ही श्रद्धा रखते हैं।
४. कर्त्तव्य की ओर प्रवृत्ति वाले लोग कर्त्तव्य करने में ही श्रद्धा रखते हैं।
५. कर्त्तव्य से भागने वाले लोग कर्त्तव्य विमुखता में ही श्रद्धा रखते हैं।
६. मिलनसार लोग अन्य लोगों को महत्त्व देते हैं, यानि उनमें श्रद्धा रखते हैं।
७. जिन्हें लोगों से बनाकर रखने में तकलीफ़ होती है, वे स्थूल एकान्त की ओर जाते हैं और स्थूल एकान्त में ही श्रद्धा रखते हैं।

नन्हीं जान! इसी तरह अपनी सहज प्रवृत्ति तथा स्वभाव के अनुकूल ही हर जीव की श्रद्धा होती है। यह स्वभाव, जो संस्कारों के कारण जन्म जन्म चलता है, तथा आधुनिक परिस्थितियों से बढ़ता तथा पलता है, यही अधिकांश श्रद्धा को भी रंग देता है; किन्तु, विवेकी गण अपने स्वभाव से प्रभावित नहीं होते। वे अपने ज्ञान को स्वभाव से प्रभावित नहीं होने देते और न ही वे अपने स्वभाव से प्रभावित होना चाहते हैं। सच्चा ज्ञानी भक्त जानता है कि श्रद्धा स्वभाव से प्रभावित हो जाती है, इसलिए वह ज्ञान को तथा शास्त्रों को भगवान के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करता है और उस समझ में अपना दृष्टिकोण तनिक भी मिश्रित नहीं करना चाहता।

नन्हूं! इसलिए कहते हैं कि 'गुरु बिन गत नहीं।' किन्तु गुरु की स्थिति का निर्णय कौन करे ? गुरुजन भी तो अपने गुणों से प्रभावित होकर ही श्रद्धा पाते हैं। उनकी श्रद्धा भी राजसिक, सात्त्विक या तामसिक होती है।

शास्त्र पठन के प्रति दृष्टिकोण :

नन्हूं इस कारण कहते हैं कि :

१. किसी शास्त्र को समझना हो, तो शास्त्र रचयिता के जीवन को सम्मुख रखकर उसे समझने का प्रयत्न करो।
२. शास्त्र रचयिता के निजी दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करो।

सत्य चाहुक नन्हूं! गर सच ही परम मिलन चाहते हो तो गीता को कृष्ण के दृष्टिकोण से पढ़ो और सुनने का यत्न करो। बाईबल को ईसा मसीह के, ग्रन्थ साहिब को नानक के और कुरान को मुहम्मद के दृष्टिकोण से पढ़ो और सुनने का यत्न करो। फिर यदि इन्हें उनका आदेश मानकर जीवन में मानना चाहोगी, तब विवेकपूर्ण श्रद्धा का

जन्म होगा।

नन्हूं! यदि आपके हृदय में सच्चाई हुई तो आप पल में जान जायेंगे कि :

१. आपका जीवन तथा अवतारी पुरुषों का जीवन भिन्न है।
२. आपका जीवन में दृष्टिकोण तथा उनका जीवन में दृष्टिकोण, फ़र्क है।
३. उन्होंने जो भी कहा है, उसकी साक्षात् प्रतिमा वह आप हैं।

उन्होंने जो भी कहा है, उसे यदि हम आदेश समझकर मान लें तो हम उनके जैसे धर्म वाले हो जायेंगे।

नन्हूं! भगवान ने गीता में, बाईबल में, कुरान में, ग्रन्थ साहिब में जो भी कहा है, ये सब जीव को कण्ठस्थ करने के लिए नहीं कहा, ये सब उसे बनने के लिए कहा है। शास्त्र कण्ठस्थ नहीं किये जाते, उनकी प्रतिमा बना जाता है।

नन्हूं जान! यदि एक पिता अपने बच्चे को कहे कि 'झूठ मत बोला करो' और उसका बच्चा संसार में निरन्तर झूठ बोलता रहे, किन्तु जब उस पिता के सामने आये तो दोहराने लगे कि, 'झूठ नहीं बोलना चाहिए', 'झूठ नहीं बोलना चाहिए', तब क्या वह मूर्ख नहीं ?

पिता को तो ज्ञान नहीं चाहिए, पिता को बार बार सबक सुनाने से क्या होगा ? उस सबक से तो पिता ने जीवन में कुछ करने का आदेश दिया था। उस आदेश के अनुरूप उसने सहज जीवन में सच बोलना था।

श्रद्धा जब भगवान में हो जाती है तब,

१. आपके अपने गुण या दूसरों के गुण आपकी राहों में नहीं आते।
२. आपकी मान्यता या सामाजिक मान्यता आपकी राहों में नहीं आती।
३. आपका सहज स्वभाव भी आपकी राहों में नहीं आता।

तब आप परम आदेश को अपने जीवन में एक पल में उतार सकते हैं। यह तब ही हो सकता है यदि आप अपने ही स्वभावजम गुण प्रणालियों तथा मान्यताओं की परवाह न करते हुए, भागवद् आदेश को भगवान के दृष्टिकोण से और भगवान के जीवन से तोल कर समझें।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. सभी मनुष्यों की श्रद्धा,
२. उनको मौलिक आन्तरिक चरित्र के अनुकूल होती है।
३. यह जीवात्मा श्रद्धामय है,
४. इसलिए जो जैसी श्रद्धा वाला है,
५. वह वैसा ही होता है।

तत्त्व विस्तार :

श्रद्धा का आधार :

नन्हीं! भगवान कहते हैं कि श्रद्धा जीवात्मा के,

क) आन्तरिक चरित्र पर आधारित है।
ख) आन्तरिक चरित्र के अनुसार होती है।
ग) मौलिक भाव, यानि मौलिक मूल्य पर आधारित है।
घ) जीवन के अभिप्राय पर आधारित है।
ङ) जीवन का सारांश होती है।
च) जीवन का तात्पर्य अभिव्यक्त करती है।
छ) जीवन का आचरण तथा गतिविधि नियुक्त करती है।

अन्तःकरण, यानि चेत, अर्धचेत, और अचेत तथा चित्त, यह सब श्रद्धा को ही दर्शाते हैं। मनोभाव तथा मानसिक विकार श्रद्धा को विभिन्न गुण पूर्ण करते हैं। मानसिक ग्रन्थियां तथा संकल्प विकल्प भी श्रद्धा को प्रभावित करते हैं।

नन्हूं! भगवान कहते हैं कि जैसी जीव की श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है। देख! स्थूल कार्य से और बातों से जीव नहीं जाना जाता। जो वह दिखता है, वह, वह नहीं होता। भगवान कहते हैं, 'जैसी उसकी आन्तरिक, सूक्ष्म श्रद्धा है, वह वही होता है।' वह श्रद्धा ही उसे जीवन में प्रेरित करती है।

गर साधक की भगवान में श्रद्धा हो जाये तो वह भगवान के धर्म वाला हो जायेगा, अर्थात् भगवान जैसा ही हो जायेगा।

श्रद्धा, प्रतिकूलता के प्रति कवच :

श्रद्धा ही वह कवच है जो साधक के पथ में विघ्नों के प्रति उसमें निरपेक्षता तथा उदासीनता ले आता है। तब कोई भी विपरीतता उस पर प्रहार नहीं कर सकती। जहां श्रद्धा होती है, वहां प्रतिकूलता सहने की शक्ति भी होती है, वहां धैर्य और बुद्धि भी होती है, वहां मन की रुचि भी होती है, वहां तन भी आपका साथ देता है और इन्द्रियन् का साथ भी होता है।

जैसे आपका चित्त है, वैसे ही आप हैं। जैसी आपकी इच्छा है, वैसे ही आप हैं। आपका चेहरा चाहे उज्जवल हो, परन्तु यदि आपका आन्तर उज्जवल नहीं, तो आप उज्जवल नहीं। यह सत्य नहीं कि आपका चेहरा अवश्य ही आपका अस्तित्व दर्शाये।

साधक देख! भगवान ने शास्त्र विधि त्याग करने की बात नहीं कही, वह कहते हैं अपनी श्रद्धा तोल लो। वह श्रद्धा के रूप दर्शा रहे हैं और मानो बिन कहे कह रहे हैं कि :

१. अपनी श्रद्धा को तोल लो।
२. अपनी श्रद्धा के गुण देख लो।
३. अपने आप को जान लो।

यदि सात्त्विक श्रद्धा है, तो :

- तू शास्त्र अनुकूल ही है,
- तू सत् पथ पथिक ही है,
- तू गुमराह नहीं होगा,
- तुम्हें कोई भी विघ्न पथ से भ्रष्ट नहीं कर सकेगा,
- तू सात्त्विक ही है।

किन्तु गर परम में श्रद्धा है, तब भगवान के दृष्टिकोण को, परम को, तोल तोल कर, परम का जीवन में प्रमाण देखकर, तुम उसका अनुसरण करोगे।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥४॥

भगवान त्रैगुणी पूजन की बात करते हैं और कहते हैं,

शब्दार्थ :

१. सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं।
२. राजस् पुरुष, यक्ष तथा राक्षसों को पूजते हैं,
३. अन्य तामस पुरुष प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान अर्जुन को स्वभावजम गुणों के अनुकूल त्रिविध पूजन समझाते हैं। वास्तव में वह अर्जुन को तामसिक, राजसिक तथा सात्त्विक श्रद्धा का रूप समझा रहे हैं। विभिन्न गुण प्रधान लोगों की सहज वृत्ति के,

क) आकर्षण कर गुण समझाते हैं।
ख) सजातीय गुण समझाते हैं।
ग) सहयोगी गुण बताते हैं।
घ) पक्षपाती, मैत्रीपूर्ण तथा साक्षी गुण बताते हैं।
ङ) जिस गुण वाले को जैसा भाता है, वह समझाते हैं।

श्रद्धा अनुसार गुण प्रवृत्ति :

यहां श्रद्धा अनुकूल सहज सजातीयता के कारण भगवान :

१. गुण आकर्षण की बात कर रहे हैं,
२. सहज प्रकृति की बात कह रहे हैं,
३. जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसका दृढ़ विश्वास होता है, वैसी ही उसकी प्रकृति होती है, यह समझा रहे हैं।

रुचि अनुकूल ही श्रद्धा होती है। सात्त्विक गुण सम्पन्न का ज्ञान, पूजन, जीवन, धर्म प्रवृत्ति या धर्म निवृत्ति सात्त्विक होती है। अब सहज में सात्त्विक गुण सम्पन्न की प्रकृति की सुन। भगवान कहते हैं, देख ले! सात्त्विक श्रद्धा पूर्ण लोग कैसे होते हैं ?

सात्त्विक श्रद्धा :

सात्त्विक श्रद्धा वाले सहज में :

क) प्रकाश से संग करने वाले,
ख) सुख से संग करने वाले,
ग) देवताओं के गुण पसन्द करने वाले,
घ) पावनता की ओर प्रवृत्ति वाले,
ङ) सतोगुण को पसन्द करने वाले,
च) सतोगुण की ओर झुकने वाले, होते हैं।

यानि, सहज में सतोगुण सम्पन्न लोगों की ओर श्रद्धा रखने वाले लोग सात्त्विक होते हैं। ये :

क) सत् पूर्ण लोगों की पूजा करते हैं।
ख) दैवी गुण सम्पन्न लोगों में रुचि रखते हैं।

ग) दैवी गुण सम्पन्न लोगों को पूजते हैं।
घ) दैवी गुण सम्पन्न लोगों के प्रति श्रद्धा रखते हैं।
ङ) दैवी गुण सम्पन्न लोगों के प्रति झुकते हैं।
च) स्वयं भी दैवी गुण पूर्ण होते हैं।
छ) जीवन में दैवी सम्पदा को इस्तेमाल करते हैं।
ज) जीवन में दैवी सम्पदा को ही महा धन मानते हैं।
झ) जीवन में दैवी सम्पदा को ही सत् मानते हैं।
ञ) सत्मय जीवन व्यतीत करते हैं और सत् पूर्ण लोगों की सेवा करते हैं।

वे जीवन के हर कार्य में :
१. सत् को ही प्रयोग करते हैं।
२. सत् का ही व्यापार करते हैं।
३. सत् को ही आधार बना कर जीते हैं।

इन्हें सत् और सुख से संग होता है, इस कारण ये लोग भी गर शास्त्र विधि न जानें तो ये भी जीवन गंवा बैठते हैं; ये भी संग नहीं छोड़ते; ये भी अनेक बार कर्त्तव्य विमुख हो जाते हैं।

मेरी जाने जान कमला! अब राजसिक गुण पूर्ण की बात सुन!

राजसिक श्रद्धा :

राजसिक श्रद्धा वालों में :
१. कामना तथा तृष्णा प्रधान होती है।
२. लोभ प्रधान होता है।
३. अहंकार, दम्भ, दर्प, पूर्ण गुण होते हैं।
४. तनो स्थापना चाहुक गुण होते हैं।
५. जटिल तथा क्रूर कर्म करने वाले गुण होते हैं।
६. चातुर्य, निपुणता और दक्षता भी होती है।
७. आसुरी सम्पदा पूर्ण गुण होते हैं।

रजोगुणी, बड़े बड़े कठिन काम करने वाले होते हैं। वे नित्य अतृप्त लोग होते हैं। वे महा क्रोधी होते हैं। वे लोग भगवान से भी पाखण्ड करने वाले होते हैं। वे महा स्वार्थ पूर्ण होते हैं। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य भी वे अपना मतलब पूरा करने के लिए ही करते हैं। वे पूजा भी अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए करते हैं। अपने स्वार्थ को ही वे सत् समझते हैं। अपने स्वार्थ के कारण ही वे झुकते हैं। रजोगुणी लोग अपना स्वार्थ पूरा होने के पश्चात् अकड़ते हैं। ऐसे लोग नित्य भटकते रहते हैं।

इस वृत्ति का,
- पूजन क्या होगा,
- वर्तन क्या होगा,
- जीवन क्या होगा,
- दूसरों के प्रति दृष्टिकोण क्या होगा,
- लोगों से सम्बन्ध कैसा होगा,

इसे समझने के प्रयत्न करो।

यदि यह वृत्ति समझ आ गई तो समझ ही जाओगे कि भगवान क्यों कहते हैं कि 'ये लोग यक्ष तथा राक्षसों की पूजा करते हैं, उनका यजन् करते हैं और उनके सम्मुख झुकते हैं।'

यक्ष :

क) धनपति को भी कहते हैं।

ख) धन के चाकर को भी कहते हैं।

ग) उनको भी कहते हैं जो धन की रक्षा करते हैं।

इससे तात्पर्य सीधा सा हुआ कि लोभ तथा तृष्णा पूर्ण लोग,

- धन तथा धनवान् की पूजा करते हैं।
- चाकर, जो इनके धन की वृद्धि करे, उसकी पूजा करते हैं।
- धन देने वाले के आश्रित होते हैं।

क्योंकि ये समझते हैं कि :

१. इनकी हर कामना को धन पूर्ण कर सकता है।

२. इनके अतृप्त लोभ को धन तृप्त कर सकता है।

३. धन ही इनको और अधिक धन भी दिला सकता है।

४. धन ही इनको राज्य भी दिला सकता है।

५. धन ही इनको जीवों की वफ़ा भी दिला सकता है।

भाई! धन के पास स्थूल वस्तु ख़रीदने की सामर्थ्य तो है ही। सो अपने दृष्टिकोण से ये भी सच्चे हैं। परन्तु ये मूर्ख नहीं जानते कि,

क) करुणा मोल नहीं ली जा सकती।

ख) आनन्द मोल नहीं लिया जा सकता।

ग) प्रेम मोल नहीं लिया जा सकता।

घ) वफ़ा मोल नहीं ली जा सकती, उसका व्यापार नहीं होता।

ङ) जन्म तथा जीवन में मौलिक सतीत्व ख़रीदा नहीं जा सकता।

च) सत् बुद्धि ख़रीदी नहीं जा सकती।

छ) सुख तथा चैन ख़रीदे नहीं जा सकते।

फिर, ये राजसी लोग राक्षसों की पूजा करते हैं।

१. स्वयं आसुरी गुण पूर्ण होने के कारण इनकी सहज रुचि सजातीय आसुरी वृत्ति सम्पन्न लोगों की ओर ही होगी।

२. असुर दूसरे असुरों से डरते हैं, इसलिए उन्हें मनाकर रखना चाहते हैं।

३. भय तो होगा ही, क्योंकि आसुरी वृत्ति पूर्ण लोग दूसरे को मिटा देना चाहते हैं।

४. आसुरी वृत्ति पूर्ण लोग दूसरे का नामोनिशान मिटाकर अपना नाम स्थापित करना चाहते हैं। इस कारण ही रजोगुणी असुर कहलाते हैं।

भाई! इसी कारण तो वे असुर हैं और असुर पूजक भी हैं। सजातीय से दोस्ती रहे तो अपनी भी इज़्ज़त रहती है। यदि आसुरी गुण पूर्ण जीव, सात्त्विक जीव से दोस्ती लगाये तो अनेक बार उसे अपने पर ही ग्लानि आ जायेगी। अपने दुष्कर्म करने में वह अड़चन महसूस करेगा। भाई! चोरों के गिरोह में ही चोर रह सकते हैं; बेईमान लोग आपस में ही दोस्ती रख सकते हैं; डाकू या चोर साधुता पूर्ण, सत्संग पूर्ण को अपने पास कैसे रख सकते हैं ? विजातीय गुणों की दोस्ती कठिन है।

भगवान की दोस्ती सबसे है, क्योंकि भगवान को नीति आती है। उनकी अपनी चाहना कोई नहीं होती; वह तो सबको स्थापित करते हैं, इत्यादि।

किन्तु गुण संगी तथा गुण बधित, गुण अभिमानी होते हैं। वे सजातीय को ही पसन्द करते हैं और सजातीय से लड़ते भी बहुत हैं।

जीवन में,

क) जिसको सत् मानते हो,
ख) जिसको इस्तेमाल करते हो,
ग) जो आपको प्रेरित करता है,
वहीं आपकी श्रद्धा है।

रजोगुण सम्पन्न को लोभ, तृष्णा और कामना ही प्रेरित करते हैं। यह लोभ मान का हो या राज्य का या फिर धन का, वास्तव में यह लोभ केवल अहं स्थापना का ही होता है, दूसरे को दबाने का ही होता है।

असुर का निहित गुण अभिमान है, जो कहता है, 'मैं यह कर सकता हूं, मैं इसे मार सकता हूं, मैं इसे गिरा सकता हूं, मैं यह पा सकता हूं', इत्यादि। वह केवल अहंकार से अन्धा हुआ होता है।

भगवान कहते हैं कि तमोगुण पूर्ण लोग भूत तथा प्रेतों को पूजते हैं। वे भूत तथा प्रेतों का यजन करते हैं।

तमोगुण को प्रथम समझ ले।

तामसिक श्रद्धा :

१. तमोगुणी प्रमाद और आलस्य से बन्धा हुआ होता है।
२. तमोगुण निद्रा उत्पन्न करने वाला गुण है।
३. कर्त्तव्य को तो वह जानता ही नहीं।
४. वह दुष्ट बुद्धि, बुद्धिहीन होता है।
५. वह तिरस्कार करने वाला होता है।
६. वह अज्ञान, मोह, अहंकार से बन्धा होता है।
७. वह अधम कर्मी तथा अधर्म करने वाला होता है।
८. वह अपावन कर्म करने वाला होता है।
९. वह मन्त्रहीन, विधिहीन होता है।

जो वैरी को कभी क्षमा कर ही न सके, यह ऐसा गुण है।

यानि, किसी ने (शायद) कोई गलती कर दी तो,

क) जीवन भर वह गिला नहीं छोड़ता।
ख) जीवन भर उसे बुरा कहता रहता है,
ग) जीवन भर उसका दुश्मन बना रहता है।
घ) जीवन भर के लिए मन में वैमनस्य भर लेता है।

ये लोग निर्दयी तथा पाषाण हृदय होते हैं। करुणा तथा प्रेम तो ये जानते ही नहीं। कोई और भी इन्सान है, यह वे पहचानते ही नहीं।

यह गुण ही शास्त्रीय सिद्धान्तों के व्यर्थ अर्थ करके शास्त्रीय ज्ञान को भी विकृत करता है।

भाभी जान कमला! सच तो यह है कि ये गुण इन्सान को अन्धा बना देता है।

जीवन में ये जीते हैं तो ये नित्य आंख वाले अन्धे के समान जीते हैं। इन अन्धों

ने सब कुछ देख कर भी नहीं देखा होता। ये लोग भूत प्रेतों का यजन करते हैं, यानि बीती बातों के भूत उन्हें चिपटे रहते हैं।

इस कारण ये :

१. पिशाच वृत्ति पूर्ण लोग होते हैं।
२. पतित लोग होते हैं और दूसरों को भी पतित करते हैं।
३. घृणापूर्ण कर्मों में निमग्न रहते हैं।
४. शैतान होते हैं।
५. विनाश करने वाले होते हैं।
६. निर्लज्ज, ढीठ, और धृष्टता पूर्ण होते हैं।
७. दुराचारी और दुराग्रही होते हैं।
८. कर्त्तव्य को त्यागने वाले और मिथ्या सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाले होते हैं।

यानि ये लोग :

क) पथ भ्रष्ट होते हैं।
ख) धर्म परिवर्तक होते हैं।
ग) कर्त्तव्य विहीन कार्य प्रणालियों को स्थापित करते हैं।
घ) अधर्म को धर्म सिद्ध करते हैं।
ङ) ये महा पापी गण शास्त्रों का भी अनुवाद करके उन्हें अपावन कर देते हैं।
च) स्वयं कर्त्तव्य विमुख होकर वे दूसरों को भी कर्त्तव्य विमुख करते हैं।
छ) स्वयं जीवन यज्ञमय बना नहीं पाते तो वे शास्त्र का अर्थ ही बदल देते हैं। यह तामस् वृत्ति का कार्य है, तमोगुण का काम है।
ज) वे अपने में दैवी गुण ला नहीं सकते तो जग को मिथ्या कह देते हैं।
झ) वे अपने को इन्सान बना नहीं सकते तो ज्ञान को निर्रथक कह देते हैं।
ञ) वे स्वयं शास्त्र से तुलने से डरते हैं तो 'शास्त्र पठन व्यर्थ है' ऐसा कह देते हैं।
ट) वे अपनी यथार्थता को छिपाने के लिए अनेक मिथ्या सिद्धान्तों का आसरा लेते हैं।

भाई! भूत प्रेत को पूजने वाले और यक्ष राक्षसों की पूजा करने वाले ये लोग आसुरी सम्पदा पूर्ण होते हैं।

१. ये अपने घरों को और दूसरों को तबाह कर देते हैं।
२. ये जीव की बुद्धि भ्रष्ट कर देते हैं।
३. ये जीव के मन में कर्त्तव्य विमुखता के बीज डालते हैं।
४. ये अपनी अज्ञानता के कारण अपना और दूसरों का घर तोड़ देते हैं।
५. किसी इन्सान की यदि एक बात पसन्द न आई तो ये उस इन्सान को बुरा कहकर ठुकरा देते हैं और उम्र भर उसे बुरा कहते रहते हैं।
६. एक बार किसी से ये दुश्मनी कर लें तो उम्र भर वह दुश्मन ही बना रहता है, चाहे उस दुश्मनी में अपना घर, संसार या कुल, पूरे का पूरा नष्ट हो जाये।
७. पुरानी दुश्मनी के कारण ये लोग जीवन भर अन्धे रहने को तैयार होते हैं।

नन्हीं! तामसिक तथा राजसिक लोग असुर ही होते हैं। इनमें से तामसिक लोगों को तो अक्लमंद कभी कभी पहचान भी

लेते हैं, किन्तु रज वालों को तो पहचानना भी कठिन होता है।

नन्हूं! इन लोगों के मन भी दुर्विचारों से भरपूर होते हैं। ये लोगों का बुरा ही सोचते हैं और लोगों को बुरा ही मानते हैं। ये संसार को झूठ कहते हैं और मिथ्या भावना का आसरा लेकर अपने को दोष विमुक्त कर लेते हैं। ये लोगों को भी दु:ख देते हैं और आप भी भूत प्रेतों से डरते हैं। ये लोग भूत प्रेतों की पूजा करते हैं।

नन्हूं! पूजा का अर्थ है :

क) श्रद्धांजलि भेंट करना,

ख) सम्मान देना,

ग) श्रेष्ठ मानकर आराधना करना।

नन्हूं! सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक पूजा गुण बधित होती है। सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक लोगों को अपने गुणों से संग होता है। ये लोग सजातीय गुण वालों के पास रहते हैं तथा विजातीय गुण वालों को दबाते हैं। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये सजातीय गुण वालों को दबाना नहीं चाहते। जब ये उन्हें दबा सकते हैं तब ये उन्हें भी दबाने के प्रयत्न करते हैं।

नन्हूं लाडली! वास्तविक साधक साधना से गुणातीत बनने के प्रयत्न करते हैं, क्योंकि :

क) वास्तविक साधक अपने गुणों को भूल कर, भगवान के दृष्टिकोण में जीना चाहते हैं।

ख) वे अपने ज्ञान को भूलकर भगवान के दृष्टिकोण से ज्ञान को समझते हैं।

ग) वे न अच्छा कहलवाना चाहते हैं, न ही बुरा बनना चाहते हैं, किन्तु जैसी परिस्थिति होती है, वैसा ही रूप धर लेते हैं।

दृष्ट रूप में भगवान या उनके भक्तों को किसी ने कब स्वीकार किया है? कुछ लोग तो उनको भगवान मानते हैं, किन्तु बाकी लोग तो उन पर शक ही करते रहते हैं।

यदि राम, कृष्ण, मुहम्मद, ईसामसीह, नानक इत्यादि के जीवन को देख लो तो गुणातीत की अवस्था समझ आ जायेगी।

नन्हूं! सच्चा साधक,

१. अच्छे और बुरे में भेद नहीं करता।

२. वैरी और मित्र में भेद नहीं करता।

३. दुष्ट और सन्त में भेद नहीं करता।

४. उसकी दृष्टि सबकी ओर सम होती है।

५. उसका वर्तन सबके साथ, दूसरे के वर्तन के अनुकूल होता है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान्स्तथैव भजाम्यहम्' (४/११) में भगवान ने अपने जीवन के रहस्य का स्पष्टीकरण किया हुआ है। (यानि, जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं)। फिर भगवान ने कहा कि :

क) ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह कर्म संगियों में और अज्ञानियों में बुद्धि भेद उत्पन्न नहीं करे। (३/२६)

ख) मूर्खों को ज्ञानी पुरुष चलायमान न करें। (३/२९)

ग) अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं,

अनासक्त हुआ विद्वान भी वैसे ही कर्म करे। (३/२५)

भगवान का उपासक अपनी आचरण विधि भगवान जैसी बना लेता है, या कहें भगवान जैसी बनाने के प्रयत्न करता है।

नन्हूं! सच्चा तथा प्रौढ़ परम उपासक अपने गुणों की परवाह नहीं करता। वह तो मानो अपने तन को ही छोड़ रहा होता है। वह तन को सत्त्व, रज या तम बधित क्या करेगा ?

ज्ञानी भक्त को भगवान ने अपना आप ही कहा है, अपना स्वरूप ही कहा है (७/११), क्योंकि ज्ञानी भक्त भगवान से प्रेम करता हुआ अपने आपको भूल जाता है और मानो भगवान के समान धर्म वाला हो जाता है।

इससे यह समझ लो कि ज्ञानी भक्त गुणों से बधित नहीं होता। उसमें परिस्थिति के अनुसार स्वतः सब गुण बहते हैं, किन्तु वह स्वयं तनत्व भाव त्यागी, अपने तन के किसी भी गुण से संग नहीं करता।

स्वरूप :

नन्हीं! स्वरूप भागवद् रूप का प्रसाद है। भागवद् गुणों को जीवन में इस्तेमाल करो तो जीवन यज्ञ शेष बन जाता है।

बिना जीवन में,

१. श्रेष्ठ बने इन्सान अपने आन्तर में श्रेष्ठ नहीं बन सकता।
२. भागवद् गुणों का प्रमाण दिये आपका ज्ञान अज्ञान ही बन जाता है।
३. भागवद् गुणों का अभ्यास किये परम पद नहीं मिलता।
४. भागवद् गुणों का अभ्यास किये अनुभवी नहीं बनते।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

भगवान कहते हैं, सुन अर्जुन! अब तुझे तप के विषय में कहता हूं।

शब्दार्थ :

१. जो लोग,
२. दम्भ, अहंकार, काम, राग और बल से युक्त होकर,
३. शरीर में स्थित भूतों के समूह को,
४. और ऐसे ही शरीर में स्थित मुझको,
५. दुर्बल करते हुए,
६. शास्त्र विरुद्ध घोर तप करते हैं,
७. उन अज्ञानियों को तू आसुरी निश्चय वाला जान।

तत्त्व विस्तार :

भगवान यहां शास्त्र विरुद्ध तप समझाते हैं। पर प्रथम तू तप समझ ले!

तप :

क) असत् पूर्ण जीव में, सत् से संग के परिणाम स्वरूप जो सहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे तप कहते हैं।
ख) जीवन में विपरीतता पर मुसकराना तप का परिणाम है।
ग) तप वास्तव में सहन शक्ति और उसके वर्धन को कहते है।
घ) सत् के बराबर और कोई तप नहीं है।
ङ) मौन ही तपस्वी का स्वरूप है।

यदि यह सच है तो :

१. तप में स्वयं आरोपित कष्ट नहीं होते।
२. तप में धोखा हो ही नहीं सकता।
३. तप में नाहक शारीरिक कष्ट हो ही नहीं सकता।
४. तप तो सहज जीवन में ही हो सकता है।
५. तप कर्त्तव्य करते करते हो ही जाता है।
६. भाई! सत् पथ का अनुसरण एक महा तप है।
७. यज्ञमय जीवन एक अखण्ड तप है।
८. दैवी सम्पदा का बहाव तपस्वी का ही गुण है।
९. दैवी सम्पदा का अभ्यास एक महा तप है।

भगवान कहते हैं, 'दम्भ, अहंकार, काम, राग तथा बल गुमानी, मूर्ख लोग घोर तप करते हैं।' यानि,

क) नाहक शरीर की इन्द्रियों को दुःख देते हैं।
ख) कभी किसी इन्द्रिय को सुखाने के यत्न करते हैं और कभी किसी और को।
ग) सर्दी में ठण्डे पानी में खड़े होते हैं, तो गर्मी में धूप में।
घ) कांटों पर चलना चाहते हैं और अनेकों प्रकार के शारीरिक बल की प्राप्ति के यत्न करते हैं।

भगवान कहते हैं कि इस विधि वे :

१. शरीर को भी तंग करते हैं और पंच ग्राम रूप इन्द्रियों को भी तंग करते हैं।
२. इनके आन्तर में सत् रूप में जो मैं बैठा हूं, मुझे भी वे निर्बल करते हैं।
३. सत् पथ के विरुद्ध कार्य करते हैं।
४. शास्त्र विधि के विमुख कार्य करते हैं।

ये सब वास्तव में आसुरी गुण पूर्ण लोग करते हैं।

क) उनके हठ पूर्ण निश्चय आसुरी हैं।
ख) उनके हठ पूर्ण निश्चय दम्भ, अहंकार, कामना और राग युक्त होते हैं।
ग) यह उनका तमो प्रधान गुण है।
घ) ये लोग सत् पूर्ण बुद्धि से युक्त नहीं होते, जो मन में आये, वही करने लग जाते हैं।
ङ) शास्त्र की व्याख्या ये लोग नहीं समझते, बल्कि अपने स्वभावानुकूल शास्त्र की व्याख्या कर लेते हैं।

यह बात भी सच ही है कमला! अपनी बुद्धि गर सत्मय होती तो हम स्वयं भगवान जैसे होते! यहां 'सत्मय' से अर्थ शास्त्र रूपा समझ लो। इसे बुद्धि तब मानो

जब आपका मन आपकी बुद्धि की बात अक्षरशः मान ले। अपनी बुद्धि को तोल तो लो! गर स्थित प्रज्ञ नहीं हुए तो :
- शास्त्र का आसरा लो।
- भगवान के कथन का आसरा लो।
- भगवान के जीवन को प्रमाण मानकर समझने के प्रयत्न करो।

गर आप यह नहीं करते तो आप मिथ्याचारी हैं। गर आप अपनी बुद्धि के निर्णय को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हो तो आप जैसा मूर्ख कौन है ?

नन्हूं! ऐसे मूर्ख लोगों का तप परम श्रेय के विरुद्ध होता है। ऐसे मूर्ख लोगों का ज्ञान सर्वभूत हित करने के कारण नहीं बल्कि स्वार्थ पूर्ति हेतु होता है।

एक बात का ध्यान रहे नन्हूं! जीव ज्यों साधना आरम्भ करता है, उसके सहवासियों को फ़ायदा होने लगता है।

नन्हूं! जब आप :
१. दैवी गुणों का अभ्यास करेंगे,
२. गुणातीत बनने का अभ्यास करेंगे,
३. स्थित प्रज्ञ बनने का अभ्यास करेंगे,

यानि, जब आप साधना आरम्भ करेंगे, आप के सहवासियों को लाभ होगा ही! उन्हें जितना लाभ होगा, वे आपसे उतना ही अधिक लाभ चाहेंगे। उन्हें आप पर शक भी पड़ेगा कि आपकी कोई निहित कामना होगी। वे आपको लोभी भी मानेंगे। जब लोग आप पर संशय करें तो उन संशयों के और संशय करने वालों के प्रति करुणा दृष्टि, तप है।

सहिष्णुता, धैर्य, धृति, तितिक्षा, आत्म संयम, आत्म त्याग, ये सब तपस्वी के सहज गुण हैं। यदि ये सहज जीवन में हों तो यह जीवन यज्ञ रूपा अग्र का तप है और यदि ये सहज जीवन् को त्यागकर, अपने पर आरोपित किये गये हों, तो यह दम्भ और अहंकार है।

कर्षयन्त :

भगवान कहते हैं, जो ऐसे घोर तप करते हैं, वे मुझे ही क्षति पहुंचाते हैं। वे मुझे ही पीड़ित करते हैं। वे आत्महत्या करते हैं और आसुरी निश्चय वाले होते हैं। वे मुझे दुर्बल करते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु॥ ७॥

भगवान अब गुण भेद समझाते हुए कहते हैं कि अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. आहार भी सबको तीन प्रकार से प्रिय होता है,
२. और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं।
३. उनके इस भेद को तू सुन!

तत्त्व विस्तार :

देख सत् याचिका नन्हूं ! ऐसा प्रतीत

होता है कि भगवान ये सब बातें साधक को सावधान करने के लिए कह रहे हैं।

अधिकांश साधक गण :

१. अपनी श्रद्धा को,
२. अपनी तप विधि को,
३. अपनी यज्ञ विधि को,
४. अपनी दान विधि को,

श्रेष्ठ मानते हैं। भगवान मानो कह रहे हों कि :

क) अपने आपको देख तो लो!
ख) अपने आपको पहचान तो लो!
ग) अपनी श्रद्धा को तोल तो लो!
घ) अपने दान के पीछे जो भाव है, उसे देख तो लो!
ङ) अपने यज्ञ को समझ तो लो!
च) अपने कर्म को तुम श्रेष्ठ कहते हो, तो तनिक ध्यान से देख तो लो कि क्या वह सच ही श्रेष्ठ है ?

नन्हूं! जीव अपने पर कभी भी संशय नहीं करता, इस कारण अर्जुन ने पूछा था कि यदि श्रद्धा युक्त हुआ जीव शास्त्र विधि को त्याग कर यज्ञ करे, तो उसकी श्रद्धा कैसी है ?

भगवान यह कह रहे हैं कि निष्ठा भी त्रैगुणी होती है। यह गुण समझाकर भगवान साधक को सचेत कर रहे हैं कि वह अपनी मान्यता तथा मानसिक दृष्टिकोण को समझ ले। यदि वह शास्त्र की बात नहीं मानता तो उसका हर कर्म सात्त्विक,राजसिक तथा तामसिक, इन तीनों में से एक है।

नन्हूं जाने जान! साधक के लिए यह अनिवार्य है कि :

१. वह शास्त्र के अनुसार ही जीवन बनाने का प्रयत्न करे।
२. वह शास्त्र कथित गुणों को अपने में लाने का प्रयत्न करे।
३. वह शास्त्र कथित गुण तुला से अपने को तोलने का प्रयत्न करे।
४. वह शास्त्र कथित सिद्धान्तों को मान ले।

नन्हूं! शास्त्र भी वे होने चाहियें जो सदियों से सिद्ध हो चुके हों। वे चाहे जिस धर्म के भी हों, ठीक ही हैं। किन्तु याद रहे! वे शास्त्र उनके रचयिता ऋषियों के जीवन के सहयोग राही प्रमाणित हो चुके हैं। उन शास्त्रों की प्रतिमा मानो उनके वक्ता और रचयिता लोग स्वयं ही थे, इस कारण वे शास्त्र सप्राण कहलाते हैं।

आजकल लोग शास्त्र विरुद्ध अपने मनमाने तरीके से साधना करते हैं। इस कारण :

क) साधना सफल नहीं होती।
ख) भक्तों में भक्तिपूर्ण गुण नहीं आते।
ग) बहुत ज्ञान जानने वाले भी दैवी गुण सम्पन्न नहीं होते।
घ) यज्ञ करने वाले भी यज्ञमय जीवन से वंचित रह जाते हैं।
ङ) तप करने वाले भी तपस्वी नहीं बन पाते।
च) बहुत योगाभ्यास करने वाले भी योग सिद्धि नहीं पाते।

छ) स्थूल संन्यास लेकर भी लोग तन से नहीं उठ पाते।
ज) जग में धर्म का नाश हो रहा है।
झ) जग में जीव कर्त्तव्य विमुख हो रहे हैं।

यदि जीवन शास्त्र विधि अनुकूल यज्ञमय बन जाये, तो जीवन :
१. कर्त्तव्य प्रधान हो जायेगा।
२. दैवी गुण प्रधान हो जायेगा।
३. साधुता पूर्ण हो जायेगा।
४. स्वार्थी कम हो जायेगा और सर्वभूत हित करने की वृत्ति बढ़ जायेगी; इत्यादि।

साधक को शास्त्र विधि अनुकूल साधना करने के लिए प्रेरित करने को, भगवान गुणों को सविस्तार समझा रहे हैं। यह गुण भेद वह साधक को अपनी मान्यता को तोलने के लिए दे रहे हैं।

भगवान कहते हैं ले अर्जुन! तुझे अब तीन प्रकार का आहार, और ऐसे ही, यज्ञ, तप और दान भी समझाता हूं।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

भगवान कहते हैं कि अर्जुन! जो सात्त्विक आहार होता है वह :

शब्दार्थ :

१. आयु, सत्त्व बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला,
२. रसदार, स्निग्ध, चिरस्थायी, हृदय को भाने वाला आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है।

तत्त्व विस्तार :

कमला मेरी प्रिय! पहले यह तो समझ कि आहार किसे कहते हैं।

आहार :

१. जो भी हम भक्षण करें,
२. जो भी हमारे किसी गुण का वर्धन या वर्जन करे,
३. जो भी किसी गुण को प्रभावित करे, वह आहार है।

आहार बुद्धि वर्धक भी होता है और आवृत्तकर भी होता है। विचार रूपा आहार अनेकों विपरीत गुण उत्पन्न कर सकता है और उन्हें जटिल भी कर देता है, यह अनेकों विपरीत गुण मिटा भी देता है।

कमला देख! हर आहार में गुण होते हैं, जो आहार बनकर हमारे आन्तर को पुष्टित करते हैं। आहार में गुण सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल भी। आहार ही सूक्ष्म को और स्थूल को भी पुष्टित करता है।
१. अन्न भी आहार है।
२. परिस्थिति भी आहार है।
३. ज्ञान और अज्ञान भी आहार है।
४. पावनकर और अपावनकर सभी आहार हैं।

हर विषय गुण पूर्ण है, हर विषय हमें प्रभावित करता है, हर गुण ही आहार है। हर विषय गुण को पुष्टित करता है या क्षीण करता है। मानसिक ग्रन्थियां भी आहार के बल पर वृद्धि पाती हैं।

संकल्प विकल्प भी मन के आहार हैं।

सात्त्विक आहार :

सत्त्व गुण प्रधान का आहार :

१. सद् गुण वर्धक होगा।
२. सद् गुण वर्धन में सहयोगी होगा।

सत्त्व गुण प्रधान का वास्तविक आहार तो यज्ञ शेष है (३/१३)। सात्त्विक आहार तो वह होगा जो जीव को यज्ञ शेष भक्षी बना दे। नन्हूं! वह सात्त्विक पुरुष कैसा मानसिक आहार खायेगा, तुम्हीं सोच लो। स्थूल आहार को सात्त्विक लोग अत्यधिक महत्त्व नहीं देते।

क) वे स्थूल रस रसना से बधित नहीं होते।
ख) वे स्थूल रस रसना तथा स्थूल अन्न की ओर क्या ध्यान दें, उनका ध्यान तो कहीं और ही होता है।
ग) वे तो तन से उठना चाहते हैं।
घ) वे तो तन भगवान को लौटाना चाहते हैं।
ङ) वे जीवन केवल साधना करने के लिए चाहते हैं।
च) वे आयु केवल यज्ञ करने के लिए चाहते हैं।
छ) जिस अन्न से तन पुष्टित हो, उसे वे संयम पूर्ण खाते हैं ताकि वे परम के गुण पाने के लिए और परम मिलन के लिए जीवित रह सकें।

भगवान ने यहां पर :

- आयु वर्धक अन्न को सात्त्विक अन्न कहा है।
- आरोग्य आयु करने वाला अन्न सात्त्विक कहा है।

सात्त्विक लोगों का मानसिक आहार भी सात्त्विक ही होता है।

१. वे दुराचार रूपा आहार नहीं खाते।
२. वे चित्त अशुद्ध करने वाला आहार नहीं खाते।
३. वे मानसिक ग्रन्थियों का वर्धक आहार नहीं खाते।
४. वे अज्ञान वर्धक आहार नहीं खाते।
५. वे किसी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होना चाहते, क्योंकि वह प्रभाव रूपा आहार से अपनी बुद्धि को पुष्टित नहीं करना चाहते।
६. वे बुद्धि तथा मनोस्तर पर भी आरोग्य रहना चाहते हैं।

नन्हीं! पहले रोग को समझ ले!

क) चित्त अशुद्धि मन का रोग है।
ख) अज्ञान बुद्धि का रोग है।
ग) मानसिक ग्रन्थियां स्वरूप का रोग हैं।
घ) संकल्प विकल्प उत्पन्न करने वाले विचार रोग ही हैं।
ङ) कामना भी एक रोग है।
च) भाई! संग भी एक रोग है

सात्त्विक प्रवृत्ति वाले जीव :

- इन्हें बढ़ाने वाला आहार नहीं खाते,
- दम्भ वर्धक आहार नहीं खाते।
- मान अभिमान वर्धक आहार नहीं खाते।

वे तो अज्ञान निवृत्त करने वाला ज्ञान रूपा आहार खाते हैं। जो धैर्य, वीरता तथा उत्साह का वर्धन करे, वे उस ज्ञान को आहार बनाते हैं।

१. जो कर्त्तव्य धर्म सिखा दे,
२. जो उनको करुणा पूर्ण बना दे,
३. जो उनको दु:ख विमोचक बना दे,
४. जो उनको क्षमापूर्ण बना दे,
५. जो सुख और प्रेम बढ़ा दे,
६. जो सत्त्व और सहिष्णुता बढ़ा दे,

ऐसे आहार का वह उपयोग करते हैं।

दैवी गुण का आहार यज्ञशेष है, सात्त्विक जीव का आहार यज्ञशेष है। यज्ञ अपने ही हाथों से करना पड़ता है। यह आहार मानो स्वयं पकाना पड़ता है, क्योंकि :

क) प्रेम करने के परिणाम रूप खुशी यज्ञशेष है।
ख) दया तथा करुणा पूर्ण कर्म का परिणाम यज्ञशेष है।
ग) किसी के दु:ख विमोचन का परिणाम यज्ञशेष है।
घ) वात्सल्य का परिणाम यज्ञशेष है।
ङ) निष्कामता का फल यज्ञशेष है।
जो स्वयं यह आहार पकाये, वही तो इसे खायेगा।

यज्ञशेष रूप आहार खाकर जीव :

क) समचित्त हो जाता है।
ख) निर्वैर हो जाता है।
ग) कामना रहित हो जाता है।
घ) नित्य तृप्त हो जाता है।
ङ) अपने तन, मन के प्रति उदासीन हो जाता है।
च) निर्मम, निर्मोह हो जाता है।
छ) उसके संकल्प विकल्प भी मौन होने लगते हैं।

पर याद रहे कमला! यह आहार स्वयं पकाना पड़ता है। सात्त्विक लोग अपना अन्न स्वयं पकाते हैं। यानि :

१. क्षमा करो तो आहार बने।
२. दूसरे के साथ वफ़ा करो तो अन्न पके।
३. सेवा करो तो यज्ञशेष रूपा अन्न बने।
४. कर्त्तव्य करो तो यज्ञशेष रूपा अन्न बने।

धर्म :

यज्ञ और कर्त्तव्यमय जीवन ही धर्म है। पर याद रहे, इस धर्म का अनुष्ठान करके जो बाकी रहे, वह यज्ञ शेष है।

क) सहिष्णुता वर्धन सहने के अभ्यास से होता है।
ख) प्रीति का वर्धन प्रेम करने के अभ्यास से होता है।
ग) सुख का वर्धन सुख देकर ही होता है।

यही आहार सतोगुणी के मन भावन होते हैं। रस पूर्ण और स्निग्ध,

- प्रेम ही होता है।
- प्रेम का परिणाम होता है।
- प्रेम किये जो शेष रहे, वह होता है।

भाई! यह सब अन्न ही चिरस्थायी होता है। अब ध्यान से देख कमला! जो चिरस्थायी हो, पर बासी न हो, वह अन्न तो

आन्तरिक ही होगा! यानि, स्थिर रहने वाला आहार :

१. विवेक ही हो सकता है।
२. यज्ञशेष ही हो सकता है।
३. यज्ञमय जीवन का प्रमाण ही हो सकता है।
४. धर्म ही हो सकता है।

धर्म परायणता ही यज्ञशेष रूपा चिर स्थायी तथा सुख और प्रीति वर्धक आहार है। भाभी जान! जब लोग यज्ञमय जीवन बना सकें तो स्थूल अन्न पर दृष्टि नहीं जाती।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

भगवान कहते हैं, सुन! अब राजसी आहार की कहता हूं! कमला! ध्यान धरना ज़रा! राजसी और तामसी लोग आसुरी सम्पदा पूर्ण होते हैं। यहां आसुरी आहार की कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. कड़वा, खट्टा और नमकीन,
२. अति गर्म, तीक्ष्ण, रूखा तथा जलाने वाला,
३. दुःख, शोक और रोग देने वाला आहार,
४. रजोगुणी को प्रिय होता है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी जाने जान कमला! सुन।

स्थूल अन्न देश देशान्तर में भिन्न भिन्न होता है। वह तो,

१. ऋतु पर आधारित होता है।
२. उपलब्धियों पर भी आधारित होता है।
३. पाचन शक्ति पर आधारित होता है।
४. जीव के तन की आवश्यकता पर आधारित होता है।

इस अन्न से दुःख और शोक पर कम ही प्रभाव पड़ता है। फिर इस प्रकार के आहार की बात कह कर भगवान कुछ और ही कह रहे होंगे।

भाई! हर जीव अपना आहार स्वयं ही बना सकता है। आसुरी सम्पदा पूर्ण लोगों का आहार दम्भ और दर्प पूर्ण है;

क्रोध, लोभ और कामना वर्धक जो आहार है, उसे समझ ले;

क) अभिमान और मिथ्यात्व वर्धक अन्न क्या होगा ?
ख) धोखा, विश्वासघात, घमण्ड और धृष्टता वर्धक अन्न क्या होगा ?
ग) क्रोध बढ़ाने वाला, ईर्ष्या और कलंक आरोपण कर वृत्ति वर्धक अन्न क्या होगा ?
घ) कठोरता तथा रूखेपन का वर्धक अन्न क्या होगा ?

इसे समझने के प्रयत्न कर!

कमला! गर इस पर तुम स्वयं ध्यान लगाओ तो इस श्लोक की यथार्थता समझ आ जायेगी।

फिर से कहते हैं, 'आहार जीव स्वयं पकाता है।' जो वह दूसरों को खिलाता है,

१. सूक्ष्म रूप में वह स्वयं वही खाता है।
२. वह गुण उसकी अपनी बुद्धि पाती है।

जैसे :

क) अभिमान के कारण जो भी अत्याचार करोगे, उससे आपका अभिमान और बढ़ेगा और अत्याचार के कारण दुर्वृत्ति पुष्टि पायेगी।

ख) दुष्टता के कारण जितने अत्याचार करोगे, परिणाम स्वरूप आप उतने ही अधिक दुष्ट बनोगे तथा आपकी दुष्टता अधिक पुष्टित होगी!

रजोगुणी जीव की कार्य प्रवृत्ति में प्रेरक शक्ति :

१. लोभ तथा कामना है।
२. अभिमान, दम्भ तथा दर्प है।
३. स्वार्थ और अपनी स्थापना की चाहना ही है।

क) इस गुण से भरपूर लोग दूसरे इन्सान को केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं।
ख) दूसरे इन्सान पर क्या बीती, इस पर उनकी दृष्टि नहीं जाती।
ग) ये लोग क्रोध तथा कामना परायण गुणों वाले होते हैं।
घ) ये ढोंगी तथा महा पापी गुणों वाले होते हैं।
ङ) ये तिरस्कार और घृणापूर्ण गुणों वाले होते हैं।
च) ये पाखण्ड तथा घमण्डपूर्ण गुणों वाले होते हैं, इत्यादि।

कटु आहार :

१. इनका आहार बहुत कटु है, यानि बहुत कड़वा होता है।
२. इनका आहार बहुत अप्रिय या यूं कह लो, कड़वी बातें करना ही है।
३. ये निन्दक गण होते हैं, कड़वी बातें कहते हैं और कड़वी बातें सुनते हैं।
४. ये कृतघ्न होते हैं। ये दूसरों से काम करवाकर दूसरों को गिराते हैं, उनको छोड़ देते हैं।
५. ये दूसरों के राही स्थापित होकर दूसरों पर अनेक कलंक लगाते हैं।
६. ये व्यवसायात्मक लोग होते हैं।
७. ये आलोचनात्मक लोग होते हैं।

जब ये लोग जग को यह व्यवहार देते हैं तो सूक्ष्म रूप में इन्हें स्वयं भी यही आहार मिलता है जिसके राही उनके यही गुण पुष्टि पाते हैं।

भाई! जो तुम पकाओगे, वही दूसरे को दोगे और वही स्वयं भी खाओगे। दु:खदे आहार पका कर दूसरे को भी दु:ख दोगे और स्वयं भी दु:खदे वृत्ति को पुष्टित करोगे, तब दूसरों के लिये तुम और दु:खदे ही बनोगे।

ज्यों सतोगुण का आहार, सद्कर्म परिणाम स्वरूप परम गंध रूप यज्ञशेष है, त्यों ही तमोगुण का आहार दुष्कर्म परिणाम स्वरूप दुर्गन्ध पूर्ण तथा तीक्ष्णता पूर्ण है।

अम्ल :

अम्ल आहार है इनका। यानि, दूसरे के मन को खट्टा कर देते हैं।

इस खट्टा कर देने वाले अन्न से रजोगुण पुष्टि पाता है।

ये लोग :

क) कठोर होते हैं, इस कारण ख़ट्टे होते हैं।
ख) धोखेबाज़, निर्लज्ज, दुराचारी, कुटिलतापूर्ण और बेरहम होते हैं, इस कारण खट्टे होते हैं।
ग) ये क्रोधीगण क्रोध करते हैं और दूसरे में भी क्रोध उत्पन्न करते हैं। इससे इनका अपना क्रोध भी पुष्टि पाता है।

लवणपूर्ण आहार :

यानि, वे नमकीन व्यवहार रूपा अन्न पकाते हैं।

१. दूसरों के घावों पर नमक छिड़कते हैं।
२. दूसरों को दु:ख देने वाली बातें कहते हैं।
३. दूसरों को हानि पहुंचाने वाली बातें करते हैं।
४. इनकी राहों में जो आये, उसे पीड़ित करते हैं।
५. गरीब को ये और लूटते हैं, यानि गरीब की गरीबी पर नमक छिड़कते हैं।
६. जो भी प्रतिकूलता में फंस जाये, ये उसका साथ भी छोड़ देते हैं।
७. कर्त्तव्य विमुख होकर ये माता पिता को भी दु:खी करते हैं।
८. पुत्र होते हुए भी उनका पुत्र न रहे, ये ऐसी घात लगाते हैं।
९. फिर पुत्र होकर माता पिता को बुरा कहकर उनके घावों पर नमक छिड़कते हैं।

अति गर्म आहार :

अति गर्म अन्न है इनका! क्रोध गर्म ही होता है। क्रोध जला ही देता है।

क) क्रोध दूसरे को भी जला देता है।
ख) क्रोध बुद्धि को भी जला देता है।
ग) क्रोध सद्‌गुणों को भी जला देता है।

इनकी वाणी भी दूसरे को जला देती है। इनके कर्म भी हरे भरे घर जला देते हैं।

तीक्ष्ण आहार :

तीक्ष्ण आहार होता है रजोगुण सम्पन्न का। यानि :

१. कठोरता इनका अन्न है।
२. उत्तेजना पूर्ण इनका व्यवहार है।
३. इनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण होती है, पर स्वार्थ के लिए।
४. इनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण होती है, पर दूसरे को गिराने के लिए।
५. इनकी तीक्ष्णता मानो दूसरे के लिए बाण बन जाती है।
६. उस गुण की तीक्ष्णता, दारुण दु:खदे होती है।
७. इनके वाक् भी तीक्ष्ण होते हैं, जो श्रोता को चुभ जाते हैं।
८. इनके काज भी तीक्ष्ण होते हैं, जो मिटा देते हैं दूसरे को।

भाई! ये कामना पूर्ण लोभी गण की बातें हैं, ये कामना पूर्ण लोभी गण के गुण हैं। रजोगुणी अन्न और कैसा हो सकता है ? ये जो आहार पकाते हैं, वही परिणाम रूप में इस गुण को पुष्टित करता है।

रूक्ष :

रूखे गुण पूर्ण लोग रजोगुणी होते हैं। यानि,

१. कोई मरे कोई जीये इन्हें क्या ?
२. कोई सामने तड़पा करे इन्हें क्या ?
३. रजोगुणी दर्प के गरूर से चूर होते हैं, किन्तु अपने स्वार्थ के लिए वे झुक भी जाते हैं।
४. स्वार्थ पूर्ण होने के पश्चात् यह रूखे हो जाते हैं और आंखें फेर लेते हैं।
५. मां बाप का खून तो इनमें होता है, परन्तु उनके लिए भी उसे बहा नहीं सकते।
६. भाई बहन तो मानो इनके लगते ही कुछ नहीं।
७. नाते बन्धु तो बहुत दूर की बात है, उन्हें ये केवल अपने स्वार्थ के लिए पहचानते हैं।
८. कर्त्तव्य को ये नहीं जानते, उसके प्रति भी यह रूखे होते हैं।

रजोगुणी लोग केवल दुःख देते हैं और दूसरे के लिए शोक उत्पन्न करते हैं।

अत्युष्ण :

रजोगुणी का अन्न दाहपूर्ण होता है यानि,

१. ये दूसरे के मन में जलन उत्पन्न करते हैं।
२. ईर्ष्या, द्वेष से पूर्ण होने के कारण ये ईर्ष्या से प्रेरित हुए, दूसरे को जलाने के प्रयत्न करते रहते हैं।
३. ये नित्य दूसरे को संतप्त करते हैं।
४. ये नित्य दूसरे के प्रति कटाक्ष करते हैं।
५. ये निन्दक लोग नित्य दूसरे पर दोष आरोपण करते हैं।
६. ये नित्य वैरी बनकर दूसरे को जलाते हैं।

- गुण वर्तन ही गुण का आहार है।
- गुण वर्तन से ही गुण बढ़ते हैं।
- गुण वर्तन से ही गुण वृद्धि पाते हैं।
- गुण वर्तन से ही गुण पुष्टित होते हैं।

रजोगुण की अग्न जीव को नित्य अतृप्त रखती है। कामना की अग्न जीव को नित्य अतृप्त रखंती है। ऐसे जीव अपनी अग्न से दूसरों को जलाते हैं, अपनी अतृप्ति और बढ़ाते हैं।

भाई! भगवान कहते हैं, रजोगुणी को यही आहार सहज में प्रिय होता है। ये कामना, तृष्णा, उपभोग रंगी लोग सबको दुःख ही दुःख देते हैं, शोक ही उत्पन्न करते हैं। ये नित नव मानसिक रोग उत्पन्न करते हैं, क्योंकि ये नित नव प्रहार करते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

अब भगवान तामसी लोगों के आहार की कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. अधपका, नीरस, दुर्गन्धपूर्ण,
२. बासी, जूठा और अपवित्र आहार,
३. तमोगुणी पुरुषों को प्यारा होता है।

तत्त्व विस्तार :

सहज तामसिक गुण :

कमला! प्रथम तमोगुणी लोगों के सहज गुण देख ले :

क) देहाभिमान तथा मोहपूर्णता तमोगुण है।
ख) अज्ञान, अंधकार से अन्धा कर देने वाला यह तमोगुण है।
ग) प्रमाद से बान्धे रखने वाला यह तमो गुण है।
घ) आलस्य और निद्रापूर्ण लोग इस गुण के शिकार होते हैं।
ङ) अप्रवृत्ति, तम का गुण है।
च) मिथ्या सिद्धान्तों को अपनाने वाला गुण तमोगुण में उत्पन्न होता है।
छ) कर्त्तव्य विमुख हुए लोग तमोगुणी होते हैं।

तामसिक आहार :

यातयामम् :

ऐसे लोग यातयाम अन्न खाते हैं। यानि,

१. जो दूसरे का पका हुआ आहार हो, (बासी हो) वह खाते हैं।
२. जो कच्चा आहार हो,
३. जो विकृत हो चुका हो,
४. जो भूतकाल में इस्तेमाल करना चाहिए था,
५. जो निरर्थक हो चुका हो,
६. जो अधपका आहार हो,
७. जो विकार युक्त हो चुका हो,
८. जो किसी भी काम का न हो,
९. जो मल पूर्ण हो तथा अस्वस्थ कर दे,
१०. जो अज्ञान पूर्ण हो और अज्ञान आवरण वर्धक हो,

तमोगुणी उसे खाते हैं।

तामसिक ज्ञान :

भाई! तामसिक लोगों का ज्ञान :

- मिथ्या सिद्धान्तों पर आश्रित होता है।
- निरर्थक किताबों पर आश्रित होता है।
- विचारहीन होता है।
- यह लोगों के भाव चुराकर बातें करते हैं, स्वयं अनुभव पूर्ण नहीं होते। इस कारण इन्हें पूर्ण बातों का ज्ञान भी नहीं होता।
- वे अधपका ज्ञान बोलते रहते हैं।
- वे अधपका भाव बेचते रहते हैं।
- वे अधपका भाव लोगों को प्रचार के रूप में समझाते रहते हैं। उनके भाव भी पुराने हैं, आधुनिक समस्याओं पर

लागू नहीं होते। उनके भाव अधपके हैं, क्योंकि अज्ञानता के कारण तमोगुणी स्वयं भी वैसा ही होता है।

गतरस :

ये रस रहित अन्न खाते हैं। यानि,

क) इस गुण वाले लोगों का जीवन रस सार रहित होता है।

ख) आसुरी सम्पदा पूर्ण लोग केवल अपने लिये जीते हैं।

ग) ये लोग कर्त्तव्य विमुख होते हैं।

घ) ये आलस्य पूर्ण होते हैं।

ङ) ये बहाने लगाकर कर्त्तव्य छोड़ देते हैं।

च) ये सबका जीवन नीरस कर देते हैं।

छ) दूसरों के लिए तो मानो ये मृतक ही हैं, किन्तु दुश्मनों जैसे काज करते हैं।

ज) प्रमाद के कारण धर्म के सिद्धान्तों का यथार्थ अर्थ न जान कर, अपने मनो अनुकूल धर्म अनुवाद करके, उसे नीरस तथा निष्प्राण बना देते हैं।

झ) तामसिक क्रियाहीन नहीं होते; बल्कि कर्त्तव्य विमुख काज करते हैं।

ञ) ये लोग अज्ञानपूर्ण होने के कारण पथ भ्रष्ट होते हैं तथा सहज परम पथ को भी गलत बना देते हैं।

ट) जो इनका अनुसरण करे, वह भी पथ भ्रष्ट हो जाता है।

ठ) जो इनका अनुसरण करे, वह शास्त्र विधि विहिन हो जाता है।

ड) ये स्वयं भी डूबते हैं और दूसरों के जीवन को भी नीरस बना देते हैं।

ढ) जब न्यायोचित रीति से तथा बाहु बल से कमाना कठिन लगा, ये चोरी आरम्भ कर देते हैं।

ण) तब राहों में जो आया, उसके प्राण तक ले लेते हैं।

त) अनेकों का सुख छीनकर अनेकों घर वीरान कर देते हैं।

थ) इसी विधि गर कुछ ज्ञान आ गया तो उसी के आसरे अपना घर भी बरबाद कर दिया।

द) उस ज्ञान का आसरा लेकर अपने ही बच्चों को अनाथ बना दिया।

ध) उस ज्ञान का आसरा लेकर अपनी ही पत्नी को विधवा बना दिया और दूसरों को भी घर छोड़ देने की सम्मति देते हैं।

न) दैवी सम्पदा का ज्ञान देने चले थे पर घर उजाड़ दिये।

प) प्रेम का प्रचार करने चले थे पर प्रेमी गण को छोड़ दिया।

फ) जग का उद्धार करने चले थे कर्त्तव्य छोड़ कर।

भाई! यह सब तामस गुण की देन हैं।

- यह ज्ञान को निष्प्राण कर देता है।
- यह हरे भरे घर वीरान कर देता है।
- यह प्रेम पूर्ण जीवन को नीरस कर देता है।
- यह जहां भी जाता है, दुर्गन्ध फैलाता है। सो, यह दुर्गन्धपूर्ण अन्न है।

दुर्गन्धपूर्ण अन्न :

१. सुगन्ध तो यज्ञमय जीवन की ही होती है।

२. जब दूसरे को केवल दुःख ही दिया जाये तो ही उससे दुर्गन्ध उठती है।

३. अज्ञान से भरा हुआ कामना तृष्णा पूर्ण मन दुर्गन्धपूर्ण ही होता है।
४. दुर्भाग्यवश अज्ञान से प्रेरित होकर वह दुर्गन्ध ही फैलायेगा।
५. मुख से वाक् भी दुर्गन्ध भरे निकलेंगे, तब आपकी दुर्गन्ध वर्धक वृत्ति भी पुष्टि पायेगी।
६. (जब तुम दूसरे को यह असत् रूपा आहार दोगे तो यह) असत् वाणी, असत्पूर्ण जीवन, आप में भी असत्यता बढ़ायेगा।

बासी :

जीव बासी अन्न तब खाते हैं जब :

१. वे भूतकाल में रहते हैं। यानि, जो बात कल हो चुकी, उसी के ध्यान में रहते हैं।
२. इक बार किसी से रूठ गये तो जीवन भर के लिए वहां वैर का आहार एकत्रित हो जाता है।
३. किसी के दुश्मन बन जायें तो बाकी जीवन एक अखण्ड प्रहार बन जाता है।
४. पुरानी बातें भूल ही नहीं पाते।

- तामसी गुणपूर्ण की मनोग्रन्थी उसे नित्य अन्धा रखती है।
- मनोग्रन्थियां बासी तथा बीती बातों पर आश्रित होती हैं।
- जो कल का पुराना विरोध न भूले, वह बासा अन्न ही खाता है।
- वह स्वयं नित्य असंतुष्ट है और जग को भी असन्तुष्ट करता है। वह स्वयं परम दुष्ट बन जाता है।
- आधुनिक संस्कृति बिन देखे वह बासी ज्ञान की बातें करता है। यानि, ज्ञान तथा सत् को विज्ञान में परिणित करना असम्भव कर देता है।

जूठा :

तामस वृत्ति पूर्ण लोग जूठा खाते हैं। भाई! वे लोगों के कहे हुए वाक् चुराते हैं।

क) लोगों के कहे हुए वाक् चुराकर उन पर अपना नाम मढ़ते हैं।
ख) लोगों का धन चुराकर उसे अपना धन बना लेते हैं।
ग) लोगों का ज्ञान चुराकर उसे अपना ज्ञान बताते हैं।
घ) लोगों का मान चुराकर उस पर अपना नाम धर लेते हैं।

जूठन खाने वाले जग को भी जूठन देते हैं। ये जूठन खाने वाले जग को भी झुठला देते हैं। ये हर भाव को कुरूप कर देते हैं और सत् को भी झूठ बना देते हैं।

भाई! ये किसी और का अनुभव अपना बनाकर जग को दर्शाते हैं। ये किसी और के स्वप्न या योजन पर अपना नाम धर लेते हैं। क्या नेता गण, क्या साधुता अभिमानी, क्या सहज जीवन में साधारण जन, सब जूठन ही खाते हैं।

कमला! गर आपने कोई नई बात कही हो तो और बात है, वरना जूठन खाकर इतना गुमान क्यों करते हो ? कम से कम सच तो कहो कि यह किसी और की देन है। ज्ञान से तो दिनों दिन झुकना चाहिए

था, इतराना क्यों बढ़ रहा है ?

हर जीव को यह सत्य जान लेना चाहिए। गर हर जीव यह सत्य जान ले तो कृतज्ञता बढ़ जायेगी, सत्यता बढ़ जायेगी, प्रेम बढ़ जायेगा।

तामस गुण अपवित्र होता है।

१. मिथ्या सिद्धान्त सिद्ध करने वाला यही गुण है।
२. कर्त्तव्य विमुखता को जन्म देने वाला यही गुण है।
३. पावन को अपावन करने वाला यही गुण है।

क) जिसके मन में कृतघ्नता ही पके,
ख) जिसका न्याय अन्यायपूर्ण ही हो, यानि जिसकी बुद्धि अन्याय पकाये,
ग) दुराचार ही जिसका धर्म हो,
घ) अन्धकार ही जिसका प्रेरक हो,
ङ) अज्ञान ही जिसका प्रेरक हो।
च) मिथ्यात्व ही जिसका सत्त्व हो,

उसकी तन रूपा हांडी में असत् ही पकता है। वह पावन कैसे हो सकता है, जो अपवित्र अन्न खाता है ? वह मानो मन में अपावनता ही पकाता है और जो सामने आये, उसको अपावनता ही खिलाता है। इसी विधि उसकी अपावनता को और बल मिल जाता है तथा वह और पुष्टि पा जाती है।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो यह (शास्त्र) विधि देखकर,
२. फल की चाहना रहित पुरुष,
३. 'ऐसा पूजन करना ही चाहिए',
४. इस धारणा को मन में लिये यज्ञ करता है।
५. वह यज्ञ सात्त्विक होता है।

तत्त्व विस्तार :

सात्त्विक यज्ञ :

सात्त्विक यज्ञ शास्त्रोक्त विधि देखकर किया जाता है। यानि, शास्त्र निर्माणित :

क) जीवन रूप यज्ञ विधि देखकर किया जाता है।
ख) जीवन रूप कर्त्तव्य विधि देखकर किया जाता है।
ग) परम गुण बहाव रूपा विधि देखकर किया जाता है। यानि,

- जो साधक को शास्त्र की प्रतिमा बना दे,
- जो शास्त्र के हर श्लोक को मन्त्र बना दे,
- जो शास्त्र के हर श्लोक को (सामने) मूर्तिमान कर दे,

ऐसी शास्त्र की विधि जानकर किया जाता है, उसे समझ कर किया जाता है। जो इसे जान लेता है, वह इसे अपना कर्त्तव्य मानता है।

सतोगुणी शास्त्र कथित कर्त्तव्य करता है।

सत्त्व गुण सम्पन्न जीव शास्त्र कथित महा वाक्यों को अपना कर्त्तव्य मान कर निभाते हैं। चाहे उनकी अपनी कामना कुछ भी नहीं होती, तब भी वे कर्त्तव्य निभाते हैं। उनका अपना प्रयोजन कुछ भी नहीं होता, तब भी वे जीवन यज्ञ किये जाते हैं। वे केवल परम गुणों के भक्त होने के कारण शास्त्र विधि का अक्षरश: अनुसरण करते हैं। उन्हें स्वयं स्थापित नहीं होना होता, वे औरों को स्थापित करते रहते हैं।

वे तो अपने तन मन बुद्धि को भी भगवान को देने में लगे हुए होते हैं। उन्हें तो भगवान से भी कुछ नहीं चाहिए। 'यज्ञमय जीवन ही कर्त्तव्य है और यह करना ही चाहिए', उनकी ऐसी मान्यता होती है। 'करना ही चाहिए', ऐसी धारणा मन में धरे वे यज्ञ करते हैं।

देख मेरी जान! भगवान ने गीता में स्वयं कहा कि जीव का कर्त्तव्य क्या है!

जीव का कर्त्तव्य :

जीव का कर्त्तव्य है कि वह :

१. संग, कामना और तृष्णा छोड़ दे।
२. सकाम कर्म छोड़कर निष्काम कर्म करे।
३. भगवान जैसे धर्म वाला बनने का प्रयत्न करे।
४. कर्त्तव्य ही करने योग्य है, यह जान कर कर्म करे।
५. स्थित प्रज्ञ बने।
६. दैवी सम्पदा पूर्ण होने के प्रयत्न करे।
७. गुणों से प्रभावित न हो।
८. गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसा जानकर किसी को दोष न लगाये।
९. आत्मवान् बनने के प्रयत्न करे।

जैसे भगवान साकार होते हुए भी निराकार हैं, भक्त भी साकार होते हुए निराकार हैं, इत्यादि।

भाई! यह सब जीवन में व्यवहारिक स्तर पर मान लेना ही जीवन का महाश्रेष्ठ यज्ञ है। इसी ज्ञान के आसरे, उस पर आधारित जीवन ही यज्ञमय जीवन है और यही जीव का कर्त्तव्य है। सात्त्विक गुण पूर्ण लोग इसे ही कर्त्तव्य मानकर करते हैं।

- उनके कर्म निष्काम होते हैं,
- उनकी उपासना* निष्काम होती है।
- उनका ज्ञान निष्काम होता है,

सात्त्विक लोग शास्त्र विधि देखकर यज्ञ करते हैं।

शास्त्रानुसार यज्ञ :

ऐसे लोग गीता कथित आदेशानुसार ही :

क) जीवन में विचरते हैं।
ख) निष्काम कर्म करते हुए, अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं।
ग) योग करने के यत्न करते हैं।
घ) गुण उपार्जित करने के यत्न करते हैं।

---

* विस्तार के लिए ९/१४ देखिये।

ङ) स्थित प्रज्ञता जीवन में लाते हैं; इत्यादि।

कमला! यही कर्त्तव्य है जीव का! यही जीव को परम में लीन करा सकता है। इसी का अनुसरण करके जीव भगवान को पाता है। उसका भाव यही होता है कि 'यह कर्त्तव्य है, इसलिए करना ही है, परिणाम चाहे कुछ भी हो।'

शास्त्र विहित कर्त्तव्य कौन करता है?

परम में गहन निष्ठावान् ही ऐसा कह सकता है कि 'कर्त्तव्य ही है, सो करना ही है।'

१. परम को नित्य साक्षी बनाकर चलने वाला,
२. शास्त्र को परम आदेश मानने वाला,
३. जीवन में सच ही अपना तन भगवान को देने वाला,
४. जीवन में सच ही अपना मन, अपनी बुद्धि भगवान को देने वाला ही,
यह कह सकता है।

सात्त्विक यज्ञ करने वाले,

क) अपनी कामना को भूलकर अपना कर्त्तव्य निभाते हैं।
ख) अपने आपको भूलकर अपना कर्त्तव्य निभाते हैं।
ग) कर्त्तव्य करते हुए अपने पर इसका क्या प्रभाव होगा, इसका ध्यान नहीं धरते।
घ) सर्वभूतहितकर होने के नाते वे कर्त्तव्य ही करते हैं।
- कर्त्तव्य भगवान के गुण के प्रति होता है।
- कर्त्तव्य अपने स्वरूप, अपनी श्रेष्ठता के प्रति होता है।

जीवन यज्ञ में भागवत् गुणों की आहुतियां डाली जाती हैं और सत्त्व गुण पूर्ण लोग इसका अभ्यास करते हैं। वे फल की चाहना छोड़कर सबके कल्याण अर्थ आहुतियां देते रहते हैं इस यज्ञ में।

सतोगुण ज्ञान और प्रकाश से संग करवाता है।

किन्तु याद रहे नन्हूं! सतोगुण ज्ञान और प्रकाश से संग को उत्पन्न करता है। जिन लोगों को अपने सतीत्व का, दैवी गुणों का और ज्ञान का गुमान होता है, वे सिद्ध लोग नहीं हैं, वे अभी साधक हैं।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

भगवान कहते हैं, देख अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जो यज्ञ
२. फल को लक्ष्य बनाकर
३. और केवल दम्भ अर्थ किया जाता है,
४. उस यज्ञ को तू राजस् जान।

तत्त्व विस्तार :

कमला! पुन: राजसिक गुण सम्पन्न के मौलिक गुणों पर ध्यान लगा। तब यह राजसिक यज्ञ भी समझ आ जायेगा।

राजस वृत्ति :

राजसिक गुण सम्पन्न लोग,

क) कामोपभोग आसक्त होते हैं।

ख) नित्य अतृप्त, लोभी गण होते हैं।

ग) दम्भ पूर्ण लोग होते हैं।

घ) छल, कपट, धृष्टतापूर्ण होते हैं।

ङ) स्वार्थ पूर्ण तथा दुराचारी होते हैं, इत्यादि।

ऐसे लोग केवल अपने मतलब को सिद्ध करने के लिए ही कार्य प्रेरित करते हैं। उनका यज्ञ क्या और कैसा होगा, यह तुम स्वयं सोच लो!

राजस यज्ञ :

भाई! वे तो आसुरी सम्पदा सम्पन्न होते हैं।

- वे तो अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।
- वे अपने को बुद्धिमान् मानते हैं।
- वे तो अपने आप को बलवान् मानते हैं।
- वे काम, क्रोध और अगाध लोभपूर्ण होते हैं।

लोभ :

लोभ मान का भी होता है, बल और धन का भी होता है। भाई! जीवन के हर पहलू में ये लोग 'मैं' की प्रधानता चाहते हैं, ये यज्ञ भी इसी कारण करते हैं। यानि, केवल अपने को स्थापित करने के यत्न करते हैं, अपना अहंकार वर्धन करने के यत्न करते हैं। यानि, उनकी सेवा भी कामना शून्य नहीं होती। उनका प्रेम, उनकी दोस्ती भी कामना शून्य नहीं होती। उनका सहयोग, उनका दृष्ट कर्म भी कामना शून्य नहीं होता।

चाहे कामना धन की हो या मान की, जैसी भी कामना है, वह 'मैं' के वर्धन की ही है। पहले आसुरी और दैवी गुण पूर्ण की निहित चाह और दृष्टिकोण देख ले।

आसुरी सम्पदा पूर्ण	दैवी सम्पदा सम्पन्न
१. केवल 'मैं' को स्थापित करना चाहता है।	१. 'मैं' की जगह पर सत् को स्थापित करना चाहते हैं।
२. तनो उपासक ही नहीं, यानि मूर्ति उपासक ही नहीं, ये बुत स्वयं ही हो गये होते हैं, बुत तद्रूप जो हो गये।	२. बाह्य नाम, राम या ओम् कहो, या भगवान को मूर्तिमान् करके अपने तनो बुत उपासना छोड़ देते हैं। वे तो निज तन से भी नाता तोड़ रहे हैं और परम से नाता जोड़ रहे हैं।
३. इनको तो सबसे कुछ लेना है, क्योंकि निज तन स्थापित जो करना है,	३. इन्होंने तो अपना सर्वस्व भगवान को ही देना है, यानि तन भी भगवान को

आसुरी सम्पदा पूर्ण	दैवी सम्पदा सम्पन्न
रुचिकर पाकर मन रिझाना है, बुद्धि को भी श्रेष्ठ कहलवाना है।	देना है, मन और बुद्धि भी भगवान को देने हैं।
४. इन्हें जग से भी मान पाना है।	४. इन्हें तो भगवान को मान देना है।
५. जग से वफ़ा ये चाहते हैं।	५. ये भगवान से वफ़ा निभाते हैं।
६. जग से प्रेम ये चाहते हैं।	६. ये भागवद् प्रेम बहाते हैं।
७. ये क्षमा नहीं कर पाते हैं।	७. ये क्षमा स्वरूप बन जाते हैं।
८. कर्त्तव्य का नाम ये नहीं जानते।	८. कर्त्तव्य ही इनका जीवन है।
९. इन्सान को ये ठुकराते हैं।	९. ये दूजे के मानपूर्ण गुण बढ़ाते हैं।
१०. ये धन पे बिक जाते हैं।	१०. ये स्वयं अनमोल बन जाते हैं।
११. द्वेष पूर्ण काम पर आश्रित हैं ये, नित्य अतृप्त ही रहते हैं।	११. निरासक्त ये उदासीन, नित्य तृप्त ही रहते हैं।
१२. ये मोह पूर्ण और अज्ञान से भरे होते हैं।	१२. ये नित्य ज्ञान और प्रकाश में रहते हैं।
१३. ये आवरण पूर्ण और दोषों से भरे होते हैं।	१३. ये परम गुण पूर्ण निर्दोष होते हैं।
१४. दूजे को ये नित्य व्याकुल करते हैं।	१४. ये सबके लिए शान्तिप्रद होते हैं।
१५. जीवन भर ये भिखारी रहते हैं।	१५. ये वर देने वाले दाता ही होते हैं।
१६. ये महा गुमानी गण होते हैं।	१६. यहां तो मान सब राम का होता है।
१७. निज नाम रूप ये नहीं भूल सकते।	१७. यहां नाम रूप भगवान का है, इसमें ही स्थित होना चाहते हैं।
१८. क्रोध से ये नित्य जला करते हैं और दूसरों को भी जलाते हैं।	१८. अपना आप ही भगवान को देकर ये शान्त हो जाते हैं।
१९. बीते हुए गिले शिकवे इनको आवृत्त किये रहते हैं, ये उन्हें भूलते ही नहीं।	१९. दुश्मन के प्रहार को भी ये भूल जाते हैं, यानि अपने चित्त में नहीं रखते। ये अपना चित्त अशुद्ध नहीं करते।
२०. आधुनिक पर, या कहें इनका जो भी आज है, उस पर कल जो बीत चुका है, उसका राज्य है; यानि, बासी बुद्धि और बासी मन है– उसमें बासी दुर्गन्ध होती है।	२०. ये आज की बात करते हैं, जो कल बीत गया, उससे प्रभावित नहीं होते। बासी बातों की गन्ध इनमें नहीं होती। इनके मन में पुराने प्रतिद्वन्द्वों के विकार नहीं होते।
२१. भाई! ये असुर हैं, इन्सान को खाते हैं।	२१. ये देवता हैं, असुरों को भी इन्सान बनाते हैं।

राजसिक लोग तो केवल कामना पूर्ति के लिए यज्ञ करते हैं। अपनी चित्त शुद्धि अर्थ ये यज्ञ नहीं करते, अपने में सद्गुण लाने के लिए ये यज्ञ नहीं करते, लोगों में धर्मात्मा कहलाने के लिए ये यज्ञ करते हैं। राजसिक यज्ञ, लोभी और कामना पूर्ण लोग करते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन :

शब्दार्थ :

१. विधिहीन,
२. बिन अन्न दिये,
३. मंत्रहीन, दक्षिणा रहित,
४. और श्रद्धा रहित यज्ञ को,
५. तामस कहते हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि जो यज्ञ विधिहीन होता है, यानि,

क) जो मनमानी करके किया जाये,
ख) जो केवल अपनी रुचि के अनुसार किया जाये,
ग) जो शास्त्र कथन के विरुद्ध हो,
घ) जो गीता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध हो,
ङ) जो कर्त्तव्य विरुद्ध हो,
च) जो भगवान के गुणों से विमुख करने वाला हो,
छ) जो सत्त्व के विरुद्ध करे,

वह विधिहीन है।

शास्त्रमय जीवन ही यज्ञमय जीवन है। जीवन यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। जो जीवन यज्ञ को भंग करे, वह तामसिक यज्ञ है।

जिसमें दूसरों को अन्न न दिया जाये, यानि,

१. जो कर्म केवल अपने ही कारण किया जाये, जिससे दूसरों को कुछ न मिले,
२. जो दूसरों के काम न आ सके,
३. जिसको करते हुए दूसरों को सुख न मिले,
४. जिस यज्ञ में गुरु सत्कार न हो,
५. जिस यज्ञ में दूसरों को मानसिक अन्न न मिले,
६. जिस यज्ञ में दूसरों को बुद्धि का अन्न न मिले,

वह तामसिक यज्ञ है।

देख कमला!

क) किसी भी गुण को उत्पन्न करके जग को देना सतोगुण है।
ख) किसी भी अन्न को उत्पन्न करके जग को देना सतोगुण है।
ग) किसी स्थूल गुण को उत्पन्न करके जग को देना सतोगुण है।
घ) किसी मनोगुण को उत्पन्न करके जग को देना सतोगुण है।
ङ) किसी बुद्धि गुण को उत्पन्न करके जग को देना सतोगुण है।

इसमें बुद्धि यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कह लो, क्योंकि यह,

क) सर्वाधिक सुखदे है।
ख) सर्वाधिक श्रेयस्कर है।
ग) सर्वाधिक श्रेष्ठ बनाने वाला है।

याद रहे, यह गुण आन्तरिक है और आन्तरिक दृष्टिकोण में निहित है। बाह्य कर्म तो सबं जीव करते ही हैं, उनमें निहित प्रेरक दृष्टिकोण देखना चाहिए।

भगवान कहते हैं कि जो यज्ञ मंत्रहीन हो, वह तामसिक यज्ञ होता है। यानि,

१. जिस प्रार्थना में भाव ही न हो,
२. जिस आरती में आर्त भाव ही न हो,
३. जो यज्ञ तो करे, पर सीस झुका न सके,
४. जो पूजा करे पर पूज्य भाव न हो,
५. जो मंत्र पढ़े, पर मनन की चाहना ही न हो,
६. जो निरर्थक बात करे भगवान से,
७. जो झूठी बात कहे भगवान को,
वह तामसिक यज्ञ है।

भाई! मंत्रहीन और श्रद्धाहीन यज्ञ करने के कारण यज्ञ सफल ही नहीं होता, वरना मंत्र के बोलते ही साधक उस मंत्र की प्रतिमा स्वयं बन जाता।

अदक्षिणम् :

क) जो यज्ञ बिना दक्षिणा दिये किया गया हो,
ख) सच्चाई से रहित किया गया हो,
ग) निपुणता तथा दक्षिणा से रहित किया गया हो,
घ) आज्ञाकारी बुद्धि से रहित किया गया हो,
ङ) जहां जीवन में मनन की सलाह ही न हो,
च) जो बिन शुभ दान दिये यज्ञ किया हो,

वह दक्षिणा रहित यज्ञ होता है।

श्रद्धा रहित :

तमोगुणी यज्ञ करने वालों की :

१. यज्ञ से लग्न ही नहीं होती,
२. यज्ञ में श्रद्धा ही नहीं होती,
३. यज्ञ के उद्देश्य में अभिरुचि ही नहीं होती,
४. यज्ञ में जो मंत्र कहे, उन्हें यथार्थ करने की सलाह ही नहीं होती,

यानि, उनका यज्ञ ढोंग ही होता है, धोखेबाज़ी ही होती है।

भाई! ये विभ्रान्त मनी लोग तामसिक यज्ञ करते हैं।

क) ये मोह जाल में फंसे हुए, काम क्रोध परायण लोग तामसिक यज्ञ करते हैं।
ख) ये आशा तृष्णा में अन्धे, अंधकार में फंसे हुए लोग तामसिक यज्ञ करते हैं।
ग) ये घमण्ड के कारण यज्ञ करते हैं, या कहें, घमण्ड के कारण ये यज्ञ का नाटक रचाते हैं।
घ) केवल 'मैं' की स्थापनार्थ ये यज्ञ करते हैं, केवल तन को स्थापित करने को ये यज्ञ करते हैं। यह तामसिक यज्ञ है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! तुझे शारीरिक तप के विषय में कहता हूं।

शब्दार्थ :

१. देव, श्रेष्ठ गण, गुरुगण और प्रज्ञापूर्ण विशिष्ट गण का पूजन,
२. शुद्धि, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा,
३. शारीरिक तप कहलाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

देव,

१. अलौकिक दिव्य गण को कहते हैं।
२. पूजनीय गण को कहते हैं।
३. अलौकिक परम तत्त्व दर्शन देने वालों को कहते हैं।
४. दैवी सम्पदा के अखण्ड बहाव रूप को कहते हैं।
५. तेजोमय को कहते हैं।
६. जीवों में भी परम गुण सम्पन्न को कहते हैं।
७. मल विमोचक देव हैं, दुःख और पाप विमोचक देव हैं।
८. कृपा पुंज, करुणा पूर्ण, देव हैं।
९. परम ब्रह्म, अखण्ड शक्ति, देव हैं।

द्विज गण,

क) लौकिक श्रेष्ठ कर्म करने वाले को कहते हैं।
ख) श्रद्धास्पद को कहते हैं।
ग) सत्कारणीय को कहते हैं।
घ) कल्याण करने वाले को कहते हैं।
ङ) सर्वभूत हित करने वाले को कहते हैं।
च) जो नित्य कर्त्तव्य परायण रहें, उन्हें कहते हैं।
छ) जो श्रेष्ठ शुभकारी हों, द्विज उन्हें कहते हैं।
ज) शास्त्रानुकूल यज्ञमय जीवन जिनका हो, द्विज उन्हीं को कहते हैं।
झ) हृदय में जिनके नित्य परम गुण वास करें, उन्हें द्विज गण कहते हैं।
ञ) ज्ञान की प्रतिमा जो बनें, द्विज उन्हीं को कहते हैं।
ट) सदाचारी और परम गुण बहाने वालों को द्विज कहते हैं।

गुरु :

१. गुरु, श्रेष्ठ को कहते हैं।
२. गुरु, ब्रह्म का वरदान है।
३. जो जीव ज्ञान दे और ब्रह्म की ओर ले जाये, उसे गुरु कहते हैं।
४. अध्यात्म तत्त्व जो समझाये, उसे गुरु कहते हैं।

गुरु इतने श्रेष्ठ होते हैं, जो साधारण से बनकर प्रमाण सहित अध्यात्म को समझाते हैं और आप जो ज्ञान देते हैं, उसका प्रमाण भी वे स्वयं होते हैं।

५. गुरु रूप नहीं होता, गुरु स्थिति होती है।

६. गुरु बाह्य रूप की बात नहीं, गुरु आन्तरिक श्रेष्ठता का परिणाम है।
७. गुरु उसी को जानिये जो ज्ञान भी समझा सके और उसका प्रमाण भी दे सके।
८. वहां मन, वाक् और कर्म एकरूप होते हैं।

परम गुरु वही है, जो अध्यात्म स्वरूप होते हैं। जिससे कुछ भी सीखा, वह गुरु मानने योग्य ही है। सत्पूर्ण जीव का सीस नित्य झुका ही होता है क्योंकि वह हर पल किसी न किसी से कुछ सीखता है और उसकी मानता भी है। गुरु समान बनने से ही गुरु पूजन होता है।

प्राज्ञ :

प्राज्ञ,
१. महा ज्ञानवान् को कहते हैं।
२. प्रज्ञावान् को कहते हैं।
३. जिन्हें जग से कुछ नहीं चाहिए, उन्हें कहते हैं।
४. जो जग में देवता समान हैं; यानि, जो लोग दैवी सम्पदा सम्पन्न हैं और ज्ञान स्थिति में स्थित, हैं, उन्हें कहते हैं।
५. जो स्थित प्रज्ञ है, उन्हें प्राज्ञ कहते हैं।

साधक तो देवता, द्विज, गुरु और प्राज्ञ का नित्य पूजन करते हैं।
क) इनका पूजन शारीरिक तप है।
ख) इनकी सेवा शारीरिक तप है।
ग) इन सबका अनुसरण शारीरिक तप है।
घ) इन सबका सेवा रूप कर्त्तव्य परम तप है।
ङ) इन सबका सहयोग परम शारीरिक तप है।

इस पूजन की सफलता, साधक की शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसक वृत्ति पर आश्रित है।

शुद्धता :

यह स्थूल कर्म की शुद्धता, यानि स्थूल कर्म राही जो शुद्धता पाये, उसकी बात है।

इन लोगों की सेवा अति कठिन है, क्योंकि :
क) ये स्वयं अपने लिए कुछ नहीं मांगते।
ख) इन लोगों की रुचि को भी जानना कठिन है।
ग) उनके काज उन्हीं के दृष्टिकोण से करने भी अति कठिन हैं।
घ) कर्म में शुद्धता न हुई, तो वे कुछ भी कर नहीं पायेंगे।
ङ) नन्हीं! सन्तों के पास रहना बड़ा कठिन होता है, क्योंकि उनकी सहज सच्चाई को सहारना मुश्किल है। वे साधक को उसकी गलतियां सहज जीवन में बताते हैं।
च) साधारण जीव को अपने विरुद्ध सुनना पसन्द नहीं होता, इस कारण इन्हें सहारना या बर्दाश्त करना काफ़ी कठिन होता है।
छ) सन्तों की यदि सेवा करनी हो तो उनके काज भी बहुत सरल तथा साधारण से होते हैं। बड़े बड़े काम करने आसान हैं, उम्र भर छोटे छोटे काम करते रहना बड़ा कठिन है।

ज) नन्हीं लाडली जान! सन्तों की सेवा करने से सेवक में भी शुभ गुण उत्पन्न हो जाते हैं। सन्तों की सेवा करना तप ही है।

*** आर्जव :**

आर्जव का अर्थ है :

१. मन तथा बुद्धि की सरलता;
२. मन तथा बुद्धि की विनम्रता, झुकाव;
३. निष्कपटता;
४. दम्भ तथा गुमान रहितता;
५. सीधापन।

नन्हीं! यदि जीव में आर्जवता नहीं तो वह किसी की पूजा या सेवा नहीं कर सकता।

*** ब्रह्मचर्य :**

१. ब्रह्ममय आचरण को ब्रह्मचर्य कहते हैं।
२. सत् व्रतधारी को ब्रह्मचारी कहते हैं।
३. जो ब्रह्ममय आचरण करने का व्रत धारण करे, वह ब्रह्मचारी है।
४. नित्य योगारूढ़ रहने वाले का व्रत ब्रह्मचर्य है।
५. परम गुणों का प्रयोग करने वाला ब्रह्मचर्य व्रतधारी होता है।
६. अपनी रुचि तथा अरुचि पर ध्यान न करके परम गुणों का अनुष्ठान करने का व्रत ब्रह्मचर्य है।
७. ब्रह्म के कोण से जग को देखने वाले ब्रह्मचारी होते हैं।

ब्रह्मचारी की कोई मान्यता या शर्त नहीं होती। वह तो केवल ब्रह्ममय जीवन बनाना चाहता है। यह ब्रह्मचर्य एक अखण्ड तप ही है।

*** अहिंसा :**

अहिंसा का अर्थ है,

- किसी का नुकसान न करने की वृत्ति।
- किसी को चोट न पहुंचाना।
- किसी की चोरी न करना।
- किसी का हक न छीनना।
- किसी को मिटाकर अपने आपको स्थापित न करना।

साधक अपने स्वरूप की भी हिंसा नहीं करता। 'मैं' रूपी अहं तथा अहंकार हिंसक ही होते हैं। अहंकार तो मानो हिंसा का स्वरूप है और हिंसा अहंकार का रूप है। अहिंसा निष्पाप, दिव्य प्रेम और दैवी सम्पदा का रूप है।

भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ गण का पूजन, शुद्धि, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये सब शारीरिक तप हैं। ये सब कर्म तन राही करने से सिद्ध होते हैं। तन ही सेवा करता है। तनो इन्द्रियों की राही ही साधक संयम, शुद्धता, ब्रह्मचर्य, सरलता तथा अहिंसा को सफल बना सकता है।

---

* आर्जव विस्तार के लिए १६/१ देखिये।
* ब्रह्मचर्य के विस्तार के लिए ६/१४ और ८/११ देखिये।
* अहिंसा के विस्तार के लिए १०/५ और १६/२ देखिये।

ये सब करते हुए आपके तन को भी कष्ट सहने पड़ते हैं। तन को ही तपस्या करनी होती है। भगवान ने इसे शारीरिक तप कहा है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

भगवान कहते हैं, अब तू वाणी का तप सुन!

शब्दार्थ :

१. जो उद्वेगकारी वाक् न हो,
२. जो सत्यप्रिय और हितकर हो,
३. स्वाध्याय का अभ्यास रूप हो;
४. वह वाणी का तप है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान अनेकों बार कह आये हैं कि :

१. अज्ञानी को ऐसा कुछ मत कहो जिससे वह विचलित हो जाये।
२. मूर्खों में भी बुद्धि भेद मत उत्पन्न करो।
३. मूर्ख तथा अज्ञानी गण के समान कर्म करते हुए ज्ञानी उनसे कर्म करवाता है।

सत् स्थित ज्ञानवान् :

क) सर्वभूत हितकर होते हैं।
ख) सर्वभूत क्षमापूर्ण होते हैं।
ग) निन्दा तथा मान के प्रति नित्य तुल्य भाव रखते हैं।
घ) प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रति समचित्त होते हैं।
ङ) दुश्मन या मित्र के प्रति समचित्त होते हैं।
च) कामना रहित होते हैं।

भाई! गर यह सच है तो सतोगुण सम्पन्न लोग, बुरे को न बुरा कहेंगे, न उसका परित्याग करेंगे। दूसरा भले ही इन्हें छोड़ दे, वे स्वयं नहीं छोड़ेंगे। वे अज्ञानी को विचलित करने वाली वाणी नहीं कहेंगे।

क्योंकि,

१. वे गुण राज़ को जानते होंगे।
२. दूसरा विवश है, यह जानते होंगे।
३. दूसरा अन्धा है, यह जानते होंगे।

तो मजबूर और अन्धे से क्या भिड़ना ?

ऐसा जानते हुए वे उन्हें उद्वेगकर वाक् नहीं कहेंगे। वे सत्य कहेंगे, जो जग को प्रिय लगे, वह भी कहेंगे, किन्तु हितकर भी कहेंगे। सत्, प्रिय तथा हितकर, इनका मिलन करना बहुत कठिन है।

- हितकर दूसरे को बता देना आसान है;
- कर्त्तव्य दूसरे को बता देना आसान है;
- झूठपूर्ण वाक्य कह देना बहुत आसान है।

यहां कहते हैं सत् भी हो और प्रिय एवं हितकर भी हो।

भाई! यह सब

- साधारण जीवों की बातें हैं;
- सत्त्व गुण बधित तथा प्रकाश तथा सुख संगी की बातें हैं। यानि, सतोगुण पूर्ण साधक के तप की बता रहे हैं।

अर्जुन का व्यवहार दुर्योधन के प्रति :

एक सूक्ष्म बात छिपी है इसमें, ध्यान से समझ!

गर अर्जुन को यही श्लोक लागू करें तो :

१. उसे दुर्योधन से नहीं भिड़ना चाहिए था।
२. दुर्योधन को यही प्रिय लगता, गर अर्जुन उसे कहता कि:

क) यह राज्य तुम ही ले लो!
ख) तुम ही महाश्रेष्ठ हो।
ग) तुम ही महावीर हो।

दुर्योधन की मनो उद्विगनता पल में शान्त हो जाती, गर पाण्डव उसे वह दे देते, जो दुर्योधन अपने लिये प्रिय समझता था, हितकर समझता था। अर्जुन ने उसे वाक् ही तो कहने थे। जो वाक् कृष्ण को अर्जुन ने कहे, वे वाक् दुर्योधन को अति प्रिय लगते।

अर्जुन ने कहा :

१. 'मैं गुरुगण को नहीं मारना चाहता।
२. पिता तुल्य बन्धु गणों को नहीं मारना चाहता।
३. उनका खून बहाने से तो भिक्षा मांग लेनी अच्छी है।
४. मैं घबरा गया हूं।
५. गाण्डीव उठाना मुश्किल हो गया है।
६. मैं युद्ध नहीं करूंगा, इत्यादि।'

भगवान का अर्जुन को आदेश :

भगवान ने अर्जुन से कहा :

क) कायर न बन।
ख) युद्ध कर।
ग) यही कर्त्तव्य है।
घ) आततायियों को मारना तेरा धर्म है।
ङ) मैं भी दुष्टता का नाश करने के लिए ही जन्म लेता हूं।

वह सम्पूर्ण गीता में अर्जुन को :

१. युद्ध करने के लिए कह रहे हैं।
२. कर्त्तव्य करने के लिए कह रहे हैं।
३. क्षत्रिय भाव में स्थित होने को कह रहे हैं।

भाई! अर्जुन तो दैवी सम्पदा सम्पन्न थे। अर्जुन तो जीवन भर दैवी गुण का अभ्यास करते आये थे। अर्जुन को भगवान ने कहा, 'तू गुणातीत बन; मेरे समान धर्म वाला बन।'

यहां जो कहा,

- यह सतोगुण अभ्यासी को कहा है।
- यह सतोगुण बधित के बारे में कह रहे हैं।
- यह साधक के प्रति कह रहे हैं।

अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ क्यों हुआ ?

अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ इसलिए हुआ क्योंकि वह :

१. हृदय से साधु ही था।
२. उदारतापूर्ण वृत्तियों से सम्पन्न था।
३. गुरु और द्विज पूजक था।
४. कृतज्ञता पूर्ण था।
५. आज्ञाकारी था।
६. सम्मान देने वाला था।
७. दुश्मनों को भी बचाने वाला था।

इसलिए जब दुर्योधन को उसके दुश्मनों ने आ घेरा था, तो उसने उसकी भी रक्षा की।

भगवान अर्जुन को वाणी का तप ही बता रहे हैं। वह अर्जुन को यह नहीं कह रहे कि 'तुम यह कहो, तुम यह न कहो।', या 'तुम दुर्योधन से ऐसे बोलो।' वह तो अर्जुन को गुण समझा रहे हैं, तथा अर्जुन को गुणातीत बनना सिखा रहे हैं।

ब्रह्म का स्वभाव :

ब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म है।
ब्रह्म के स्वभाव में प्रेम भी अपार है।
ब्रह्म के स्वभाव में क्षमा भी अपार है।
ब्रह्म के स्वभाव में न्याय भी अपार है।
ब्रह्म के स्वभाव में कर्म फल से कोई नहीं छूटता।

जीव को ब्रह्म का न्याय पसन्द आना मुश्किल है। भगवान तो मानो कहते हैं कि :

१. वाणी को कामना रहित बनाना तप है।
२. वाणी को सत्मय बनाना तप है।
३. साधक किसी से भी नहीं भिड़ता।

भाई! साधक या सत्त्वगुण सम्पन्न ऐसे ही स्वाध्याय का अभ्यास करता है।

स्वाध्याय :

स्वाध्याय का अर्थ है :

१. अपने लिए पठन करना और मन ही मन में मनन करना।
२. अपने लिए शास्त्र कथित विशेष शब्दों को अर्थ सहित ग्रहण करना।
३. शास्त्र कथित सत्त्व वर्णन करने वाले शब्दों का निहित सार जानने के प्रयत्न करना।
४. प्रथम शास्त्र को पढ़ना या सुनना, फिर शास्त्र कथित वाक् को समझने के प्रयत्न करना।
५. शास्त्र कथित वाक् पर चिन्तन करना।
६. शास्त्र कथित वाक् के स्वरूप को समझना।
७. शास्त्र कथित वाक् के रूप को समझना।
८. शास्त्र कथित वाक् के स्वरूप और रूप का मनोमन मनन करना और फिर उसे जीवन में ले आना।

यह सब स्वाध्याय का अभ्यास है। इसी विधि गुण अभ्यास भी होता है। यह अभ्यास ही तप है।

भाई! गुणातीतता भी अभ्यास से ही परिपक्व होती है। दैवी गुण भी प्रथम व्यक्तिगत रूप में उभरते हैं तथा अभ्यास के पश्चात् समष्टिगत रूप धरते हैं। तब वे दैवी कहलाते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

अब भगवान मन सम्बन्धी तप के विषय में कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. मनो प्रसाद, सौम्य भाव,
२. मौन, आत्म विनिग्रह, तथा भाव संशुद्धि,
३. यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

मनो प्रसाद :

मेरी नन्हीं प्रिय! प्रथम मनोप्रसाद को समझ ले।

क) प्रसाद मन की स्वच्छन्दता को कहते हैं।
ख) प्रसाद यज्ञशेष को कहते हैं।
ग) यज्ञ करने के बाद जो गुण आपको फल रूप में मिले, वह आपके लिए प्रसाद है।
घ) आपका यज्ञ ही लोगों के लिए प्रसाद है, क्योंकि निष्काम कर्म ही यज्ञरूप होते हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप लोगों को आपके यज्ञमय जीवन का प्रसाद ही तो मिलता है।
ङ) मनो शान्ति ही मनो प्रसाद है।
च) मन में उद्विग्नता का अभाव ही वह प्रसाद है।
छ) चिन्ता रहितता ही वह मनोप्रसाद है, जो आपको मिलता है।

नन्हूं! भगवान के नाम पर जो भी करो या भगवान के परायण होकर जो भी करो, वह यज्ञ ही होता है। यज्ञ का स्थूल परिणाम या यज्ञरूप प्रसाद आपके सहवासी गण को मिलता है। यह उन्हें सहज में ही मिल जाता है।

गर भगवान का साक्षित्व हो, तब जीव सब कुछ दूसरे के लिए करता है। भगवान रचित विधान राही जो भी आपको मिले, उसे आप शिरोधारण करें तथा आपके तन की हर चेष्टा सर्वभूत हितकर हो, उस जीवन रूपा यज्ञ को करते हुए परिणाम में मनो प्रसाद मिलेगा ही।

मन का प्रसाद तब ही मिल सकता है, जब मन,

१. अपनी रुचिकर की प्राप्ति में संलग्नता छोड़ देता है।
२. लोभ कामना से आसक्ति छोड़ देता है।
३. अपनी तनो स्थापना की लालसा छोड़ देता है।
४. अपनी ही मान प्रतिष्ठा का लोभ छोड़ देता है।
५. दूसरे जीव की ओर देखना आरम्भ करता है।
६. दूसरे जीव को स्थापित करने की सोचता है।

यज्ञ भी तब ही आरम्भ होता है।

जो प्रसाद लोग पायेंगे वह,

– करुणा, अनुकम्पा तथा वात्सल्य पूर्ण होगा।

- क्षमा, कृपा तथा प्रेम पूर्ण होगा।
- दु:ख हारी, विपद विनाशक होगा।

यही मन का प्रसाद है।

सौम्य मन क्या है ?

मनो सौम्य भाव तब ही होगा जब,

क) मन अपनी विपरीतता छोड़ देगा।

ख) यह मन आसुरी गुण रहित हो जायेगा।

ग) विध्वंसक वृत्तियों का अभाव हो जायेगा।

घ) जग का विरोध छोड़ देगा।

ङ) दम्भ, दर्प छोड़ देगा।

च) यह आशा, तृष्णा के पाश से विमुक्त हो जायेगा।

छ) निर्द्वन्द्व मनी हो जायेगा और प्रेम बहाना सीख लेगा।

ज) दूजे का सुहृद् बन जाना सीख लेगा।

झ) दूजे को मनाना और रिझाना सीख लेगा।

भाई! जब मन झुकना सीख लेगा तब ही यह परम गुण सीख सकेगा। तब यह मन ही प्रसाद और नित्य आनन्द रूप हो जायेगा। तब यह शान्त भाव को पा लेगा।

मौन :

मौन क्या है ?

ध्यान से देख कमला! मौन मन का गुण है, मौन को मन का तप कहा है, मौन को वाणी का तप नहीं कहा। यानि, वाणी को बन्द करने को नहीं कहा, मनो मौन ही मौन है। यानि :

१. संकल्प विकल्प का नितान्त अभाव,
२. पूर्ण द्वन्द्व अभाव,
३. विकलता और लोभ रहितता,
४. समचित्तता,
५. नित्य तृप्तता,

मनो मौन है।

भाई! मनो मौन का प्रसाद मौनी को और जहान को, यानि दोनों को मिलता है।

मौनी स्वयं :

क) नित्य तृप्त हो जाता है।

ख) उदासीन हो जाता है।

ग) निर्मम हो जाता है।

घ) निर्मोह हो जाता है।

ङ) समत्व स्थित हो जाता है।

च) स्थित प्रज्ञ हो जाता है।

छ) गुणातीत हो जाता है।

ज) दैवी सम्पदा सम्पन्न हो जाता है।

झ) ज्ञान स्वरूप हो जाता है।

ञ) पाप विमुक्त हो जाता है।

ट) योग में स्थित हो जाता है।

ठ) भाई! वह स्वयं सत् चित्त आनन्द घन हो जाता है।

ड) वह पुरुषों में पुरुषोत्तम हो जाता है।

तब उसके लब तो बोलते हैं किन्तु मन नित्य मौन रहता है। दूसरी ओर मौन से जग भी प्रसाद पाता है।

मौन का परिणाम जग में

१. जग को अध्यात्म का प्रमाण मिल जाता है।

२. ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है।
३. ज्ञान का विज्ञान रूप मिल जाता है।
४. जीवन सत्मय कैसे हो, उसका अनुमान मिल जाता है।
५. शास्त्र ज्ञान जीवन में उपलब्ध हो सकता है, यह भी स्पष्ट हो जाता है।
६. जीव परम को पा सकता है, यह भी पता लग जाता है।
७. जीवन ही सहज विधि है परम पथ की, यह भी वह जान जाता है।
८. भाई! सच तो यह है कि जग को भगवान मिल जाता है।
९. जग को आश्रय मिल जाता है।
१०. जग को पुन: सत् में विश्वास हो जाता है।
११. जग को पुन: सत् में श्रद्धा हो जाती है।
१२. जग का उत्साह बढ़ जाता है।

भाई! मनो तप जब सफल हो जाये तब साधना सफल हो जाती है।

आत्म विनिग्रह :

१. आत्म विनिग्रह से अपने आपको वश में रखने की बात कही है।
२. क्यों न कहें, अपने स्वरूप में रहने की बात कही है।
३. अनात्म त्याग कर दें तो बाकी आत्म रह जायेगा।
४. अनात्म से संग गया तब ही तो मन मौन हो पायेगा।
५. परिणाम रूप आत्म में टिका, तब आत्म विनिग्रह हो ही जायेगा।

भाव संशुद्धि :

- जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल गया।
- जीवन में छल कपट का अभाव ही भाव संशुद्धि है।
- जीवन में भाव की सत्यता तथा शुद्धता का भाव ही भाव संशुद्धि है।

कमला! ज़रा ध्यान से सुन!

क) साधक मानो पृथ्वी लोक में आसन लगाकर परम लोक की ओर देखता है।
ख) दृष्टिकोण के परिवर्तन के पश्चात् 'मैं' मानो परम के तद्रूप होकर, परम लोक से भू लोक को देखता है।
ग) या कह लो, अपने ही तन को वह दूर से देखता है। यानि, अपने तन के दु:ख सुख को दूर से देखता है।
घ) वह केवल द्रष्टामात्र बनकर देखता है।

जो आपके जन्म जन्म के संस्कार धो ही देगा, यही मन का तप है मेरी जाने जान! परम तप की बात कहकर अब भगवान त्रैगुण रंगी तप समझाते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

भगवान कहते हैं, देख अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. फल की चाहना न रखने वाले,
२. युक्त पुरुषों द्वारा (किया गया),
३. परम श्रद्धा से तृप्त हुआ,
४. यही तीन प्रकार का तप,
सात्त्विक तप कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! तुझे अभी जो कायिक तप, वाणी का तप, और मन का तप समझाकर आये हैं, वह सात्त्विक तप है।

सात्त्विक तप :

यह तप :

१. निष्काम भावी पुरुष करते हैं।
२. निष्काम उपासक गण करते हैं।
३. निष्काम ज्ञानपूर्ण करते हैं।
४. वे पुरुष परम में दृढ़ निष्ठा वाले होते हैं।
५. वे परम परायण होते हैं।
६. वे परम में श्रद्धा रखने वाले होते हैं।
७. वे स्वरूप की ओर प्रवृत्ति वाले होते हैं।
८. वे जीवन यज्ञमय बनाये हुए होते हैं।
९. वे कर्त्तव्य रूप परम धर्म अपनाये हुए होते हैं।
१०. तन की परवाह उनको नहीं होती।
११. तन की परवाह तो दूर रही, उन्हें तो मन की भी परवाह नहीं होती।
१२. वे तो भगवान से प्रीत लगाये होते हैं।
१३. वे तो नाम को पाये होते हैं। अपना नाम भूलकर ये राम को अपनाये होते हैं।
१४. ऐसे ही लोग हैं जो राम को भी सप्राण करते हैं।
१५. राम राज्य इनके हृदय में होता है।

शनैः शनैः,

क) योग सफल इनका ही होता है।
ख) समत्व स्थित ये हो सकते हैं।
ग) सत् धर्म का ये प्रमाण बनते हैं।
घ) फिर राम आप ही इनमें मानो वास करते हैं।

ये सम्पूर्ण तप करने वाले, कर्म फल को न चाहने वाले योगी पुरुष, परम में श्रद्धा से तृप्त हैं, ऐसा कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

भगवान कहते हैं अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. और जो तप,
२. सत्कार, मान और पूजा के लिए,
३. केवल दम्भ से ही किया जाता है,
४. यह अस्थिर तथा चंचल तप है,
५. यह राजस (तप) कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

जो तप केवल दम्भ और दर्प अर्थ किया जाता है, वह राजसिक तप है।

दम्भ को प्रथम समझ ले।

दम्भ :

१. दम्भ धोखे को कहते हैं।
२. दम्भ छल कपट को कहते हैं।
३. दम्भ ढोंग को कहते हैं।
४. दम्भ पाखण्डी प्रपंच रचवाता है।
५. दम्भ, मिथ्या अभिमान के कारण अवास्तविक को वास्तविक दर्शाता है।
६. दम्भ आत्म स्तुति करवाना चाहता है।
७. दम्भ, दर्प पूर्ण वाक् कहलवाता है।
८. सौम्य तथा उज्जवल मुख, परन्तु पापाचारी जीवन दम्भ के कारण होता है।
९. दम्भ ही अहं की मान्यता को दृढ़ करता है।
१०. दम्भ अपनी कामना पूर्ति के कारण अपने आपको छिपाकर जग से कुछ चुराना चाहता है। जैसे मान जनक गुण कोई है ही नहीं तो ढोंग रचकर जग से मान ले लिया; तो कहेंगे जो मान आपको मिला, वह आपने चुराया है; आपको मिलना नहीं चाहिए था, क्योंकि आपके पास कोई माननीय गुण नहीं था।
११. (दम्भ पूर्ण लोग) कर्त्तव्य से बेगाने होते हैं।
१२. जब कर्त्तव्य पूर्ण करने के बहाने कोई चाहना पूरी करनी होती है तो वे कर्त्तव्य का भी ढोंग रचाते हैं।
१३. वे बनावटी और अवास्तविक दर्शन वाले लोग हैं।
१४. वे दिखावे वाले लोग होते हैं।
१५. वे विश्वासघाती लोग होते हैं।

ऐसे लोगों का तप भी तो बनावटी होगा; धोखा होगा, घमण्डपूर्ण ही होगा, क्योंकि वे,

- मान सत्कार के लोभी लोग होते हैं।
- अपनी पूजा करवाना चाहते हैं।
- अपनी स्थापति अर्थ अनेकों तप करते हैं।
- अपनी स्थापति अर्थ अनेकों कष्ट सहते हैं।

भाई! ये मिथ्याचारी भ्रष्ट गण होते हैं। रजोगुणी इन्हीं को कहते हैं।

रजोगुणी तप :

१. अनेकों व्रत ये धरते हैं।
२. अनेकों विधि कष्ट पूर्ण पूजा भी करते हैं।
३. शारीरिक कष्ट भी सहते हैं।
४. जल में भी खड़े रहते हैं।
५. कई कई दिन अन्न भी नहीं खाते।
६. धूप में भी खड़े रहते हैं।
७. सर्दी में भी तड़पते हैं।
८. बड़े मन्त्र जाप भी करते हैं।
९. अखण्ड पाठ भी धरते हैं।

पर अपने जीवन में यह सत् रूप तप नहीं करते। अपने जीवन में किसी विपरीतता को नहीं सहते

यह कर्त्तव्य करते हुए डरते हैं, सेवा करने से दूर भागते हैं।

भाई! यह रजोगुणी तप है।

भाई! यह तप न तो दीर्घकाल तक रहता है, न ही केवल क्षणिक होता है। मनो चंचलता के साथ साथ यह भी बदलता रहता है। गर कामना पूर्ण हो गई तो फिर कर लिया; गर कामना पूर्ण नहीं हुई तो इसे छोड़ दिया। इस तप में मन और बुद्धि का संयोग होता है और बुद्धि मन के पीछे चाकर बनकर चलती है। इस तप में सत् और बुद्धि का संयोग नहीं होता, क्योंकि इसमें निष्काम भाव नहीं होता।

रजोगुणी का तप केवल दम्भ पूर्ण होता है। फल की चाहना मन में धर कर वह तप करते हैं। यानि, मन का आदर सत्कार चाहते हैं। जीवन या वाणी की प्रशंसा चाहते हैं, अपने तन का पूजन चाहते हैं, यह चंचल और अस्थिर तप होता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

और अब सुन! भगवान तामसिक तप की बताते हैं,

शब्दार्थ :

१. जो तप मूर्खता पूर्ण आग्रह से,
२. अपने आपको पीड़ा देकर,
३. और दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है,
४. वह तामसिक तप है।

तत्त्व विस्तार :

मूढ़ आग्रह पूर्ण लोग कैसे होते हैं, यह समझ ले।

१. मूर्खता पूर्ण झूठे सिद्धान्तों को अपनाए हुए,
२. अवास्तविकता पर आश्रित,
३. विभ्रान्ति पूर्ण दृढ़ निश्चय किये हुए,
४. संशयपूर्ण निर्णय पर विश्वास किए हुए,
५. भ्रष्टात्मक वृत्ति से बन्धे हुए,
६. कर्त्तव्यविमुख धारणा में निष्ठा वाले,
७. बहकी बुद्धि वालों की दृढ़ ज़िद्द वाले,
लोग मूढ़ आग्रह पूर्ण होते हैं।

पथ भ्रष्ट का अपरिवर्तनशील निश्चय मूढ़ आग्रह होता है।

जो केवल अहंकार में बैठकर दूसरे को मारने का, तड़पाने का, तबाह करने और उजाड़ने का निश्चय करते हैं अर्थात् केवल दुःख देने का निश्चय करते हैं; वे इस निश्चय की पूर्ति अर्थ दूसरे को भी पीड़ा देते हैं, बहुत कष्ट देते हैं और स्वयं भी बहुत कष्ट सहते हैं। ये मूढ़ाग्रही होते हैं।

तामसिक तप :

ऐसे लोगों का तप भी तामसिक होता है। ये बदला लेना चाहते हैं, चाहे दूजे पर झूठा ही दोष सिद्ध करने के प्रयत्न करें; चाहे उसे मार कर स्वयं भी मारे जायें। बदला लेने का भाव ज़रूरी नहीं कि सच्चाई पर आधारित हो। ये शायद अपना झूठ ही छिपाना चाहते हों, जिसे दूसरे ने प्रकट कर दिया, या प्रकट कर सकता है; बस इस कारण उसे तबाह कर देते हैं।

भाई! तमोगुणी को सच और झूठ से क्या ? वे तो देहाभिमानी होते हैं, अज्ञान पूर्ण अन्धे होते हैं। वे तो केवल अपनी स्थापति चाहते हैं।

क) वे धर्म भ्रष्ट, धर्म को क्या जानें ?
ख) वे आचार भ्रष्ट, शिष्टाचार को क्या जानें ?
ग) वे मनोमूढ़, सत्‌मय व्यवहार को क्या जानें ?
घ) वे कपटी, यथार्थता को क्या जानें ?
ङ) वे दुर्मति, कर्त्तव्य को क्या जानें ?
च) वे सत्य से गुमराह, प्यार को क्या जानें ?

अपने आपको वे ख़ुदा मानते हैं और बातें भी ऐसी करते हैं, मानो ख़ुदा उन्हीं का हो।

१. उनके तप की प्रेरक वृत्ति का आधार दूसरे को गिराना और उसका नाश करना है।
२. इनके निर्णय झूठ पर आधारित हैं।
३. कोई बात ही नहीं होती पर ये बिगड़ जाते हैं और भड़क जाते हैं।
४. किसी ने सच कह दिया तो बिगड़ गये और भड़क गये।
५. किसी ने कर्त्तव्य करने को कह दिया तो बिगड़ गये और भड़क गये।
६. किसी ने मुखड़ा मोड़ लिया तो दुश्मन बन गये।

यह बिगड़ना, यह गिला, यह दुश्मनी, यह शिकवा, महा वैमनस्य का रूप धर लेते हैं और इनकी दुश्मनी जीवन भर की बन जाती है। उम्र भर के लिए लड़ाई छिड़ जाती है, उम्र भर के लिए नाते टूट जाते हैं और कर्त्तव्य छूट जाते हैं।

क्यों न कहें मेरी जान! उम्र भर के लिए ये भगवान से रूठ जाते हैं। इस विधि जन्म जन्म के लिए सत् की राह से जीव छूट जाते हैं। ये झगड़े अधिकांश,

क) अपनों में ही होते हैं।
ख) नाते बन्धुओं से ही होते हैं।
ग) मित्रता टूटने पर ही होते हैं।

क्यों न कहें, कर्त्तव्य विमुख होने का यह एक बहाना है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन! अब तू दान के तीन भेद सुन!

शब्दार्थ :

१. देना ही है (यानि, देना ही कर्त्तव्य है),

२. ऐसा मानकर जो दान,

३. देश, काल और पात्र का विचार करके,

४. अनुपकारी को दिया जाता है,

५. वह दान सात्त्विक है।

तत्त्व विस्तार :

प्रथम दान समझ ले।

दान :

दान का अर्थ है :

१. समर्पण करना,
२. उपहार देना,
३. पुरस्कार देना,
४. धर्मार्थ की गई उदारता,
५. दान को पवित्रकर भी कहते हैं,
६. किसी की रक्षा करना दान है।

भाई! सात्त्विक दान में :

क) दाता का अभिमान नहीं होता।
ख) 'मैं धनवान् हूं', ऐसा भाव नहीं होता।
ग) दान लेने वाला भिखारी नहीं होता।
घ) दान नतमस्तक होकर दिया जाता है।
ङ) दान प्रेममय और श्रद्धापूर्ण होता है।

दान देने वाला झुका हुआ होता है। वहां सब भगवान के नाम पर दिया जाता है, इसलिए सात्त्विक दान, देने वाले के दृष्टिकोण से भगवान को दिया जाता है। आधुनिक मान्यता पूर्ण दान दान नहीं है, वह तो केवल दानी का अभिमान है।

जो दान :

१. कर्त्तव्य मानकर दिया जाता है,
२. अपनी कमाई में भगवान का हिस्सा मानकर दिया जाता है,
३. कर्त्तव्य को परम देन मानकर भगवान के नाम पर दिया जाता है,
४. दूसरों का हक मानकर दिया जाता है,
५. अपने आपको पाषाण हृदय बनने से बचाने के लिए दिया जाता है,
६. अनुकम्पा तथा करुणा से प्रेरित होता है,
७. अपने को ही पावन करने के लिए दिया जाता है।
८. दरिद्र बनकर भगवान को दिया जाता है,

वह दान सात्त्विक है। वह निष्काम भाव से उसे देते हैं, जहां से प्रत्युपकार की सम्भावना न हो, कोई कामना पूर्ति की चाह न हो, जहां से नाम या मान मिलने की सम्भावना न हो। वहां निष्काम दान श्रद्धा और सत्कारपूर्ण भाव से दिया जाता है।

भगवान कहते हैं, देश, काल और पात्र देखकर दान दो, भले ही दूसरा आपका अपमान भी करे, चाहे वह कृतघ्न ही हो और कभी किसी का उपकार न मानता हो!

भाई! वह कैसा भी हो, इससे आपको क्या प्रयोजन ?

दान किस स्थिति में देना चाहिए ?

१. आपको तो स्थान देखना है उसका जीवन में और उसके अनुकूल देना है। यानि, जीवन में स्थिति देखनी है पात्र की, उसके अनुकूल देना है।
२. काल देखकर, जब उसे ज़रूरत हो, उचित समय यह दान दिया जाता है।
३. भाग्य देखकर दूसरे को देना है, सो देना ही है।
४. अनुकम्पा अर्थ तूने देना है।
५. शरणापन्न को देना है।
६. वह तुझको ठुकरायेगा, इसपे ध्यान तुम नहीं धरो।
७. वह तुझ पर कलंक लगायेगा, इसपे ध्यान नहीं धरो।
८. वह कृतघ्न है, कृतज्ञ नहीं है, यह तुम्हारे कहने की बात नहीं है।
९. वह कल्याण कभी करता नहीं है, यह तुम्हारे सोचने की बात नहीं है।

भाई! बुरा भला भगवान पे छोड़ दे। तुमने डूबते को बचाना है, यही तुम्हारा धर्म है। दान रूप औषध देकर तूने तो उसका प्राण बचाना है। ज्यों चिकित्सक के लिए दुश्मन क्या और सज्जन क्या, उसे तो पूर्ण शक्ति लगाकर मरीज़ को बचाना ही होता है, उसी विधि सत्त्व गुण सम्पन्न दानी को केवल देना ही आता है।

वह तो :

क) केवल गिरे हुए को पुनः उठाता है।
ख) विपद् विमोचक होता है।
ग) दुःख हर्ता होता है।
घ) क्षमा स्वरूप ही होता है।
ङ) दोष दृष्टि पूर्ण नहीं होता।
च) सरल स्वभाव का होता है।

वह दूसरे को क्या तोलेगा, वह दूसरे को क्या देखेगा ? उसकी तो बस करुणा बह गई।

नन्हूं! दान केवल धन का ही नहीं होता, दान तो :

१. अपने तन के श्रम का,
२. अपने मान का,
३. अपने गुणों का,
४. अपनी बुद्धि का,
५. अपने सुख और अपने आप का भी होता है।

यह दान दूसरों को स्थापित करने के लिए दिया जाता है। नन्हूं! दान आपने कौन सा, किसको देना है; यह आप जिसको देते हो, उस पर आश्रित है।

जिसे आप दान देते हो,

- वह कहां रहता है, यह भी देख लो।
- उसे उचित काल में ही दान देना चाहिए।
- जब दूसरे को उसका लाभ भी हो सके और दूसरे को उसकी ज़रूरत भी हो।

फिर आपको दान देना हो तो किसे दान दे रहे हो, उसे किस दान की ज़रूरत है, उसे वह दान दो। पात्र की पात्रता देखे बिना दान देना मूर्खता है। जिसका वह पात्र है, उसे वही दान दो!

नन्हूं!

क) किसी को प्रेम चाहिए।

ख) किसी को धन की मदद चाहिए तो किसी को नौकरी चाहिए।

ग) किसी को कोई कार्य सीखने में मदद चाहिए।

घ) किसी को डूबते हुए कारोबार में मदद चाहिए तो किसी को कारोबार आरम्भ करने के लिए आपकी बुद्धि चाहिए।

ङ) किसी को अपना टूटा हुआ घर जोड़ना है तो किसी को अपने टूटे हुए नाते से नाता जोड़ना है। किसी का बेटा रूठ गया है तो किसी का पति। किसी की पत्नी रूठ गई है तो किसी की इज़्ज़त लुट गई है।

इन सबको भिन्न भिन्न प्रकार की मदद चाहिए; इन सबको भिन्न भिन्न प्रकार का दान चाहिए; ये सब देखकर दान दो तब ही आपका दान सात्त्विक होगा।

नन्हूं! जो इन सब प्रकार का दान दे सकता है, वह ब्राह्मी स्थिति में ही होगा। वह दूसरे की परिस्थिति को देखकर अपने उस अंश तथा अंग का दान देगा जिसकी दूसरे को ज़रूरत है। इसका निरन्तर अभ्यास जीव के यज्ञ, तप तथा दान को परम तक पहुंचाता है।

किन्तु नन्हीं! ब्राह्मी स्थिति वाले का दान, सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक दान से परे है। वह तो दान स्वरूप है। उसका अखण्ड मौन ही उसका दान है। उसने तो अपनी 'मैं' रूपा अहं और अहंकार को दान में दे दिया होता है। परिणाम में वह :

१. जग को मानो एक भगवान दान में दे देता है।
२. जग को अध्यात्म प्रकाश दान में दे देता है।
३. जग को ब्रह्म को ही दान में दे देता है।
४. जो आये, वह अद्वैत में स्थित, उसके तद्रूप होकर अपना आप ही दे देता है।
५. अपना स्वरूप छोड़कर दूसरे की स्थिति के अनुरूप हो जाना सर्वोत्तम दान है।
६. अपना स्वरूप छोड़कर दूसरे की स्थिति के अनुसार कर्म संलग्नता ही सर्वोत्तम दान है।

ऐसा स्वरूप स्थित, देश, काल, पात्रता इत्यादि को नहीं देखता, किन्तु स्वतः वैसा करता है जो कि देश, काल और पात्रता के अनुकूल हो। उसकी गाली भी दान है, उसका प्रेम भी दान है।

नन्हीं! वह तो विलक्षण ही है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. परन्तु जो दान,
२. प्रत्युपकार के लिए,
३. वा पुनः फल के उद्देश्य से
४. और क्लेश पूर्वक दिया जाता है,
५. वह दान राजसिक माना गया है।

तत्त्व विस्तार :

रजोगुणी दान :

नन्हीं! यहां यह रजोगुण सम्पन्न, यानि लोभ और कामना पूर्ण के दान की बात बता रहे हैं और कहते हैं कि रजोगुणी लोग,

क) प्रत्युपकार की चाहना से दान देते हैं।
ख) इनका दान सकाम होता है।
ग) यानि वे दान देकर भी व्यापार करते हैं।
घ) वे अपना स्वार्थ कभी नहीं भूलते।
ङ) वे वास्तव में अपनी ही स्थापति अर्थ दान देते हैं।

भाई वे चाहते हैं कि :

१. मान मिल जाये।
२. प्रतिष्ठा हो जाये।
३. धन मिल जाये।
४. कोई चाकर बन जाये।
५. कोई समर्थक मिल जाये।
६. इनकी हर बात में लोभ तथा कामना छिपी होती है।
७. इन लोगों की सेवा और दान भी कामना रहित नहीं होते।

ये लोग बड़े बड़े काम करते हैं, बड़ा बड़ा दान देते हैं, परन्तु इनसे दान निकलवा लेना बहुत कठिन है। क्योंकि ये :

क) अनुकम्पा अर्थ दान नहीं देते।
ख) करुणा से प्रेरित होकर चिकित्सालय नहीं बनवाते। ये तो नाम कमाने के लिए बनवाते हैं।
ग) ये लोग यदि जग सेवा भी करते हैं, तो वह भी नाम कमाने के लिए।
घ) ये किसी को अपने एहसान के नीचे दबाने के लिए दान देते हैं या किसी से अपना काम करवाने के लिए दान देते हैं।
ङ) ये लोग दूसरे को दबाकर, दूसरे को झुकाकर, दूसरे को दुःखी करके और दूसरे का आत्म सम्मान छीनकर दान देते हैं।

ये स्वयं दम्भ, दर्प, अहंकार पूर्ण लोग हैं। जहां से कुछ न मिले, वहां ये दान नहीं देते। रजोगुणी किसी के दबाव के नीचे आकर भी दान दे देते हैं। ये खुशी से दान नहीं देते, भाई! मजबूरी से देते हैं, दुःखी होकर देते हैं। यही राजसिक दान है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अब तामसिक दान की कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो दान बिना देश काल के,
२. बिना सत्कार किए,
३. तिरस्कार पूर्वक
४. और कुपात्रों को दिया जाता है,
५. वह तामसिक कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

तामसिक दान :

तामसिक दान वह है जो,

क) दूसरे की स्थिति देखे बिना,
ख) दूसरे की जगह देखे बिना,
ग) आधुनिक परिस्थिति देखे बिना,
घ) सत्कार रहित,
ङ) दूसरे को तुच्छ मानकर,
च) आदर रहित, दिया जाये,
छ) जिस दान से दूसरे की गिरावट हो,
ज) यानि, उपहास करके जो दान दिया जाये,
झ) अपमान करके जो दान दिया जाये,
ञ) कटुता पूर्ण भाव से जो दान दिया जाये,
ट) कटाक्ष सहित जो दान दिया जाये, वह तामसिक है।

जो आप अन्धों की तरह देते हैं, उस दान को तामसिक जानिये।

उस दान में,

- पात्र को नीचा दिखाया जाता है।
- पात्र को निकृष्ट बताया जाता है।
- पात्र के प्रति घृणा होती है देने वाले की।
- देने वाला दातृत्व भाव गुमानी होता है।

तमोगुणी लोग मोहपूर्ण तथा अज्ञानी होते हैं। ये लोग आसुरी सम्पदा सम्पन्न होते हैं और धन का दुरुपयोग करते हैं।

कमला देख! जहां मोह होगा, मोह पूर्ण लोग वहां दान देंगे। साधु सन्तों को तो ये कम ही दान देंगे। वास्तविक साधु सन्तों, लोक सेवक संस्थाओं का ये निरादर और तिरस्कार ही करते हैं, किन्तु यदि वहां से व्यापार में नाम और लाभ मिल जाये तो ये गुप्त दान भी दे देते हैं।

नन्हूं! ज़रा ध्यान से सुन।

१. मोहपूर्ण, अज्ञानमय तथा मिथ्यात्व रमणी तमोगुणी लोग होते हैं।
२. महा हठीले, बहु पीड़ा सहकर दूसरों का अनिष्ट करने वाले तमोगुणी होते हैं।
३. श्रद्धारहित, कठोर, कुकर्मी व निष्ठुर तमोगुणी होते हैं।
४. धर्म विरुद्ध आचरण पूर्ण, भ्रष्टाचारी तमोगुणी होते हैं।

कमला! ज़रा सोच लो ये लोग किसको क्यों पैसे देंगे ?

५. किसी के दबाव में तो ये आने वाले नहीं हैं।
६. किसी की कामना से ये रुख बदलने वाले नहीं हैं।
७. चोर, डाकू, झूठे, बेईमान तो ये स्वयं हैं।
८. हरे भरे घर उजाड़ने वाले ये स्वयं हैं।
९. लोगों की आबरू लूटने वाले तो ये स्वयं हैं।

इन मोह तथा अज्ञान रूप अंधकार से बन्धे लोगों से मान, प्रेम या धन, कौन निकलवा सकता है? यह तो वहीं हो सकता है, जहां इनका मोह हो, जहां ये संग कर बैठें।

भाई! इन्हें मोह अपने बच्चों से होता है। इन लोगों के बच्चे अधिकांश दुराचारी होते हैं। ये लोग और इनके बच्चे व्यभिचारी होते हैं।

क) अपने बच्चों से सभी श्रेष्ठता की उम्मीद रखते हैं।
ख) अपने बच्चों को सभी कर्त्तव्य परायण बनाना चाहते हैं।
ग) स्वयं वे जैसे भी हों, बच्चे श्रवणकुमार जैसे ही चाहिएं।
घ) बच्चों से मोह सहज ही हो जाता है।

ये बच्चे ही इन लोगों का धन निकलवा सकते हैं और फिर उस धन का दुरुपयोग करते हैं। ये लोग बच्चों का तिरस्कार भी करते हैं, ये लोग बच्चों का निरादर भी करते हैं, पर धन भी उन्हीं को देते हैं।

कमला! हर जीव में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अंश होते हैं। देखना तो यह है कि प्रधानतय: वह क्या है?

गुणातीत :

गुणातीत की क्या पूछते हो! यदि गुणातीत हो जाये, तो उसकी बुद्धि गुणों से प्रभावित नहीं होगी।

गुण कितने बदलेंगे, यह तो भाव पर आधारित है। भाव से ही स्वभाव बनता है। एक बात तो निश्चित है कि गुणातीत और स्थित प्रज्ञ अपने सम्पूर्ण गुण दूसरों के लिए इस्तेमाल करेंगे। कौन, कब, कैसा आ जाये, कौन, कब, कैसी परिस्थिति आ जाये, जैसी ज़रूरत हो, वे उसी गुण को इस्तेमाल करते हैं। किन्तु,

१. उनकी बुद्धि नित्य निर्लिप्त रहती है।
२. वे कामना, तृष्णा, लोभ रहित होते हैं।
३. वे अज्ञान, अप्रकाश, मोह रहित होते हैं।
४. वे प्रकाश और ज्ञान से भी संग नहीं करते।
५. वे तो भगवान की तरह सबको देते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. ओम् तत् और सत्, (यह) तीन प्रकार से,
२. ब्रह्म का नाम बताया गया है।
३. उसी से सृष्टि के आदिकाल में,
४. ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे गये।

तत्त्व विस्तार :

कमला! ध्यान से समझ! भगवान कहते हैं कि ॐ में तत् सत् निहित ही हैं।

क) ओम्, तत्, सत् ही ब्रह्म के प्रतीक हैं और ब्रह्म को सम्बोधित करते हैं।
ख) ओम तत् सत् ही ब्रह्म की ओर ले जाते हैं।
ग) ओम तत् सत् में ही ब्रह्म की स्वीकृति निहित रूप से भरी हुई है।
घ) गर ओम तत्, सत् ही हृदय में हो तो जीव जीवन में सब कुछ ब्रह्म के चरणों में अर्पित करता है।
ङ) जब जीव पूर्ण रूप से ओम् तत् सत् में ही मानते हैं, तब ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ रचे जाते हैं।

ब्राह्मण, वेद और यज्ञ ब्रह्म का धरती पर रूप हैं। ब्राह्मण स्वरूप स्थित चाहिए। वेद, जो ज्ञान है, ब्राह्मण के जीवन की वाङ्मय प्रतिमा चाहिए, ब्राह्मण का जो जीवन होता है, उसे यज्ञ कहते हैं।

ओम् :

१. अखण्ड अक्षर ब्रह्म की पूर्णता की व्याख्या है।
२. अक्षर ब्रह्म का नाम है, जिसमें उसके सम्पूर्ण गुण निहित हैं। ओम् नाम से जीव उस अनामी, अव्यक्त व्यक्त, निराकार, अखिल रूप की व्याख्या करता है।
३. ओम् नाम लेकर जीव अपनी व्यक्तिगतता का त्याग करके पुनः परम की अखण्डता में समाहित होता है।

उस परम ज्ञातव्य और प्राप्तव्य को पाने की विधि भी ओम् नाम ही है।

ओम् को चतुष्पाद वाला कहते हैं।

ओम् को तीन मात्रा वाला भी कहते हैं।

(मात्रा से यहां साधक की साधना, स्थिति तथा पड़ाव रूपी कला की ओर संकेत है।)

ले मेरी नन्हीं जान! ओम् को सविस्तार समझ ले।

ब्रह्म का दूसरा नाम ओम् है,

१. स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, सम्पूर्ण ओम् में समाहित हैं।
२. पूर्ण जग जो दृष्ट रूप में वैश्वानर है, वह ओम् का ही अंग है।
३. पूर्ण जग का जो अव्यक्त, अदृष्ट, सूक्ष्म रूप है, वह भी ओम् का ही अंग है।

४. दृष्ट अदृष्ट तथा मानसिक खिलवाड़ से प्रकट किया हुआ जग भी उस ब्रह्म का ही अंश है।
५. इन सबसे परे ब्रह्म स्वयं भी अपने ही 'ओम्' नाम से सम्बोधित होता है।

ब्रह्म का नाम ही 'ओम्' है :

ओम् को समझना अनिवार्य है। पूर्ण की पूर्णता समझने के लिए ओम् को समझना ज़रूरी है।

क) पूर्ण की पूर्णता में समाने के लिए,
ख) व्यक्तिगतता त्यागकर समष्टि में एक रूप हो जाने के लिए,
ग) अपने नाम रूप से संग मिटाने के लिए,
घ) अपनी देहात्म बुद्धि से निवृत्ति पाने के लिए,
ङ) परम में खो जाने के लिए भी,

ओम् को विस्तार से जानना ज़रूरी है। ओम् को सविस्तार रूप में समझ ले! ओम् को चार पाद में विभाजित करते हैं। इन चतुष्पाद के आसरे ब्रह्म ने पूर्ण रूप धारण किए हैं, यानि ये चारों पाद वह आप ही हैं। इन पादों को ब्रह्म के अंग मान लेना और उसके अंग जानकर जीवन में व्यवहार करना ही आपको ब्रह्म की ओर ले जायेगा।

ओम् के प्रथम पाद को ब्रह्म रूप जान कर जीव मानो ब्रह्म या ब्रह्म योग की प्रथम मात्रा में सिद्धि पा जाता है।

ओम् की तीन मात्रायें कही हैं। मानो परम से मिलने के लिए साधक को पहले जीवन में उन तीनों पड़ावों पर सिद्धि पानी पड़ती है।

अब इसे पुन : समझ ले।

ॐ के चार पाद

प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद
१. अ	उ	म्	ँ
२. प्रथम मात्रा	द्वितीय मात्रा	तृतीय मात्रा	अमात्रा
३. वैश्वानर	तैजस्	प्राज्ञ	तुरिया
४. विराट रूप	आसुरी या दैवी भावना फिर दैवी सम्पदा	गुणातीत फिर स्थित प्रज्ञता	मौन
५. स्थूल	सूक्ष्म	कारण	नित्य मौन
६. जागृतावस्था समतुल्य	स्वप्नावस्था समतुल्य	सुषुप्ति अवस्था समतुल्य	इन सबसे परे
७. तनोमय कोष	मनोमय, प्राणामयं और विज्ञानमय कोष	आनन्दमय कोष	मौन

प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद
८. व्यक्त	अव्यक्त रमणी, मनो रमणी	नित्य समाधिस्थ	नित्य मौन
९. त्याग	वैराग्य	संन्यास	ब्रह्मी स्थिति
१०. दान	तप	यज्ञ	साधारणता में विलक्षणता

यह सब ओम् के ही अंग हैं तथा इन्हीं अंगों में पराकाष्ठा पा जायें तो ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बनते हैं। यानि, परम ज्ञान का रूप उनका जीवन होता है; यानि, यज्ञमय जीवन होता है। उनका ज्ञान वेद रूप ज्ञान होता है और ऐसे परम स्थिति पूर्ण का नाम ही ब्राह्मण होता है।

* ओम् का प्रथम पाद- वैश्वानर

ओम् के प्रथम पाद को वैश्वानर रूप कहा है और इसकी समतुलना जागृतावस्था से की है। यानि,

१. जो कुछ भी जागते हुए दिखता है या अनुभव होता है, वह वैश्वानर का है।
२. सम्पूर्ण विश्व मानो उसी ने धारण किया हुआ है।
३. ब्राह्मण को विश्वेश्वर, परमेश्वर का निजी रूप कहा है।
४. जो भी है, जहां भी है, वह उस पूर्ण की पूर्णता का ही अंश है और उसी पूर्ण का दृष्ट या स्थूल अंग है।
५. दृष्ट सृष्टि को ओम् का प्रथम पाद या ओम् की प्रथम मात्रा कहा गया है। कमला! इसी मात्रा में साधक जीवन राही साधना का प्रथम पड़ाव पार करता है। उपनिषद् में कहते हैं जो ओम् के प्रथम पाद को जानता है, वह सबका प्रधान हो जाता है।

प्रथम इसे समझ ले।

वह पूर्ण जीवों को और सृष्टि को,

१. ब्रह्म का रूप मानता है।
२. ब्रह्म का रूप जानकर सब की सेवा करता है।
३. उनके प्रति अपने कर्त्तव्य करता है।
४. नित्य निष्काम कर्म करता है।
५. मन में प्रेमपूर्ण भाव रखता है।
६. सबको स्थापित करना चाहता है।
७. सबको माननीय बनाने के प्रयत्न करता रहता है।

वह सर्वभूत हित करने वाला सबको प्रिय होगा ही। या यूं कहें,जो निष्काम भाव से सेवा करता रहेगा, वह सबका प्रिय हो ही जायेगा। एक दिन जग उसे अपना ही लेगा। नन्हूं! जिसे जग से कुछ नहीं चाहिए, वह जग को जीत ही लेता है। वह सबकी सेवा करता है तो जग उसे अपना नेता बना ही लेता है।

* ॐ के विस्तार के लिए माण्डूक्योपनिषद् देखिये।

ॐ का द्वितीय पाद- तैजस् :

ओम् का दूसरा पाद तैजस् है।

माण्डूक्योपनिषद् में इस पाद तथा मात्रा की तुलना स्वप्न से की गई है।

क) इसे सूक्ष्म लोक भी कहते हैं।
ख) मनोलोक इसी को कहते हैं।
ग) बेबुनियाद यह मनोलोक ही होता है।
घ) कल्पना तैजस् में होती है।
ङ) मान्यताएं, चित्त जड़ ग्रन्थियां इसी लोक में होती हैं।
च) संग, चाहना, मोह इत्यादि ओम् की इस मात्रा में होते हैं।
छ) मन का लोक भी यही है।
ज) संकल्प विकल्प भी यहीं वास करते हैं।
झ) विकार भी यहीं पर होते हैं।
ञ) सम्पूर्ण द्वन्द्व इसी जगह रहते हैं।
ट) जीवन में सारी बुरी बातें इसी के कारण होती हैं।
ठ) मान्यता की विकृति यहीं पर होती है।
ड) मानसिक सृष्टि का अधिष्ठाता देव यही है।
ढ) जीव की सम्पूर्ण साधना भी तैजस् में होती है।
ण) नन्हीं जान! स्थूल में जीव जो कुछ भी करते हैं, उसमें रंग तैजस् से ही भरा जाता है।
त) तैजस् मनो लोक को कह लो।
थ) चेतनता, चिन्तन, चेत, अर्धचेत तथा अचेत, सब तैजस् में ही होता है।
द) कार्य कर्म की प्रेरक शक्ति इस में ही निहित होती है।
ध) सम्पूर्ण विकार भी तैजस् में निहित हैं और निर्विकार होने की चाहना भी यहीं उठती है।
न) साधक भाव का जन्म भी यहीं होता है और साधना भी यहीं होती है।
प) मानसिक ग्रन्थियां भी यहीं होती हैं और मानसिक ग्रन्थियों का भंजन भी यहीं होता है।

साधक जब जग को वैश्वानर रूप में जान लेता है तत्पश्चात् वह अपने आन्तर में :

- जो प्रतिक्रियाएं होती हैं,
- जो विकार उठते हैं,
- जो राग द्वेष, जो उत्तेजनाएं उठती है, उनके दर्शन करता है।

फिर शनैः शनैः वह इनका भंजन करते हुए सत् की ओर बढ़ता जाता है।

नन्हूं! तैजस् से ही शक्ति पाकर जीव का मन अपने कार्य में तत्पर होता है। तैजस् में ही वैमनस्य, घृणा तथा अन्य आसुरी प्रवृत्ति कारक गुणों का वास है और तैजस् में ही गुण प्रवृत्ति कारक गुणों का वास भी होता है। इसी लोक में मनोविकार, लोभ तृष्णा भरे हुए होते हैं।

इसी लोक में :

१. संग, मोह, अज्ञानता के आवरण होते हैं।
२. मिथ्यात्व और कल्पना वास करते हैं।
३. अतृप्ति तथा मनोग्रन्थियां होती हैं।
४. द्वन्द्व उठते हैं।
५. क्षोभ तथा व्याकुलता उभर आती है।

कमला! साधना भी इसी लोक में होती है। जब जीव अपने आन्तर में देखता है तो उसे आन्तर्मुखी कहते हैं।

आन्तर्मुखी :

वह आन्तर्मुखी होकर अपने दर्शन करता है। अपने सद्गुणों से अपनी बुद्धि को तोलता है; अपने स्थितप्रज्ञता के चिन्हों से अपनी बुद्धि को तोलता है। जब वह अपने को आसुरी सम्पदा पूर्ण जानता है और मानता है, तो

क) वह अपने गुण बदलना चाहता है।
ख) वह गुण संग छोड़ना चाहता है।
ग) वह गुणातीत होना चाहता है।

शनैः शनैः मनोलोक में साधना करता करता वह प्रज्ञालोक में पहुंच जाता है।

तप :

तप तैजस् लोक में होता है,

१. जब मन विपरीतता को मुसकरा कर सहता है।
२. जब मन कर्त्तव्य परायण होकर लोगों की सेवा करता है।
३. जब मन भक्ति पूर्ण हृदय से परम गुण अभ्यास करता है।

तप सफल हो जाने पर जीव ॐ के तृतीय पाद, या कहें साधना की तृतीय मात्रा पर पहुंचता है।

ॐ का तृतीय पाद- प्राज्ञ :

तृतीय पाद को प्राज्ञ अवस्था कहते हैं। तृतीय पाद की समतुलना सुषुप्ति से करते हैं। प्राज्ञ में जीव प्रज्ञावान् होता है। तब वह,

क) राग द्वेष रहित होता है।
ख) गुणातीत होता है।
ग) मान अपमान में तुल्य होता है।
घ) सुख दुःख में समचित्त होता है।
ङ) निवृत्ति या प्रवृत्ति से नहीं घबराता।
च) वह नित्य तृप्त होता है।
छ) वह कामना और चाहना से रहित होता है। यह देवताओं की स्थिति है।

इन सबसे यह समझ ले कमला, उसे जग से कुछ नहीं चाहिए। उसके लिए मानो वह सो गया होता है, क्योंकि :

- अब उसका किसी पर अधिकार नहीं होता,
- अब वह किसी के आश्रित नहीं होता,
- अब वह संकल्प विकल्प से दूर हुआ होता है।

उसे संसार से अपने लिए कुछ नहीं चाहिए होता। पर याद रहे, इस स्थिति तक:

१. वह दैवी सम्पदा का अभ्यास करते करते पहुंचा है।
२. कर्त्तव्य परायण होकर ही पहुंचा है।
३. चित्त शुद्ध करके ही पहुंचा है।

नन्हूं जान! फिर से समझ। उस साधक का किसी पे निजी अधिकार नहीं रहता, पर साधक पर जिसका अधिकार है, उसे वह नहीं छीनता। वह स्वयं किसी पर आश्रित नहीं होता, परन्तु जिसका वह आश्रय है,

उसे आश्रय रहित नहीं करता। वास्तव में वह तो अपने तन, मन, और बुद्धि को भूल गया है, वह अपने तन, मन, बुद्धि के प्रति उदासीन हो गया है, सो गया है। दूसरे लोगों के लिए वह जागता है। उसका जीवन एक यज्ञ रूप रह जाता है।

ॐ का चतुर्थ पाद- तुरिया :

चतुर्थ पाद को तुरिया अवस्था कहते हैं। यह,

क) ओम् का या परम ब्रह्म का स्वरूप है।
ख) वाक् परे की बात है।
ग) भगवान का तत्त्व स्वरूप है।
घ) सत् असत् से परे है।
ङ) वह है, जिसे आत्म स्वरूप कहते हैं।
च) वह है, जिसे अध्यात्म तत्त्व नित्य प्रकाश भी कहते हैं।
छ) वह है, जिसे परम पुरुष पुरुषोत्तम भी कहते हैं।
ज) वह है, जिसे दिव्य विशुद्ध, ज्ञान स्वरूप भी कहते हैं, इत्यादि।

तत् :

१. तत् से अभिप्राय उस ओम् से ही है, उस परम तत्त्व से ही है।
२. तत् कह कर कहते हैं कि जो है बस उसी का है।
३. तत् से तप करने वाले तपस्वी के गुण जानो, यानि कि वह तत् कह कर सब कुछ उस परम पे छोड़ देता है।
४. साधक तत् कहकर सब कुछ सह लेता है।
५. वह सब कुछ भगवान का समझता है।
६. कामना तथा चाहना को पूर्ण रूप से छोड़ देता है।
७. लोभ तृष्णा को छोड़ देता है।
८. साधक तत् कहकर मनो संग छोड़ देता है।

सत् :

सत् से अभिप्राय वास्तविकता से है। गर कामना तृष्णा नहीं रहे तो बाकी जो है सब भगवान का रह जाता है। मन जिस पल मौन हो जाये, बाकी जो रहे वह सत् ही होता है। मिथ्या केवल अपना मन है, अपना अहं है, बाकी सब कुछ सत् है। जो यह जानता है वह :

क) सर्वभूत हितकर हो ही जाता है।
ख) दान पूर्ण हो ही जाता है।
ग) उसके लिए , भगवान का भगवान को दे देने में क्या मुश्किल है ?

जब सब ब्रह्म ही है तो :

१. व्यक्तिगत 'मैं' की,
२. अहंकार, संग, मोह की,
३. आशा तृष्णा की,
४. लोभ की,

कहां जगह रह जाती है ?

मान अपमान के प्रति भी मन मौन हो जाता है।

सत् वाला हकीकत में जीता है। वह परम ब्रह्म की पूर्णता को जानते हुए कर्तृत्व भाव को त्याग देता है। तब,

- भोक्तृत्व भाव का अभाव हो जाता है।
- मनो संकल्प विकल्प रूपा विकार रहित हो जाता है।
- तनत्व भाव तथा देहात्म बुद्धि उसकी

नहीं रहती।

- वह अपने तन, मन तथा बुद्धि के प्रति नितान्त उदासीन हो जाता है।
- वह तो मानो परम में रंग जाता है।

भाई! भगवान कहते हैं कि उस ब्रह्म से ही सर्व प्रथम ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञ उत्पन्न हुए।

*** ब्राह्मण :**

क) पूर्ण की पूर्णता में स्थित जीव को यहां ब्राह्मण कहा है।

ख) पूर्ण की पूर्णता में स्थित जीव, जो भगवान है, उसकी बात कही है।

ग) यहां ब्राह्मण से ब्रह्म ज्ञानी की स्थिति वाले की ओर संकेत है।

घ) ब्राह्मण विधाता तथा परमात्मा को जानने वाले को कहते हैं।

ङ) यज्ञ करने वाले को भी ब्राह्मण कहते हैं।

च) शास्त्रज्ञ को भी ब्राह्मण कहते हैं।

छ) जीवन को यज्ञमय बनाने की विधि जानने वाले और समझाने वाले को ब्राह्मण कहते हैं।

ज) ब्रह्म में जीने वाले को ब्राह्मण कहते हैं।

वेद :

नन्हूं! यहां कहते हैं :

१. जो ब्रह्म ज्ञाता है वेद उसका ज्ञान और यज्ञ उसका व्यक्त प्रमाण हैं।
२. नन्हीं! यज्ञ ही ब्राह्मण का जीवन है और वेद यज्ञमय जीवन का ज्ञान है।
३. ब्राह्मण वेद तथा ज्ञान का प्रमाण है।
४. वेद में अखण्ड यज्ञमय जीवन का वर्णन है।
५. वेद ही अखण्ड यज्ञमय जीवन का दर्पण है।
६. वेद में अखण्ड यज्ञमय जीवन बनाने की विधि है।
७. ब्राह्मण, वेद और यज्ञ मिलकर ब्राह्मी स्थिति बनती है।
८. ब्राह्मण, वेद और यज्ञ मिलकर आत्मवान् बनता है।

यानि, बुद्धि और जीवन के संयोग से ही ब्राह्मण बनता है।

भगवान यहां कहते हैं कि ब्रह्म ने सर्वप्रथम ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रचे। यदि जीव इनका अनुसरण करे, तो ब्रह्म में स्थित हो सकता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

भगवान कहते हैं कि अर्जुन, क्योंकि 'ओम् तत्, सत्' में ही परम तत्त्व निहित है, इस कारण,

शब्दार्थ :

१. ब्रह्म का कथन करने वालों की,
२. यज्ञ, तप और दान की क्रियायें,

---

*विस्तार के लिए गीता ४/१३ और ९/३३ देखिये।

३. शास्त्र विधिवत्,
४. सर्वदा ओम् के उच्चारण से,
५. आरम्भ होती हैं।

तत्त्व विस्तार :

ओम् का उच्चारण :

नन्हीं जान! पूर्ण की पूर्णता को जानने वाले लोग जब विधिवत् यज्ञ, तप और दान की क्रियाओं को करते हैं, तब सर्वप्रथम 'ओम्' कहते हैं, क्योंकि :

१. पूर्ण ओम् ही है, यह वे जानते हैं।
२. पूर्ण ब्रह्म ही है, यह वे जानते हैं।
३. ओम् कह कर वे, हर क्रिया ब्रह्म को अर्पित करते हैं।
४. ब्रह्म का मानो साक्षित्व उपलब्ध करते हैं।
५. ब्रह्म का मानो आह्वान करते हैं।
६. ब्रह्म का मानो स्तुवन करते हैं।
७. ब्रह्म का उदाहरण सम्मुख धरते हैं।
८. ब्रह्म के समान यज्ञ, तप, दान करते हैं।

ब्रह्म अर्पित कर्म :

गर सब ब्रह्म का जानकर काज क्रिया करो तो :

क) वह निष्काम हो जायेगी।
ख) आप कामना अर्थ काज नहीं कर पाओगे।
ग) आप फल की चाहना पर ध्यान नहीं दोगे।
घ) दक्षता और भी बढ़ जायेगी।
ङ) सावधानी भी बढ़ जायेगी।
च) दम्भ, दर्प, अहंकार छू भी नहीं पायेंगे।
छ) हर क्रिया श्रद्धापूर्ण हो जायेगी।
ज) तब ही तो वह पाप विमुक्त हो पायेंगे।
झ) तब ही तो उनमें कर्तृत्व भाव गौण हो जायेगा।
ञ) तब ही तो उनमें भोक्तृत्व भाव गौण हो जायेगा।
त) तब ही तो उनमें यज्ञ, तप, दान पावन हो जायेंगे।

नन्हूं! यदि ओम् का उच्चारण न भी करो, तब भी यदि यह जान ले कि सब ब्रह्म ही हैं, तो काफ़ी है, क्योंकि ओम् का उच्चारण केवल ब्रह्म की पूर्णता याद रखने के लिए किया जाता है।

उदाहृत्य :

यहां उदाहृत्य का अर्थ 'उच्चारण' किया गया है।

उदाहृत्य का अर्थ है :

१. प्रकथन करना,
२. वर्णन करना, दृष्टान्त देना, स्तुति गान करना।
३. याद करके और उसे हकीकत मानकर जीवन में कार्य आरम्भ करना।

नन्हूं! जीव ओम् के पहले तीन पड़ाव कृष्ण, राम या ओम् के आसरे पार करता है, तत्पश्चात् नामी के नाम में वह स्वयं खो जाता है। तब मानो उसका अपना नाम नहीं रहता, उसके तन का नाम भगवान वाला हो जाता है। फिर जब उसका तन, मन, बुद्धि सम्पूर्ण अंगों सहित तथा सम्पूर्ण सांसारिक समिधा सहित भगवान के हो जायें, तब वह मौन हो जाता है। नन्हूं! तब वह नाम भी किसका ले? लोग कहें, तो वह राम राम भी करता है किन्तु स्वयं अपना नाम कैसे ले?

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. 'तत्' ऐसा कहकर,
२. मोक्ष चाहने वाले पुरुषों द्वारा,
३. फल की चाहना का ध्यान न करते हुए,
४. नाना प्रकार के यज्ञ, तप, दान की क्रियायें, की जाती हैं।

तत्त्व विस्तार :

*'तत्' से ब्रह्म की ओर संकेत है। तत् जैसे कह आये हैं, ब्रह्म का नाम है, और ब्रह्म की ओर संकेत करता है। तत् का अर्थ है, सब वही है, सब उसी का है। जब जीव कर्म फल नहीं चाहता, तब वह वास्तव में कर्मफल भगवान पर छोड़ देता है।

तत् का रूप :

यानि,

१. सब उसी का जानकर वह भगवान के अर्थ कर्म करता है।
२. ब्रह्म का चाकर बन कर कर्म करता है।
३. सब काज कर्म और परिणाम उसी के हैं और उसी के लिए हैं, यह जान लेता है।
४. वह अपने आपको निमित्त मात्र जानता है और मानता है।

मेरी नन्हूं जान :

'तत्' नित्य साक्षी रूप में साथ रहे तो ही मुक्ति मिल सकती है।

कमला! ऐसे लोग,

- सब उसी का है,
- सब वही है,
- ये मानते हैं।

जीवन में इसका अभ्यास करते हुए वे भगवान का नाम लेते हैं। किसी भी क़ार्य को करने से पहले 'सब उसी का है', जानते हुए वे तत् कहा करते हैं।

क) जो लोग 'मैं' अर्थ छोड़ना चाहते हैं।
ख) जो लोग स्वार्थ, अहंकार, मिथ्यात्व, मोह सब छोड़ना चाहते हैं,

वे जीवन में सब कुछ ब्रह्म का जानकर करते हैं।

यानि, जो लोग असत् से मुक्त होना चाहते वे 'तत्' कहकर :

१. जीवन परम में अर्पित करते जाते हैं।
२. जीवन में परमेश्वर परायण काम करते जाते हैं।
३. जीवन भर परम की चाकरी करते हैं।
४. वे अपने तन को भी भगवान के हवाले करते जाते हैं।
५. वे अपने मन से संग छोड़ने के यत्न करते हैं।

वे मुक्ति चाहुक लोग, तन, मन, बुद्धि को भगवान का जानकर जीवन में यज्ञ, तप, दान करते हैं।

* विस्तार के लिए श्लोक १७/२३ देखिये।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन! सद्भाव और साधु भाव में,
२. 'सत्', इस नाम का प्रयोग किया जाता है,
३. तथा उत्तम कर्म में भी 'सत्',
४. शब्द का प्रयोग किया जाता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! श्रेष्ठ कर्म को ही सत् कर्म कहते हैं। 'सत्' ही ब्रह्म का नाम है। यह 'सत्' का शब्द :

क) सद्भाव प्रकट करते हुए प्रयोग करते हैं।
ख) दैवी सम्पदा पूर्ण साधु भाव प्रयोग करते हैं।
ग) दैवी सम्पदा बहाव के परिणाम रूप काज में इस्तेमाल करते हैं।
घ) 'सत्' श्रेयस्कर कर्म में इस्तेमाल करते हैं।
ङ) 'सत्' उत्तरायण पथ पथिक के जीवन में इस्तेमाल करते हैं।
च) 'सत्' निष्काम कर्म में इस्तेमाल करते हैं।
छ) जब केवल 'सत्' में जीना चाहें, तब सत् कहते हैं।
ज) 'बस जो है वही है, यही हकीकत है', सत् वाले इसी भाव में रहते हैं।
झ) जो शास्त्र में कहा है, वह हकीकत है, सत् वाले यह कहते हैं।

देखो भाई!

१. 'सत्' शब्द का प्रयोग सत् अभ्यास के कारण होता है।
२. सत् प्रधान जीवन बसर करने के लिये सत्य को नित्य याद रखते हैं, तब इस शब्द को कहते हैं, जो मानो सत् की याद दिलाता है।
३. ज्यों भगवान का नाम लेकर जीव भगवान का साक्षित्व चाहता है; त्यों सत् का नाम लेकर जीव सत् में टिकना चाहता है।
४. किसी काज कर्म को करते समय भी उन्हें सत् की विस्मृति नहीं होती।
५. नित्य 'सत्' कहकर वह सत् के मानो निहित अर्थ का आह्वान करते हैं।

समझना है तो तुम ऐसे समझ लो कि :

ओम् :

१. ब्राह्मण कहते हैं।
२. ब्रह्म वित् तथा ब्रह्म निष्ठ कहते हैं।
३. सिद्ध गण कहते हैं।

सत् :

साधक कहते हैं,

१. जब कर्मफल त्याग का अभ्यास करते हैं,
२. जब भागवत् अर्पित होने का अभ्यास

करते हैं।
३. यह श्रद्धा और विश्वास वर्धक है।
४. यह तन, मन, बुद्धि को अर्पण करने में सहायक हैं।

सत् :
क) सद्भावना उत्पत्ति अभ्यास के समय सत् कहते हैं।
ख) सत् सद्भावना कर्म अभ्यास में सहायक है।
ग) सत् असत् विवेक में सत् सहायक है।
घ) हकीकत देखने में सत् सहायक है।
ङ) श्रेय पथ के अनुसरण में सत् सहायक है।

बार बार सत् कहकर साधक सत् की तलाश करता है, सत् का अभ्यास करता है।

१. जब सत्भाव आयेगा, तब साधुता का वर्धन होगा।
२. जब सत्भाव आयेगा, तब दैवी गुण का वर्धन होगा।
३. जब सत्भाव आयेगा, तब कर्त्तव्य परायणता उत्पन्न होगी।
४. तत्पश्चात् ही तो प्रशंसनीय कर्म होंगे।
५. तत्पश्चात् ही तो उत्तम कर्म होंगे।

इसे समझना है तो यूं समझ लो :

सत् से, 'जो है वह है,' ऐसा भाव उत्पन्न होता है।

तत् से, 'जो है तुम्हारा है,' ऐसा भाव उत्पन्न होता है।

ओम् से 'पूर्ण तुम ही हो,' ऐसा भाव उत्पन्न होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

ध्यान से सुन! भगवान कहते हैं:

शब्दार्थ :
१. यज्ञ, तप और दान में स्थिति,
२. (वह) सत् है, ऐसा कहा जाता है,
३. और कर्म, जो उसके अर्थ किया जाता है,
४. वह भी सत् है, कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

सत्

अब भगवान स्पष्ट सत् की स्थिति कहते हैं कि सत् क्या है।

यज्ञ, तप, दान स्थितिः
१. यज्ञ, तप और दान भी सत् की स्थिति है।
२. जहां तप और दान नहीं, वहां सत् की स्थिति नहीं है।
३. जो भी कर्म यज्ञ, तप और दान के निमित्त किया जाये, वह सत् ही है।
४. जीवन यज्ञमय बनाना ही सत् है।
५. प्रेम का अभ्यास ही तप है और यही सत् है।

६. तन दूसरे व्यक्ति की सेवा में लगाना ही महा दान है, यही सत् है।

यज्ञ, तप, दान अनेकों बार समझा आये हैं। यहां तो इतना ही कहना है कि इनके सिवा सत् कुछ भी नहीं।

यज्ञ, तप और दान,

क) साधक का धर्म है।
ख) जीव का कर्त्तव्य है।
ग) जीवन का आधार है।
घ) सुख का द्वार है।
ङ) यज्ञ, तप, दान में ही अपार आनन्द है।
च) यज्ञ, तप, दान में भगवान का नाम है।
छ) यज्ञ, तप, दान में भगवान का प्रमाण और विधान है।
ज) यज्ञ, तप, दान नाम का परिणाम है।

यज्ञ, तप, दान अर्थ जो भी करो, वह कर्त्तव्य है। वही सत् है।

- इन्हीं के राही जीव पावन होता है।
- इन्हीं के राही जीव का चित्त शुद्ध होता है।
- यही साधना की सत्यता का प्रमाण है।
- यही साधक की सत्यता का रूप है।

यज्ञ, तप, दान दृष्टि में वास करते हैं, हृदय से उठते हैं। भगवान ने जीव का जीवों से सम्बन्ध सहज ही बनाया है। पारस्परिक सम्बन्ध उज्जवल तथा सुखमय रखने के लिए यज्ञ, तप, दानमय दृष्टिकोण अनिवार्य है।

देखो कमला!

क) दान तन राही सेवा है।
ख) तप मन राही दूसरे की हर बात को सहना है।
ग) यज्ञ, अहंकार, दम्भ, दर्प, मोह, मेरापन का त्याग है। यही जीव में सुख और शाश्वत आनन्द का आधार है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. अश्रद्धा से जो आहुति दी हो,
२. (अश्रद्धा से) दान जो दिया हो
३. (अश्रद्धा से) तप तपा हुआ,
४. और जो कुछ भी किया होता है,
५. वह असत् है, ऐसा कहते हैं।
६. वह कर्म न ही मरकर,
७. और न इस जन्म में (लाभदायक) होता है।

तत्त्व विस्तार :

श्रद्धा रहित कर्म असत्

भाई! 'ओम् तत् सत्' यदि श्रद्धा सहित कहते हो तो तत्पश्चात् जो भी करो, वह सत् है। गर श्रद्धा नहीं तो जो भी करो वह असत् है।

कमल! इस बात पर ज़रा ध्यान लगाकर समझ ले!

क) गर कर्त्ता भगवान है, तब सब सत् है।
ख) यानि जब कर्तृत्व भाव अभाव से कोई कर्म करो, तो वह सत् है।

ग) जब भागवत् परायण होकर, भगवान के लिए कर्म करो तो वह सत् है।
घ) अपने आपको भूलकर कर्म करो तो वह सत् है।

श्रद्धा :

श्रद्धा 'ओम् तत् सत्' में होनी चाहिए। यानि, श्रद्धा :

१. ब्रह्म में चाहिए।
२. परम के स्वभाव में चाहिए।
३. पूर्ण ओम् ही है, इसमें चाहिए।
४. सद्भावना, साधुभाव भगवान के हैं, सद्भावना साधुभाव ही तप है, इनमें भागवद् नाम कवच है। सद्भावना, साधुभाव ही तप के आधारभूत हैं। ये तब ही उत्पन्न हो सकते हैं जब 'सब वही है', इसमें श्रद्धा हो।
५. श्रद्धा में यज्ञ, तप, दान निहित रहते हैं और यज्ञ, तप, दान का आधारभूत श्रद्धा है।
६. श्रद्धा ही वह पात्र है जिसमें साधक भगवान का प्रेम ग्रहण करता है।
७. श्रद्धा में वह बल है, जिसके राही साधक सब कुछ ग्रहण करता है।
८. श्रद्धा ही भगवान का आह्वान करती है।
९. श्रद्धा के ही पलने में भगवान पलते हैं।
१०. श्रद्धा ही वह अन्न है जिसे खाकर देवत्व पुष्टि पाता है।
११. श्रद्धा ही वह औषध है जो मानसिक आहार पावन करती है।
१२. श्रद्धा ही वह औषध है जो बुद्धि को स्थिर कर देती है।

भाई! श्रद्धा ही जीव को असुरों से इन्सान बनाती है।

- श्रद्धा ही जीव को इन्सान से देवता बनाती है,
- श्रद्धा ही जीव को देवता से भगवान बनाती है।
- श्रद्धा सहित जो भी किया हो, वह सत् ही किया होता है।
- श्रद्धा रहित जो भी किया हो, वह असत् ही किया होता है।

ध्यान रहे कमला! ज़रा सावधान होकर सुन!

आपमें क्या श्रद्धा है, इसे जानने के लिये,

क) यज्ञ, तप, दान ही प्रमाण हैं।
ख) स्थिर बुद्धि, प्रेम तथा तनोदान प्रमाण हैं।
ग) गुणातीतता श्रद्धा का परिणाम है।
घ) गुणातीतता श्रद्धा का प्रमाण है।
ङ) गर तेरी श्रद्धा सच्ची है, दैवी गुण तुझमें से बहेंगे ही।
च) कर्त्तव्य परायणता श्रद्धा का प्रमाण है।
छ) सुख, मनो व्याकुलता का अभाव, अपने प्रति उदासीनता, सभी श्रद्धा के प्रमाण हैं।
ज) मान अपमान में समचित्तता श्रद्धा का परिणाम है।
झ) योग की सफलता श्रद्धा का वरदान है।

यह श्रद्धा ही सत् का आधार है,
और सत् ही श्रद्धा की पुकार है।
यह सत् ही श्रद्धा का स्वरूप है,
और सत् ही श्रद्धा का रूप है॥

अश्रद्धा सें जो भी करो, असत् है। भगवान के नाम पर जो भी करो सत् है। यदि श्रद्धा न हो तो जो भी किया जाये, वह अन्त में न तो इस जन्म में ही सुख देता है और न ही अगले जन्म में ही सुख देने वाले फल देता है।

नन्हूं!

- श्रद्धा रहित कर्म व्यर्थ हैं।
- श्रद्धा रहित कर्म सफलता रहित होते हैं।
- श्रद्धा रहित कर्म आन्तर दुःख के बीज बन जाते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय: ॥१७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

संन्यास और त्याग का तत्त्व जानने के लिए अर्जुन पूछते हैं भगवान से :

शब्दार्थ :

१. हे महाबाहो! हे अन्तर्यामी!
२. हे केशिनिषूदन! (यानि केशि दैत्य को मारने वाले,)
३. मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को,
४. पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं।

तत्त्व विस्तार :

अर्जुन भगवान से कहते हैं, हे महाबाहो!

महाबाहु : यानि,
क) हे विशाल भुजाओं वाले!
ख) हे वीर पराक्रमी कृष्ण!
ग) हे दु:ख विमोचक कृष्ण!
घ) हे सबकी मदद करने वाले कृष्ण!
ङ) हे सबका संरक्षण करने वाले कृष्ण!
च) हे हृषीकेश! यानि, इन्द्रिय शक्ति पति!
छ) हे आन्तरिक दु:ख विमोचक कृष्ण!
ज) हे अन्तर्यामी कृष्ण!
झ) हे मन के स्वामी कृष्ण!
ञ) हे इन्द्रिय पति कृष्ण! इन्द्रिय प्रेरक कृष्ण! हे केशिनिषूदन कृष्ण! यानि,
- साधुओं के धन को चुराने वाले को मारने वाले!
- अरियों या दुष्टों को मारने वाले!
- सतीत्व हरने वाले असुरों को मारने वाले!
- साधुता के गुणों पर प्रहार करने वालों को मिटाने वाले!

यह नाम लेकर अर्जुन भगवान को मानो कह रहे हैं कि हे कृष्ण!
१. तुम बलवान् भी हो।
२. तुम मन के स्वामी भी हो।
३. तुम पूर्णतय: शुद्ध भी हो।

तुम ही बताओ मुझे, कि :
क) संन्यास और त्याग में क्या भेद है?
ख) संन्यास और त्याग का तत्त्व क्या है?

क्यों न कहें कि अर्जुन भगवान से पूछ रहे हैं कि क्या त्यागूं जो त्याग हो जाये, संन्यास हो जाये?

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

भगवान कहते हैं अर्जुन को :

शब्दार्थ :

१. कई लोग काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास जानते हैं।
२. विचारवान् विद्वान् गण,
३. सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

तत्त्व विस्तार :

जाने जान कमला! भगवान संन्यास और त्याग की बात समझा रहे हैं और कहते हैं, 'कई लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं और कई सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।'

क) त्याग पहले आता है तत्पश्चात् संन्यास होता है।
ख) त्याग को संन्यास का अभ्यास समझ लो।
ग) पहले शुभ कर्म करो और परिणाम भगवान पर छोड़ने का अभ्यास करो।
घ) कर्म फल त्याग के अभ्यास की पराकाष्ठा पूर्ण कामना का नितान्त त्याग है।

कमला! संन्यास और त्याग को फिर से समझ ले।

त्याग और संन्यास

त्याग	संन्यास
१. त्याग में संन्यास की ओर जाता है।	१. संन्यास में ब्राह्मी स्थिति की ओर जाता है।
२. तनो संग अभी बहुत होता है।	२. तनो संग अति गौण होता है।
३. कर्त्ता भाव प्रधान होता है।	३. कर्त्ताभाव का अभाव होता है।
४. अभी भी भोक्तृत्व भाव प्रधान है।	४. भोक्तृत्व भाव का अभाव हो रहा है।
५. स्वप्न और जागृतावस्था में समतुल्य है।	५. सुषुप्ति अवस्था के समतुल्य है।

प्रथम जागृत अवस्था को समझ ले! इन अवस्थाओं की व्याख्या माण्डूक्य उपनिषद् में बहुत विस्तार से की गई है।

*** ॐ के चार पाद :**

ओम् के चार पाद कहे हैं और ओम् की तीन मात्रायें भी कही गई हैं।

* १७/२३ में इसका विस्तार है।

जागृत अवस्था :

साधना का प्रथम पड़ाव जागृत अवस्था कही है यानि, दृष्ट अवस्था कही है। जो कुछ हम जागते हुए देख सकते हैं, सर्वभूत दर्शन जो हम सम्मुख करते हैं,

क) उनके प्रति पूज्य भाव उत्पन्न करना।
ख) उनको वैश्वानर रूप में देखना।
ग) उन्हें परम कृत तथा परम रचना जानना।
घ) उन्हें विपरीत परिस्थिति में देख, उनके गुण दर्शन करते हुए, उन्हें निर्दोष जानकर उनकी सेवा करना।

यह अभ्यास करते करते जीव दूसरे पाद पर पहुंच जाता है।

स्वप्न लोक :

जिसकी तुलना स्वप्नावस्था से की गई है, यह स्वप्न लोक :

१. आन्तरिक लोक होता है।
२. मनोलोक होता है।
३. कल्पना लोक होता है।
४. स्वप्न लोक का आधार मानसिक प्रतिध्वनि होती है।
५. स्वप्न लोक स्थूल सम्पर्क पश्चात् मनोषड़न्त विषयों पर आधारित है।
६. स्वप्न लोक मानसिक ग्रन्थियों का लोक है।
७. स्वप्न लोक में संकोच भी निहित है और निस्संकोच भी है।

और जो कुछ भी हो, स्वप्न लोक बेबुनियाद है, क्योंकि :

- यह वास्तविकता में नहीं रहता।
- इसमें मिथ्यात्व का अंश बहुत होता है। इसे स्वप्न लोक कहते हैं। इसी विधि जीव जागृत अवस्था में भी स्वप्न लोक में रहता है।

मन,

क) संकल्प विकल्प की उड़ान से भरपूर होता है।
ख) द्वन्द्वपूर्ण होता है।
ग) हर दर्शन को मानसिक मान्यताओं से तोलता है।
घ) मानसिक ग्रन्थियों से बन्धा हुआ, हकीकत को यथार्थ में नहीं देख सकता।
ङ) मानसिक ग्रन्थियों से बन्धा हुआ, हकीकत को यथार्थ में वर्णित नहीं करता।
च) मानसिक संकोच से बन्धा हुआ सत् को नहीं समझता।
छ) मानसिक मलिनता से आवृत्त हुआ भी स्वप्न लोक में रहता है।

साधना :

१. जागृत और स्वप्न लोक के प्रति होती है।
२. जागृत और स्वप्न लोक के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन कराती है।
३. जागृत और स्वप्न लोक के प्रति अपने आपको उदासीन करती है।
४. ध्यान रहे स्वप्न के प्रभाव से आपको अप्रभावित रखती है।
५. यानि आपको गुणातीत बनाती है।
६. आपको दैवी गुण सम्पन्न बनाती है।
७. आपको स्थित प्रज्ञता की ओर ले जाती है।

इसका भी त्याग करना होता है, तत्पश्चात् साधक तृतीय मात्रा में कदम धरता है।

समाधि :

समाधि संन्यास अवस्था है जिसकी समतुलना सुषुप्ति अवस्था से की जाती है। यह अवस्था ही,

क) जागृत में सुषुप्ति के समान है।
ख) संन्यास की अवस्था है।
ग) नित्य समाधि की अवस्था है।
घ) देवत्व स्थित की अवस्था है।
ङ) बेख़ुदी की अवस्था है।
च) काम्य कर्म त्यागी की अवस्था है।

इस अवस्था में जीव,

१. अपने आपको भूल ही जाता है।
२. वाक् बहाव हो सकता है पर वाक् चिन्तन नहीं होता।
३. इस अवस्था में जीव अपने प्रति उदासीन हो जाता है।
४. इस अवस्था में काम्य कर्म को भूल जाता है।
५. वह मानो अपने लिए सो जाता है।
६. जो सामने आये, उसमें खो जाता है।
७. जो सामने आये उसके तद्रूप हो जाता है।
८. जहां उसकी दृष्टि पड़े, उसकी बुद्धि निरावृत्त, निस्संकोच योगस्थित हो जाती है।
९. जहां उसकी दृष्टि पड़े, वहां उसकी समाधि लग जाती है।
१०. जहां उसकी दृष्टि पड़े, उसकी बुद्धि उसकी चाकर हो जाती है।

यह वह अवस्था है, जिसके लिए कहते हैं, 'यत्र यत्र दृष्टिः तत्र तत्र समाधयः।'

इस स्थिति में :

क) संकल्प विकल्प का अभाव होता है।
ख) वाक् बहाव हो सकता है पर वाक् चिन्तन नहीं होता।
ग) दूसरे का वाक् समझते तो हैं, दूसरे के प्रहार को समझते तो हैं, पर जो भी श्रवण कर चुके हैं, या जो हो रहा है, उससे प्रभावित नहीं होते।
घ) मान अपमान से ये प्रभावित नहीं होते।
ङ) हानि लाभ इनकी स्थित प्रज्ञा रूप समाधि को भंग नहीं करते।
ये लोग सर्वारम्भ परित्यागी होते हैं।

काम्य कर्म त्यागी :

यानि, अपने आप :

१. ये कुछ भी कामना नहीं करते।
२. कोई योजना नहीं बनाते।
३. कोई ज्ञान नहीं देते।
४. कोई राह नहीं सुझाते।
५. इन्हें कुछ करना नहीं होता।
६. अपनी स्थापति के लिए इन्हें कुछ नहीं करना है।
७. प्रवृत्ति निवृत्ति इनके लिए समान है।
८. दूसरे का बड़े से बड़ा या छोटे से छोटा काम भी करते हैं।
९. अपने लिए मानो ये मर गये हैं।

१०. अपनी हड्डियां वे स्वयं मानो ज्ञान गंगा में बहा आये हैं।

११. तत्पश्चात् वे अपने लिए मौन हो गये हैं।

१२. यह आन्तरिक मौन की अवस्था ही समाधि है, संन्यास है, योग है, ओम् का तृतीय पाद है और अद्वैत का अखण्ड अभ्यास है।

इस सबको समझते हुए अब आगे समझ कि संन्यास का बाह्य रूप क्या होगा और त्याग का बाह्य रूप क्या होगा ?

त्याग	संन्यास
क) त्याग संन्यास का अभ्यास है।	क) संन्यास ब्राह्मी स्थिति का मौन अभ्यास है।
ख) त्याग सद्गुण उपार्जन अर्थ होता है।	ख) संन्यास गुणातीतता की स्थिति का चिह्न है।
ग) त्याग चित्त शुद्धि अर्थ होता है।	ग) संन्यास चित्त शुद्धि की अवस्था है।
घ) त्याग का प्रयोजन किसी स्थिति को पाना है।	घ) संन्यास में कुछ भी नहीं पाना होता।
ङ) भागवत् परायणता अभ्यास है।	ङ) भागवत् परायणता है।
च) सत् से प्रकाश की ओर जाने का अभ्यास है।	च) सत् में अखण्ड स्थिति है।
छ) कर्म साधना अर्थ करते हैं, पर कर्मफल के त्याग का अभ्यास हो रहा है।	छ) अपने लिए कुछ पाना ही नहीं तो कर्मफल की बात कहां रही ?
ज) जीव सत्कर्म कर्मफल त्याग भाव से ही करता है, क्योंकि सत्कर्म का प्रारम्भिक फल दुःखदे भी हो सकता है। यदि आप दैवी गुण का अभ्यास करें तो हो सकता है आपके साथी आपका नाजायज़ फ़ायदा उठायें। आपको इसका भी दुःख हो सकता है। आप तो अपना कर्त्तव्य मानकर सेवा करें और दूसरा आप पर और भी बोझ डाल दे, या आपकी किसी खुशी या रुचि का ध्यान न रखे।	ज) नित्य तृप्त क्या फल चाहेगा ?
झ) यज्ञ करने का अभ्यास करते हैं।	झ) केवल यज्ञशेष खाते हैं

ञ) दूसरे को जानने का यत्न करते हैं।

ट) हर विधि कर्म के फल का त्याग करते रहते हैं।

ठ) अनुचित तथा आसुरी का त्याग ही त्याग है।

ड) योजन, प्रयोजन सोचकर निश्चित करते हैं, किन्तु योजन फल के त्याग का अभ्यास करते हैं।

ढ) कर्त्तव्य करना सीख रहे हैं।

ण) भाई! त्याग अभ्यास को कहते हैं।

त) कर्म तो करने ही होंगे, पर वे कर्म फल छोड़ देते हैं।

थ) यहां स्थूल वस्तु त्याग की नहीं कह रहे, स्थूल से संग त्याग की कह रहे हैं।

द) कर्म प्रेरक 'मैं' तथा अहंभाव है।

ध) ये कर्म फल पर से दृष्टि हटा रहे हैं।

न) कर्म कर्त्ता है, तनत्व भाव भी है, देहात्म बुद्धि भी है, अभी बहुत कुछ पाना भी है, अभी उसकी चाहना भी है।

प) बुद्धि प्रधान है, तद्रूपता अपने आप से है, पर दूसरे के लिए भी काज करते हैं, सेवा भाव का अभ्यास करते हैं।

ञ) वे तो दूसरे के तद्रूप होकर ही रहते हैं।

ट) कर्मफल के प्रति उदासीन रहते हैं।

ठ) जो होता है, जो हो रहा है, उसके प्रति केवल द्रष्टा मात्र है।

ड) योजन प्रयोजन अपना कोई नहीं होता।

ढ) कर्त्तव्य ही जीवन का आधार है।

ण) जब त्याग भाव ही नहीं रहा, बाकी संन्यास रह जाता है।

त) कर्म भी अकर्म ही है, संन्यासी ये जानते हैं।

थ) संन्यास में अपने तन का भाव ही नहीं तो वस्तु या संग की बात ही नहीं रहती।

द) कर्म प्रेरक बाह्य जहान है, जो आये उसका काम कर देते हैं।

ध) ये तो कर्म के कर्त्ता से ही दृष्टि हटाये बैठे हैं।

न) भाई! इन्हें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, जीने या मरने की भी चाहना नहीं। तन ही अपना नहीं रहा। जो तन को जड़ मानता है, उसका संग ही नहीं रहता।

प) बुद्धि का भिड़ाव किसी से नहीं। तब जो आये, उसी के तद्रूप होकर वे उसी का हित कर सकते हैं।

अब समझना यह है कि काम्य कर्म से क्या तात्पर्य है ?

काम्य कर्म :

१. जो अपनी किसी चाहना की पूर्ति के लिए किया जाए,
२. जो फल पर दृष्टि रख कर किया जाये,
३. जो किसी निजी प्रयोजन अर्थ किया जाये,
४. जो अपनी स्थापति के लिए किया जाये,

५. जो अपनी रुचि अरुचि देख कर किया जाये,
६. जो अपनी 'मैं' की तृप्ति के लिए किया जाये,
७. जो अपने लिए हितकर कर्म हो,
वह काम्य कर्म कहलाता है।

काम्य कर्म त्यागी :

भाई! ऐसे लोग अपना तनत्व भाव छोड़ देते हैं। जब तन से नाता ही नहीं रहा तो तन राही प्रेरित हुई चाहना से नाता नहीं रहता। जब तन से नाता ही नहीं रहा तो 'मैं' ही नहीं रह जाती।

क) 'मैं' ही काज कर्म में प्रवृत्त करती है जीव को।
ख) 'मैं' में ही वह बल है जो तन, मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि को किसी कार्य में लगा सकता है।
ग) 'मैं' ही उस शक्ति से सम्पन्न है, जो नित्य तन की स्थापति अर्थ जीव को नियोजित करती है।

तन की चाहना या कामना पूर्ति के लिये, काम्य कर्म त्यागी या यूं कह लो, संन्यासी लोग कुछ भी आरम्भ नहीं करते और न ही उसमें हिस्सा लेते हैं।

१. अपने लिए उनको कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करना होता।
२. अपने लिए वे कोई योजन नहीं बनाते।

उन्हें जो भी मिलता है :

३. संन्यास वत् ही मिलता है।
४. विधान के राही मिलता है।
५. उसके लिए उन्होंने कोई यत्न नहीं किया होता; किन्तु जो उनके पास आता है, उसके लिए वे सब कुछ करते हैं, अपनी मान मर्यादा सब कुछ भूलकर करते हैं।

भाई! काम्य कर्म त्यागी, जो जहान को दिखते हैं, वे तो अपने आपको छोड़े बैठे हैं। उनके लिए लोग भी जो करते हैं, वे भी मानो ज़बरदस्ती करते हैं। वे तो औरों के हित में मानो अपनी सेवा भी करवा सकते हैं। वे औरों के लिए सब कुछ करते हैं, अपने लिए स्वयं कुछ नहीं करते। न ही वे उस काज में हिस्सा लेते हैं, जहां उन्हें कोई निजी फ़ायदा हो।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्म दोषवत् हैं और त्यागने योग्य हैं
२. और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, तप तथा दान रूप कर्म,
३. त्यागने योग्य नहीं हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, 'अर्जुन! और कई लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म दोष युक्त हैं, इसलिए त्याज्य हैं।'

समझ कमला! वे लोग कहते हैं :

१. सम्पूर्ण कर्म बन्धन कारक होते हैं।
२. कर्त्तव्य कर्म भी बन्धन कारक हैं।
३. कोई जीवन निर्वाह के लिए भी कर्म करे, तो बन्धन कारक है।

जो अन्न कोई दे आये, वे उसी से निर्वाह करना चाहते हैं।

ये मानते हैं कि,

४. घर का त्याग करना चाहिए और एक स्थान पर चिरकाल तक नहीं रहना चाहिए।
५. गृहस्थाश्रम को छोड़कर शास्त्र अध्ययन करना ही उचित है।
६. गृहस्थाश्रम के त्याग से, यानि गृहस्थ के कर्त्तव्य त्याग कर आत्मसाक्षात्कार हो सकता है।
७. वस्त्र का भी त्याग करते हैं।
८. वस्त्र का रंग बदल कर अग्र रंगी कर लेते हैं।
९. 'मैं' तन नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, मैं बुद्धि नहीं हूं,' ऐसा वे मानते हैं।

वे लोग सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करते हैं।

इस मान्यता का उपसंहार करते हुए तो भगवान गीता के आरम्भ में ही अर्जुन को कह आये हैं कि कर्त्तव्य से भाग जाना कायरता है।

अर्जुन युद्ध को त्याज्य क्यों मानते थे ?

क्योंकि वह :

१. दारुण हत्या नहीं करना चाहते थे।
२. पिता तुल्य नाते गणों से युद्ध नहीं करना चाहते थे।
३. दोष युक्त कर्मों का त्याग करना चाहते थे।
४. श्रेयस्कर कर्म करना चाहते थे।
५. इन दोष युक्त कर्मों में आत्म कल्याण नहीं मानते थे।
६. नाते बन्धुओं को मार कर त्रिलोक का राज्य भी नहीं चाहते थे।

वह कहते थे कि :

क) 'पापियों को मार कर हमें पाप ही लगेगा।'
ख) 'ऐसे कर्मों से हमें क्या प्रसन्नता होगी ?'
ग) 'अपने कुटुम्ब को मार कर क्या प्रसन्नता होगी हमें ?'
घ) 'यद्यपि ये लोग लोभ से भ्रष्ट हुए हैं, पाप नहीं देखते, तो भी हमें कुछ नहीं करना चाहिए।'
ङ) 'कुल का नाश, सनातन कुल धर्म का नाश कर देता है।'
च) 'कुल के नाश से कुल स्त्रियां भ्रष्ट हो जाती हैं और पितरों का पतन हो जाता है।'
छ) 'कुल के नाश से जाति धर्म का नाश हो जाता है।'
ज) 'शोक है कि हम लोग पाप करने को तैयार हैं और केवल सुख और लोभ के कारण अपने कुल को मारने के लिए तैयार हैं।'

झ) 'मुझे धृतराष्ट्र पुत्र मार भी दें तो भी मेरे लिए अति कल्याणकर होगा।'
ञ) 'मैं पूज्य गण को कैसे मारूंगा ?'
ट) 'गुरुजन का वध करने से तो दर दर का भिखारी बन जाना अच्छा है।'

जो अर्जुन ने कहा, वह देखने में ठीक ही लगता है, शब्द ज्ञान भी ठीक ही है, किन्तु फिर भी भगवान ने कहा, 'युद्ध कर', फिर भी भगवान ने कहा, 'कर्त्तव्य कर, धर्म न छोड़, युद्ध करना तेरा धर्म है।'

भगवान के जीवन को सामने रखकर संन्यास और त्याग को समझने का यत्न करो। राम, कृष्ण, ईसा और मुहम्मद के जीवन को सामने रखकर संन्यास और त्याग को समझने का प्रयत्न करो।

भगवान,
- नित्य संन्यासी ही होते हैं।
- संन्यास स्वरूप ही होते हैं।
- अध्यात्म प्रकाश स्वरूप ही होते हैं।

भगवान का जीवन ज्ञान विज्ञान सहित अध्यात्म पर प्रकाश ही होता है। जिस ज्ञान से भगवान ही न तुल सकें, उसे अज्ञान ही जानना चाहिए, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिए। गर भगवान को संन्यास का स्वरूप मान लें तो त्याग और संन्यास का अर्थ समझ आ जायेगा। गर भगवान को संन्यास का रूप, ज्ञान और प्रमाण मान लें तो त्याग और संन्यास समझ आ जायेगा। तब जिसे लोग आजकल संन्यास कहते हैं, उसको समर्थन नहीं मिलेगा।

महर्षि व्यास, जिन्होंने गीता शब्द लेखनी बद्ध किये हैं, उन्होंने कृष्ण को भगवान कहा है। भगवान के जीवन में आधुनिक प्रथा अनुकूल संन्यासी का कोई बाह्य चिह्न नहीं मिलता, फिर भी भगवान श्रीकृष्ण को, आधुनिक मान्यता में तुलने वाले संन्यासी व्यास जी ने सर्वप्रथम स्वयं भगवान सिद्ध किया।

भगवान स्वयं अर्जुन से कह रहे हैं :
१. तू युद्ध कर, तुझे पाप नहीं लगेगा।
२. विजय पराजय की परवाह न कर, यही तेरा कर्त्तव्य है।
३. हानि लाभ, सुख दु:ख की परवाह न कर।
४. योग कर्मों में कुशल बनाता है।
५. साधारण जीव की तरह रहने को कहा है भगवान ने।
६. लोगों की मान्यता न तोड़ने को कहा है उन्होंने।

अनेकों गुण बताये, आसुरी और दैवी भी, पर सब कहकर कहा, युद्ध कर! फिर कहा 'मैं भी कर्त्तव्य करता हूं।'

अध्यात्म क्या है ?

क्यों न कहें अध्यात्म कर्त्तव्य का ही दूसरा नाम है। योग का परिणाम भी कर्त्तव्य है। ब्रह्म का यज्ञ भी अखण्ड कर्त्तव्य का स्वरूप है।
क) कर्त्तव्य करना ही जीव का एकमात्र लक्ष्य है।
ख) संन्यास भी कर्त्तव्य है।
ग) जो कर्त्तव्य की राह में बाधा है, उसका त्याग ही करना चाहिए।

घ) स्वरूप स्थिति पाना कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य अनुसरण ही स्वरूप स्थिति की राह है।

वास्तव में गीता में प्रचलित मान्यता अनुसार जिसे संन्यास कहते हैं, उसके विरोध में भगवान की आवाज़ है, उसके विरोध में भगवान की चेतावनी है।

धर्म का पतन हुआ ही इसलिए और भगवान का जन्म हुआ ही इसीलिए, क्योंकि धर्म सिखाने वाले धर्म भूल गये। भगवान को नित्य संन्यासी जानकर संन्यास का अर्थ समझ! यदि संन्यास का पथ 'त्याग' है तो समझ ले कि क्या छोड़ना है।

भगवान कहते हैं, 'और कई लोग कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान रूप कर्म त्यागने के योग्य नहीं; बल्कि उन्होंने यज्ञ, तप तथा दान रूप कर्म करने को कहा है।'

संन्यास आन्तरिक है :

गर ध्यान से देखो तो यह समझ आ जायेगा कि संन्यास बाह्य नहीं होता, आन्तरिक होता है।

१. आन्तरिक संग त्याग ही संन्यास है।
२. आन्तरिक मनोत्याग ही संन्यास है।
३. गर तन से ही आपका संग न रहा, तब संन्यास हो जाता है।
४. गर तन ही आपका न रहा तो तनो स्थापति अर्थ जीव कुछ नहीं करेगा।
५. बाकी जितने चिह्न कहे हैं, वे सब संग के नितान्त अभाव के पश्चात् आ ही जायेंगे।

यानि, निसंगता का परिणाम :

क) निर्द्वन्द्वता होगी ही।
ख) अपने तन के प्रति उदासीनता होगी ही।
ग) अपने मन के प्रति उदासीनता होगी ही।
घ) अपनी बुद्धि और मान अपमान के प्रति उदासीनता होगी ही।

तब गुणातीतता उत्पन्न हो जायेगी, संकल्प विकल्प का लाभ ही नहीं रहेगा। यानि, संकल्प विकल्प का कोई प्रयोजन, कोई विषय ही नहीं रहेगा तो संकल्प विकल्प का अभाव हो ही जायेगा। तब निर्विकार हो ही जायेगा, नित्य तृप्त हो ही जायेगा।

१. गर तन अपना हो तो कोई रोक टोक भी करें।
२. गर तन से संग हो तो कोई योजन भी बनायें।
३. गर 'मैं' को कुछ पाना हो, तो जीवन में कोई प्रयोजन भी हो। तब तो कहें: 'यह करूं या यह न करूं,' वरना निवृत्ति तथा प्रवृत्ति क्या अर्थ रखती है ? जो भी हो सो ठीक है।

काम्य कर्म वे होते हैं, जो अपने तन, मन और बुद्धि के लिए किये जाते हैं, अपनी स्थापति के लिए किये जाते हैं। जब तन से संग ही नहीं रहा तो मान अपमान का भाव कैसे होगा ? तब जो सामने आये, उसकी धड़कन से उनकी धड़कन होती है। उनके अपने तन ने उनके सामने कभी

आना ही नहीं, सो उन्हें उसकी कभी याद ही नहीं आती। उनके मन और बुद्धि ने कुछ मांगना ही नहीं होता। वे तो नित्य तृप्त होते हैं, वे अपने लिए क्या करेंगे ?

वास्तव में काम्य कर्म त्याग की बात ही नहीं, देहात्म बुद्धि अभाव और तनो संग के अभाव से काम्य कर्म स्वतः छूट जाते हैं। भाई! 'छूट जाते हैं' या 'त्यागे जाते हैं', यह भी उन्हें लागू नहीं होता, क्योंकि :

१. संन्यासी अपने आपको भूल जाते हैं।
२. संन्यासी को अपना स्वार्थ याद ही नहीं रहता।
३. संन्यासी पर क्या बीतेगी, इस पर उनका ध्यान ही नहीं रहता।
४. संन्यासी अपने लिए प्रगाढ़ निद्रा में सोये होते हैं।

वे तो नित्य समाधिस्थ होते हैं। जो उनके सामने आये, वे उसमें खो जाते हैं। इस कारण कहते हैं कि वे अद्वैत में स्थित होते हैं।

'मैं' को अपनी व्यक्तिगतता याद रहे तो दूसरा भी होता है, गर 'मैं' को अपनी व्यक्तिगतता ही याद न रहे तो केवल दूसरा ही होता है। वहां पर 'मैं' नहीं जो दूसरे को दूसरा कहे। सो संन्यास में काम्य कर्म होते ही नहीं, उनके सब कर्म स्वतः सिद्ध होते हैं।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

भगवान कहते हैं,

शब्दार्थ :

१. हे भरत कुल में अति उत्तम अर्जुन!
२. उस त्याग में अब तू मेरा निश्चय सुन!
३. हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन!
४. त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान अर्जुन को त्याग का तोल देने लगे हैं, मानो कह रहे हैं, 'हे अर्जुन! तू अपने त्याग को तोल ले और देख ले, यह कैसा है ?'

भगवान कहते हैं त्याग भी तीन प्रकार का होता है, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

- जो ज्ञान और प्रकाश के कारण छूट गया, वह सात्त्विक त्याग होगा।
- जो लोभ और कामना के कारण छूट गया, वह राजसिक त्याग है।
- जो अज्ञान और प्रमाद के कारण छूट गया, वह तामसिक त्याग है।

आगे भगवान अपना निश्चय कहते हैं।

देख मेरी जान! पहले यह समझ ले, जो 'मैं' छोड़े, वह त्याग नहीं होता, क्योंकि 'मैं' अपनी स्थापति के अर्थ ही छोड़ेगा।

वह त्याग संग अभाव के कारण नहीं होगा, बल्कि वह त्याग संग के कारण होगा। संग अपने तन से होता है, अपने तन से संग हो जाने के पश्चात् मोह उत्पन्न होता है।

संग रहित की वफ़ा अपार होती है। वहां वफ़ा जफ़ा को मनाती है। देखना यह है कि क्या कभी जफ़ा भी वफ़ा को मनाती है ? बेवफ़ा गर रूठ जाये, तो वह झुकता नहीं है, वह तो नाता ही छोड़ देता है। जो वफ़ादार हो, वह बेवफ़ा को भी मना लेता है। बेवफ़ा, वफ़ादार का भी त्याग कर देता है, वफ़ादार बेवफ़ा का त्याग नहीं करता। इसी में त्याग का राज़ निहित है। सत्त्व में प्रवृत्ति वाले का त्याग वास्तव में त्याग नहीं है। वह तो अपने तन को भी त्यागे जाता है।

त्याग तमोगुणी या रजोगुणी का होता है; वह अपनी 'मैं' की स्थापति के लिए त्याग करता है। 'मैं', यानि अहंकार अपनी रुचि पूर्ति के लिए त्याग करता है। तनोसंगी अपनी मान्यता सिद्ध करने के लिए त्याग करता है। अब आगे भगवान से सविस्तार त्याग के विभिन्न रूपों के विषय में सुन।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

अब भगवान अपना निश्चय बताने लगे हैं। वह अर्जुन को कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. यज्ञ, तप और दान रूप कर्म
२. त्यागने योग्य नहीं हैं,
३. करने योग्य ही हैं, (क्योंकि)
४. निस्संदेह यज्ञ, तप और दान,
५. बुद्धिमान् पुरुषों को भी मानो पवित्र करने वाले हैं,
६. परन्तु ये कर्म भी,
७. संग और फलों को त्याग कर करने योग्य हैं,
८. ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, यज्ञ, तप, दान त्याज्य नहीं हैं, क्योंकि ये तो :

क) ऋषिगण को भी पावन करते हैं।
ख) जीवन का आधार हैं।
ग) ब्रह्म का रूप हैं।
घ) पूर्ण सृष्टि की रचना ब्रह्म का यज्ञ ही है।
ङ) परम का अखण्ड मौन तप ही तो है।
च) सृष्टि में जीव को सब कुछ दे देना ही उसका दान है।

भगवान कहते हैं, यज्ञ, तप, दान तो सुख का आधार हैं। ये ही जीवन में इन्सानियत के चिह्न हैं। ये तो पावन करने वाले हैं, यही तो पावनता का चिह्न हैं। परन्तु ये यज्ञ, तप, दान भी संग और फल का त्याग करके करने योग्य हैं।

संग त्याग से अभिप्राय :

१. कर्म से संग नहीं करना चाहिए।
२. इन कर्मों में भी 'मैं' का भाव नहीं होना चाहिए।
३. कर्त्तापन का अभाव होना चाहिए।
४. गुमान और अभिमान का अभाव होना चाहिए।
५. ममत्व भाव का अभाव होना चाहिए।
६. भोक्तृत्व भाव का अभाव होना चाहिए।
७. देहात्म बुद्धि का अभाव होना चाहिए।
८. तन भगवान का जानकर तनो कर्म करे।
९. कर्म भगवान का जानकर तनो कर्म करे।
१०. जिसके लिए कर्म किया, उसे भगवान का जान कर करे।
११. कर्त्ता, क्रिया, कर्म भगवान के हो जायें तो जानो कि संग गया।
१२. आत्म से संग हो जाये, तब यह संग मिटे।

संग क्या है :

संग संगम को कहते हैं, संग तद्रूपता, अनुराग, आसक्ति और एकरूपता को कहते हैं। संग मिलन को कहते हैं।

आत्मा और तन विजातीय हैं, एकत्व सजातीय का गुण है।

यज्ञ, तप, दान, तन, मन, बुद्धि के धर्म हैं, कर्त्तव्य हैं और उनका सहज स्वरूप हैं।

यदि संग नहीं होगा तो जीवन,

क) यज्ञ, तप, दान स्वरूप रह जायेगा।
ख) यज्ञ, तप, दान ही है।
ग) केवल परम विभूति ही रह जाता है।
घ) केवल परम का वरदान रह जायेगा।
ङ) सर्व कर्म फल त्यागी हो ही जायेगा।

यज्ञ, तप, दान

- दूसरे के लिए करते हैं,
- दूसरे को देते हैं,
- दूसरे को सहते हैं,
- अपनी आहुति देते हैं।

गर फल की चाहना है तो यज्ञ, तप, दान राजस अथवा तामस है।

निष्कामता ही सच्चे यज्ञ, तप, दान का स्वरूप है। निष्काम कर्म, निष्काम उपासना, निष्काम ज्ञान ही इनका स्वरूप है। भगवान कहते हैं,'यही करना कर्त्तव्य है, यही करना चाहिए, यही उनका निश्चित मत है।'

देख मेरी जान! साधक की साधना यज्ञ, तप और दान ही है। तनो संग तथा विषय संग के कारण,

१. जीव व्यक्तिगत हो जाता है।
२. दूसरे जीवों को भी नहीं देख सकता।
३. दूसरे जीवों का दु:ख दर्द भी नहीं समझ सकता।
४. दूसरे जीव भी उसके समान हैं, यह

समझना भी कठिन हो जाता है।

५. दूसरे का भी मन है और उसकी रुचि आपसे भिन्न हो सकती है, यह आप नहीं समझते और पसन्द नहीं करते।

६. दूसरे की भी बुद्धि है और उसका निर्णय आपसे भिन्न हो सकता है, यह आप नहीं समझते और न सहन करते हैं।

७. दूसरे को भी खुशी और मान चाहिए,

८. दूसरे की भी आरज़ू और आशायें हैं,

९. प्रेम और अन्य भी जो गुण आपको चाहिएं, वे दूसरे को भी चाहिएं,

यह आप नहीं समझ सकते।

जो इन्सान सामने खड़े इन्सान को नहीं देख सकता, वह भगवान को क्या समझेगा ? गर तुम प्रत्यक्ष प्रकट वास्तविकता को नहीं देख सकोगे तो अप्रत्यक्ष, अव्यक्त तत्त्व को कैसे समझ सकोगे ?

फिर परम के गुणों के व्यवहार का अभ्यास भी तो साधक को जीवों पर ही तो करना होता है! तनत्व भाव के अभाव का प्रमाण भी जीवों से व्यवहार करते हुए ही मिल सकता है। अहंकार, जीव पत्थर के साथ नहीं करता, अहंकार का प्रादुर्य अन्य जीवों से व्यवहार करते हुए होता है।

भाई! इसलिए यह अनिवार्य है कि आपकी साधना मानसिक तथा व्यवहारिक स्तर पर साथ साथ ही होती रहे। मानसिक ज्ञान की समझ आते आते जब साथ ही साथ जीवन में अभ्यास हो जायेगा, तब आपका ज्ञान विज्ञान सहित हो जायेगा।

शब्द ज्ञान से स्वरूप का पता चलता है तो यज्ञ, तप, दान से रूप उत्पन्न होता है। इसके परिणाम रूप ही स्वरूप में स्थिति हो सकती है। 'मैं' रूपा अशुद्धि को पावन करने वाले यज्ञ, तप, दान ही हैं; इसलिए इन्हें महा उच्चतम ऋषिगण भी नहीं छोड़ते।

क) तनत्व भाव से उठने के लिए दूसरे के तद्रूप हो जाना अनिवार्य है।

ख) अपने आपको भूलने के लिए निष्काम भाव से दूसरे के तद्रूप होकर कार्य करना अनिवार्य है।

ग) देहात्म बुद्धि को भूलने के लिए काम्य कर्म का त्याग अनिवार्य है।

घ) स्वरूप स्थिति पाने के लिए दूसरे में खो जाना, दूसरे का हो जाना और दूसरे के लिए जीना ही उच्चतम साधना है।

गर साधना पर दृष्टि रखकर दान करोगे तो आप याचक बनकर दूसरे का काज करोगे। यानि, आप अपने को दरिद्र रूप जानकर और गरीब को नारायण समझकर दान दोगे। आप उसको धन्य कहोगे, जिसने आपके पाषाण मन में द्रवीभूतता उत्पन्न करी, जिसने आप से कुछ निकलवा लिया!

साधारण जीवों का दान तथा लोक सेवा पूज्य भाव से नहीं होते। वे अपने आपको :

१. श्रेष्ठ मानकर सेवा करते हैं।

२. धनवान् मानकर सेवा करते हैं।

३. घमण्ड पूर्ण होकर सेवा करते हैं।

४. अपने नाम के लिए सेवा करते हैं।

५. दूसरे को दरिद्र जानकर सेवा करते हैं।

भेद तो केवल इतना है कि यज्ञ, तप, दान में प्रधान कौन है ? प्रेरक शक्ति की मांग क्या है ? कौन दरिद्र है और कौन नारायण है ?

साधक के दृष्टिकोण से, जिसे दान दिया जाये, वह नारायण होता है, असाधक के लिए जो दान दे, वह नारायण होता है। भाई! श्रेष्ठ तो सच ही वह है, जिसने आपकी इन्सानियत को जगा दिया, वरना आप पत्थर ही रह जाते।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

अब भगवान स्वयं आगे समझाते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. और नियत कर्म का संन्यास उचित नहीं होता,

२. मोह से उनका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं मेरी जान! ध्यान से समझ! भगवान ने कहा है कि नियत कर्म का त्याग करना तामस त्याग है।

नियत कर्म :

सर्वप्रथम समझ ले नियत कर्म क्या है ?

जीवन के,

१. सहज कर्म,
२. अनिवार्य कर्म,
३. निश्चित कर्म,
४. स्वतः नियन्त्रित कर्म,
५. विधान रचित कर्म,
६. सहज सम्पर्क से उत्पन्न हुए कर्म,
७. सहज कर्त्तव्य कर्म,
८. अवश्यम्भावी कर्म,
 नियत कर्म हैं।
९. बाह्य विधान और कानून,
१०. नित्य होने वाले कर्म,
११. शास्त्र विहित कर्म,
१२. जीवन को जो श्रेष्ठ बनाते हैं, वे कर्म
१३. श्रेयस्कर कर्म,

ये सब भी नियत कर्म हैं।

हर सम्पर्क के परिणाम रूप कर्म ठीक ही हैं, साधक केवल अपना आन्तरिक भाव देख ले।

तामस त्याग :

भगवान कहते हैं :

क) मोह के कारण,
ख) मूर्खता के कारण,
ग) अज्ञान और मोह की ग्रन्थियों के कारण,
घ) यथार्थ न समझते हुए,
ङ) कष्ट और पीड़ा के कारण,

च) जीवन में विपरीतता न सह सकने के कारण,
छ) विपरीत तथा अरुचिकर जानकर,
नियत कर्म छोड़ देना तामस त्याग है।

भगवान का नाम लेने वाले का तो अभ्यास ही नियत कर्मों की सार्थकता में है। यज्ञ, तप, दान नियत कर्म ही हैं। इनका अभ्यास साधारण वातावरण में होता है।

कर्त्तव्य परायणता भी नियत कर्मों में आती है।

मोह :
अब मोह को समझ ले!
१. मोह भ्रान्ति कारक होता है।
२. अज्ञान के कारण बुद्धि की मूर्छा को मोह कहते हैं।
३. मिथ्या सिद्धान्त आरोपण मोह के कारण होता है।
४. मोह ही अत्यधिक आत्मविश्वास आरोपण करता है।
मोह के कारण ही :
५. जीव नित्य उद्विग्नता के जाल में फंसा रहता है।
६. असत् में सत् का आभास होता है।
७. अंधविश्वास होता है।
८. जीव नवीन दृष्टिकोण से देख नहीं सकता।
९. जीव अपने आपको नहीं जानता, जान भी नहीं सकता और जानना भी नहीं चाहता।
१०. जीव के बुद्धि, मन और जीवन में भेद रह जाता है।

बुद्धि को शास्त्र प्रिय हैं, मन को शास्त्र प्रिय नहीं हैं, क्योंकि शास्त्र मनमानी के विरुद्ध है। बुद्धि जिसे सत् मानती है, मन उसे सत् नहीं मानता। ज्ञान कुछ और होता है और जीवन कुछ और होता है। इस मोह के कारण ही अनेकों संतगण भी पथ भूल जाते हैं। जैसे :
- प्रचार कर्त्तव्य का करते हैं, पर स्वयं कर्त्तव्य नहीं करते।
- प्रचार प्रेम और क्षमा का करते हैं, पर स्वयं अपने घर वालों को प्रेम और क्षमा नहीं करते।
- प्रचार दया का करते हैं, पर स्वयं अपने घर वालों पर दया नहीं करते।
- प्रचार तनो त्याग का करते हैं पर स्वयं अपने तन पर जिनका हक है, उनसे वे तन छीन लेते हैं। स्वयं घर छोड़कर मानो अपने पिता का पुत्र, बच्चों का पिता, अपनी पत्नी का पति, अपने भाई का भाई और अपने देश का सेवक छीन लेते हैं।

नियत कर्म, जो स्वाभाविक हैं, इनका त्याग तामस त्याग है।

ध्यान से देख! जो त्याग भगवान ने नहीं किया, वह त्याग तामसिक या राजसिक ही होगा, वरना उसका प्रमाण भगवान के जीवन में मिलना चाहिए।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का त्याग ठीक नहीं होता। त्याग सोच समझ कर करना चाहिए।
- क्यों त्याग किया इसे सोच लो,
- क्या त्याग किया इसे सोच लो,

- परिणाम में किसे कष्ट होगा यह सोच लो,
- आपकी साधना सफल होगी या ख़त्म होगी, ज़रा इसका भी ध्यान धर लो।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

भगवान अब राजस त्याग के विषय में कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. 'दुःख रूप ही है', ऐसा जानकर,
२. जो कोई शरीर के कष्ट के भय से,
३. कर्म को त्याग दे,
४. तो वह राजस त्याग करके,
५. त्याग के फल को नहीं पाता है।

तत्त्व विस्तार :

दुःख रूप जानकर जो त्याग किया जाये, वह राजस त्याग है। जहां नियत कर्म इसलिए छोड़ दिया, क्योंकि इसको करने से :

क) दुःख होगा।
ख) अपनी हानि होगी।
ग) अपने सुख का खर्च होगा।
घ) अपने तन को क्लेश होगा।
ङ) अपना समय नष्ट होगा।
च) अपना धन व्यर्थ जायेगा।
छ) अपना मान जायेगा।
ज) अपनी रुचि में बाधा आयेगी।
झ) अपने स्वार्थ में बाधा आयेगी।
ञ) अपना चैन जायेगा।
ट) अपनी कामना पूर्ण नहीं होगी।

ऐसा सोचकर किसी कर्म का त्याग करना, किसी परिस्थिति, किसी प्राणी, किसी कर्त्तव्य या वस्तु का त्याग करना राजसिक त्याग है।

साधक राजसिक त्याग नहीं करता।

ध्यान से समझ! साधक ऐसा त्याग कर ही नहीं सकता, क्योंकि :

१. उसे निवृत्ति या प्रवृत्ति में समता सीखनी है।
२. उसे तो मान अपमान में समता सीखनी है।
३. उसे तो तनत्व भाव से उठना है।
४. उसे तो जय पराजय में समता सीखनी है।
५. उसे तो दुःख छोड़ना नहीं, दुःख के प्रति उदासीन होना है।

वह विपरीतता क्यों छोड़ेगा, जिसने :

क) प्रेम का अभ्यास करना है।
ख) करुणा और क्षमा का अभ्यास करना है।
ग) सहनशील और दरियादिल स्वयं ही बनना है।
घ) विपद् विनाशक बनना है लोगों का!
ङ) भक्त वत्सल बनना है।
च) स्थित प्रज्ञता का अभ्यास करना है।
छ) दैवी सम्पदा उपार्जित करनी है।

इसलिए भगवान कहते हैं, ऐसा त्याग करने वाला त्याग के फल को नहीं पाता। त्याग का फल तो संन्यास है, त्याग का फल तो तप है। फिर समझ ले ऐसा त्याग करने वाला भगवान को क्या पायेगा, संन्यास को क्या पायेगा, वह तो जहान को भी नहीं पा सकता!

अपने सुख के लिए जीव राजसिक त्याग करता है और वह अपना सुख ही गंवा लेता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्तवा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अब भगवान सात्त्विक त्याग के विषय में कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. 'कर्त्तव्य ही है', ऐसा समझ कर,
२. जो संग और फल का त्याग कर के नियत कर्म को करता है,
३. वह सात्त्विक त्याग है।

तत्त्व विस्तार :

यहां स्पष्ट कह रहे हैं कि कर्म त्याग त्याग नहीं होता। कर्म फल की चाह और कर्म संग का त्याग ही सात्त्विक त्याग है।

'यह करना ही है', ऐसा समझ कर जो कर्म में प्रेरित होता है, वह :

क) निवृत्ति या प्रवृत्ति का ध्यान नहीं करेगा।
ख) कर्म की श्रेष्ठता या न्यूनता पर ध्यान नहीं देगा।
ग) अपनी अभिमान योग्य स्थिति पर चित्त नहीं धरेगा।
घ) अपनी गुण महिमा के आसन पर नहीं बैठेगा, (वहां गुण तो हैं, पर आसन नहीं होता।)
ङ) कर्म से लिपायमान नहीं होगा।
च) आसक्ति रहित होगा।
छ) गुण गुणों में वर्त रहे हैं, यह जानकर वह कर्त्तापन के अभिमान से रहित हो जायेगा और जीवन में मुसकराता हुआ कर्त्तव्य निभायेगा।

भाई! त्याग का अर्थ संग त्याग है। संग मन का गुण है, सो मनो त्याग ही त्याग है।

गर संग और कर्म फल की चाह न रहे तो :

१. रुचि और अरुचि पर ध्यान कौन धरेगा ?
२. राग और द्वेष मिट ही जायेंगे।
३. मान मिले या अपमान मिले, दोनों में समभावी हो ही जायेंगे।
४. तब सुख दुःख विचलित कर नहीं पायेंगे।
५. हानि लाभ से नहीं घबरायेंगे।
६. आशा निराशा के प्रहार छू नहीं सकेंगे।
७. निर्द्वन्द्व हो ही जायेंगे।
८. संकल्प विकल्प रहित हो ही जायेंगे।

९. निर्लिप्त बुद्धि हो ही जायेंगे।
१०. निर्विकार हो ही जायेंगे।
११. निर्मोही हो ही जायेंगे।

तब साधक :
क) अपने प्रति उदासीन हो जायेगा।
ख) अपने प्रति नित्य तृप्त हो जायेगा।
ग) वह नित्य संन्यासी हो ही जायेगा।
घ) उसका कर्म निष्काम और निःसंग होगा।
ङ) उसकी उपासना निष्काम और निःसंग होगी
च) उसका ज्ञान निष्काम और निःसंग होगा।
छ) वह स्थिर बुद्धि हो ही जायेगा।
ज) वह गुणातीत हो ही जायेगा।
झ) वह दैवी गुण सम्पन्न हो ही जायेगा।

- यही संन्यासी का त्याग है, यानि सर्वश्रेष्ठ त्याग है।
- यही वास्तविक त्याग है।
- यही संग का त्याग है।
- यही कर्मफल का त्याग है।

भगवान ने कहा था कि, 'आत्मवान् पंडित महाज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी के साथ अज्ञानी सा ही दर्शाता है। वह किसी की मान्यता को भंजित नहीं करता, चाकरवत् वर्तता है, कोई चाहे तो सारथी का रूप धर लेता है। वह दूसरे से काज करवाता हुआ कर्म सिद्धि का सेहरा दूसरे को दिलवाता है।'

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

मेधावी के त्याग के विषय में भगवान समझाते हैं और कहते हैं कि जो पुरुष :

शब्दार्थ :

१. न अकुशल कर्म से द्वेष करता है
२. और न कुशल कर्म से राग करता है,
३. वह तत्त्व गुण से युक्त मेधावी,
४. संशय रहित त्यागी होता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, ले! तुझे कर्म के प्रति मेधावी का दृष्टिकोण समझाऊं!

मेधावी त्यागी :

मेधावी त्यागी वह है जो :
१. अनुकूल कर्म से राग नहीं करता।
२. अकल्याणकर कर्म से द्वेष नहीं करता।
३. अमंगलकर कर्म से द्वेष नहीं करता।
४. जैसा आये सामने, वह वैसा ही बन जाता है। उसकी कार्य प्रवृत्ति का आधार दूसरा जीव होता है। जैसा कोई सामने आ जाये, वह वैसा ही कर्म करता है।
५. न्यून कर्म जानकर किसी कर्म को छोड़ नहीं देता।
६. दुःख देने वाला, अपमानजनक कार्य छोड़ नहीं देता।

७. अपने पर उस कर्म का क्या प्रभाव पड़ेगा, इसपे ध्यान नहीं देता।
८. ज़रूरी श्रेष्ठ कर्म ही करने हैं, ऐसा भाव नहीं उठता उसके मन में।
९. इष्ट या अनिष्ट फल पर उसका ध्यान नहीं जाता।
१०. 'बहुत उत्तम कर्म है, मैं ऐसा करूंगा,' ऐसी बात ही नहीं उठती।
११. भाई! प्रवृत्ति निवृत्ति उसके हाथ में नहीं होती, न ही वह उस पर ध्यान देता है।
१२. प्रारब्ध अनुसार जो विधान बन चुका है, वह उसी के अनुकूल वर्तता है।
१३. भाई! वह करता कुछ नहीं, वहां सब कुछ स्वयं होता है।

वह तो अपने आप को भूला हुआ, परम परायण हुआ, सब भगवान पर छोड़कर और भागवत् परायण होकर, सब निरपेक्ष भाव से करता है। अपने मान अपमान का उसे ध्यान ही नहीं होता, अपने कल्याण का उसे ध्यान ही नहीं होता।

- वह सर्वारम्भ परित्यागी होता है।
- वह कांक्षा और सोच विचार से परे होता है।

ये सब इसलिए होता है क्योंकि वह संशय रहित, सत् में स्थित, मेधावी होता है।

मेधावी :

भाई! यह स्थिति मेधावी की ही होती है। मेधावी सत्त्व से आगे की स्थिति है। लो कमला! तुझे सत् बुद्धि, मेधावी, स्थित प्रज्ञा और ऋतम्भरा बुद्धि में भेद समझा दें। सतोगुणी को सुख तथा प्रकाश से संग होता है।

सत्बुद्धि :

यह सत् तथा ज्ञान को जानना चाहती है :

१. सत्गुण अभिलाषी,
२. अपने को सत् मानने वाली,
३. सत् असत् को जानने वाली,
४. कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को पहचानने वाली,
५. आत्म अनात्म के भेद को जानने वाली,
६. मुक्ति तथा जीवन बन्धन को जानने वाली,
७. दैवी गुणों को जानने वाली,
यह बुद्धि होती है।

क) इसमें अभी 'मैं' का अभाव नहीं हुआ है।
ख) इसमें अभी संग का अभाव नहीं हुआ है।
ग) अभी गुणातीत नहीं हुआ, अभी सत् के गुणों से संग होता है।
घ) स्वरूप की ओर ले जाने वाला ज्ञान इसे समझ आता है।
ङ) निवृत्ति या प्रवृत्ति विवेक इसे होता है।
च) 'मैं' को मिटाने की चाह यहीं से उठती है।

मेधावी को समझने के लिए पहले भावना को समझ लो।

भावना :

कल्पना आधारित 'तर्क वितर्क करने वाली शक्ति' का नाम भावना है।

यह :

क) कल्पना के आधार पर अपने आपको न्यायमूर्ति सिद्ध करती है।

ख) कल्पना के आधार पर अपने को दोष विमुक्त करती है।

ग) यथा इच्छा अर्थ मढ़ कर असत् को सत् दर्शाती है।

घ) असत् में कल्पित अस्तित्व भरने वाली भावना ही होती है।

ङ) मानसिक ग्रन्थियों को जटिल करने वाली भावना ही होती है।

च) झूठे तथा मिथ्या सिद्धान्तों का आसरा लेकर अपने आपको दोष विमुक्त भावना ही करती है।

छ) जीव भावना के आसरे ही अपने किए हुए अत्याचारों को भी निर्दोष ठहराते हैं।

ज) वास्तविक भाव की छुपाव विधि ही भावना है।

झ) अपने स्वार्थ को बढ़ाने वाली भावना ही है।

ञ) अधर्म को धर्म सिद्ध करने वाली भावना ही तो है।

ट) शास्त्र ज्ञान को भी मिथ्या अर्थ देने वाली भावना ही तो है।

ठ) इस भावना में भीषण तर्क वितर्क करने की शक्ति होती है।

ड) इस भावना में महा झूठ को सच साबित करने की शक्ति होती है।

ढ) जो चाहा, उसे उचित साबित कर दिया, यह भावना का काम है।

ण) जहान को भी धोखा देना, अपने आपको भी धोखा देना और स्वयं ही अपने आपको पहचानने न देना, यह भावना का ही काम है।

यह शक्ति जब सत् को स्थापित करने में लग जाये, यानि अपने आपको सत् में स्थापित करने में लग जाये, तब यह मेधावी कहलाती है। मेधावी के भी वही गुण हैं जो भावना के हैं, किन्तु मेधावी सब नीतियां अपने आपको सत् में स्थित करने में इस्तेमाल करती है।

भावना के आसरे ही जीव,

- भगवान का दृष्टिकोण नहीं देख सकता।
- भगवान से झूठ बोलता है।
- भगवान से मिथ्या बातें करता है।
- भगवान से समझता नहीं, क्योंकि समझना नहीं चाहता है।

मेधावी :

'मेधावी', वह बुद्धि है जो :

क) भगवान के दृष्टिकोण को प्रकट करती है।

ख) भगवान के दृष्टिकोण से जीना सिखाती है।

ग) तर्क वितर्क करके सत् को जीवन में उतारती है।

घ) अपने ही विरुद्ध आवाज़ उठाती है।

ङ) महा नीतिवान् होती है और अपने मन को जीत लेती है।

च) यह अपने ही निहित प्रेरक गुणों को समझने वाली और बदलने वाली होती है।

छ) यह अपने ही निहित प्रेरक गुणों को गौण या तीव्र करने वाली होती है।

ज) भावना में जब सत्प्रियता आ जाये,

तब 'मेधावी बुद्धि' जाग उठती है।

झ) 'मेधावी' चित्त को निर्मल करके स्थित प्रज्ञ बनाती है।

ञ) 'मेधावी' मानो भगवान का ही वकील है।

ट) 'मेधावी' मानो भगवान का दृष्टिकोण जीवन में स्थापित करने वाला अध्यक्ष है।

ठ) स्थित प्रज्ञता के पश्चात् 'मेधावी' ही सरस्वती का रूप धरती है।

ड) स्थित प्रज्ञता के पश्चात् 'मेधावी' ही ऋतम्भरा की ओर ले जाती है।

ढ) जीवन में कुशल अकुशल, निवृति प्रवृत्ति में भगवान के समान उदासीनता, 'मेधावी' ही लाती है।

ण) 'मेधावी' महा दक्ष तथा प्रवीण होती है।

त) 'मेधावी' ही जीव को आत्मवान् बना देती है।

स्थित प्रज्ञा :

स्थित प्रज्ञा उस स्थिर बुद्धि को कहते हैं जो :

१. सत् असत् को वास्तविक रूप से देख सकती है।
२. नित्य अप्रभावित रहते हुए, निरपेक्ष भाव से वास्तविकता को जान सकती है।
३. कभी विचलित नहीं होती।
४. अपने गुणों से भी प्रभावित नहीं होती।
५. दूसरे के गुणों से भी प्रभावित नहीं होती।
६. अपनी चाहना, अपनी मान्यता और अपने ही मान अपमान से भी प्रभावित नहीं होती।
७. नित्य सम रहती है।
८. अपने संग से प्रभावित नहीं होती।
९. निवृत्ति और प्रवृत्ति से प्रभावित नहीं होती, यानि वह बुद्धि, जो दृष्ट और अदृष्ट सृष्टि से प्रभावित नहीं होती।
१०. अपनी तनो स्थापति की चाह से प्रभावित नहीं होती।
११. अपनी मनो रुचि से प्रभावित नहीं होती।

भाई! संन्यासी गण की बुद्धि स्थित बुद्धि ही है। जहां दृष्टि जाये, वह सभी कुछ भूलकर उसमें निमग्न हो जाते हैं, या कह लो जहां जहां दृष्टि जाये, वहां वहां उनकी समाधि लग जाती है। मेधावी स्थित प्रज्ञता से भी उठाकर साधक को ब्राह्मी स्थिति में स्थित करवाती है।

ऋतम्भरा :

ऋतम्भरा,

क) भगवान की वाणी है।

ख) गुणातीत या गुणपति की वाणी है।

ग) साकार से दर्शाते निराकार की वाणी है।

घ) स्वरूप स्थित की वाणी है।

ङ) यह अखण्ड मौन की वाणी है।

च) नित्य अद्वैत स्थित की वाणी है।

छ) परम पुरुषोत्तम की वाणी है।

ज) यह ही वाणी ब्रह्म का वाक् रूप है।

यहां भगवान उस मेधावी की बात करते हैं जो कुशल अकुशल दोनों में

समभाव से स्थित है, जिसे परम सत् ब्रह्म स्वरूप के प्रति कोई संशय नहीं। मेधावी विवेक को जागृत करती हुई, सत् बुद्धि को स्थित प्रज्ञता की ओर ले जाती है और फिर तनत्व भाव मिटाकर ऋतम्भरा में समा जाती है।

न ही देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. क्योंकि देहधारी,
२. समस्त कर्मों को त्यागने में समर्थ नहीं हैं,
३. जो कर्मफल का त्यागी है, वह ही त्यागी है,
४. ऐसा कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

देहधारी को कर्म करने ही पड़ते हैं।

क) देहधारी किसी भी अवस्था में कर्म नहीं छोड़ सकता।
ख) निराकार स्वरूप भगवान भी जब तन धारण करके आते हैं, वह भी नित्य कर्म करते हैं।
ग) ऋषिगण, संतगण, ज्ञानीगण भी नित्य कर्म करते हैं।
घ) भाई! साधना भी तो कर्म ही है।
ङ) संन्यासी भी कर्म करते हैं।
च) जीव का जीवन ही एक अखण्ड कर्म है।
छ) साधक की स्थिति का प्रमाण भी तो कर्म ही हैं।
ज) ज्ञान, गर शब्द ज्ञान है तो उस ज्ञान का प्रमाण भी तो कर्म ही हैं।

इसे पुन : समझ!

१. दूसरे जीव के सम्पर्क में आने से ही ज्ञान विज्ञान बनता है।
२. व्यवहार में ही ज्ञान का प्रमाण मिलता है।
३. दैवी सम्पदा का प्रमाण दैवी गुण बहाव से ही मिल सकता है।
४. दैवी गुण बहाव जीवों के प्रति और जीवों के लिए ही हो सकता है।
५. स्थित प्रज्ञता का प्रमाण विपरीतता में ही मिल सकता है।
६. गुणातीतता का अभ्यास विभिन्न गुणों में रह कर ही हो सकता है।
७. यज्ञमय जीवन का अभ्यास भी दूसरे के लिये अपने तन, मन, बुद्धि को अर्पित करके ही हो सकता है।

भगवान ने बार बार कहा है :

- यज्ञ, तप, दान पावनकर हैं। (१८/५)
- सर्वभूतहितेरतः होना चाहिए। (१२/४)
- ब्रह्मनिर्वाण, सर्वभूतहितेरताः गण ही पाते हैं। (५/२५)

ये सब कर्म ही हैं, ये कर्म ही पावन करते हैं। मेरी नन्हीं जान! कर्म तो करने ही पड़ेंगे, वहां कर्तृत्व भाव का अभाव हो जाना चाहिए। जब कर्तृत्व भाव का अभाव ही हो गया तो फिर कर्म किसके रह गये? तब कर्म तो होते रहेंगे, पर कर्त्ता नहीं रहेगा। कर्तृत्व भाव के अभाव को चाहे कर्म त्याग कहलो, परन्तु स्थूल कर्मों का त्याग आपका तन कर ही नहीं सकता।

सो भगवान कहते हैं, 'कर्मफल से संग त्याग ही त्याग है।' भगवान कह आये हैं, 'संग को मन से त्याग दे, यही त्याग है।'

जो देहधारी केवल देहात्म बुद्धि सम्पन्न नहीं होते, वे देह धारण किए हुए आत्मा ही हैं। निराकार, तनत्व भाव से परे भी जग के दृष्टिकोण से देहधारी ही हैं। इस कारण भगवान ने कहा, 'मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं, फिर भी मैं कर्म करता हूं।' भगवान ने कहा,

क) 'यदि मैं कर्म न करूं तो लोग भी कर्म छोड़ देंगे, वे मेरे अनुसार वर्तेंगे।' (३/२३)

ख) 'यदि मैं कर्म न करूं तो लोक भ्रष्ट हो जायेगा। मैं वर्ण संकर उत्पन्न करने वाला होऊंगा और सारी प्रजा मोह के कारण नष्ट करने वाला बनूंगा।' (३/२४)

ग) 'लोक संग्रह अर्थ ज्ञानी भी अज्ञानियों की तरह कर्म करे।' (३/२५)

घ) 'स्वरूप स्थित ज्ञानी पुरुष कर्म आसक्त अज्ञानियों में बुद्धि भेद उत्पन्न न करे और सब कर्मों को करता हुआ उन अज्ञानियों से भी कर्म करवाये।' (३/२६)

पर ध्यान रहे ये बातें भगवान अपने दृष्टिकोण से कह रहे हैं। महा विद्वान् पंडित के लिए कह रहे हैं। भगवान के लिए कोई कर्त्तव्य नहीं, पर फिर भी वह कर्त्तव्य करते हैं।

उन विभ्रान्त साधक गणों की क्या कहें,

१. जो कर्त्तव्यविहीन हो जाते हैं!
२. जो सर्वप्रथम कर्त्तव्य से पलायन करते हैं!
३. जो सर्वप्रथम अपनों पर ही आघात करते हैं!
४. जो कहते हैं कि कर्म त्याज्य हैं, परन्तु इतने भीषण कर्म कर बैठते हैं, क्योंकि वे संग छोड़ने की जगह कर्म छोड़ देते हैं।
५. दैवी गुण अभ्यास की जगह पर जीवों से सहज नाता तोड़ देते हैं।
६. वे कर्म फल चाहना भी नहीं छोड़ते, किसी अन्य जगह जाकर फल की आस से साधना करते हैं और काज कर्म करते हैं।

भगवान कहते हैं कि कर्म तो करने ही होंगे। तू यज्ञ, तप और दान रूप कर्म न छोड़, संग छोड़ दे, यही त्याग है। प्रथम संग अपने तन से होता है, तत्पश्चात् किसी अन्य विषय से संग होता है। संग ही चला गया तो फिर क्या छोड़ना और क्या न छोड़ना ?

भगवान ने बार बार कर्मफल के त्याग को ही त्याग कहा है। निष्काम कर्म को ही त्याग कहा है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. अज्ञानियों (सकामी पुरुषों) के कर्म का,

२. इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित, ऐसा तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् होता है,

३. और त्यागी पुरुषों के (कर्मों का फल) कहीं भी (किसी भी काल में) नहीं होता।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! संग तथा कर्मफल आसक्त लोगों को उनके कर्मों के अनुसार तीन प्रकार का फल मिलता है।

इष्ट फल

अर्थात्,

क) वांछित, अभिलाषित, जीवन रेखा।

ख) रुचि अनुकूल जीवन का मिलना।

ग) सम्मान तथा आदरपूर्ण जीवन का मिलना।

घ) जीवन में प्रिय तथा सुखदे परिस्थितियों का होना।

ङ) धन, दौलत, ऐश्वर्य तथा साथ में सुख का मिलना।

च) प्रतिष्ठा पूर्ण जीवन का मिलना।

अनिष्ट फल :

जिन्हें अनिष्ट फल मिलता है,

१. वे दुर्भाग्यपूर्ण लोग नित्य ठुकराये जाते हैं।

२. हर परिस्थिति में उनका प्रतिकूलता से सामना होता है।

३. पेट भर रोटी भी नसीब नहीं होती।

४. उन्हें दुःख, क्लेश और संताप घेरे रहते हैं।

५. वे कभी अंग विहीन होते हैं, कभी प्यार नहीं मिलता उन्हें, तो कभी सब कुछ मिलते हुए भी वे रोग ग्रसित होते हैं।

६. अप्रिय सम्पर्क तथा अप्रिय जीवन मिलता है।

७. चहुं ओर से दुश्मन घेरे रहते हैं।

८. चहुं ओर से वे कठोरता से घिरे रहते हैं।

मिश्रित फल

कुछ लोगों को अपने सम्पूर्ण कर्मों के अनुसार मिश्रित फल मिलते हैं। यानि :

क) थोड़ी खुशियां, थोड़े ग़म मिलते हैं।

ख) थोड़ा धोखा मिलता है, थोड़ा प्यार मिलता है।

ग) कभी हार होती है तो कभी जीत।

घ) कुल मिला तो प्यार न मिला।

ङ) द्वन्द्व पूर्ण जीवन मिलता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जन्म मरण का चक्र कामना के कारण और राग द्वेष के कारण चलता है।

भगवान बार बार कह रहे हैं, 'तू संग छोड़ दे, कर्मफल चाह को छोड़ दे तो जन्म मरण के चक्र से छूट जायेगा।'

तो क्यों न कहें कि वास्तविक कर्म मन ही करता है! बाहर तो गुण गुणों में वर्त रहे हैं; सब स्वत: हो रहा है; गर मन उनसे संग न करे, तो भी कर्म तो होते ही जायेंगे। गर मन फल की चाहना छोड़ दे, तो भी कर्म होते ही जायेंगे।

इससे अर्थ यह हुआ कि :

- स्थूल कर्मों से कर्म फल बीज नहीं बनते।
- जीवन के स्थूल कर्म भी अपने बस में नहीं होते।
- वास्तव में बाह्य कर्म तो केवल फल ही हैं। पूर्व जन्मों के कर्म फल बीज ही तो फूटे हैं।

संग :

प्रथम संग को समझ ले। संग किसी विषय से :

क) मानसिक तद्रूपता को कहते हैं।
ख) मानसिक एकरूपता को कहते हैं।
ग) घनिष्ठ सहचर्य को कहते हैं।
घ) अति तीव्र आसक्ति को कहते हैं।
ङ) आबद्ध ग्रन्थी को कहते हैं।
च) योग, यानि मिलन को कहते हैं।
छ) एकरूपता की चाह को कहते हैं।

संग परिणाम :

जीव, जो आत्म स्वरूप है, वह बुद्धि तथा मन की अज्ञानता के कारण अपने आपको :

१. तन ही मान बैठा है।
२. तन के तद्रूप कर बैठा है।
३. तन जड़ है और आत्म चेतन है, दोनों विजातीय हैं, फिर भी उन्हें एक समझ बैठा है।
४. उसे तन रूपा मूर्ति का द्रष्टा बनना था, वह स्वयं ही मूर्ति बन बैठा है।
५. माटी की मूर्ति में बुद्धि और तन ने मिलकर तन को सम्बोधन करते हुए आवाज़ निकाली 'मैं'।
६. द्रष्टामात्र स्वरूप अंश ने तन को 'मैं' बना दिया और माटी के साथ मिला दिया।
७. द्रष्टा पर मन, बुद्धि, और तनो संगी 'मैं' का आवरण चढ़ गया।
८. जीव ने स्वत: ही गुणों से बधित कर्म करने थे। संग के कारण उन्हें 'मैं' ने अपना लिया।
९. विधान रचित कर्म हो रहे थे, 'मैं' कर्म के तद्रूप हुई और कहने लगी, 'मैंने किया है।'
१०. कर्त्तापन का अभिमान संग के कारण उत्पन्न हुआ, वरना कर्म गुणों का खिलवाड़ होने के कारण जड़ ही थे।
११. तन को 'मैं' ने व्यक्तिगत कर लिया है।
१२. मन का स्वरूप प्रेम था, परन्तु तन से संग के कारण मन पत्थर बन गया।
१३. तन के हर अंग से, हर रोम से, हर चाह से 'मैं' की एकरूपता का संग है।

१४. बुद्धि का स्वरूप परम ज्ञान था, पर संग के कारण वहां स्थूल ज्ञान भर गया।
१५. वास्तव में मन को सुख दु:ख भी 'मैं' के संग के कारण होते हैं।

जब कर्त्तापन का अभिमान 'मैं' को है, तो,

क) फल भी 'मैं' को मिलता है।
ख) तब भोक्ता भी मन ही होता है।
ग) तब भोक्ता भी 'मैं' ही होता है।
घ) संग ही बीज में प्राण भरता है।
ङ) संग ही बीज को पुन: जन्म देने की शक्ति से सम्पन्न करता है।
च) संग के कारण ही मोह उत्पन्न होता है। (मोह सदा अपने तन से होता है।)
छ) संग के कारण ही अज्ञान का जन्म होता है।
ज) संग ही मूल है जन्म मरण के चक्र का।
झ) संग के कारण ही तो जीव कर्मफल और आशापाश में बंध जाता है।
ञ) संग के कारण ही तो जीव अपने तन को स्थापित करना चाहता है।

भगवान कहते हैं संग ही महा कर्म है। गर संग नहीं तो तुम्हारा कोई कर्म नहीं, कोई कर्मफल नहीं। जो संग त्याग देता है, उसके कर्मों का कोई फल नहीं रहता।

नन्हीं! फल क्या होगा, जब वह कर्त्ता ही नहीं है। उसका तो कोई तन ही नहीं होता, वह तो जीवन मुक्त हो जायेगा।

कर्म क्या है?

अच्छा बच्चू! अब कर्म क्या हैं, यह भी समझ ले! भगवान कहते हैं कि वास्तविक कर्त्ता गुण हैं।

गर संग नहीं तो,

१. आपका कोई कर्म नहीं।
२. आपका कोई कर्मफल नहीं रहता।
३. आपका कोई कर्मफल · बीज नहीं रहता।
४. पाप पुण्य निरर्थक हो जाते हैं।
५. जड़ चेतन समान हो जाते हैं।
६. आप जीवन मुक्त हो जाते हैं।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि संग ही स्थूल कर्मों में प्राण भरता है, स्थूल कर्म आपका संग ही बनाता है। जब कर्म आपके नहीं तो आप कर्त्ता नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि संग ही आपका कर्म है। संग मन का कर्म है, इसलिए मन के कर्म ही कर्म हैं। बाह्य कर्म तो गुण गुणों में वर्त रहे हैं, इस कारण होते हैं, इनके कर्त्ता तो आप हैं ही नहीं।

इससे यह समझ लेना चाहिए कि कर्म मन के होते हैं, बाह्य नहीं। गर जीवन मुक्त को अभिलक्षित करके कर्म करें, तो भगवान ने कहा है :

क) अपने मन को उचित राह पर ले आओ।
ख) राग द्वेष छोड़ दो।
ग) कामना और लोभ मन के गुण हैं, इनको छोड़ दो।
घ) अहंकार, ममत्व भाव, दम्भ दर्प और वैर भाव का त्याग करने को कहा है भगवान ने!

ङ) दैवी गुण और आसुरी गुण मन के गुण हैं।
च) संकल्प विकल्प, तृप्ति अतृप्ति, आशा तृष्णा, सभी मन के गुण हैं।
छ) मान अपमान का अनुभव करने वाला मन ही है।
ज) विक्षिप्त या शान्त भी मन ही होता है।

ये सब बातें मन में ही होती हैं और इन्हीं के बारे में हर शास्त्र बात करता है। बाह्य कर्म का त्याग कहीं नहीं कहा, मनो संग का त्याग कहा है, जो कर्मफल के साथ होता है। संन्यास में भी काम्य कर्म के त्याग को कहा है। फिर सर्वारम्भपरित्यागी कहा है, क्योंकि जब अपने ही तन से संग नहीं रहेगा तो वह अपने तन, मन या अपनी बुद्धि के लिए क्या योजन बनायेगा ?

यहां भी मन की बात प्रधान है, क्योंकि मनो चाह, अभिरुचि और मनो संग पर कर्म का अभिप्राय तथा कर्मों का गुण आधारित है। वास्तव में स्थूल कर्म तो गुणों पर आधारित हैं, यदि मानसिक वृत्तियों से मन शून्य हो जाये, तो

- बुद्धि निर्मल हो जायेगी।
- चित्त शुद्ध हो जायेग।
- जीव कर्मों से परे हो जायेगा।
- कर्म तो होते रहेंगे, किन्तु कर्म बन्धन मिट जायेगा।

बाकी रहे साधारण जीवों के कर्म, वह नाहक संग करके ऊंची नीची योनियों के भागी बनते हैं।

जो त्यागी लोग होते हैं, उनको कर्मों का फल कभी नहीं मिलता। इसलिये नन्हीं जान! संग का त्याग कर दे। नन्हीं! कर्म को पुनः समझ ले।

भगवान ने कहा :

क) कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से विषय चिन्तन मिथ्याचार है। (३/६)
ख) अहंकार विमूढ़ात्मा 'मैं कर्त्ता हूं' ऐसा मान लेते हैं। (३/२७)
ग) भगवान स्वयं स्पृहा रहित कर्म करते हैं और नित्य निर्लिप्त रहते हैं। (४/१४)
घ) नित्य तृप्त, कर्म संग त्यागी सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। (४/२०)
ङ) अपने आपको कुछ भी मिल जाये, उसमें सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्व रहित, ईर्ष्या रहित, समत्व स्थित कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता। (४/२२)
च) ज्ञान में स्थित चित्त वाले, यज्ञ के लिए आचरण करते हुए मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। (४/२३)
छ) जो राग और द्वेष रहित है, वह सदा संन्यासी समझा जाने योग्य है। (५/३)

नन्हीं! भगवान ने केवल संग को ही कर्म कहा है। भगवान ने मानो मन को ही कर्म कहा है। यदि मन मौन हो जाये तो आपसे सम्पूर्ण कर्म होते भी रहें, फिर भी आप नित्य अकर्त्ता रहेंगे।

वास्तव में आत्म प्रिय! यदि तुम सच ही आत्मवान् बनना चाहती हो, तो यह जान लो कि :

१. मनो मौन के बिना आत्मा को जान लेना असम्भव है।
२. नन्हूं! मनो मौन के बिना आत्मवान् बन जाना असम्भव है।
३. राग और द्वेष भी हों और तनत्व भाव का अभाव भी हो जाये, यह असम्भव है।
४. तन से संग भी रहे और देहात्म बुद्धि का अभाव भी हो जाये, यह असम्भव है।
५. तन के ऊपर हर पल पहरा भी लगा रहे और 'मैं' का अभाव भी हो जाये, यह असम्भव है।
६. तन आसुरी गुणों की प्रतिमा हो और तन से संग भी न रहे, नन्हीं! यह असम्भव है।
७. तन का गुमान भी हो और तुम अमानी भी हो जाओ, यह असम्भव है।

जिसे अपना तन औरों को देना नहीं आता, उसके लिए आत्मवान् बनना असम्भव है। जो अपना दामन बचाकर रखते हैं, उनके लिए आत्मवान् बनना असम्भव है। यानि, जो कहते हैं, दामन पर दाग़ न लगे और मन को ठेस न लगे, उनके लिए आत्मवान् बनना असम्भव है।

साधना :

साधना वही है, जो :

क) आपको तनत्व भाव और देहात्म बुद्धि से परे कर दे।
ख) जो अपने आप में से अपना आप देना सिखा दे।
ग) जब साधक निरपेक्ष भाव से अपना अंश औरों को देता है तो वह उतना उतना अपना त्याग कर चुका है।
घ) अपना आप देना ही साधना है, अपने लिए कुछ भी लेना असाधुता है।
ङ) औरों को मान दो, अपने मान के लिए कुछ न करो, यही साधना है।
च) औरों के काम करो, अपनी परवाह न करो, यही साधना है।
छ) औरों को दु:ख से बचाओ, अपने सुख के लिए कुछ न करो, यही साधना है।

इसी कारण कहते हैं कि यज्ञ, तप और दान पावन करते हैं।

इसे ध्यान से समझ मेरी नन्हूं!

१. इन तीनों में साधक अपने आप में से कुछ देता है, कुछ लेता नहीं है।
२. इन तीनों को सार्थक करने के लिए निष्कामता अनिवार्य है।
३. ये तीनों जब पराकाष्ठा तक पहुंचेंगे, तब तक साधक अपने आपको भूल चुका होगा।
४. फिर कहते हैं आत्म विस्मृति ही स्वरूप स्थिति है। जो अपने आप के लिए कुछ करना भूल ही जायेगा, वह अपने आपको भूल ही जायेगा।
५. नन्हीं! ज्ञान केवल वह होता है जो साधक को अपना आप देना सिखाता है। जो संसार से कुछ भी लेना सिखाता है, वह अज्ञान है।
६. 'मैं' को स्थापित करने के लिए यदि कुछ भी चाहिए तो वह अज्ञान है और अहंकार वर्धक है।

क) 'मेरी बेइज़्ज़ती हो गई', यह कहना और सोचना भी, अज्ञानवर्धक है।

ख) 'मेरी बेइज़्ज़ती न हो जाये,' यह चाहना भी अज्ञानवर्धक है।

ग) 'मेरा हक मुझे नहीं मिला', यह कहना भी अज्ञानवर्धक है!

नन्हूं! यदि तनत्व भाव ही छोड़ना है, तो किस तन के हक मांगते हो ?

साधक औरों के सब हक उनको देता है और उन्हें अपने फ़र्ज़ जानकर निभाता है। बस उसका अपना अधिकार कुछ नहीं होता। उसे तो कर्मफल का मानो स्वप्न में भी ख्याल नहीं आता, वह तो बेख़ुदी की प्रतिमा स्वयं होता है। लोग उस पर शक करते हैं और बेवफ़ाई का इल्ज़ाम भी लगाते हैं, किन्तु वह तो वफ़ा का फ़रिश्ता होता है।

नन्हीं! यही साधना का राज़ है, इसके राही ही जीव आत्मा को जान सकता है; इसके राही ही जीव आत्मवान् बन सकता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! तुझे कर्म का राज़ समझाऊं!

शब्दार्थ :

१. सब कर्मों की सिद्धि के लिए,
२. सांख्य सिद्धान्त में यह पांच हेतु कहे गये हैं,
३. उन्हें भली प्रकार से जान ले।
४. अधिष्ठान और कर्त्ता,
५. भिन्न भिन्न आकार (तनो इन्द्रिय) के करण,
६. नाना प्रकार की चेष्टायें,
७. और इसमें पांचवां हेतु दैव है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं कि हर कर्म की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पांच हेतु कहे गये हैं, इन्हें समझ ले और कर्मफल से संग छोड़ दे।

जीव की भूल

जीव नाहक ही,

क) अहंकार और दम्भ करता है।

ख) मनो मन अपने आपको तड़पाता है।

ग) अपने में विकार उत्पन्न करता है

घ) मनोमन संकल्प विकल्प में पड़ा रहता है।

ङ) मनोद्वन्द्वन् के कारण चिन्तित तथा क्षुब्ध रहता है।

च) अहंकार में पड़कर सत्यता से विमुख हो जाता है।

छ) राग द्वेष करता है।

ज) सत् चित्त आनन्द स्वरूप, जो इसका जन्म सिद्ध अधिकार है, उससे वंचित हो जाता है।

झ) आत्म स्वरूप चेतन तत्त्व जड़ सा हो जाता है।

ञ) स्थित प्रज्ञता गंवा कर जड़ बुद्धि पूर्ण हो जाता है।

सो भगवान कहते हैं कर्म कैसे होते हैं, पहले यह तो समझ ले। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्म के पांच हेतु होते हैं।

कर्म के पांच हेतु :

१. ·अधिष्टान,
२. कर्त्ता,
३. करण,
४. चेष्टायें, तथा
५. दैव।

अधिष्ठान :

अधिष्ठान का अर्थ है :

१. रहने का स्थान।
२. आधार का स्थान।
३. सहारा।
४. तन की अपनी नियन्त्रण शक्ति।
५. तन की अपनी नियमनकर शक्ति।
६. जहां पर योग हो।
७. जहां पर कर्म का बीज रहे।
८. जहां पर कर्म करने का सामान रहे।
९. जहां पर प्रेरक शक्ति वास करे।
१०. जहां पर कामनाएं वास करें।
११. जहां पर अतृप्त भावनाएं वास करें।
१२. जहां गुण वास करें, वहां पर भोग्य का भोग होता है।
१३. भोक्ता गुण जहां पर हैं और गुणों को एकान्त में भोग करते हैं।

कर्त्ता :

१. कोई कर्म करने वाले वास्तविक कर्त्ता गुण होते हैं।
२. देहात्म बुद्धि तो नाहक कर्म को अपनाती है, पर कर्त्ता तो केवल गुण ही हैं।
३. जीव स्वभाव, प्राकृतिक गुण ही कर्त्ता हैं। परम ब्रह्म को परम कर्त्ता कह लो।
४. जो विषयों की ओर ले जायें,
५. जो विषयों से दूर ले जायें,
६. जो भला या बुरा कहते हैं,
७. अन्तःकरण की प्रेरणायें, लोभ, कामना, चाहना इत्यादि कर्त्ता हैं।
८. भगवान ने वास्तविक कर्त्ता गुणों को कहा है।

करण :

क) पंच ज्ञानेन्द्रियां :

१. श्रोत्र–शब्द,
२. नयन–रूप,
३. त्वक्–स्पर्श,
४. नासिका- गन्ध,
५. जिह्वा–रस।

ख) पंच कर्मेन्द्रियां :

१. हस्त,
२. वाक्,
३. पाद,

४. गुदा,
५. उपस्थ।

ग) मन, घ) बुद्धि, ङ) यानि, सम्पूर्ण शारीरिक शक्तियां :

सम्पूर्ण क्रिया के साधन करण ही होते हैं। जिन पर चढ़कर गुण बाहर जाते हैं, जिन पर चढ़कर अपने लिए अन्न लाते हैं, वे करण हैं।

चेष्टा :

१. प्रेरणा की कार्य चेष्टा,
२. गति नियोजित करने वाली,
३. कर्म आकर्षित करने वाली,
४. जो अंगो का संचालन करवाये,
५. जो गमन आगमन करवाये,
६. जो कर्म प्रवृत्त करवाये,
७. आचरण करने की कोशिश,
८. कर्म प्रवृत्त होने की चेष्टा,
९. किसी संकल्प विकल्प को जो प्रेरित करे,
१०. जो गति प्रणाली में प्रवाहित करे,
११. जो शक्ति को कर्म का रूप दे,

वह चेष्टा है।

दैव :

१. परिस्थिति भी चाहिए।
२. संस्कार भी चाहिएं।
३. गुण गुणों में वर्तने के लिए गुण सहयोग तो हो।
४. सेवा विधान अनुकूल हो।
५. गुण भी हों।
६. गुण प्रभावित काम भी हों।
७. गुण आकर्षणकर भी हों।
८. गुण विकर्षणकर भी हों।
९. क्रिया शक्ति भी हो।
१०. मस्तिष्क बल भी हो।
११. अनुकूल चित्त भी हो।

यह सब दैव के हाथ में है। संयोग दैव को कहते हैं।

कर्म सिद्धि का कोई भी हेतु जीव के हाथ नहीं है :

अब कर्म सिद्धि के हेतु पुनः समझ! इसे दूसरे दृष्टिकोण से देख :

क) अधिष्ठान गर तन है तो तन रचना जीव के हाथ में नहीं है।
ख) कर्त्ता गुण, प्रकृति हैं, तो प्रकृति ही त्रैगुण रंगी स्वभाव जीव को देती है। यह भी जीव के हाथों में नहीं है।
ग) करण, इन्द्रियां जो हैं, यह भी जीव ने नहीं रचीं।
घ) दैव, जो परिस्थिति की रचना करता है, विधान बनाता है, जीव की रेखा रचता है, यह सब भी जीव के हाथ नहीं है।
ङ) चेष्टा गर गुणों पर आधारित है तो यह भी जीव के हाथ नहीं है।

गुण विवेक :

१. गुण ही दूसरे के गुणों की ओर आकर्षित होते हैं।
२. गुण ही दूसरे के गुणों से प्रतिकर्षित होकर उन्हें दूर करते हैं।
३. गुण ही गुणों को प्रभावित करते हैं।

४. गुण ही गुणों को प्रेरित करते हैं।
५. गुण ही गुणों को स्फूर्ति देते हैं, उकसाते हैं।
६. गुण ही गुणों का परित्याग करते हैं।
७. किसी के गुणों के कारण ही द्वेष का गुण उत्पन्न होता है।
८. किसी के गुणों के कारण ही प्रेम उभर आता है।
९. किसी के गुणों के कारण ही मैत्री या शत्रुता होती है।
१०. किसी परिस्थिति के गुण ही आपको भ्रमात्मक लगते हैं और वहां से आप दूर भागते हैं।
११. किसी परिस्थिति के गुण ही आपको अच्छे लगते हैं और वहां आप उसका पुनरावर्तन चाहते हैं।

भाई! यह चेष्टा में प्रेरणा भी गुण ही करवाते हैं। या यूं कहो,

- तन और इन्द्रियां आपके बस में नहीं हैं।
- गुण और चेष्टायें आपके बस में नहीं हैं।
- परिस्थिति तो आपके बस में है ही नहीं।

कर्म अपनाना जीव की मूर्खता है। यह पंच अंग मिलन राह जो कर्म हुआ, उसे अपना लेना, उस पर अभिमान करना, उसके तद्रूप हो जाना, उसमें कर्त्तापन भर देना मूर्खता ही है।

इस पर भोक्ता को भी देख लें।

गुण ही भोक्ता हैं :

वास्तव में गुण ही गुणों को भोगते हैं। आपके जो गुण हैं, वह पर आश्रित हैं। आपके गुण ही गुणों का भक्षण करके :

१. पुष्टित होते हैं।
२. क्षीण होते हैं।
३. क्रोध करते हैं।
४. आपके गुण ही गुणों से प्रभावित होकर भयभीत होते हैं।
५. आपको निर्दयी तथा कठोर बनाते हैं या आपको करुणापूर्ण बना देते हैं।

भाई! यह सब गुण खिलवाड़ है, गुण ही प्रेरित करते हैं और गुण ही दूर कर सकते हैं; गुण ही कर्म करवाते हैं और गुण ही कर्मों की ओर अरुचि उत्पन्न करते हैं; गुण ही कर्त्तव्य विमुख करवा देते हैं और गुण ही कर्त्ता हैं एवं गुण ही गुणों को भोगते हैं।

अहंकार :

अहंकार सहज गुणों पर मिथ्या कर्तृत्व भाव का आरोपण है। अहंकार के कारण जीव नाहक गुणों से संग करके :

क) गुमान करता है और इतराता है।
ख) अपने गुणों को न्यून जानता है और छुपाता है।
ग) अपने आपको दु:खी और ज़लील करता है।
घ) अपने आपको उच्च आसन पर स्थापित करता है।
ङ) घमण्ड करता है।
- राग द्वेष अहंकार के ही रूप हैं

- तृष्णा, लोभ अहंकार की ही देन है।
- आसुरी गुणों का वर्धन अहंकार के कारण ही होता है।
- दैवी गुणों का वर्धन निरहंकार की ओर बढ़ने वाले का सहज गुण है।

अहंकार केवल अज्ञानता, मोह और संग के कारण होता है।

भाई! यदि गुणों को दूर से देख लो, अपने तन को दूर से देख लो तो जान ही जाओगे कि जो आपके गुण हैं, वह आपने जान बूझकर उपार्जित नहीं किये। गर आपने एक प्रकार की शिक्षा पाई है, एक प्रकार का गुण पाया है तो गुण प्रभाव से पाया है। गर आपने एक प्रकार का रूप पाया है तो दैव और संस्कारों से पाया है। यदि आपने एक प्रकार की नौकरी पाई है तो गुण प्रभाव से पाई है। गर आपने एक प्रकार का कर्म किया है तो उसमें ये पांच अंग, जो कर्म के हेतु कहे हैं, ये सब अनिवार्य थे।

भाई!

- गर तन ही न होता तो कुछ भी न होता।
- गर गुण न होते तो कुछ भी न होता।
- गर तन में इन्द्रियां न होतीं तो कुछ भी न होता।
- गर गुण गुणों से प्रभावित होकर चेष्टा न करते, तो कुछ भी न होता।

गर किस्मत साथ ही न देती तो यह परिस्थिति ही न होती। आपमें जो गुण हैं, वे गुण ही न होते। आपका जहां जन्म हुआ, यदि वह कुल ही न होता, आपके कुल ने विभिन्न रूप से प्रभावित करके आपको आज जो बना दिया, आज वह आप न होते। आपके गुण जो और जैसे भी हैं, इनका पालन पोषण अन्य गुणों से ही हुआ है। गर किस्मत में वह न होते तो यह भी न होता जो आज है। यही भगवान बता रहे हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

देख! भगवान कह रहे हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. मनुष्य, मन, वाणी और शरीर से,
२. न्यायपूर्वक या अन्यायपूर्वक,
३. जो भी कार्य आरम्भ करता है,
४. उसके ये पांच कारण हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान यहां पुनः बता रहे हैं कि जीव के सम्पूर्ण कार्य :

क) इन्हीं पांच हेतुओं के मिलन के कारण होते हैं।

ख) गुण खिलवाड़, गुण मिलन, गुण वियोग, सबका कारण यही हैं।

यानि,

- तन और कर्त्ता रूप,
- गुण और इन्द्रियां, आकर्षण या प्रतिकर्षण रूप,
- चेष्टा और दैव, यही सम्पूर्ण मानसिक, कायिक, वाचिक कर्मों के हेतु हैं।

मानसिक कर्म :

१. दु:खी सुखी होना, मनोकर्म अर्थात् मानसिक कर्म हैं।
२. क्रोध से भड़कना,
३. क्षोभ से पीड़ित होना,
४. लोभ, तृष्णा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि,
५. आनन्द रूप अनुरूप,
६. दया तथा करुणा का उठना,
७. न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण विचार में रमण,
८. संकल्प विकल्प रूपा कर्म,
९. प्रतिद्वन्द्व, जो विचलित कर देते हैं,
१०. भाव भावनायें,
११. आवेग या सौम्यता,
१२. मानसिक प्रतिबन्ध,

इत्यादि मानसिक कर्म हैं। यह विचारधारायें मन में होती हैं। इन मानसिक कर्मों के यही पांच हेतु हैं।

वाचिक कर्म :

वाणी के कर्म वाक् राही नित्य प्रदर्शित होते ही रहते हैं :

क) वाक् न्यायपूर्ण भी हो सकता है।
ख) वाक् मिथ्यात्व पूर्ण या सत् पूर्ण भी हो सकता है।
ग) वाक् चलायमान करने वाला या स्थापित करने वाला भी हो सकता है।
घ) वाक् मिटाने वाले भी हो सकते हैं।
ङ) वाक् भागवत् चर्चा पूर्ण भी हो सकते हैं।
च) वाक् भगवान की ओर प्रेरित करने वाले भी हो सकते हैं।
छ) वाक् कपटपूर्ण भी हो सकते हैं।
ज) वाक् दूसरे की आबरू लूटने वाले भी हो सकते हैं।

वाक् अनेकों प्रकार से प्रभावित करते हैं आपको या दूसरे को। वाक् का कर्म शब्द प्रवाह है।

नन्हूं! अन्त:करण के सारे कर्म मानसिक कर्म माने जाते हैं और वाणी के सम्पूर्ण कर्म (शब्द रूप) वाङ्मय कर्म माने जाते हैं।

शारीरिक कर्म :

शारीरिक कर्म वे होते हैं जो आपका तन करता है। जीव का हर स्थूल कर्म शारीरिक कर्म है।

भगवान कहते हैं कि जीव का कर्म कायिक, वाचिक या मानसिक, जो भी हो, वह इन पांच हेतुओं से होता है। कर्म न्यायपूर्ण या न्याय विपरीत, जैसा भी हो, उसके ये पांच ही कारण हैं। नन्हूं जान! अब न्यायपूर्ण कर्म समझ ले।

न्यायपूर्ण कर्म :

न्यायपूर्ण कर्म वे होते हैं, जो :

१. सत् पूर्ण कर्म हों।
२. श्रेष्ठ कर्म हों।
३. उचित कर्म हों।

४. कर्त्तव्य करना ही होता है, यह न्यायपूर्ण कर्म का आधार है।

उदाहरणत:, तुम किसी की बेटी हो, किसी की बहिन हो, तुम्हारा उनसे नाता निभाना ही न्याय है। यदि बेटा पुत्र के कर्त्तव्य को त्याग देता है तो वह अन्याय करता है। नन्हूं! मां बाप ग़लत भी हो सकते हैं, किन्तु वे नये बच्चे तो नहीं ला सकते। नन्हूं! हमेशा न्याय का साथ दो, चाहे वह अपने मां बाप के खिलाफ़ ही हो, किन्तु अपने मां बाप के प्रति भी जो कर्त्तव्य हैं, उन्हें भी निभाओ। उनके बच्चे तो तुम हो, उन्हें तो उनसे न छीन लो।

५. सेवा तथा दान न्यायपूर्ण कर्म हैं।
६. तप तथा यज्ञ न्यायपूर्ण कर्म हैं।
७. दैवी गुण न्यायपूर्ण ही हैं।

इनसे जो विपरीत हैं, उसे असत् व अन्यायपूर्ण कर्म कहते हैं।

अन्यायपूर्ण कर्म :

क) असत् तथा अन्यायपूर्ण कर्म दुराचारी कर्म हैं।
ख) निर्दयता, छलकपट पूर्ण कर्म,
ग) विनाश करने वाले कर्म,
घ) कुटिलता, द्वेष, ईर्ष्या, धृष्टता,
ङ) घमण्ड, दर्पपूर्ण कर्म, निन्दा तथा अपमानजनक कर्म,
च) किसी को तड़पाना,
छ) क्रोध तथा वैमनस्य पूर्ण कर्म,

ये सब अन्यायपूर्ण कर्म हैं।

कर्म न्यायपूर्ण हों या अन्यायपूर्ण हों, इनके हेतु ये पांच ही हैं। इसी विधि तनो कर्म के भी ये पांच हेतु हैं। जीव भला करे या बुरा, न्याय करे या अन्याय, भाई! जो भी करे, हेतु ये पांच ही होते हैं।

हेतु :

हेतु भी समझ ले। हेतु :

१. निमित्त कारण को कहते हैं,
२. मूलभूत आधार को कहते हैं,
३. ये मिलकर कर्म उद्देश्य बनते हैं।
४. कर्म को रूप ये मिलकर देते हैं।
५. कर्म के साधन रूप ये ही हैं।
६. कर्म के रूप धरने की युक्ति बताने वाले ये ही हैं।

सो समझ ले! कर्म में अपना कर्त्तापन भर देना ही जीव की भूल है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

देख नन्हूं! भगवान पुनः कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. परन्तु ऐसा होने पर भी,
२. जो केवल आत्मा को ही कर्त्ता देखता है,
३. वह दुर्मति, अकृत बुद्धि होने के कारण,

४. (यथार्थ) नहीं देखता है।

तत्त्व विस्तार :

तौबा नन्हूं! देख भगवान क्या कह रहे हैं।

क) केवल मूर्ख ही,
ख) केवल बुद्धिहीन ही,
ग) केवल मलिन बुद्धि ही,
घ) केवल अशुद्ध बुद्धि ही,
आत्मा को कर्त्ता मानते हैं।

अकृत

अकृत का अर्थ है :

- जो अधूरा ही रह गया हो।
- जो ग़लत हो, अशुद्धिपूर्ण हो, नासमझ हो तथा मूर्खतापूर्ण हो।

आत्मा का स्वरूप :

नन्हूं! भगवान पहले कहकर आये हैं कि :

१. आत्मा नित्य निर्लिप्त है, नित्य अकर्त्ता है।
२. आत्मा न स्वयं मरता है और न किसी को मारता है।
३. आत्मा तो स्वयं स्वरूप है।
४. आत्मा का कोई रूप नहीं होता।
५. साकार होते हुए भी वह निराकार है।
६. देखने में कर्म करते हुए भी वह कोई कर्म नहीं करता।
७. वह सब जगह परिपूर्ण है।
८. सबको वह धारण करता है, उसे कोई धारण नहीं करता।
९. वह सबमें है, उसमें कोई नहीं है।
१०. सबके कर्म उसी से शक्ति पाकर होते हैं, पर आत्मा का कर्म कुछ भी नहीं है।

इसे यूं समझ!

क) ज्यों जीव के रोम रोम में चेतन शक्ति समाई है, पर वह चेतन शक्ति कर्त्ता नहीं है।
ख) ज्यों जीव के रोम रोम में नित्य परिवर्तन आता है, पर वह उस चेतन शक्ति का कर्म नहीं है।
ग) पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो क्रिया हो रही है, ब्रह्म में ही हो रही है, पर ब्रह्म कर्त्ता नहीं है।
घ) कर्त्ता गुण हैं, वे स्वयं एक दूसरे में वर्तते हुए परिवर्तन करते जाते हैं।

ऐसे ही जीव के तन, मन और बुद्धि त्रैगुण पूर्ण हैं। वहां गुण गुणों में वर्त रहे हैं और गुण प्रभाव रूप कर्म हो रहे हैं।

आत्मा :

जीव रूप आत्मा (जीवात्मा)

- का कोई कर्म नहीं है,
- केवल द्रष्टामात्र है,
- केवल साक्षी मात्र है,
- केवल सत् चित्त आनन्द रूप है,
- केवल मौन स्वरूप है,
- केवल निर्दोष है।

वह आत्मा, जो नित्य निर्विकार है, नित्य तृप्त है, अजर अमर है, नित्य निर्लिप्त है, उसे कर्मों से बान्धना सर्वथा अज्ञानता है, मूर्ख का काम है, बुद्धिहीनता है, अशुद्ध बुद्धि का काम है। भगवान कहते हैं, 'जो

आत्मा को कर्त्ता देखता है, वह यथार्थ नहीं देखता।'

अब कर्त्ता मलिन बुद्धि पूर्ण कैसे होता है, इसे समझ! कर्तृत्व भाव अभिमानी की बात समझ!

गुणों से संग का परिणाम :

मेरी जान! जब जीव अपने गुणों से संग कर बैठता है तो वह निरन्तर चेत, अर्धचेत तथा अचेत में :

१. अपने न्यून गुणों के छिपाव में लगा रहता है।
२. अपने श्रेष्ठ गुणों के गुमान में लगा रहता है।
३. वह झूठ सच के दबाव में तथा दिखावे में निरन्तर तत्पर रहता है।
४. वह आन्तर में इस मिश्रित काज में इतना खो जाता है कि उसकी मानसिक शक्तियां गौण हो जाती हैं।
५. उसकी मानसिक शक्तियों की दृष्टि बाह्य हकीकत से तक़रीबन बेगानी हो जाती है।
६. भाई! अन्दर के झमेले बन्द हों तो बाहर की आवाज़ आये या यथार्थ सुनाई दे।
७. आन्तर में तो भीषण युद्ध छिड़ा रहता है।
८. अपने घर में भी हम अपने को छुपाते रहते हैं और जग में जाकर भी हम अपने को छुपाते हैं। यह सब मिथ्या अभिमान के कारण होता है।

क) कोई मेरी ग़लती न देख ले,
ख) कोई मेरी न्यूनता या वास्तविकता पहचान न ले,
ग) कोई मुझे बुरा न कहे,
घ) कोई मेरी वास्तविकता न जान ले, सब पर मैं पर्दा डालकर रखूं,
ङ) सबको मैं दबाकर रखूं,

इस कारण जीव झूठ बोलता है और उसका छिपाव ज़रूरी हो जाता है। गर निहित चाह ही इतनी असत्पूर्ण हो तो दृष्टि सत् को क्या देखेगी? वह सत् देख ही नहीं सकती; मन सत् को देख ही नहीं सकता। तब गुण, संग, रूप, अहंकार, दम्भ और दर्प पूर्ण होंगे ही।

अहंकार क्या है :

अहंकार का स्वरूप,

१. केवल मिथ्यात्व है।
२. छल कपट और विश्वासघात है।
३. ग़रूर और मिथ्या अभिमान है।
४. केवल आत्म प्रशंसा है।

भाई! उसका परिणाम भी,

क) झूठ ही हो सकता है।
ख) धोखा ही हो सकता है।
ग) बेईमानी ही हो सकता है।
घ) आसुरी गुण वर्धन ही हो सकता है।
ङ) जड़ चित्त ग्रन्थियों का जटिल बन्धन ही हो सकता है।
च) गुमराह होना या कर्त्तव्य हीनता ही हो सकता है।
छ) भ्रष्ट आचार ही हो सकता है।

तत्पश्चात् क्रोध उत्पन्न होगा ही, लोभ का वर्धन होगा ही, मानसिक कुरूपता होगी ही।

जीवन में अनन्त दुःखों की जड़ अहंकार ही है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

भगवान कहते हैं, ध्यान से सुन अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. मैं कर्त्ता हूं,
२. ऐसा जिसका भाव नहीं है
३. और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं है,
४. वह इन लोगों को मारकर भी, न मारता है और न ही बन्धायमान होता है।

तत्त्व विस्तार :

देख! भगवान स्वयं कह रहे हैं कि तू कर्त्ता नहीं है।

जीवन मुक्त :

यहां जीवन मुक्त की बात कह रहे हैं। यानि,

१. जिसके कर्तृत्व भाव का नितान्त अभाव हो गया हो।
२. जिसकी देहात्म बुद्धि का नितान्त अभाव हो गया हो।
३. जिसके तनत्व भाव, भोक्तृत्व भाव का नितान्त अभाव हो गया हो।
४. जो नित्य निर्लिप्त हो गया है।
५. जो अपने तन, मन, बुद्धि के प्रति उदासीन हो गया है।
६. जो संग से विमुक्त हो गया है।
७. जो आत्मवान् हो गया है।

नन्हीं! उसे कर्म क्या बान्धेंगे? वह सब करता हुआ भी अकर्त्ता है। वास्तव में ध्यान से देखो तो समझ पड़े कि ऐसे लोग दूसरों के लिए :

क) अपने सारे मान की बाज़ी लगा देते हैं।
ख) अपना सारा जहान कुर्बान कर देते हैं।
ग) अपना घर छोड़ देते हैं।
घ) अपना सर्वस्व लुटा देते हैं।

पर सच्ची बात बताऊं! गर उनके दृष्टिकोण से देखना है तो यूं समझ!

- न उनका कोई मन होता है।
- न उनका कोई जहान है और न घर ही है।
- न उनका कोई सर्वस्व, कुछ भी है।

जब तन भगवान का ही है, तो,

१. जो गया भगवान का गया।
२. जो मिला, भगवान को मिला।
३. गर दिल टूटा तो भगवान का टूटा।
४. गर प्यार मिला तो भगवान को मिला।

'सर्वभूत हितेरत:' तो उनका स्वरूप है और यही उनका रूप है। क्योंकि:

क) उनके तन का मालिक 'मैं' नहीं जहान है।
ख) उनके तन का प्रेरक विधान है।
ग) जो इनके प्यार पे हक रखता है, उसके वह चाकर हैं।
घ) जो इनकी पूजा करता है, उसके वह ठाकुर हैं।

यानि, तन जब उसका नहीं रहा तो :

१. सम्पूर्ण तनो अंग उसके नहीं रहे।
२. मन में जो भी हो, उससे संग नहीं रहता।
३. रुचि अरुचि से संग नहीं रहता।
४. प्रवृत्ति निवृत्ति से संग नहीं रहता।
५. उत्कृष्ट या निकृष्ट कर्म से संग नहीं रहता।
६. मान मिला, अपमान मिला, तन को मिला, पर तन तो उसका है ही नहीं, तो वह संग क्या करेगा ?
७. उसकी बुद्धि की कोई माने या न माने, बुद्धि भी उसकी नहीं। जब उससे भी संग नहीं रहा तो वह अपनी बुद्धि के प्रति उदासीन होगा ही।

भाई! ऐसे का कर्मों से संग कैसे रह सकता है। ऐसे का कर्म उसका कर्म नहीं होता। वह तो सब कुछ करता हुआ भी नित्य अकर्त्ता है। वह मार कर भी नहीं मारता, वह मार कर भी नहीं बन्धता। वह सदा विशुद्ध, निर्विकार निर्दोष ही होता है। ऐसी स्थिति वाले का प्रमाण भगवान जैसा जीवन होगा। वह कर्त्तव्य परायणता स्वरूप होगा। उसका जीवन नित्य यज्ञ रूप ही होगा। अपने प्रति वह नित्य मौन होगा।

यहां भगवान,

१. स्वरूप स्थित की बात कह रहे हैं।
२. परम में योग की बात कह रहे हैं।
३. परम में समा जाने की बात कह रहे हैं।
४. उस साकार की बात कह रहे हैं जो नित्य निराकार है।
५. उस तन की बात कह रहे हैं जो 'मैं' रहित, ब्रह्म की विभूति मात्र है।
६. जिसका तन कोई है ही नहीं, उसके स्वरूप की बात कह रहे हैं।

गर उसके दृष्टिकोण से देखो, तो उसका जन्म हुआ ही नहीं। जब 'मैं' ही नहीं तो 'मैं' का तन ही नहीं होता। उसका कोई मन, बुद्धि, कर्म भी नहीं होता। भाई! उसे तो 'मैं' ही भूल गई होती है, उसे अपनी और अपनेपन की क्या याद आयेगी? उसका तन ही उसका नहीं तो और किसी को वह क्या अपनायेगा? तब जो, जैसा सामने आता है, उसे वह वैसा ही दर्शाता है। उसका वही रूप होता है।

- अहंकारपूर्ण वहां अहंकार देखता है।
- झुका हुआ वहां झुकाव देखता है।
- उसका ज्ञान, जो सामने आये, उसी की व्याख्या है।
- जो उसे अपनाये, जिस नाते अपनाये, वह वैसे ही निभा देता है।
- तन तो उसका है ही नहीं और न ही वह तनोकोण से कुछ करता है।
- मन उसका है ही नहीं और न ही वह मनोकोण से कुछ करता है।
- बुद्धि उसकी है ही नहीं और न ही वह अपनी बुद्धि के कोण से कुछ करता है।

जिस नाते जिसने उसे अपना लिया, वह वही नाता निभा देता है। उसे निभाने में क्या मुश्किल है ?

तन तो उसका है ही नहीं सो :

१. तन को लाख कष्ट मिलें, उसको क्या ?
२. तन को जितना भी मान मिले, उसको क्या ?
३. तन को कोई ठुकराये, तो उसको क्या ?

भाई! जैसे कोई उसके प्रति सच्चा आन्तरिक तथा निहित भाव रखता है, वैसा ही उसे पाता है।

नन्हीं! मेरी आत्म स्वरूप, परम पथ चाहुक आत्मा! ले ज़रा ध्यान से सुन!

मन :

१. यह आत्मा नित्य विकार रहित ही होता है, मनो आवरण के कारण विकार पूर्ण सा भासता है।
२. मन जहां संग कर लेता है, उसी के मानो तद्रूप हो जाता है, यानि उसी का रूप धर लेता है।
३. सत्त्व रज और तम, मन के ही विकार हैं।
४. मन जब आत्मा को 'मैं' से सम्बन्धित कर देता है, तब इन्सान अपने स्वरूप से वंचित हो जाता है।
५. संसार वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं रखता।
६. केवल आत्मा ही है, बाकी सब मनो कल्पना ही है, यह समझना तुम्हारे लिए ज़रा कठिन है। जब मौन को सविस्तार बतायेंगे, तो शायद कुछ समझ सको।
७. मन के पास सोचने की अथाह शक्ति है।
८. मन के पास अपने आपको किसी के तद्रूप करने की अथाह शक्ति है।
९. जो कोई नहीं कर सकता, उसे मन कर सकता है।
१०. जहां कुछ भी नहीं है, वहां मन पूर्ण संसार को घड़ सकता है।
११. नन्हूं! यह मन तो वह कर सकता है, जो वास्तव में असम्भव है।
१२. यह मन तो नित्य अकर्त्ता आत्मा को भी कर्त्ता दर्शा सकता है।
१३. मन के पास आवरण शक्ति भी बहुत है।

अजीब बात तो यह है कि यह स्वयं केवल एक भूत है, एक हवा का झोंका है, एक बेबुनियाद कल्पना है, एक बेबुनियाद कल्पना ने इतनी बड़ी सृष्टि रच दी है।

*** मौन :**

नन्हूं! सम्पूर्ण साधना केवल इस मन को मौन करने के लिए की जाती है।

किन्तु इस मन को मनाना और इसे मौन करना बहुत मुश्किल है।

नन्हीं! मन के मौन हो जाने पर :

क) संसार का अस्तित्व ही खत्म हो जाता है।
ख) 'मैं' और तू का भाव ही खत्म हो जाता है।
ग) मनो मौन ही सम्पूर्ण आवरणों का नितान्त अभाव है।

---

* मौन के विस्तार के लिए १७/१६ देखिये।

घ) मन के मौन होने से सम्पूर्ण संकल्प विकल्प भी खत्म हो जाते हैं।
ङ) मनो मौन ही आत्म विस्मृति है।
च) मनो मौन ही स्वरूप स्थिति है।
छ) मनो मौन ही नित्य समाधिस्थ की अवस्था है।
ज) मनो मौन ही गुणातीत की अवस्था है।
झ) मनो मौन ही नित्य मुक्त की स्थिति है।

गीता ही मनो मौन को पाने की विधि है। संसार में सब कुछ करते हुए यदि मन नितान्त मौन रहे तो आप जीवन मुक्त होते हैं। तब कहीं भी लिपायमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जब भगवान कहते हैं कि 'वह सब लोकों को मारकर भी नहीं मारता है', ऐसे मौनी, उस नित्य निर्लिप्त की बात यहां की है भगवान ने!

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥ १८॥

ध्यान से सुन! भगवान क्या कह रहे हैं।

शब्दार्थ :

१. ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता,
२. यह तीन प्रकार के कर्म के प्रेरक हैं,
३. करण, कर्म और कर्त्ता,
४. इन तीनों के संयोग से कर्म संग्रह होता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान प्रथम कर्म प्रेरक की बात बताते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय मिलकर कर्म प्रेरक बनते हैं।

ज्ञाता :

ज्ञाता वह है जो,
क) ज्ञान को जानने वाला है।
ख) ज्ञेय को जानने वाला है।
ग) जिसे ज्ञेय का ज्ञान है।

ज्ञान :

ज्ञान वह है जो,
- जानकर, किसी को जाना जाये।
- किसी वस्तु का बोध करवाये।
- किसी विषय का बोध करवाये।

ज्ञेय :

ज्ञेय वह है :
१. जिसे जाना जाये।
२. जिसका ज्ञान चाहिए।
३. जिसका ज्ञान हो चुका हो।
४. जिसकी प्रतीति हो चुकी हो।
५. जिसको जानना चाहते हो।

इन तीनों का योग चाहिए, तब कर्म की प्रेरणा उठती है। यदि ज्ञाता न हो तो ज्ञान और ज्ञेय निरर्थक हो जाते हैं। ज्ञेय ही न रहे तो किसका ज्ञान और कौन जानता है ? गर ज्ञान ही न रहे तो ज्ञाता ज्ञेय को

कैसे जाने, ज्ञेय तक कैसे पहुंचे? साधना में जैसे साधक, साधना और साध्य अनिवार्य हैं, वैसे ही कर्म की प्रेरणा के लिए ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अनिवार्य है।

चोदना :

चोदना का अर्थ है :

१. वह प्रेरणा, जो किसी कार्य में प्रवृत्त कराये।
२. वह प्रेरणा जो स्पर्शन् करे।
३. चित्रकारी करने वाली वृत्ति।
४. उत्सुकता उत्पन्न करने वाली वृत्ति।
५. जो प्रोत्साहित करे और कर्म की ओर ले जाये।
६. जो सचेष्ट करवाती है।
७. जो प्रलोभन देती है।
८. जो जीवन को क्रिया शक्ति में डाल देती है।
९. जो विवश क्रिया की ओर ले जाये।
१०. जो जीवन की ओर हांकती है और जो क्रिया करने के लिए मजबूर करती है।
११. जो क्रिया की मूलभूत स्फुरणा बनती है।
१२. जो निष्प्राण भाव को सप्राण करती है।

भगवान कहते हैं, 'इन तीनों के मिलने पर कर्म की इच्छा उठती है। फिर ज्ञाता कर्त्ता का रूप धरता है और ज्ञेय को पाने के लिए कर्म करता है। वह ज्ञेय को पाने के लिए ज्ञान को विज्ञान में परिणित करता है। ज्ञेय को पाने के लिए जो प्रेरणा उठी है, वह पूर्ति चाहती है। तब कर्त्ता, करण और कर्म मिलकर कर्म करते हैं। तब कर्त्ता, करण और कर्म के संयोग से कर्म बनते हैं।'

इसे पुनः समझो! प्रथम जो ज्ञाता था, उसे ज्ञान हुआ और उसने ज्ञेय को प्राप्तव्य जान लिया। फिर ज्ञाता कर्म बनकर ज्ञेय को पाने के लिए कर्मों के आसरे क्रिया में प्रवृत्त हुआ। कहते हैं, प्राप्तव्य की चाहना ही कर्मों की ओर प्रवृत्त करती है। प्राप्तव्य की चाहना ही ज्ञानेन्द्रियों पर चढ़कर कर्म करती है। यानि, प्राप्तव्य की प्राप्ति अर्थ इन्द्रियां यथा सामर्थ्य क्रिया करती हैं, तत्पश्चात् कर्म उत्पन्न होता है। जो ज्ञाता के लिए ज्ञेय था, वह उसके लिए ज्ञातव्य बना, तब प्रेरणा उठी। कर्त्ता के लिए कुछ प्राप्तव्य बना, तो वह उसे पाने के लिए कर्म में प्रवृत्त हुआ।

पर देख! तुझे फिर आत्मवान् अकर्त्ता की बात कहें।

जो तनत्व भाव से उठ गया है, उसके लिए कुछ ज्ञातव्य नहीं रहा, क्योंकि,

क) जिस 'मैं' ने जानना था, वह 'मैं' ही नहीं रही।
ख) जिस बुद्धि ने जानना था, वह बुद्धि उसकी नहीं रही।
ग) जिस मन को अनुभव होना था, वह भी ब्रह्म का हो गया।
घ) जिस तन रूपा अधिष्ठान में 'मैं' ने वास करना था, वह भी उसका नहीं रहा।

उसके लिए ज्ञाता कोई नहीं रहा, ज्ञान कोई नहीं रहा। उसके लिए ज्ञेय कुछ नहीं रहा। वह कर्त्ता नहीं रहा, उसके करण नहीं रहे, इस कारण उसके कर्म नहीं रहे।

मन के संग के कारण जो प्रेरणा उठती थी, वह मौन हो गई, जो क्रियायें होती थीं, वह बन्द हो गई। अब तो तन विधान के साथ साथ कर्म करता है। जो सामने आये, मानो उसके तद्रूप होकर प्रेरित होता है। वह जीवन में अद्वैत में रहता है, उसने अपने आपको क्या पाया, वह अपने आपको भूल गया।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

अब भगवान पुनः गुण भेद के विषय में कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. ज्ञान, कर्म और कर्त्ता,
२. सांख्य शास्त्र में गुण भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं,
३. उनको भी यथार्थ रूप में (मुझसे) सुन!

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! भगवान अर्जुन को गुण भेद समझा रहे हैं और मानो बता रहे हैं कि:

१. जीव के गुण कैसे होते हैं ?
२. जीव किस प्रकार के गुणों के कारण सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होता है ?
३. जीव के किस प्रकार के गुण उसे किन गुणों की ओर प्रवृत्त करते हैं ?

नन्हूं! ज्ञान भी त्रैगुणी होता है :

- ज्ञान सत्त्व पूर्ण भी हो सकता है।
- ज्ञान रजोगुण पूर्ण भी हो सकता है,
- ज्ञान तमपूर्ण भी हो सकता है।

इसी तरह जो कर्म करते हो, वह भी तीन गुणों वाले हो सकते हैं और फिर कर्त्ता, जो कर्म करने वाला होता है, वह भी तीन गुणों वाला हो सकता है।

भगवान कहने लगे कि अब ज्ञान, कर्म और कर्त्ता के भेद, जो सांख्य शास्त्र में दिये हुए हैं, वह समझाता हूं।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

सबसे पहले भगवान ज्ञान के गुण भेद का निरूपण करते हुए कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. जिस ज्ञान से (जीव);
२. सब विभक्त भूतों में,

३. एक अविनाशी भाव को अविभक्त देखता है,

४. उस ज्ञान को सात्त्विक कहते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! यहां भगवान :

- केवल शब्द ज्ञान,
- तर्क वितर्क निपुणता,
- सम्पूर्ण शास्त्र जानने,
- सम्पूर्ण शास्त्र कण्ठस्थ करने की बात नहीं कह रहे हैं।

वह कहते हैं, जिस ज्ञान राही जीवन में जीव,

क) विभक्त दर्शन में एकत्व देखता है,
ख) सबमें आत्म प्रधान देखता है,
ग) परमात्मा ही सब कुछ है, यह जानता है,
घ) सबका आधार एक को ही देखता है,
ङ) श्रेष्ठ न्यून, दोनों का आधार एक ही देखता है,
च) द्वन्द्वन् का आधार भी एक ही देखता है,
छ) परिवर्तनशील जग का आधार, अपरिवर्तनशील को ही देखता है,
वह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है।

सात्त्विक ज्ञान वाला :

१. नश्वर के पीछे अविनाशी तत्त्व देखता है।
२. खण्डित के पीछे अखण्डता को देखता है।
३. अखिल रूप में एक ही रूप को देखता है।
४. विभिन्न कर्त्तापन अभिमानियों में वास्तविक कर्त्ता एक को ही देखता है।
५. निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों में एकत्व देखता है।
६. द्वैत में अद्वैत देखता है।
७. खण्डता में अखण्डता को देखता है।
८. भिन्नता में एकता को देखता है।

नन्हूं! वह दुष्ट तथा सन्त में आत्मा के नाते एकत्व देखता है, समता को देखता है, कर्तृत्व भाव का अभाव देखता है। वह दुष्ट तथा सन्त, दोनों को गुण बधित जानता हुआ उन्हें निर्दोष ही मानता है। वह तो कर्त्तापन के अभिमान को भी कर्त्ता नहीं मानता, क्योंकि वह जानता है कि कर्त्तापन अभिमान भी गुणों के कारण ही होता है।

सात्त्विक ज्ञान तो पूर्ण को अखण्ड ब्रह्म रूप तथा स्वरूप दर्शाता है। सब ही जीव ब्रह्म स्वरूप हैं, ब्रह्म रूप हैं। जड़ चेतन सब ब्रह्म ही हैं, यह वह जानता है। वह केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता नहीं है, बल्कि और सब ब्रह्म हैं, यह समझता है।

जब जीव अपने आपको भूल जाता है, तब वह भिन्नता में भी एकता को देख सकता है। यहां सत्त्व वाले का ज्ञान विज्ञान रूप कहा है। वह जीवन में व्यवहारिक स्तर पर विभक्त पुरुषों में एक अविभक्त अखण्ड सत् देखता है।

भाई! नाम रूप उपाधियां हैं, उनके पीछे आत्मा एक है। जीव गुण भेद से अनेकों हैं, किन्तु वे तत्त्व रूप से एक हैं।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

अब भगवान राजसिक ज्ञान के लक्षण कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. परन्तु जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में,
२. विभिन्न प्रकार के अनेकों भावों को पृथक् पृथक् जानता है,
३. उस ज्ञान को राजस कहते हैं।

तत्त्व विस्तार :

राजस गुण प्रधान लोगों, या कहें राजस गुण को, सबकी आत्मा एक है, या सब इन्सान हैं, यह भी समझ नहीं आता, तो भाई! वे आत्मा की बातें क्या समझेंगे ?

राजस ज्ञान :

भाई! रजोगुणी का ज्ञान भेद वर्धक है, जीव को व्यक्तिगत बनाता है। रजोगुण केवल अपनी स्थापति के लिए सब कुछ करता है। वह केवल अपने को ही दिल वाला समझता है, दूसरे को तो वह पत्थर मानता है। केवल अपने को श्रेष्ठ समझता है, दूसरे को नहीं। उसका सारा ज्ञान उसकी अपनी स्थापति के लिए होता है, वह एकत्व क्या समझेगा ?

जो सबमें आत्म तत्त्व नहीं देखेगा, वह भेद दृष्टि ही तो रखेगा।

- वह तो नित्य अपने पराये में भेद देखेगा,
- वह ऊंच नीच, श्रेष्ठ न्यून के अभिमान से बधित रहेगा।

उसका ज्ञान ही भेद बताता है, या कहें पृथक् कर है, व्यक्तिगत कर है। भिन्नता, भेद पर आधारित है। ज्ञान वह पढ़ता तो है, पर यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाता। वह अपने मन से इतना तद्रूप हो गया है कि औरों के लिए वह पत्थर बन गया है। उसे अपने तन से अतिशय संग है और वह इसे ही सत् मानता है। मोह अपने तन से संग के कारण होता है और रजोगुणी ज्ञान मोह वर्धक है। तन जड़ है, जड़ से संग के कारण उसमें जड़ता वर्धक गुण उत्पन्न होते हैं। यह रजोगुणी ज्ञान का परिणाम है।

यदि जीव एकत्व देखे तो दैवी गुण उत्पन्न होते हैं।

भिन्नता में तो,

क) आसुरी गुण पलते हैं।
ख) लोभ, कामना का वर्धन होता है।
ग) जीव केवल अपने लिए ही जीता है।
घ) दूसरे को नित्य गिराकर स्वयं ऊपर उठना चाहता है, यानि सबको नीचे करके अपने आपको स्थापित करना चाहता है।
ङ) दूसरे को कलंक लगाकर भी अपनी कामना पूर्ति चाहेगा।

इस रजोगुणी ज्ञान के आसरे वह,

१. दूसरे को तबाह करने में भी संकोच नहीं करेगा।
२. न्याय कभी नहीं कर पायेगा।

३. कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को नहीं जान पायेगा।
४. धर्म विमुख हो जायेगा।

अहंकार, स्वाभिमान, दम्भ दर्प इस राजसिक ज्ञान की देन हैं। यह ज्ञान लोभ और कामना बढ़ाता है, व्यक्तिगतता ही सिखाता है। यह महापाप करवाता है और इन्सान को असुर बनाता है। यह साधक जनों का भी पतन करवाता है, सबसे वैर उत्पन्न करता है, हरे भरे घरों को चूर कर देता है। यह गुण कर्त्तव्य विमुख भी करवाता है। इस ज्ञान के आसरे ज्ञान प्रचार भी गलत हो जाता है।

यदि मानो कि हर इन्सान अपने लिए जीता है, तब ही तो यज्ञ का, तप का, दान का, मिटाव हो जाता है। यही कारण है कि सदाचार मिट जाता है, ब्रह्मचर्य मिट जाता है, दैवी सम्पदा का अभाव हो जाता है।

यह सब :
क) रजोगुणी ज्ञान के आसरे होता है।
ख) रजोगुणी ज्ञान पर आधारित जीवन के कारण होता है।
ग) रजोगुणी ज्ञान में दृढ़ निष्ठा के कारण होता है,
घ) यही रजोगुणी ज्ञान का रूप है।

भाई! ये लोग यही मानते हैं कि :
१. सब अलग अलग हैं।
२. सबको अपना अपना सम्भालना है,
३. कोई किसी का नहीं होता।
४. बस जितना अधिकार जमा लें, उतना ही अच्छा है।
५. बस जितना दूसरों को दबा लें, उतना ही अच्छा है।
६. जितना दूसरों को लूट लें, दूसरे का छीन लें, उतना ही अच्छा है।

यही राजस ज्ञान है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अब भगवान तामस ज्ञान की बात करते हैं।

शब्दार्थ :

१. और जो ज्ञान एक काम में पूर्ण के समान आसक्त है,
२. तथा बिना युक्ति वाला,
३. मिथ्या अर्थ वाला और तुच्छ है,
४. वह तामस कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

सर्वप्रथम तमोगुण को समझ ले। फिर उसके आधार पर उसका कार्य समझ ले।

तमोगुण :

क) यह देहाभिमानियों को मोह से बान्धता है।
ख) अज्ञान से उत्पन्न मोह और प्रमाद इसके गुण हैं।
ग) यह अन्धकार उत्पन्न करता है।
घ) यह प्रमाद के कारण मिथ्या सिद्धान्तों से बन्धा होता है।
ङ) यह दुर्मति दुर्बुद्धि होता है।

कार्य :

अब कार्य को समझ ले!

१. किसी कार्य का अनिवार्य परिणाम कार्य है,
२. किसी कार्य का रूप निर्माण कार्य है,
३. कर्त्तव्य करना भी कार्य है,
४. जीवन में जो भी करो, उसे कार्य कहते हैं,
५. काम धन्धे को भी कार्य कहते हैं,
६. प्रयोजन को भी कार्य कहते हैं,
७. करने योग्य कर्त्तव्य को भी कार्य कहते हैं।

लाडली जान! भगवान ने कहा, 'एक कार्य करना तामसिक है।' 'एक' कार्य रूप से अधिकांश अर्थ, एक तन रूप कार्य भी लिया जाता है। तो इसका अर्थ यूं समझ लो कि :

- जो तन को ही परिपूर्ण समझकर, नित्य इसमें आसक्त हुए कार्य करते हैं,
- किसी एक काम धन्धे को पूर्ण समझकर उससे आसक्त हुए कार्य करते हैं,

वे तामसिक हैं। अन्य सब कुछ भूलकर किसी एक कार्य में लग जाना मूर्खता है, क्योंकि जीव के अनेकों विधियों के कर्त्तव्य होते हैं, उसे अनेकों प्रकार के नाते निभाने होते हैं।

उदाहरणतय: एक आदमी किसी का पुत्र है, तो वह किसी और का पति भी है और किसी का पिता भी; इन सबमें उसने पृथक् पृथक् नाते निभाने हैं; पृथक् पृथक् व्यवहार करने हैं।

इसी ढंग से :

१. जीव जब नौकरी करता है, तो उसका कोई मालिक भी होगा।
२. जीव जब काम करता है, तो उसका कोई नौकर भी होगा।
३. फिर जीव जब व्यापार करता है तो धन कमाता है।

इसी प्रकार जीव के अनेकों पहलू होते हैं, जो सब ही उसे दक्षता से निभाने चाहिए। जो जीव एक काज में लग जाता है और अन्य सभी कुछ भूल जाता है, यानि, सभी कर्त्तव्य भूल जाता है, वह तामस वृत्ति का होता है। एक कार्य को ही पूर्ण मानकर उसमें आसक्त हो जाना और उसके तद्रूप हो जाना मूर्खता है। एक विषय रूप कार्य को पूर्ण मान लेना मूर्खता है।

ऐसा जीव जिस कार्य के तद्रूप हो जाता है,

क) उसके सिवा उसके लिए कुछ रह ही नहीं जाता।
ख) केवल उसकी पूर्ति के लिए ही काज करता है।
ग) वह केवल उसी की बातें करता है।
घ) वह केवल उसी के लिए जीता और मरता है।
ङ) केवल उसी के लिए बिकता है, झुकता और अकड़ता है।

तमोगुण प्रधान के लिए अपना तन ही सब कुछ होता है। तन ही उसका भगवान

है, उसके लिए महान् है। वह जो भी करता है, अपने तन के लिए ही करता है। यदि इसको जीवन में धन से आसक्ति हो जाये, तो यह अपने सम्पूर्ण कर्म भूलकर धन कमाने में लग जाता है; यह भी इसकी मूर्खता है। पति, बच्चे तथा नाते रिश्ते या बाप के लिए इसके पास फ़ुर्सत नहीं होती।

तामसिक ज्ञान :

१. उनका ज्ञान मिथ्या अर्थ वाला और युक्ति रहित है।
२. वे ज्ञान की भाषा में अड़ जाते हैं।
३. वे दूसरे की स्थिति अनुकूल बात नहीं करते।
४. सिद्धान्तों के मिथ्या अर्थ को समझ कर उन्हीं पर अड़ जाते हैं।
५. इन अहंकार, दम्भ, दर्प पूर्ण लोगों की राह में आकर जो इनकी बातों को काट दे, ये उससे भिड़ जाते हैं।
६. ये योजन बहुत बनाते हैं, पर युक्ति हीनता के कारण असफल होते हैं।
७. ज्ञान भी शास्त्र विहित नहीं होता इन लोगों का।
८. इनके ज्ञान का आधार ही नहीं होता, वे ज्ञान को मन घड़न्त अर्थ देते हैं।
९. फिर जो ज्ञान है, ये उसको जीवन में उतारने की युक्ति नहीं जानते; ये शब्द अर्थ ही देते हैं।
१०. जब कर्त्तव्य न कर सकें तो शास्त्र के मन्त्र को मिथ्या अर्थ देकर वास्तविक अर्थ से दूर कर देते हैं।

भाई! मुश्किल यह है कि ये लोग बहुत हठीले होते हैं।

क) स्वयं तो भ्रम में हैं ही, दूसरे को भी भ्रम में डाल देते हैं।
ख) अपने मिथ्या ज्ञान का प्रचार बड़े ज़ोर शोर से करते हैं।
ग) शास्त्र कथित कर्त्तव्य को भी झूठा अर्थ देते हैं।
घ) जीवन यज्ञ को न समझकर यज्ञ का अर्थ ही बदल देते हैं।
ङ) जो तत्त्व जीवन में निभा न सके, उसका अर्थ ही बदल देते हैं।
च) ये लोग अपने आपको श्रेष्ठ समझते हैं और लोगों को प्रभावित भी कर लेते हैं।

वास्तव में ये लोग अतीव तुच्छ होते हैं। नन्हूं! यह लोगों की बात नहीं, यह गुणों की बात है। ऐसे गुण स्वतः ही ऐसी बात करते हैं और कहते हैं। जो इन गुणों से भरपूर होते हैं, वे तो यही समझते हैं कि वे ठीक कहते हैं, परन्तु बुद्धिमान् जानता है कि ये तुच्छ गुण सम्पन्न हैं, यानि इनकी बुद्धि तमोगुण से आवृत्त है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

अब भगवान सात्त्विक कर्म के लक्षण बताते हुए कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. जो नियत कर्म,
२. आसक्ति से रहित,
३. बिना राग द्वेष के
४. और फल न चाहने वाले,
५. पुरुष द्वारा किये जाते हैं,
६. वे सात्त्विक कहलाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

सात्त्विक कर्म :

नियत कर्म, संग रहित कर्म, राग द्वेष रहित और फल की इच्छा से रहित कर्म सात्त्विक कहलाते हैं।

*** नियत कर्म,** यानि :

१. स्वधर्म अनुसार नियत कर्म,
२. शास्त्रोक्त आदेश रूपा कर्म धर्म,
३. जीवन यज्ञमय बनाने वाले कर्म,
४. जीवन में कर्त्तव्य रूपी कर्म,
५. जीव को आत्मवान् जो बना दें, वह कर्म,
६. स्वशासित तथा नियन्त्रित कर्म,
७. रेखा रचित स्वाभाविक कर्म,
८. रेखा देन रूपी नातों के प्रति कर्त्तव्य कर्म,
९. जीवन यात्रा में अनिवार्य कर्म,
ये नियत कर्म हैं।

संग रहित कर्म :

क) कर्त्तापन के अभाव से किये हुए कर्म,
ख) कर्म में जब 'मैं' तद्रूप न हो,
ग) कर्म से निर्लिप्त जो हो,
घ) जब कर्म से कोई सम्बन्ध न रखा जाये,
ङ) आवृत्त भाव से रहित जो कर्म हों,
वे कर्म संग रहित होते हैं।

- कर्म से एकरूपता न हो जिसकी, उसके कर्म संग रहित होते हैं,
- भाई! जो गुण राज़ जानता है, उसके कर्म संग रहित ही होंगे।

जो राग द्वेष के रहित हो यानि, जो रुचि अरुचि, नफ़रत, शत्रुता, ईर्ष्या लोभ और कामना से प्रेरित न हो; वह कर्म!

फल की चाहना के बिना किया हुआ कर्म :

१. जिस कर्म में परिणाम पर दृष्टि न हो।
२. परिणाम में मान मिले या अपमान मिले, इससे प्रभावित न हो।
३. जो निष्काम कर्म हो।
४. कर्मफल की ओर जो मौन है, उसका कर्म।

---

* नियत कर्म के विस्तार के लिए श्लोक १८/४७ देखिये।

भगवान कहते हैं, 'ऐसे कर्म सात्त्विक होते हैं।'

भाई! यह तो,

क) योगियों की बातें करते हैं।
ख) नित्य तृप्त की बातें करते हैं।
ग) उदासीन की बातें करते हैं।
घ) त्यागी के कर्म की बातें करते हैं।
ङ) नित्य संन्यासी के कर्मों की बता रहे हैं।
च) निर्मम और निर्मोही के कर्म की बता रहे हैं।
छ) देहात्म बुद्धि अभाव वाले के कर्म की बात कहते हैं।

इनके सब कर्म सात्त्विक होते हैं; क्योंकि ये लोग,

- 'मैं' को भुलाने के लिए कर्म करते हैं।
- अपने आपको भुलाने के लिए कर्म करते हैं।
- अपने प्रति सोये हुए होते हैं।
- अपने आप में संतुष्ट होते हैं।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

अब भगवान राजसिक कर्म के लक्षण बताते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो कर्म बहुत परिश्रम से,
२. तथा फल की चाहना लिए हुए
३. और अहंकार युक्त होकर किये जाते हैं,
४. वे राजस कर्म कहलाते हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान! अब भगवान कहते हैं, जो कर्म अहंकार युक्त होकर किये जाते हैं, वे राजस कर्म हैं, यानि अभिमान पूर्ण कर्म, दम्भ दर्प पूर्ण कर्म, देहात्म बुद्धि युक्त कर्म राजस कर्म हैं।

कर्मफल की चाहना से प्रेरित हुए कर्म, यानि,

१. फल चाहना से प्रेरित हुए कर्म,
२. लोभ, तृष्णा और केवल स्वार्थ से प्रेरित कर्म,
३. केवल दम्भ पूर्ति के लिये किये हुए कर्म,
४. केवल अपनी स्थापति के लिए किये हुए कर्म,

राजस हैं।

बहु परिश्रम युक्त कर्म :

क) जिस कर्म के करने में पूर्ण श्रम लग जाये, जीव की पूर्ण शक्ति व्यय हो जाये और उसे नियत कर्म करने का समय ही न मिले, ऐसे कर्म राजसिक हैं।
ख) अत्यधिक परिश्रम मनोक्लेश देता है।
ग) भाई! लोभी का लोभ तृप्त नहीं होगा,

काम भी बहुत करेगा, क्लेश भी होगा ही।

घ) कामनायें भी कभी पूरी नहीं होती, एक खत्म हुई, दूसरी उठ आती है, तो क्लेश भी होगा ही।

ङ) सकाम कर्म क्लेश पूर्ण ही होते हैं।

च) इन लोगों को अपने बच्चों तथा परिवार के लिए भी समय नहीं मिलता।

रजोगुण वालों की चाहना यह होती है कि :

१. जिन जिन वस्तुओं में अहंकार वर्धक गुण हैं, वे मिल जायें।
२. जैसे भी हो, वे अपने तन को स्थापित कर लें।

अहंकार स्वयं क्लेश देने वाला कर्म है, यह राजसिक गुण है। अहंकार कामना पूर्ति के लिए तड़पेगा ही।

भाई! अहंकार के पास दैवी गुण नहीं होते। अहंकार और दैवी गुण सम्पदा का संयोग नहीं हो सकता, राजसिक कर्म असुरत्व प्रधान कर्म हैं।

क्लेशपूर्ण कर्म :

नन्हूं! सच तो यह है :

१. धोखेबाज़ी और बेईमानी पूर्ण कर्म करने में लाख क्लेश होते हैं।
२. अत्याचारी, दुराचारी एवं दुष्ट लोग नित्य क्लेश में रहते हैं।
३. जहां प्रेम नहीं, वहां कष्ट होगा ही।
४. जहां सत् नहीं, वहां थकान होगी ही।
५. जहां संयम नहीं, वहां क्लेश होगा ही।

रजोगुणी लोग तो लोभपूर्ण होते हैं, इसलिये वे नित्य अतृप्त होते हैं। जितनी जितनी कामना पूर्ण करने के यत्न करते हैं, उतनी ही वह और बढ़ती जाती है।

जितना लोभ बढ़ जाये, परिश्रम भी अनुकूल ही बढ़ जाता है। सतोगुण से ये लोग बेगाने होते हैं। ये सतोगुण पूर्ण काज नहीं करते। अपने को ये कर्त्तव्य विमुक्त समझते हैं।

करुणा का कहीं नामोनिशान नहीं होता रजोगुणी लोगों में। ये लोभ पूर्ण अहंकारी कीड़ों की तरह परिश्रम करते हैं। इसी में उम्र बीत जाती है, आराम से बैठना ये जानते ही नहीं।

रजोगुणी लोगों को और तामसिक लोगों को अपनी नौकरी का गुमान होता है, अपनी कुर्सी, अपने धन, अपने मान का गुमान होता है। ये हर वक्त अकड़ते ही रहते हैं, इनके कर्मों में भी धन, अकड़ और गुमान की बू आती है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. जो कर्म परिणाम, क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके,
२. मोह से आरम्भ किया जाता है,
३. वह तामस कर्म कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

तामसिक कर्म :

भाई! तमोगुणी, अन्धे लोग कर्म परिणाम पे कैसे ध्यान देंगे ?

क) वे तो अपने मिथ्या सिद्धान्त की स्थापति में लगे होते हैं।
ख) वे केवल अपने तन से संग किये बैठे हैं, इस कारण मोह से ग्रसित हैं।
ग) उनके किसी कर्म से किसी और पर क्या गुज़री, जब ये सब देख ही नहीं सकते, तो समझ क्या सकेंगे ?
घ) उनके घर छोड़ने पर कौन लुट गया,
ङ) उनके लड़ने पर किसकी इज़्ज़त पर हमला हुआ,
च) उनके कर्म से कौन बेघर हो गया,
छ) कितनों को उन्होंने तड़पा दिया,
ज) कितनों को उन्होंने मरवा दिया,

उनको क्या! वे यह सब क्या जानें ?

केवल अभिमान से अन्धे हुए वे :

१. न अपने बल का अनुमान लगा सकते हैं,
२. न ही अपने सुख दुःख, शुभ अशुभ का अनुमान लगा सकते हैं,
३. उन्हें कोई कर्म शोभा देते हैं या नहीं, वे यह भी नहीं सोचते,
४. कार्य का परिणाम उन्हीं पर क्या होगा, वे यह भी नहीं सोच सकते, तो, दूसरे पर क्या बीतेगी, वे यह कैसे सोच सकते हैं ?

भाई! अनेकों नेतागण वास्तव में तामस वृत्ति वाले होते हैं, अनेकों साधुता अभिमानी भी तामस वृत्ति पूर्ण होते हैं। वे साधुता का अभिमान करके, साधुता के मिथ्या तथा अज्ञानपूर्ण अर्थ निकाल कर,

क) कर्त्तव्य का परित्याग कर देते हैं।
ख) वे कहते हैं कि हम तन नहीं, पर अपना तनो बल देश को नहीं देते। फिर, जिनका उनके तन पर अधिकार है, उनसे तन क्यों छीन लेते हैं ?
ग) वे कहते हैं कि हम मन नहीं, फिर अरुचिकर और अपमान से क्यों डरते हैं ?
घ) वे कहते हैं कि हम आत्मवान् हैं, पर साधारण जीवन को यज्ञमय बनाने से डरते हैं।
ङ) वे समझते हैं कि धर्म कुछ और है और कर्त्तव्य कुछ और है।
च) प्रेम की प्रतिमा बनना चाहते हैं, दया

और करुणा का प्रचार करते हैं, अपने ही घर वालों को छोड़ कर!

छ) सेवा की बातें करते हैं और सिखाते हैं, किन्तु आप सेवा की प्रतिमा नहीं बनते।

उनसे सेवा करवाने का जिनका हक है, उन्हें वे छोड़ देते हैं। अपने नाते रिश्ते भी वे छोड़ देते हैं। देश की सेवा वे क्या करेंगे, वे स्वयं ज्ञान की प्रतिमा नहीं बने। वाक् और अपने जीवन में भेद होने के कारण वे अज्ञान, मोह और अशान्ति तथा विभ्रान्ति फैला सकते हैं।

- कितने ही घर लुट जाते हैं,
- कितने ही देश गिर जाते हैं,
- कितना अत्याचार होता है,

तामस गुण के कारण, आज सामने देख लो।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

अब भगवान तीन प्रकार के कर्त्ता के विषय में गुण भेद दर्शाते हुए कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. मुक्त संग, अनहंवादी,
२. धृति तथा उत्साह से युक्त
३. और सिद्धि असिद्धि से निर्विकार कर्त्ता,
४. सात्त्विक कहा जाता है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हूं जान! पहले 'मुक्तसंग' का अर्थ समझ ले!

मुक्तसंग

जिस जीव का :

क) कर्मों से संग न रहे,
ख) कर्मफल रूप भोग से, धन मान इत्यादि से संग न रहे,
ग) किसी भी जीव से तनिक भी संग न रहे,
घ) किसी भी जीव के प्रति ममत्व भाव न रहे,
ङ) कोई भी कामना न रहे,
वह मुक्तसंग होता है।

नन्हूं! मुक्तसंग निष्काम कर्म वाला होगा, वह अनहंवादी होता है।

अनहंवादी :

अर्थात्

१. जिसमें कर्त्तापन का अभिमान न हो,
२. जो अहंकार पूर्ण वाक् न कहे,
३. अभिमान शून्य वचन बोलने वाला,
४. जो नित्य अपने गुणों की तारीफ़ नहीं करता,
५. जिसके वाक् में से उसकी स्थूल स्थिति की दुर्गन्ध न आती हो,

६. जो दूसरों को गिराने वाली बातें कभी नहीं करता,
७. जो दूसरों की निन्दा कभी नहीं करता,
८. 'मैं यह हूं', 'मैं वह हूं,' जो यह कभी नहीं कहता,

वह अनहंवादी है।

*** धृति**

क) धृति अविचलित रहने को कहते हैं।
ख) धृति दृढ़ एकता युक्त रहने को कहते हैं।
ग) धृति विपरीतता में भी स्थिर रहने की शक्ति को कहते हैं।
घ) धृति महान् धैर्य को, तृप्ति को भी कहते हैं।
ङ) धीरता से काज में लगे रहने को धृति कहते हैं।

नन्हूं! यदि जीव में कर्त्तापन का अभिमान नहीं होगा तथा वह निष्काम कर्म करने वाला होगा तो वह धृतिपूर्ण होगा ही; वह राह में आये हुए विघ्नों से विचलित नहीं होगा।

उत्साह

- उत्साह योग्यता पर आधारित है।
- उत्साह योग्यता को भी कहते हैं।
- किसी भी बात से न उकताने वाली शक्ति को उत्साह कहते हैं।

फिर भगवान कहते हैं, 'सात्त्विक कर्त्ता सिद्धि तथा असिद्धि में निर्विकार रहता है।'

नन्हूं! यहां निर्विकार समझ ले।

निर्विकार

विकार का अर्थ :

१. विकार का अर्थ है विकृति।
२. रोग को विकार कहते हैं।
३. जो वास्तविक प्रकृति तथा रूप में परिवर्तन ले आये, उसे विकार कहते हैं।
४. निर्मल चित्त में जड़ ग्रन्थियां विकार होती हैं।
५. मन में विक्षेप का उत्पन्न होना विकारों का उत्पन्न होना है।
६. अतृप्ति, क्षोभ, लोभ इत्यादि सब विकार हैं।
७. अहंकार भी विकार है।
८. द्वन्द्व भी मनोविकार है।
९. मान्यताएं भी विकार हैं।

ये सम्पूर्ण विकार बुद्धि को आवृत्त करते हैं और जीव को उसकी इन्सानियत से वंचित कर देते हैं। सात्त्विक कर्त्ता द्वन्द्व पूर्ण विकारों से रहित होने के कारण सात्त्विक कर्म करता है।

वह कर्म करते हुए :

क) हर्ष या शोक से नित्य अप्रभावित रहता है।
ख) कष्ट इत्यादि से नित्य अप्रभावित रहता है।
ग) अहंकार या ममत्व भाव से नित्य अप्रभावित रहता है।

वह स्वयं नित्य तृप्त होने के कारण कामना रहित होता है, इस कारण उसके कर्म निष्काम होते हैं तथा उनमें कर्तृत्व भाव का भी बहुत हद तक अभाव होता है। वह सात्त्विक कर्त्ता है।

---

* धृति के विस्तार के लिए १६/३ देखें।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

अब भगवान राजसिक कर्त्ता के विषय में कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. आसक्ति से युक्त हुआ,
२. कर्मों के फल को चाहने वाला,
३. लोभी हिंसात्मक,
४. अपवित्र और हर्ष शोक से युक्त कर्त्ता,
५. राजस कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं जान! अब भगवान राजस कर्त्ता की बात कहते हैं।

आसक्ति युक्त

जो कर्त्ता :

१. राग पूर्ण है,
२. विषय आसक्त है,
३. उपभोगों से संग करने वाला है,
४. कर्मों के फलों को चाहने वाला है।
५. जो कर्मफल को सामने रखकर कर्म करता है, यानि कर्मफल ही जिसकी प्रेरक शक्ति है,
६. जो स्वार्थ के बिना कोई भी काम आरम्भ नहीं करता,

वह राजसिक कर्त्ता है और फिर :

क) जो लोभी भी है,
ख) जो तृप्त होता ही नहीं,
ग) जिसकी चाहना बढ़ती ही जाती है,
घ) हर चीज़ जो पसन्द आये, उसे वह पाना चाहता है और जब मिल जाये तब और अधिक मात्रा में पाना चाहता है,

यानि जिसकी चाहना का उदर और बढ़ जाता है, अपनी चाहना पूर्ण करने के लिए उसमें हिंसात्मक वृत्ति का जन्म होता है, वह राजसिक कर्त्ता है।

हिंसात्मक :

इस गुण वाले कर्त्ता को तो अपनी रुचि पूरी करनी है, चाहे :

१. कोई तबाह हो जाये, चाहे कितने घर नष्ट हो जायें,
२. चाहे देश में हाहाकार मच जाये, लोग भूखे मर जायें,
३. चाहे बीमार ग़लत औषधि के कारण तड़पते रहें,
४. चाहे बच्चे बिलखते रहें,
भाई! इन लोगों को क्या!

लोभी :

इन्हें तो अपना लोभ पूरा करना है।

क) किसी की आबरू लुट गई तो इन्हें क्या ?
ख) किसी की ज़िन्दगी तबाह हो गई तो इन्हें क्या ?

ग) ये इन्सानियत के भीषण दुश्मन होते हैं।
घ) ये इन्सान के रूप में असुर होते हैं।

अपवित्र :

इनके कर्म, इनके भाव, इनका स्वभाव, इनकी मानसिक वृत्ति, इनका आचरण, इनका व्यवहार और इनका जीवन, सब ही अपवित्र होता है।

हर्ष शोक युक्त :

हर्ष शोक से लिपायमान हुए लोग और करेंगे भी क्या ?

द्वेष :

क) जहां द्वेष हो, उसे मिटा देना चाहते हैं।
ख) जहां द्वेष हो, उससे भाग जाना चाहते हैं।
ग) जहां राग हो, उसे पाने के लिए कोई भी अत्याचार करना पड़े तो कर देते हैं।

और सुन मेरी जान! राज़ की तो बात यह है कि फिर भी अपने आपको, भावना और मिथ्या सिद्धान्तों के आसरे दोष विमुक्त कर लेते हैं।

भाई! रजोगुणी कर्त्ता ऐसा ही होता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ २८॥

अब भगवान तामस कर्त्ता का विवरण करते हैं और कहते हैं कि देख अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. जो अयुक्त, असभ्य,
२. घमण्डी और शठ है,
३. द्रोही, विषादी, आलसी तथा दीर्घसूत्री है,
४. वह तामस कर्त्ता कहलाता है।

तत्त्व विस्तार :

तामस कर्त्ता :

भगवान कहते हैं, 'तामस गुण वाले लोग अयुक्त होते हैं।'

अयुक्त :

अयुक्त वह है जो,
क) अनुचित विधि से काज और व्यवहार करते हैं।
ख) असावधान होते हैं।
ग) कर्म कुशल भी नहीं होते।
घ) अनुपयुक्त कर्म करते हैं।
ङ) कर्त्तव्यविहीन कर्म करते हैं।
च) जीवन के नियमों के विरुद्ध काज करते हैं।
छ) सहज परिस्थिति में अनुचित व्यवहार करते हैं।
ज) यानि, परिस्थिति में कर्त्तव्यपरायण कर्म नहीं करते।

तामस कर्त्ता प्राकृत होता है,

प्राकृत :

प्राकृत वह है जो,

१. असभ्य होता है।

२. गंवारों जैसा व्यवहार करता है।

३. जंगलियों जैसा व्यवहार करता है।

४. भाई! जहां तन के सिवा कुछ दिखता ही नहीं है।

५. 'मैं' के सिवा कोई हो ही नहीं सकता।

६. 'मैं' के सिवा किसी की रुचि कोई महत्ता ही नहीं रखती।

७. 'मैं' के सिवा दूसरा इन्सान इन्सान ही नहीं है।

८. मेरा ही हक है और दूसरे का हक ही नहीं,

९. मेरा कर्त्तव्य कोई नहीं, सब कर्त्तव्य दूसरे के हैं,
ऐसा मानते हैं।

१०. हर चाहना मेरी ही पूर्ण होनी चाहिए, दूसरे की हसरतों का क्या सवाल ?
यह तामस कर्त्ता मानता है।

भाई! ऐसी मान्यता वाला तामस गुण पूर्ण होता है।

तमोगुण पूर्ण लोग स्तब्ध होते हैं।

स्तब्ध :

अर्थात् तमोगुणी कर्त्ता :

क) घमण्ड से अकड़े हुए लोग होते हैं।

ख) कभी न झुकने वाले लोग होते हैं।

ग) मस्तक तो वे झुकाते हैं, पर सिर कभी नहीं झुकाते।

घ) हठीले तथा ज़िद्दी होते हैं।

ङ) पुरानी दुश्मनियों पर कायम रहने वाले होते हैं।

च) कठोर, निष्ठुर, निर्दयी होते हैं।

छ) कभी न कहना मानने वाले लोग होते हैं।

ज) नई बात तो जन्म के अन्धे समझ ही नहीं सकते।

झ) इनकी बुद्धि तो जड़ ही हो गई होती है।

ञ) यानि, इनकी बुद्धि के द्वार अन्य लोगों की पुकार तथा दर्द के प्रति बन्द होते हैं।

ट) इन पत्थर दिल इन्सानों को कोई पिघला नहीं सकता।

ठ) इनसे प्यार करना तो पत्थरों की मूर्ति से प्यार करना है, पत्थरों की मूर्ति के चरण में अपनी बलि देना है।

तामस लोग फिर भी नहीं पिघलते। इनके कर्म भी तो इनकी वृत्ति के अनुकूल ही होते हैं। ख़ुदा ही बचाये उसको, जिसपे इनका दिल आ जाये।

भाई! कहते हैं, ये शठ होते हैं।

शठ :

यानि ये :

१. धोखा देने वाले होते हैं।

२. विश्वासघात करने वाले लोग होते हैं।

३. उच्च सिद्धान्तों का ज्ञान देकर दूसरे को लूट लेते हैं।

४. इनके वचनों में छल छिपा हुआ होता है।

५. पाखण्डी लोग ऊपर से साधु बन जाते हैं और जनता को भी कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।

६. हरे भरे घर धोखे से तोड़ देते हैं।
७. इनकी पूजा धोखा ही है।
८. भाई! ये तो भगवान से भी झूठ बोलते हैं।
९. मन्दिर में कुछ और कहते हैं और बाहर आकर कुछ और करते हैं।
१०. साधुता का प्रचार करते हैं और लोगों का सुख धन छीन लेते हैं।
११. भगवान की महिमा गाते हैं पर भगवान की बात नहीं मानते।
१२. भगवान का नाम भी लेते हैं, पर भगवान के नाम पर कलंक हैं।

नैष्कृतिक :

यानि,

क) जो दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले कर्म करने वाले हैं।
ख) जो दूसरों को हानि पहुंचाने वाले कर्म करने वाले हैं।
ग) जो बेईमानी करते हैं।
घ) जो हर पल दूसरे का अपकार करें।
ङ) जो झूठ या सच में भेद नहीं देख सकते।
च) जो केवल स्वार्थ के लिए अन्धों के समान कर्म करते हैं।
छ) जो दूसरे का नाम हरने वाले कर्म करते हैं।
ज) जो दूसरे के प्राण हरने वाले कर्म करते हैं।
झ) जिनके कारण धर्म भी कम पड़ जाता है।
ञ) जिन लोगों के कारण धर्म के दाम बढ़ जाते हैं।
ट) जिन लोगों के कारण शास्त्र अर्थ अनुचित हो जाते हैं।
ठ) जो लोग बच्चों को भी यतीम बनाते नहीं डरते।
ड) जो लोग कर्त्तव्य रूपा सत्त्व में भी मिलावट उत्पन्न करते नहीं डरते और जीव को इन्सानियत से गिराते हैं! ऐसे लोग तामस कर्त्ता होते हैं।

संसार में महा दर्द का कारण यही लोग होते हैं। महा दुष्ट और भयानक असुर यही लोग हैं। इनके ही कारनामे संसार में इतना दुःख दर्द फैला रहे हैं।

नन्हूं! ये लोग ऊपर से शास्त्रों की बातें करते हैं और जीवन में लोगों को दुःख देते हैं। सुख के नाम पर ये दुःख का प्रचार करते हैं।

आलस पूर्ण :

आलस पूर्ण जो हो, वह करने योग्य कर्म नहीं करता, वह मेहनत नहीं करता।

भाई! इन्हें धन तो चाहिए, किन्तु जितना धन चाहिए, उतनी मेहनत करने को ये तैयार नहीं; तब ही तो यह चोर बाज़ारी को अपना धन्धा बनाते हैं। ये जुआ इसलिए खेलते हैं कि बस दाव लग गया तो काम बन जायेगा। गुप्त कोष कमाना इसी गुण के आधार पर होता है। ये बुद्धि स्तर पर भी आलसी होते हैं, इसी कारण इनका ज्ञान भी अन्धकार पूर्ण होता है। इनका धर्म भी दुःखदे है। थोड़ा काम करके ये बहुत बड़ा फल चाहते हैं।

विषाद

विषाद उत्पन्न कर तमोगुणी ही होते हैं।

क) ये दुःख ही फैलाते हैं।

ख) इनके धन्धे दुःखदे ही होते हैं।

ग) शोक सन्ताप की मानो ये स्वयं प्रतिमा होते हैं।

ये दीर्घ सूत्री लोग होते हैं।

दीर्घसूत्री

गर ये कोई काम हाथ में लें और सच ही करने लगें तो,

१. उस काम को लटका देते हैं।
२. एक दिन का काम ये दस दिन में भी नहीं कर सकते।
३. अपने को ये कष्ट नहीं देना चाहते।
४. अपने तन से काम न करवा कर ये और क्रियाहीन हो जाते हैं, फिर काज करने की आदत ही नहीं रहती।
५. ये लोग बहुत हड़तालें कराते हैं, यानि, काम काज बन्द करते हैं।
६. देश पर क्या बीतेगी इन्हें क्या?
७. लोगों को कष्ट होगा, इन्हें क्या?
८. मंहगाई बढ़ जायेगी, इन्हें क्या?

भाई! ये ऐसे तड़पाने वाले, क्षति करने वाले, तबाह करने वाले तामसिक कर्त्ता होते हैं। अपने आपको साधु दिखाकर ये घरों को तोड़ते हैं। क्योंकि स्वयं कर्त्तव्य से पलायन करना चाहते हैं, ये दूसरों को भी कर्त्तव्य विमुख करते हैं।

ये तामस कर्त्ता के गुण हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. बुद्धि और धृति का भी गुणों के अनुसार,
२. तीन प्रकार का भेद,
३. सम्पूर्णता से विभागपूर्वक,
४. मेरे द्वारा कहा हुआ सुन!

तत्त्व विस्तार :

बुद्धि :

अब भगवान कहते हैं, 'बुद्धि की बात बताता हूं, यानि निर्णयात्मिका शक्ति के तीन रंग सुनाता हूं, सत् असत् दर्शायिनी बुद्धि के तीनों गुणों के इस्तेमाल के बारे में बताता हूं!'

निश्चय करने वाली शक्ति को, यानि द्वौ पक्ष को समचित्त होकर जानने वाली शक्ति को बुद्धि कहते हैं। वह भी तीन प्रकार की होती है। अब भगवान उसे समझाने लगे हैं।

क) जीवन में व्यवहारिक स्तर पर अपने और अन्य जनों में न्यायकर शक्ति,

ख) जो सब जाने और जान सके,

ग) वह जो जाने, उससे प्रभावित नहीं हो,

घ) जो अपने ही गुणों से भी प्रभावित न हो,

ङ) जो दूसरे के गुणों से भी प्रभावित न हो,
च) जो कल की बात से प्रभावित हुए बिना आज की किसी बात पर निर्णय दे,
छ) जो जांच पड़ताल करके निर्णय तक पहुंचे,
ज) जो यथार्थता समझ सके,
झ) जो निर्णयात्मिका शक्ति हो,
उसे बुद्धि कहते हैं।

धृति :
अब धृति को समझ लें।
१. बुद्धि के निश्चय को धारण करने वाली, उसे रूप दिलाने वाली धृति ही होती है।
२. किसी भी निश्चय में मानसिक दृढ़ता धृति ही होती है।
३. धृति के बल पर निश्चय स्थापित किया जाता है।
४. धृति मानसिक सहिष्णुता की शक्ति है।
५. धृति धारणा का सहारा है।
६. धृति के बिना जीवन का यज्ञमय बनना असम्भव है।
७. धृति निश्चय को मानो अपने अधिकार में ले लेती है और उसके अनुसार इन्द्रियों तथा तन को नियन्त्रित करती है।
८. धृति के आधार पर ही ज्ञान जीवन में उतरता है। धारणा उचित हो या अनुचित हो, यह और बात है। जैसे बुद्धि अज्ञानपूर्ण हो तो अज्ञानपूर्ण निर्णय लेती है, वैसे ही धृति भी त्रैगुण में से किसी भी गुणवाली हो सकती है। अब आगे भगवान बुद्धि और धृति के विभिन्न भेद कहते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

भगवान कहते हैं, अर्जुन! अब सात्त्विक बुद्धि के लक्षण समझ ले।

शब्दार्थ :
१. हे पृथा पुत्र पार्थ!
२. जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति,
३. कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य,
४., भय और अभय, तथा
५. बन्धन और मोक्ष को जानती है,
६. वह बुद्धि सात्त्विकी है।

तत्त्व विस्तार :
सात्त्विक बुद्धि :
भगवान ने कहा है जो बुद्धि,
क) प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को,
ख) कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को,
ग) भय तथा अभय को,
घ) बन्धन तथा मोक्ष को,

जानती है। वह बुद्धि सात्त्विक है। यानि, जो सत् तथा असत् को जानती है; जो सत्

यानि वास्तविकता को जानती है; उस जानने वाली बुद्धि को सात्त्विक कहते हैं।

जो बुद्धि द्वौ पक्ष का :
१. राज़ पूर्णतय: जानती है।
२. तत्त्व जानती है, समझती है।
३. मिलनसार तत्त्व जानती है।
४. भेद तत्त्व जानती है।
५. पारस्परिक सम्बन्ध जानती है।
६. पारस्परिक प्रभाव जानती है।
७. निहित भेद अभेद जानती है।
८. न्यूनताओं को भी जानती है।
९. न्यूनता अनुसरण विधि को जानती है।
१०. न्यूनता संयोग विधि को जानती है
ऐसी बुद्धि को सात्त्विक बुद्धि कहते हैं।

यानि जो निरपेक्ष हुई विवेकी बुद्धि है, जो सब कुछ समझने की सामर्थ्य रखती है, वह सात्त्विक है। बुद्धि, विचार शक्ति को भी कहते हैं; निर्णयात्मिका शक्ति को भी कहते हैं।

इस कारण इस बुद्धि के लिए कहा है, 'या वेत्ति' यानि, जो जानती है, जो ज्ञाता है, जिसे ज्ञान प्राप्त है। वास्तविकता के विवेक को ज्ञान कहते हैं; उसे जानने वाली बुद्धि होती है।

स्वतंत्र बुद्धि :

अब देखना यह है कि कैसी बुद्धि जान सकती है वास्तविकता को? वास्तविकता को वही बुद्धि जान सकती है, जो स्वतंत्र हो। यानि,
१. गुणों से नितान्त अप्रभावित हो।
२. मान्यताओं से बधित न हो।
३. मानसिक ग्रन्थियों के रहित हो।
४. जो किसी के वचन से प्रभावित न हो।
५. जो किसी की व्याख्या से प्रभावित न हो।
६. जो किसी की लेखनी से प्रभावित न हो।
७. जो सबका दृष्टिकोण समझ सके।
८. जो निष्पक्ष सबके दृष्टिकोण के तद्रूप हो सके।
९. जो अपनी भावना से भी प्रभावित न हो।
१०. जिस बुद्धि को किसी प्रकार का संकोच न हो।

यानि, जो :
- सामाजिक बन्धन से मुक्त हो।
- धार्मिक बन्धन से मुक्त हो।
- ऊंच नीच के बन्धन से मुक्त हो।
- धनी निर्धन के बन्धन से मुक्त हो।
- अपने ही बन्धन से मुक्त हो।

याद रहे बुद्धि मुक्त चाहिए, कर्त्तव्य से मुक्ति नहीं। कर्त्तव्यहीन के पास यह बुद्धि नहीं हो सकती। बुद्धि वह है, जो अपने या किसी दूसरे के गुणों के कारण चलायमान न हो। जो सदा निर्द्वन्द्व और निर्विकार हो; तब ही तो वह सत् जान सकती है; तब ही तो वह वास्तविकता जान सकती है।

ले! अब उस बुद्धि के स्थूल रूप में लक्षण देख ले :
१. वह सन्त या दुष्ट को देखकर प्रभावित नहीं होती।

२. वह मान मिले या अपमान मिले, इससे प्रभावित नहीं होती।
३. शत्रु सामने आ जाये अथवा मित्र सामने आ जाये, तो भी वह अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ती।
४. जैसी भी परिस्थिति आ जाये, वह उससे प्रभावित नहीं होती।
५. किसी भी नाते से मोह के कारण वह बुद्धि प्रभावित नहीं होती।
६. अपनी किसी भी चाहना के कारण वह बुद्धि प्रभावित नहीं होती।
७. अपनी किसी भी अरुचि के कारण वह बुद्धि प्रभावित नहीं होती।

भाई! बुद्धि तो गुणातीत होनी चाहिए, वरना उसे बुद्धि कौन कहे? फिर यह बुद्धि :

क) अतीव प्रवीण होनी चाहिए।
ख) अतीव सावधान होनी चाहिए।
ग) अतीव सूक्ष्म होनी चाहिए।
घ) तर्क वितर्क में कुशल होनी चाहिए।
ङ) अतीव दक्ष तथा गम्भीर होनी चाहिए।
च) अदृष्ट तत्त्व हेरनी होनी चाहिए; इसे तो अन्धियारे में भी देखना पड़ेगा।
छ) यानि, इसे अपने और दूसरे के आवरण के पीछे देखना है।
ज) बुद्धि के पीछे विद्वत्ता होनी चाहिए।

मेरी जान! यह सब कहकर भगवान स्थित प्रज्ञ की बातें कर रहे हैं। उसकी 'अन्तर्दृष्टि' होती है।

- ऐसी दृष्टिवाला, कहते हैं सब जानता है।
- ऐसी बुद्धि वाला सात्त्विक बुद्धि वाला है।
- वह निवृत्ति और प्रवृत्ति को जानता है।

*** निवृत्ति**

१. वापिस आ जाने को कहते हैं।
२. अरुचि हो जाने को कहते हैं।
३. समाप्ति उपरामता, विरक्ति को भी कहते हैं।
४. अस्वीकार करने को, त्याग को भी कहते हैं।
५. निष्क्रियता को भी कहते हैं।

प्रवृत्ति :

क) अभिरुचि को कहते हैं।
ख) किसी चीज़ की ओर झुकाव को कहते हैं।
ग) मन के बहाव को कहते हैं।
घ) तन, मन की सक्रियता को कहते हैं।
ङ) किसी कार्य में संलग्न होने को कहते हैं।
च) आचरण तथा व्यवहार को भी कहते हैं।
छ) क्रियाशीलता को भी कहते हैं।
ज) सहज प्रगति को भी कहते हैं।

साधारणतय: प्रवृत्ति या निवृत्ति मन के गुणों पर आधारित होती है और मनोरुचि की बात है। अब देख! वह कहते हैं 'वह प्रवृत्ति या निवृत्ति दोनों को जानता है।'

* विस्तार के लिए १४/२२ देखिये।

आत्मवान् का दृष्टिकोण, निवृत्ति और प्रवृत्ति की ओर :

भाई! वह स्वयं निवृत्ति या प्रवृत्ति,

- दोनों के प्रति निरपेक्ष है।
- दोनों के प्रति उदासीन है।
- वह न निवृत्ति चाहता है और न ही प्रवृत्ति, क्योंकि वह जानता है कि,

क) निवृत्ति या प्रवृत्ति,दोनों कोई अर्थ नहीं रखते।

ख) गुण ही निवृत्ति की ओर ले जाते हैं और गुण ही प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं।

ग) वह अपने आपको अकर्त्ता मानता है।

घ) तभी तो जो भी हो, वह नित्य आनन्द में रहता है।

प्रवृत्ति या निवृत्ति संग पर आधारित है।

निवृत्ति किससे पानी है ?

१. अज्ञान से निवृत्ति पानी है।
२. असत् में मन खो जाता है, उस असत् से निवृत्ति पानी है।
३. संग से निवृत्ति पानी है।
४. चाहना से निवृत्ति पानी है।
५. कर्त्तापन के अहंकार से निवृत्ति पानी है।
६. देहात्म बुद्धि के अहंकार से निवृत्ति पानी है।
७. कामनाओं, दु:खों और विकारों से निवृत्ति पानी है।
८. राग द्वेष, आशा तृष्णा, क्षोभ वेदना से निवृत्ति पानी है।
९. अपने ही क्रोध से निवृत्ति पानी है।
१०. अपनी ही मनोग्रन्थियों से निवृत्ति पानी है।

क्योंकि ये सब मन के गुण हैं, तो क्यों न कहें उसे केवल अपने मन से निवृत्ति पानी है।

प्रवृत्ति क्या है ?

प्रवृति,

क) अपने ही स्वरूप की ओर प्रवृत्त होना है।

ख) गुणातीतता की ओर प्रवृत्त होना है।

ग) दैवी गुणों में प्रवृत्त होना है।

घ) आत्मा की ओर प्रवृत्त होना है।

ङ) यज्ञमय जीवन में प्रवृत्त होना है।

वास्तव में प्रवृत्ति या निवृत्ति, एक ही बात है। प्रवृत्ति राही इन्सान निवृत्त हो जाता है और निवृत्ति राही प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति में परम गुण अभ्यास आत्म की ओर ले जाता है, जिसे निवृत्ति पथ कहते हैं और निवृत्ति पथ की पराकाष्ठा का चिह्न 'सर्वभूतहितेरत:' है, जो नित्य प्रवृत्ति है।

इसे पुनः समझ!

१. शान्ति कर्त्तव्य त्याग से नहीं मिलती, कर्त्तव्य परायणता में है।
२. शान्ति निवृत्ति पथ का लक्षण है, कर्त्तव्य परायणता प्रवृत्ति को दर्शाती है।
३. आनन्दमय जीवन और यज्ञमय जीवन एक ही बात है। यज्ञमय जीवन प्रवृत्ति पथ सा दर्शाता है, किन्तु परिणाम निवृत्ति पथ का लक्षण है।
४. समाधि में ख़ुदी भूल जाती है। ख़ुदी, तब भूलती है जब ख़ुदा के नाम जीवन

हो। यानि, जो ख़ुदा के लिये जीयेगा, वह ख़ुदी में नहीं जियेगा।

५. गर तन से उठना चाहते हो तो तन उनको दे दो, जिनका इस पर अधिकार है। निष्प्राण शव तो जग को दोगे ही, जब बू आयेगी। सप्राण तन जग को दे दो, इससे अपना अधिकार निकाल लो, तो तुम तन से उठ जाओगे, तन से निवृत्त हो जाओगे। फिर तुम्हारा तन जग में प्रवृत्त हो जायेगा, कर्त्तव्य निभायेगा, सब का सेवक हो जायेगा। भाई! निवृत्ति की राह प्रवृत्ति है और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति आसुरी है।

कार्य और अकार्य को जो समझ ले, वह बुद्धि सात्त्विकी है। अर्थात्,

क) जो बुद्धि, करने योग्य क्या है और करने योग्य क्या नहीं, यह समझती है;
ख) कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को जानती है;
ग) कर्म तथा अकर्म को यथार्थ जानती है;
घ) जो कर्म का परिणाम भी यथार्थ जानती है;
ङ) जो कार्य के हेतुओं को समझती है;
च) जो अकार्य की ओर जीव की प्रवृत्ति को समझती है;
छ) जो करने योग्य है, वह क्यों करने योग्य है, जो यह जानती है;
ज) जो करने योग्य नहीं है, वह क्यों करने योग्य नहीं है, जो यह जानती है;
झ) जो गुण कार्य करवाते हैं, जो उन्हें जानती है;
ञ) जो गुण अकार्य करवाते हैं, जो उन्हें जानती है;

भगवान कहते हैं, वह बुद्धि सात्त्विकी है। वह कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखती है।

संन्यास :

संन्यास ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है, संन्यास ही यज्ञमय जीवन का प्रमाण है। पर संन्यास क्या है, यह शुद्ध बुद्धि ही समझ सकती है। ले मेरी जान! समझने के यत्न कर,

१. जब साधक को पूर्ण ज्ञान हो जाता है,
२. जब साधक सत् को पूर्णतय: जान लेता है,
३. जब साधक सत् को जीवन में लाना चाहता है,
४. जब साधक तन से उठना चाहता है,
५. जब साधक मन से उठना चाहता है,
६. जब साधक सहज समाधि लगाना चाहता है,
७. जब साधक शास्त्र की प्रतिमा बनना चाहता है,
८. जब साधक गुणातीत बनना चाहता है,
९. जब साधक दैवी सम्पदा का अभ्यास करना चाहता है,
१०. जब साधक स्थित प्रज्ञ बनना चाहता है,

तब वह इस चाहना की आधारभूत ज्ञान अग्र का मानो कवच पहन लेता है।

इस राही :

क) उसकी अपनी कामना जग को छू नहीं सकती।
ख) उसका अपना मोह जग को आवृत्त

नहीं करता।

ग) जग को वह अपनी तृष्णा से अपावन नहीं करता।

घ) जग को वह अपनी रसना के कारण नहीं चूसता।

ङ) जग को वह अपनी स्थापति के कारण नौकर नहीं बनाता।

च) वह तो संन्यास लेकर जग का नौकर बन जाता है।

छ) वह तो संन्यास लेकर जग को अपना सप्राण तन भेंट दे देता है।

ज) वह तो अपने आपको भुलाने चला है और अपने ही स्वरूप को पाने चला है।

झ) उसे जग से कुछ नहीं लेना, जग उसके लिए रहा ही नहीं।

ञ) वह जग के लिए ही रह गया, अपने प्रति मौन हो गया।

भाई! साधक जब तक पढ़ता है, तब तक ब्रह्मचारी है।

साधक मन्त्र कब लेता है?

पढ़ाई खत्म हो जाये, तब वह मन्त्र लेता है। तत्पश्चात्,

- संन्यास का सहज जीवन में अभ्यास आरम्भ होता है।
- संन्यास का सहज जीवन में प्रमाण देना होता है।

नन्हूं! बीज मन्त्र शास्त्र पठन से पहले नहीं, शास्त्र पढ़ने के बाद देते हैं। मन्त्र तो शास्त्र पढ़ने के बाद दीक्षा समारोह में देते हैं, ताकि जब साधक लौटकर साधारण जीवन को अपनाये, तब,

१. वह अपने स्वरूप को न भूले।
२. वह अपने धर्म विरुद्ध न जाये।
३. वह अपने तन को अपना न ले।
४. तब कहीं अहंकार न उठ आये।
५. तब कहीं संग न हो जाये।
६. तब कहीं दैवी सम्पदा न लुट जाये।
७. तब कहीं कर्त्तव्य विमुख न हो जाये।
८. तब कहीं मन न्याय से च्युत न हो जाये।
९. तब कहीं मोह आवरण न डाल दे।
१०. तब कहीं यथार्थता न भूल जाये।

पुरातन संस्कृति को सम्मुख धर कर देखो, तो यह सब यथार्थ दिखेगा। फिर शास्त्र में इसका प्रमाण भी है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में बीज मन्त्र दीक्षा समारोह पर दिया गया है।

क) संन्यास तो संसार में प्रवेश करने के लिए होता है।

ख) संन्यास तो संसार में प्रवेश से सिद्ध होता है।

ग) संन्यास का प्रमाण जीवन में रहकर ही दे सकते हैं।

घ) संन्यास लोलुपकर परिस्थितियों में ही प्रमाणित हो सकता है, वरना संन्यास निष्प्राण रह जाता है।

१. संन्यासी गर देशभक्त नहीं,
२. संन्यासी गर सर्वहितकर नहीं,
३. संन्यासी गर लोगों की मान्यता तोड़े,
४. संन्यासी यदि साधारण जीवन को सत्मय न बना सके,
५. संन्यासी यदि सत् का नौकर नहीं है,

तो वह संन्यासी नहीं है।

भगवान के चिह्न

भगवान ने स्वयं कहा है :

१. ज्ञानी अज्ञानियों के साथ रहकर अज्ञानियों जैसे कर्म करता है।
२. अज्ञानियों की बुद्धि में भेद उत्पन्न नहीं करता।
३. अज्ञानियों को चलायमान नहीं करता।
४. जो जैसे भगवान को भजता है, भगवान भी उसे वैसे ही भजते हैं।
५. उनका कर्त्तव्य कोई भी नहीं है फिर भी वह कर्त्तव्य करते हैं।
६. जो आत्मतृप्त आत्म रति है, उसका कोई कर्त्तव्य नहीं, कोई प्रयोजन नहीं, कोई स्वार्थ नहीं, तो भी वह निरासक्त हुआ निरन्तर अच्छी प्रकार से कर्त्तव्य कर्म करे।
७. कर्म करना ही योग्य है।
८. तेरा जीवन ही प्रमाण है।
९. लोग वही करेंगे जो श्रेष्ठ जन करेंगे।

भगवान ने कहा, 'यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोक भ्रष्ट हो जायें और मैं वर्ण संकर का कर्त्ता होऊं और इस सारी प्रजा को मारने वाला बनूं।'

ध्यान से समझ! यह कहकर वह बुद्धि के वर्ण संकरों की बात कहते हैं। जहां ज्ञान कुछ और हो और कर्म कुछ और हो, वहां परिणाम में :

- धर्म गिरेगा ही।
- ज्ञान का अर्थ बिगड़ेगा ही।
- लोग धर्म से डरेंगे ही।

नन्हूं! हर कुल के पुत्र संन्यासी होने चाहिएं :

१. ताकि वे अपने कुल की मर्यादा रख सकें।
२. ताकि वे अपने कुल का नाम रोशन करें।
३. ताकि वे अपने कुल में सबके विश्वासपात्र हों।
४. कुल वाले उनका एतबार कर सकें और उनके आशीर्वाद में पलें।
५. कुल वालों को उन पर नाज़ हो।

तब ही तो वे देश के चिराग़ बन सकते हैं। तब ही धर्म, दया और सत्यता आयेगी जहान में।

सात्त्विक बुद्धि भय और अभय को जानती है, अब इसे समझ ले :

क) सत् में ही निर्भयता है और असत् में ही भय का मूल है।
ख) जो यथार्थता में जीता है, उसे किसी चीज़ का भय नहीं हो सकता।
ग) वह जानता है कर्म गुण करवाते हैं तो उसे जीवों का भय नहीं रहता।
घ) वह जानता है तन मृत्यु धर्मा है तो उसे मृत्यु का भय नहीं रहता।
ङ) वह जानता है कि कर्मफल विधि के हाथ में है, फिर वह वांछित फल नहीं चाहेगा।
च) जो जानता है तन उसका नहीं, तो तन को क्या होगा, उसे यह भय नहीं।
छ) वह जानता है कि तन उसका नहीं रहा तो उसे अपमान का भय नहीं रहता, तन को बचाने का भय नहीं रहता, परिस्थिति का भय नहीं रहता।
ज) भय का कारण भी संग ही है, गर संग

गया तो भय नहीं रहता।

झ) देहात्म बुद्धि ही भय का कारण है, देहात्म बुद्धि ही गई तो भय नहीं रहता।

ञ) यह अहंकार ही भय का कारण है, अहंकार गया तो भय नहीं रहता।

ट) अज्ञानता के कारण ही भय होता है, ज्ञान आये तो अभय हो जाता है।

ठ) मोह भय का मूल है, मोह न रहे तो अभय हो जाता है।

ड) कर्त्तव्य परायणता भय को मिटाती है।

ढ) अपनी ही आन्तरिक मलिनता भय का कारण है। मनोमलिनता मिटी, तो भय नहीं रहता।

सात्त्विक बुद्धि यह निजी अनुभव से जानती है, क्योंकि वह निर्भय होती है।

बन्धन और मोक्ष को भी यह सात्त्विक बुद्धि जानती है :

१. संग ही बन्धन का कारण है, यह सात्त्विक बुद्धि जानती है।

२. सात्त्विक बुद्धि जानती है कि अपने आपको तन मानना ही तन से बन्धायमान होना है।

३. तनो तद्रूपता ही अपने स्वरूप से उतरकर तन रूप माटी से अपने आपको बांधती है।

४. अनात्म को आत्म मान लेना ही बन्धन है।

५. आत्म को अनात्म मान लेना ही बन्धन है।

६. गुण गुणों में वर्त रहे हैं, सब स्वत: हो रहा है। गुणों के कर्त्तापन को चुराकर स्वयं कर्त्ता बन बैठना ही बन्धन है। विजातीय से नाता जोड़ लेना ही बन्धन है।

७. मन से नाता जोड़ लेना ही बन्धन है।

८. क्षर और अक्षर का मेल कैसे हो सकता है ? जड़ और चेतन का मेल कैसे हो सकता है ? आत्म और अनात्म का मेल कैसे हो सकता है ? असीम और ससीम का मेल कैसे हो सकता है ? जो हो ही नहीं सकता, उसे हकीकत मान लेना ही बन्धन है।

- आत्म में आत्मवान् हो जाना ही मोक्ष है।
- तन के होते हुए तन रहित हो जाना ही मोक्ष है।
- संग का नितान्त अभाव ही मोक्ष है।
- अपने आपको भूल जाना ही मोक्ष है। जब 'मैं' न रहे तो ज्ञान की प्रतिमा बन ही जायेगा। यानि, जब 'मैं' का तन न रहे तो बाकी जो रहे, वह भगवान की विभूति है।
- यह सात्त्विक बुद्धि जानती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

अब भगवान राजसिक बुद्धि के विषय में बताते हैं और कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. हे पृथा पुत्र पार्थ!
२. जिस बुद्धि से जीव,
३. धर्म तथा अधर्म को,
४. कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को भी,
५. अयथार्थ जानता है (यानि, यथार्थ नहीं जानता),
६. वह बुद्धि राजसिक है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं मेरी जान! ध्यान से समझ!

अब भगवान राजस बुद्धि को समझाते हैं और कहते हैं कि देख अर्जुन! राजस बुद्धि वह है जो :

क) लोभ तृष्णा की प्रधानता के कारण,
ख) संग के कारण,
ग) मोह और अज्ञान के कारण,
घ) कर्मों से संग होने के कारण,

धर्म अधर्म को नहीं जानती, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को भी नहीं जानती।

आभा! मेरी प्रिय! सर्वप्रथम यह समझ ले कि धर्म किसे कहते हैं?

धर्म :

धर्म उस जीवन रूपा पथ का नाम है, जिसका अनुसरण करने से,

१. आत्मा की उन्नति होती है।
२. इन्सान में इन्सानियत की प्रगति होती है।
३. इन्सानियत में दृढ़ता पा जाने के पश्चात् जीव देवता के समान बनता है तथा भगवान के समान धर्म वाला बनता है।
४. जीव भागवद् गुणों की प्रतिमा बनता है।
५. जीव करुणापूर्ण, दया तथा क्षमा पूर्ण बनता है।
६. जीव दुश्मन से भी न्याय करता है।
७. जीव इन्सान से प्रेम करता है।
८. जीव किसी की मान्यता से नहीं भिड़ता।
९. जीव सत्यनिष्ठ बनता है।
१०. जीव अनुकम्पा पूर्ण बनता है।
११. जीव अपने ज्ञान का मिथ्या गुमान छोड़ देता है।
१२. जीव अपनी स्थिति का मिथ्या गुमान छोड़ देता है।

धर्म जीवन का वह पथ है जो जीव की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य है। आध्यात्मिक उन्नति,

क) जीवन में परम गुण अभ्यास से हो सकती है।
ख) स्वरूप स्थिति की ओर जाने से होती है।

ग) व्यक्तिगत मिथ्या देह अभिमान मिटाव में है।

घ) व्यक्तिगत मिथ्या देहात्म भाव मिटाव में है।

ङ) धर्म तनत्व भाव से उठ जाना सिखाता है। धर्म वह है जो तनो इन्द्रियों को प्रगति तथा आत्म उन्नति की ओर ले जाये।

- आनन्द हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।
- आनन्द में रहना हमारा धर्म है।
- आनन्द से च्युत हुए लोगों को पुनः आनन्द में स्थित करना धर्म का एकमात्र लक्ष्य है।

मूलभूत सहज गुण ही धर्म कहलाते हैं। किसी विषय के मूल गुण उसका धर्म हैं। यानि प्रकृति रचित जीव का स्वभाव ही उसका लाक्षणिक गुण है, उसका धर्म है। हर प्राकृतिक रचना में त्रैगुण निहित हैं, वह गुण उनका सहज धर्म है। कोई भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकता। धर्म त्याग में दुःख ही दुःख भरा है। निहित धर्म के अनुकूल जीव में शक्ति भी होती है, वह शक्ति ही जीव के हर अंग में निहित है, वह शक्ति जीव के मन, मस्तिष्क और रोम रोम में निहित है। उसे व्यय करना ज़रूरी है वरना वह जीव के अपने आप पर ही प्रहार करती है। जन्म के आरम्भ में शिशुगण में, फिर बाल्य अवस्था में भी बच्चों में यह मूल शक्ति निहित होती है। अपने निहित काज के लिए जीव इस शक्ति का प्रयोग पूर्णतयः नहीं कर सकता। इस शक्ति का प्रयोग करना जीव का धर्म है, क्योंकि भाई!

१. यह शक्ति तो बढ़ेगी ही।
२. यह शक्ति जीव के बस में नहीं होती।
३. इसे रोक लेना आपके बस में नहीं है।
४. इसको खत्म कर देना आपके बस में नहीं है।

आप इसको इस्तेमाल कर सकते हैं; इसका दुरुपयोग या सदुपयोग कर सकते हैं।

अब आगे समझ मेरी नन्हीं जान! शिशु को आरम्भ में अपने मां बाप पर अन्ध विश्वास होता है। शिशु सहज में,

१. मां बाप को खुश करना चाहता है।
२. मां बाप को आकर्षित करना चाहता है।
३. मां बाप से अपनी व्यक्तिगतता की स्वीकृति चाहता है।

इसलिए वह आरम्भ में वही करता है जो मां बाप चाहते हैं। यह शिशु का सहज धर्म है। परन्तु माता पिता बच्चे को आरम्भ से ही,

- छोटे-छोटे कामों में नहीं लगाते।
- उसे कर्त्तव्य की ओर सहज ही प्रवृत्त नहीं करते।

इसलिए शिशु में कर्त्तव्य भाव जागृत नहीं होता।

भाई कर्त्तव्य बताया नहीं जाता, सिखाया नहीं जाता, कर्त्तव्य की ओर जीव को बहाया जाता है। इस मौलिक शक्ति को कर्त्तव्य में परिणित कीजिये। कर्त्तव्य जीव को आनन्द स्वरूप की ओर ले जाता है।

सद्गुण :

देख! कर्त्तव्य परायणता से सद्गुण उत्पन्न हो ही जायेंगे। तब आप :

क) अपने प्रति मौन हो ही जायेंगे।
ख) दूसरे के गुणों से अप्रभावित होना सीख जायेंगे।
ग) अपना तन दूसरे के लिए इस्तेमाल करेंगे ही।
घ) फिर चित्त निर्मल हो ही जायेगा।

सद्गुण परायण दूसरों को सुख देगा ही। सद्गुणी अपनी रुचि को भूलेगा ही। फिर वह तनत्व भाव से उठने लगेगा और स्थित प्रज्ञता की ओर बढ़ ही जायेगा। शनैः शनैः यही गुण सर्व हितकर हो ही जायेंगे।

उस जीव में क्या क्या गुण आ जायेंगे, ये सब तो बहुत बार दैवी गुण और सद्गुण समझाते हुए कह आये हैं। अब इसकी स्थिति क्या होगी, देख ले!

१. मान अपमान के प्रति वह सम हो ही जायेगा, क्योंकि कर्त्तव्य दूसरों के व्यवहार को नहीं देखता।
२. नित्य तृप्त वह हो ही जायेगा, क्योंकि वह औरों से चीज़ लेकर अपने लिए नहीं रखेगा, वह सब दूसरों के लिए इस्तेमाल कर देगा।

तृप्ति :

तृप्ति वस्तु त्याग में नहीं,

क) वस्तु में संग अभाव से उत्पन्न होती है।
ख) वस्तु के सदुपयोग से उत्पन्न होती है।
ग) वस्तु को दूसरे के सुख के लिए प्रयोग करने से उत्पन्न होती है।

किसी भी विषय के संग्रह से तृप्ति नहीं हो सकती, केवल लोभ ही बढ़ता है, केवल तृष्णा ही बढ़ती है।

जो तृप्त है, वह निर्विकार हो ही जायेगा, क्योंकि विकार तो,

१. अपने दुर्गुण छिपाने के लिए उठते हैं।
२. अपनी कमी पूरी करने को उठते हैं।
३. अपनी स्थापति के लिए उठते हैं।
४. अपने झूठ को छुपाने के लिए उठते हैं।

सबके लिए और सबके प्रति कर्त्तव्य करने वाला क्या छुपायेगा ? उसकी तो हर सामर्थ्य यथाशक्ति दूसरे के लिए इस्तेमाल होती रहती है।

इसी विधि अन्य सभी गुण तथा गुणों के परिणाम रूप आन्तरिक स्थिति गुणों के सदुपयोग का परिणाम है।

अपनी सहज शक्ति का सदुपयोग कर्त्तव्य कहलाता है। कर्त्तव्य किसी के लिए नहीं किया जाता, अपनी खुशी के लिए किया जाता है, आनन्द के लिए किया जाता है। इसी कारण धर्म का दूसरा नाम कर्त्तव्य है।

गर आपने समझना है तो यूं कहलोः

- जीव का पूर्ण जीवन यही है।
- जीव के जीवन का धर्म यही है।
- जीव के जीवन का उद्देश्य यही है।

जिसे शक्ति रूप में तुम धर्म कहते हो, उसे ही जीवन रूप में तुम कर्त्तव्य कह लो। भाई! विज्ञानमय बात तो यही है। विज्ञानमय जीवन विधि तो यही है। बातों

में तथा शब्दज्ञान में आकर जो जी चाहे कह लो।

स्वरूप का रूप,

क) कर्त्तव्यमय जीवन ही है।
ख) यज्ञमय जीवन ही है।
ग) प्रेममय जीवन ही है।

ले मेरे नन्हें प्यार! तुझे धर्म फिर से स्पष्ट करके विज्ञान सहित समझाते हैं।

मन का धर्म समझ ले!

मन का धर्म है :

१. विश्वास करना।
२. मूल्यवान् समझना।
३. बड़ा मानना।
४. वरेण्यम् मानना।
५. स्वीकृति देना।
६. चिन्तन करना।
७. विचार करना।
८. कल्पना करना।
९. समझना।

मन का संग जहां हो, वह उसी से रंग जाता है। मन का संग जहां होता है, वहीं वह ऊपर कहे हुए गुण आरोपित करता है।

अब इन्द्रियों का धर्म समझ!

क) इन्द्रियों ने अपने विषयों का ज्ञान उपार्जित करना है।
ख) वह धर्म हर इन्द्रिय का, उसके अपने अधिकार में है।
ग) किसी भी इन्द्रिय का सहज धर्म हम उससे छीन नहीं सकते।
घ) हर इन्द्रिय का सहज प्रयोग उसके अपने सहज गुणों राही होता है।

फिर मन इन्द्रियों की बात मानता है। मन इन्द्रियों का सहयोगी है। मन इन्द्रियों राही उपार्जित ज्ञान को सत् मानता है।

नन्हूं! **बुद्धि का सहज धर्म** भी समझ ले,

१. निर्णयात्मिका शक्ति को बुद्धि कहते हैं।
२. निरपेक्ष दर्शन वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।
३. सोचने समझने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं।
४. निश्चयात्मिका शक्ति को बुद्धि कहते हैं।
५. जो मिथ्या को उलांघ कर सूक्ष्म सत् को जान सके, उसे बुद्धि कहते हैं।
६. जो दो विपरीत पक्षों को निष्पक्ष होकर जान सके, उसे बुद्धि कहते हैं।
७. जो अपने आपको भी निष्पक्ष होकर जान सके, उसे बुद्धि कहते हैं।
८. जो जीव को आत्मा में स्थित करवा सके उसे बुद्धि कहते हैं।

नन्हूं जान! यदि यह बुद्धि है तो बुद्धि का सहज स्वभाव भी यही होना चाहिए। यदि यह बुद्धि है तो बुद्धि का सहज धर्म इन्हीं कर्मों में स्थिर रहना चाहिए। नन्हीं! जो बुद्धि निर्मल तथा निरपेक्ष न हो, उसे बुद्धि नहीं कहते, उसे मन कहते हैं। बुद्धि को जीव को निर्विकार और नित्य तृप्त बनाना चाहिए। बुद्धि तो जीव को इन्सान बनाती है। बुद्धि तो जीव को देवता बनाती है। बुद्धि वही है जो जीव को सर्वगुण सम्पन्न बना दे और यही बुद्धि का सहज धर्म है।

भाई! इन्द्रिय, बुद्धि और मन, सब का अपना अपना धर्म है। इन सबके मिलाप से तन का धर्म उत्पन्न होता है। वैसे कहा जाता है तन मृत्यु धर्मा है।

जीवात्मा का धर्म :

अब इस सबके ऊपर जो जीवात्मा है, उसका भी धर्म है। आत्मा और परमात्मा ही जीव का वास्तविक स्वरूप है; उस स्वरूप की ओर बढ़ना ही जीवात्मा का धर्म है। यानि,

क) बुद्धि स्थित प्रज्ञ रहे,
ख) मन गुणों से अप्रभावित रहे,
ग) इन्द्रिय शक्ति क्षीण न हो,
घ) पुरुष को पुरुषोत्तम बना देना,
यही जीवात्मा का धर्म है।

यानि, मन, बुद्धि और इन्द्रिय समूह रूप तन अपने धर्म को निर्विघ्न और स्वतंत्र रह कर निभा सकें तथा इन सबके शक्ति रूप धर्म का वर्धन हो, यह देखना और इसका ध्यान रखना ही जीवात्मा का धर्म है।

बुद्धि की शक्ति :

- शक्ति तब ही दैवी बनती है, जब वह निरावरण हो।
- शक्ति तब ही बलवान् बनती है, जब वह पावन हो।
- शक्ति तब ही स्वतन्त्र होती है, जब उसे मन की कोई वृत्ति भी पराजित न कर सके।

तब ही पुरुष पुरुषोत्तम बनता है, तब ही सत् चित्त आनन्द स्वरूप बनता है।

१. अब जब जीव अपने तन से संग करता है और उसमें अहं भरता है, तो परिणाम स्वरूप ब्रह्म के विभूति रूप तन को माटी की मूर्त्त बना देता है, इस विधि वह उसकी शक्ति क्षीण कर देता है।
२. जब वह इन्द्रियों से संग करता है और उनमें अहं भरता है, तो वह उन्हें भिखारी बना देता है और विषयों के पीछे भागता रहता है। इस तरह वह उनके धर्म, उनकी शक्ति की क्षति करवा देता है।
३. जब वह मन से संग करता है और उसमें अहं भरता है, तो उसमें वह विक्षेप तथा द्वन्द्व उत्पन्न कर लेता है और संकल्प विकल्प में खो जाता है। वरना उसका मन सब मनों का दर्पण बन जाता और सब मनों की राहत बन जाता।
४. जब वह बुद्धि से संग करता है और उसमें अहं भरता है तो वह बुद्धि को मान्यताओं से रंग देता है, चाहनाओं से आवृत्त कर देता है और बुद्धि की शक्ति भी क्षीण कर देता है।

यानि तन, मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सब अपने सहज धर्म छोड़कर व्यक्तिगत अहं और व्यक्तिगत मन की उपासना में लग जाते हैं।

तब परम पुरुष तो पुरुष ने क्या बनना था, वह पुरुष ही नहीं रह जाता।

१. जीव का धर्म है पुरुषोत्तम बनना।
२. जीव का धर्म है अपने स्वरूप में स्थित होना।

३. द्रष्टा मात्र बनकर इन्द्रियों और गुणों के खिलवाड़ को देखना।
४. नित्य सत् चित्त आनन्द में स्थित रहना।

भाई! गुण तो जो हैं, सो ही हैं। गुण के अपने अपने धर्म हैं। गुण स्वभाव जो भी हैं, सो हैं।

अब देखना यह है कि आपके दृष्टिकोण में क्या दैवी सम्पदा, गुणातीतता, स्थित प्रज्ञता है ? यही धर्म है। यदि आपके दृष्टिकोण में आसुरी सम्पदा का अभाव है, तो जो है, जैसा भी है, यानि जैसे भी गुण हैं आपके, आप उन्हें निष्काम भाव से प्रयोग करोगे।

- असुरत्व भाव में स्थित लोग गुणों का दुरुपयोग करते हैं।
- दैवी सम्पदा पूर्ण भाव में स्थित लोग गुणों का सदुपयोग करते हैं।

जो गुण अहंकार की स्थापति के लिए इस्तेमाल करो, वे सद्गुण भी दुर्गुण हैं। निष्काम तथा निष्कामता पूर्ण होकर जो गुण इस्तेमाल करो, वे दुर्गुण भी सद्गुण हैं।

दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा आन्तरिक स्थिति है, यह दोनों केवल आन्तरिक दृष्टिकोण की बात है। स्थित प्रज्ञता भी आन्तरिक दृष्टिकोण की बात है। गुणातीतता भी आन्तरिक दृष्टिकोण की बात है।

१. जीवन में कर्त्तव्य इन्सानियत है।
२. जीवन में कर्त्तव्य सद्गुणपूर्ण दृष्टिकोण का जागरण है।
३. जीवन में कर्त्तव्य अपने स्वरूप में स्थित होना है।
४. जीवन में कर्त्तव्य अपने मिथ्यात्व का त्याग है।
५. जीवन में कर्त्तव्य निर्मल बुद्धि को उत्पन्न करना है।
६. जीवन में कर्त्तव्य श्रेष्ठतम बनना है।
७. जीवन में कर्त्तव्य ब्रह्म की प्रतिमा बनना है।
८. जीवन में कर्त्तव्य आनन्द में रहना और दूसरों में सुख बांटना है।

अब जो रजोगुणी होते हैं वे :

क) राग तथा लोभ प्रधान होते हैं।
ख) विषय आसक्त लोग होते हैं।
ग) केवल कामना पूर्ति के लिए कर्म करते हैं।
घ) वे दम्भ, दर्प, अभिमानपूर्ण लोग होते हैं।

- बुद्धि की निर्मलता की रक्षा करने के स्थान पर वे बुद्धि गुमानी बन करके अपनी मलयुक्त बुद्धि की रक्षा करते हैं।
- अपने मन को भिखारी बनने से बचाने की जगह वे रोब जमाकर अपने आपको छिपाना चाहते हैं और रुचि के नौकर बन जाते हैं।
- वे भिखारी मन को छुपाते रहते हैं और भिक्षा भी रोब से लेना चाहते हैं।

यानि वे,

१. इन्सानों को मोल लेना चाहते हैं।

२. प्रेम और वफ़ा को मोल लेना चाहते हैं।
३. घर वालों को दबाकर प्रेम पाना चाहते हैं।

अपने आपको परम पुरुष पुरुषोत्तम बना देने के स्थान पर वे मनोरुचि को सर्वश्रेष्ठ मानकर इसके तद्रूप हो गये और परम विभूति स्वरूप को गिरा दिया। ऊपर से झूठा गुमान करने लगे, 'मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूं।'

क) जो अपने साथ ही इतना बड़ा अन्याय करता है, वह औरों के साथ न्याय क्या करेगा ?
ख) जो अपने साथ ही इतना बड़ा अधर्म करता है, वह औरों के साथ धर्म क्या निभायेगा ?
ग) जो अपने साथ ही इतना बड़ा पाप करता है, वह औरों के साथ कर्त्तव्य कैसे निभायेगा ?
घ) जो अपने आपको गिरा देता है, वह औरों को स्थापित कैसे करेगा ?

वह बाह्य जग में कर्त्तव्य क्या निभायेगा ?

पहले अपने प्रति तो कर्त्तव्य कर लो!

१. अपनी बुद्धि को तो श्रेष्ठ बना लो, तब बुद्धि का गुमान करना।
२. अपने मन को भिखारी से राजा बना लो, तब अपने मन पर नाज़ करना, तब अपने मन को बचाना।
३. अपने तन को भगवान का मन्दिर तो बना लो, तब अपने तन की पूजा कर लेना, तब अपने तन को रिझा लेना।

भाई! रजोगुण पूर्ण की बुद्धि अन्धी, मन लोभी, तन भ्रष्टाचारी होता है, वह धर्म अधर्म क्या जाने; कर्त्तव्य अकर्त्तव्य क्या जाने ?

धर्म तो सत् है, धर्म तो न्याय है, धर्म तो श्रेष्ठ बनना है, कर्त्तव्य धर्म का सहज कर्म है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. हे पार्थ!
२. तमोगुण से आवृत्त हुई बुद्धि,
३. अधर्म को धर्म मानती है
४. तथा सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत मानती है,
५. वह तामस बुद्धि है!

तत्त्व विस्तार :

तामसी बुद्धि के लक्षण समझ ले नन्हीं!

अब भगवान तमोगुण आवृत्त बुद्धि की

कहते हैं। यानि,

क) अंधकार तथा अज्ञानपूर्ण जीव की बुद्धि तमोगुणी है।

ख) मोह तथा प्रमाद पूर्ण जीव की बुद्धि तमोगुणी है।

ग) देह आसक्त देह अभिमानी की बुद्धि तमोगुणी है।

घ) क्यों न कहें अन्धे की बुद्धि की बात कर रहे हैं।

ङ) क्यों न कहें बुद्धिहीन की बुद्धि की बात कर रहे हैं।

भाई! यह वह बुद्धि है जो बुद्धि का गुमान तो करती है परन्तु,

१. सब बातें उलटी देखती है।
२. मिथ्या सिद्धान्त बताती है।
३. अन्धकार फैलाती है।
४. जीव को तुच्छता की ओर ले जाती है।
५. छल कपट करना इसका काम है।
६. इस बुद्धि के कारण लोग विश्वासघात करते हैं।
७. तमोगुणी बुद्धि न कर्त्तव्य जानती है न धर्म।
८. यही इन्सान के रूप को असुर बना देती है।
९. धर्म के विरुद्ध यही आवाज़ उठाती है।
१०. धर्म के नाम पर लोगों से द्वेष करवाती है।
११. भगवान के नाम पर भी ऐसे लोग कलंक लगाते हैं। इस बुद्धि के कारण जग से :

क) प्रेम ख़त्म होने लगता है।

ख) करुणा ख़त्म होने लगती है।

ग) वफ़ा का जनाज़ा उठता है।

घ) कर्त्तव्य विमुखता होती है।

ङ) घर सूने हो जाते हैं।

च) देश के गद्दार पैदा हो जाते हैं।

छ) क्षमा करना यह बुद्धि जानती ही नहीं।

ज) बदला लेना इसी का धर्म है।

झ) सत् को यह नित्य दबाती है।

ञ) जो सत् कहे, उसे तबाह करना चाहती है।

ट) यह बुद्धि पाप करती है और दूसरों से पाप करवाती है।

ठ) सत् पथिक को यह सह ही नहीं सकती।

ड) स्वयं शुभ कर्म कर नहीं सकती, दूसरा करे तो उस पर शक करती है।

ढ) बेईमानी ही इसका मूलमन्त्र है।

ण) न इसमें बुद्धि की सत्यता है, न ही मानसिक और न ही कर्म की सत्यता है। फिर भी यह बुद्धि अपने आपको:

- श्रेष्ठतम मानने वाली होती है।
- सत्पूर्ण मानने वाली होती है।
- देशभक्त तथा कर्त्तव्य परायण मानने वाली होती है।

तामसिक बुद्धि केवल अपने आपको श्रेष्ठ मानती है। देश के लिए जीने की शपथ खाकर देश से गद्दारी करती है। सत् कहने की शपथ खाकर सत् नहीं बोलती। कर्त्तव्य का ज्ञान बखान करती है और स्वयं कर्त्तव्य विमुख कार्य करती है।

भाई! झूठ से पैदा होकर यह जन्म से अन्धी होती है, किन्तु अति गुमान के

कारण यह महा धोखेबाज़ है। दूसरे पर कलंक लगा देना इसका एक खिलवाड़ है। अपने को बचाने के लिए दूसरे को मिटा देना इस बुद्धि के कारण होता है। किन्तु मुश्किल यह है कि सब सत् विपरीत बातें करके यह उस विपरीतता को सत् सिद्ध करना चाहती है; यह उस विपरीतता को धर्म और कर्त्तव्य सिद्ध करना चाहती है।

इस तामसिक बुद्धि वाले लोगों के कारण ही धर्म का पतन होता है और कर्त्तव्य का अभाव होता है। यह तामसिक बुद्धि वाले लोग हर भेष में होते हैं। पर भाई! उनका भी दोष नहीं, यह गुण ही ऐसा है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

अब भगवान तीन प्रकार की धृति के बारे में कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे पृथा पुत्र पार्थ!
२. योग के उद्देश्य से,
३. जिस अव्यभिचारिणी धृति से जीव,
४. तन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है,
६. वह सात्त्विकी धृति है।

तत्त्व विस्तार :

गुण विवेक चाहुक नन्हीं आभा! अब प्रथम समझ कि योग क्या है।

योग :

क) दो को मिलाकर एक हो जाना योग है।
ख) अखण्ड एकरूपता योग है।
ग) दो का मिलकर एक समान गुणों वाला हो जाना ही योग है।
घ) जब अपनी चित्त वृत्ति का निरोध हो जाये, तब योग होता है।
ङ) यानि, जब अपने चित्त से, किसी भी निजी कामना की पूर्ति के लिए प्रेरणा न उठे, तब ही योग सफल हो सकता है।
च) जिससे योग किया हो, तब मानो वही रह जाता है।
छ) योग की सफलता में सहधर्मता आ जाती है।
ज) यानि कर्त्तव्यों की एकता हो जाती है।
झ) योग के परिणामस्वरूप समान गुणों से युक्त हो जाते हैं।
ञ) योग के परिणामस्वरूप समान चरित्र वाले हो जाते हैं।
ट) योग के परिणामस्वरूप समान स्वभाव वाले हो जाते हैं।

नाम की महिमा :

भाई! परम योग चाहते हो तो :

१. स्थूल में तन का नाम आपका रहता है, पर वास्तव में वहां 'मैं' की जगह

नामी का वास हो जाता है।

२. जिसका नाम लिया, आपके तन पर उसका राज्य हो जाता है।
३. जिस दिन से सच्चा साधक राम का नाम लेता है, उस दिन से वह इसी यज्ञ में लग जाता है कि वह वही करे, जो, गर उस तन के मालिक राम होते तो करते।
४. गर राम इस परिस्थिति में होते, तो वह क्या करते; जो वह करते, सच्चा साधक वही करेगा।
५. नाम की महिमा तब ही बनती है यदि नाम लेने वाला भक्त, जिसका नाम लिया है, उस नामी की जीती जागती प्रतिमा बन जाये।
६. नाम सप्राण तब ही होता है जब आपके प्राण पूर्ण तन का पति नामी बन जाता है।

- योग की पराकाष्ठा यही है।
- मोक्ष का सहज उपाय यही है।
- जीवन मुक्ति इसी को कहते हैं।
- परम मिलन भी इसे ही कहते हैं।

इस मिलन रूपा योग को लक्ष्य बनाकर फिर अव्यभिचारिणी योग से जीव योगास्पद की क्रियाओं को धारण करता है। योग का पथ भी तो प्रेम करना है।

अव्यभिचारी

आत्मप्रिय नन्हूं! अव्यभिचारी का अर्थ समझ ले।

अव्यभिचारी वह है,

१. जो व्यभिचार न करे।
२. जो योगास्पद के सिवा और किसी से योग न करे।
३. जो योगास्पद के सिवा किसी और से लिपट न पड़े।
४. जो योगास्पद के सिवा किसी और से प्रीत न करे।
५. जो एकाग्रचित्त से योगास्पद से परम मिलन ही चाहे।
६. जो योगास्पद के सिवा अन्य विषयों से रति न करे।
७. जिसके हृदय में योगास्पद के सिवा किसी और की चाहना न उठे।
८. जिसके हृदय में योगास्पद के सिवा किसी और की कामना न उठे।
९. जो सर्वगुणी तथा सदाचारी हो।
१०. जो प्रेमास्पद में स्थिर अचल लग्न वाला हो।
११. जिसकी भक्ति अविच्छिन्न हो।
१२. जिसकी भक्ति पावन गंगा जैसी हो।

ऐसी अव्यभिचारी बुद्धि वाला अव्यभिचारी भक्तिपूर्ण होता है।

नन्हू! ऐसी लग्न के लिए महान् धृति की आवश्यकता है।

भगवान जैसा बनने के लिए इन्सान को अपनी :

- अनेकों मान्यताओं का परित्याग करना पड़ता है।
- रुचि को अनेकों बार उनके चरणों में चढ़ाना पड़ता है।

मन की क्रियाओं को गर भगवान जैसा बनाना है, तो जो आधुनिक मनोबहाव हैं, उन्हें मौन करोगे तब ही तो वैसा हो पायेगा। इन्द्रिय विषय संयोग भी तो फिर

वहीं कर पाओगे, जहां भगवान करते।

फिर प्राण भगवान के हो जायेंगे, आपका तन फिर रहेगा ही नहीं।

आत्मप्रिय कमला! जीते जी तन दोगे, तब ही तो भगवान सप्राण तन में वास कर सकेंगे। भगवान का आवाहन सप्राण तन में ही हो सकता है। तब ही तो वह बोल सकेंगे, कर्त्तव्य पालन कर सकेंगे। इसके लिये साधक को :

१. अतीव उच्च कोटि की धृति की आवश्यकता है।
२. अतीव श्रद्धापूर्ण विश्वास की आवश्यकता है।
३. परम मिलन की धारणा में सतो दृढ़ता की आवश्यकता है।
४. परम मिलन की धारणा में मानसिक धैर्य की आवश्यकता है।
५. इस धृति के बिना जीवन भगवान के समान यज्ञ स्वरूप बनाना असम्भव है।
६. धृति स्थूल स्तर पर भी चाहिए, सूक्ष्म मानसिक स्तर पर भी चाहिये, बुद्धि के स्तर पर भी चाहिये।

योग चाहुक की धृति सात्त्विक कही है भगवान ने! धृति को पुनः समझ ले।

*** धृति :**

क) धैर्य को कहते हैं।
ख) मन की धारणा को कहते हैं।
ग) दृढ़ संकल्प युक्त धारणा को कहते हैं।
घ) उपभोग में लाने को भी कहते हैं।
ङ) सहारा देने को और संतोष को भी कहते हैं।
च) स्थिर रखने की क्रिया को भी कहते हैं।

अव्यभिचारी धृति :

१. अव्यभिचारी धृति परम में दृढ़ निश्चय को कहते हैं।
२. अव्यभिचारी धृति तब होगी जब दृढ़ निश्चय पूर्ण धारणा के आसरे जीव निरन्तर अनन्य भाव से परम में ध्यान टिका कर सम्पूर्ण कार्य करेगा।
३. चिरकाल तक एकाकी भाव में दृढ़ रहना धृति है।
४. सात्त्विक धृति का एक ही प्राप्तव्य तथा ज्ञातव्य लक्ष्य होता है।

सात्त्विक धृति :

क) सात्त्विक धृति वाला साधक एक निष्ठा युक्त हुआ मन, प्राण और इन्द्रिय कर्मों से अपने उद्देशित लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता है।
ख) उसकी हर वृत्ति तथा कर्म भागवत् परायण होते हैं।
ग) उसकी हर वृत्ति तथा कर्म भगवान की ओर ले जाने वाले होते हैं।
घ) उसकी हर वृत्ति तथा कर्म भगवान के गुणों का आवाहन करने वाले होते हैं।
ङ) वह ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता, जो उसको प्रियतम से दूर करे।

---

* धृति के विस्तार के लिए १६/३ और १८/३३ देखिये!

वह किसी स्थूल विषय या मानसिक विषय से संग नहीं करता।

नन्हूं! ऐसों का एक ही लक्ष्य होता है।
- ऐसों का मन कुछ और चाह ही नहीं सकता।
- ऐसों का तन कुछ और कर भी नहीं सकता।
- ऐसों की बुद्धि कुछ और सोच ही नहीं सकती।

ऐसों का शरीर केवल परम मिलन के लिए ही जीवित रहता है। ऐसों के मन, प्राण, इन्द्रिय समूह को उनकी दृढ़ धारणा शक्ति थामे हुए होती है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

अब भगवान राजस धृति के विषय में कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन!
२. जिस धृति के द्वारा मनुष्य प्रसंग (आसक्ति) अनुसार,
३. फल की इच्छा करने वाला,
४. धर्म, काम और अर्थों को धारण करता है,
५. वह धृति राजस है।

तत्त्व विस्तार :

राजसी धृति

राजसी धृति वाला :

क) संसार में अपनी कामनाएं पूर्ण करता है।
ख) अपनी किसी कामना पूर्ति अर्थ धर्म की भी बातें करता है।
ग) अपनी किसी कामना पूर्ति अर्थ धर्म के काज भी करता है।
घ) अपनी किसी कामना पूर्ति अर्थ अखण्ड पाठ, यज्ञ, तप, दान करता है।
ङ) अपनी किसी कामना पूर्ति अर्थ विषयों को धारण करता है।
च) अपनी कामना पूर्ति के लिए वह बहुत मेहनत करता है।
छ) अपनी कामना पूर्ति के लिए वह बहुत कुछ सहता है।
ज) अपनी कामना पूर्ति के लिए वह लोगों की बातें भी सहता है।
झ) अपनी कामना पूर्ति के लिए वह तनो कष्ट भी सहता है।
ञ) वह भूख प्यास भी सहता है अपनी कामना पूर्ण करने के लिए।

अपने तन को स्थापित करने के लिए वह सब कुछ करता है, पर वह सब कुछ इसलिए सहता है क्योंकि :

१. उसे कोई वांछित फल पाना है।
२. उसे अपना मान बनाना है।

३. उसे धन पाना है।
४. उसे जग में नाम कमाना है।
५. उसे अपना घर बनाना है।
६. उसे अपना लोभ तृप्त करना है।
७. उसे अपना दम्भ बढ़ाना है।
८. उसे अपना जहान बनाना है।
९. उसे जग को नीचा दिखाना है।
१०. उसे अपना राज्य बनाना है।

उसे तो अपने तन से संग है। अपने तन की स्थापति के लिए उसे बहुत कुछ सहना भी पड़ता है। उसे अपने तन की स्थापति के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है। वह बहुत दृढ़ निश्चय भी करता है। उसकी धृति राजसिक है।

सात्त्विक धृति के आसरे :
१. जीव निष्काम कर्म करता है।
२. जीव निष्काम उपासना करता है।
३. उसका ज्ञान निष्काम होता है।
४. उसे तो भगवान को भी उनका तन वापस देना होता है, वह भगवान से क्या मांगेगा ?

वह तो भगवान से भगवान को मांगता है और वह भी भगवान के लिए ही मांगता है।

राजसिक धृत्ति वाला :
१. सब कुछ अपने लिए मांगता है।
२. अपनी रुचि पूर्ति के लिए सब कुछ मांगता है।
३. वह भगवान को भी चाहता है अपनी रुचि पूर्ण करने के लिए।
४. वह जितना भी दृढ़ निश्चयी हो जाये, वह स्वार्थी ही है।
५. वह जितना भी विपरीतता सहने वाला हो जाये, वह अहंकारी ही है। उसकी धृति एक अतृप्त लोभ पूर्ण कामी की है, वह राजस धृति पूर्ण है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

अब भगवान तामस धृति वालों का विवरण देते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :
१. हे अर्जुन! दुर्मेधा (दुष्ट बुद्धि वाला पुरुष)
२. धारणा शक्ति के द्वारा,
३. निद्रा, भय, चिन्ता और दुःख को,
४. (और) उन्मत्तता को नहीं त्यागता है, (अर्थात् धारण किये रहता है),
५. वह धृति तामसिक है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं प्रिय! प्रथम दुर्मेधा को समझ ले!

दुर्मेधा :
क) दुष्ट बुद्धि को कहते हैं।

ख) मूढ़ मति को कहते हैं।
ग) अत्यन्त मलिन बुद्धि को कहते हैं।
घ) भ्रष्टाचारी वृत्तियों का वर्धन करने वाली बुद्धि को कहते हैं।
ङ) अत्याचारी वृत्तियों का वर्धन करने वाली बुद्धि को कहते हैं।
च) औरों का अनिष्टकर वर्धन करने वाली बुद्धि को कहते हैं।

दुर्मेधा जीव को असुरत्व की ओर ले जाने वाली बुद्धि होती है।

निद्रा :

१. यह बुद्धि जीव में निद्रा उत्पन्न करने वाली होती है।
२. यह बुद्धि जीव को स्वप्न लोक में स्थिर करने वाली होती है।
३. इस बुद्धि के कारण जीव मोह ग्रसित हो जाता है।
४. इस बुद्धि के कारण जीव गिले शिकवे नहीं छोड़ सकता।
५. इस बुद्धि के कारण जीव औरों की नाहक निन्दा करता है।
६. इस बुद्धि के कारण जीव मनो संकल्प विकल्प नहीं छोड़ सकता।

ये सब बातें इस कारण होती हैं क्योंकि जीव वास्तविकता के प्रति सोया रहता है।

नन्हूं! अब भय को समझ ले!

भय :

- डर को कहते हैं।
- त्रास को कहते हैं।
- संकट को कहते हैं।
- खतरे को कहते हैं।
- थरथराने को भी कहते हैं।

नन्हूं!

क) जीव को इष्ट के नाश का भय निरन्तर लगा रहता है।
ख) जीव को अनिष्ट के मिल जाने का भय निरन्तर लगा रहता है।
ग) प्रतिकूलता के आभास से भी जीव डर जाता है।

सत्त्व में न रहने से भय लगा ही रहता है :

१. कभी मृत्यु का भय अशान्त कर देता है।
२. कभी धन के अभाव का भय चिन्तित कर देता है।
३. कभी प्रिय से बिछुड़ने का भय चिन्तित कर देता है।
४. कभी अप्रिय के मिलने का भय शोकयुक्त कर देता है।
५. कभी मान की हानि की शंका भयोत्पादक बन जाती है।
६. कभी तन संरक्षण की चाह तड़पा कर भय उत्पन्न कर देती है।
७. कभी लाज का संरक्षण न हो सकेगा, इसी का भय चिन्तातुर कर देता है।
८. कभी शारीरिक संकट की संभावनाओं की सोच ही भयभीत कर देती है।

नन्हीं! यह व्याकुलता, चिन्ता तथा भ्रमपूर्ण वृत्ति ही भय है।

शोक :

क) मन में होने वाले कष्ट को शोक कहते हैं।

ख) मन में होने वाले संताप को शोक कहते हैं।

ग) मन के वेदना पूर्ण होने को शोक कहते हैं।

घ) मन का दुःखी हो जाना शोक है।

ङ) मन का व्याकुल हो जाना शोक है।

च) मन का भ्रमात्मक चिन्तायुक्त हो जाना शोक है।

विषाद :

शोक का स्थूल रूप विषाद है।

१. स्थूल के कारण उत्पन्न हुई खिन्नता को विषाद कहते हैं।

२. स्थूल के कारण उत्पन्न हुई उत्साह हीनता को विषाद कहते हैं।

३. स्थूल के कारण उत्पन्न हुई थकान को विषाद कहते हैं।

४. स्थूल के कारण उत्पन्न हुई संज्ञाहीनता, निराशा और जड़ता को विषाद कहते हैं।

मद :

मद,

क) नशे को कहते हैं।

ख) पागलपन को कहते हैं।

ग) अहंकार को कहते हैं।

घ) उग्र कामुकता को भी कहते हैं।

ङ) घमण्ड को भी कहते हैं।

नन्हूं!

- तमोगुणी लोग मोह के नशे में अन्धे होते हैं।
- तमोगुणी लोग अहंकार के नशे में अन्धे होते हैं।
- तमोगुणी लोग तनत्व भाव के नशे में अन्धे हुए होते हैं।
- तमोगुणी लोग दम्भ दर्प की मदिरा रूप मद पीकर नित्य बेहोश रहते हैं।

क) ऐसे तमोगुणी लोगों की धृति भी तमोगुणी होती है।

ख) ऐसे तमोगुणी लोगों की धृति केवल हठ होता है।

ग) ऐसे तमोगुणी लोगों की धृति उन्हें कर्त्तव्यविमुख करती रहती है।

घ) ऐसे तमोगुणी लोगों की धृति उन्हें शास्त्र विरुद्ध ले जाती है।

ङ) ऐसे तमोगुणी लोगों की धृति उन्हें धर्म विरुद्ध कामों में प्रवृत्त करती है।

च) ऐसे तमोगुणी, दुर्बुद्धि पूर्ण लोग बहुत कष्ट सहते हैं, किन्तु परिणाम में दुःख ही पाते हैं। ये लोग तामसिक धृति के कारण घर वालों और संसार वालों के काम नहीं आते और ये औरों पर अत्याचार करते हुए स्वयं भी अनेकों कष्ट सहते हैं।

भगवान कहते हैं कि उनकी धृति तामसिक है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥

अब भगवान सुख के तीनों भेदों का निरूपण करते हैं और कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन!
२. अब तू मुझसे तीन प्रकार का सुख भी सुन,
३. जिनमें (जीव) अभ्यास से रमण करता है
४. और दुःख के अन्त को प्राप्त होता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं जान! भगवान अभी कर्त्ता तथा कर्म का गुण भेद दर्शा कर आये हैं। अब कर्म के फलस्वरूप सुख का निरूपण करते हैं। भगवान ने कहा कि जीव सुख में अभ्यास से रमण करता है।

अभ्यास :

क) अभ्यास किसी कर्म के दोहराने से होता है।
ख) अभ्यास कर्म प्रणाली में सुदृढ़ता को उत्पन्न करता है।
ग) अभ्यास मनो प्रणाली को सुदृढ़ बनाता है।
घ) बार बार एक कर्म करने से वह कर्म करना मानो सहज हो जाता है, बार बार उस कार्य को करना ही अभ्यास कहलाता है।
ङ) नन्हूं! जीवन में सद्गुणों का भी अभ्यास करना होता है।
च) नन्हूं! दुर्गुणों का भी अभ्यास ही होता है।
छ) चिन्तन विधि का भी अभ्यास होता है।
ज) बोलने की विधि का भी अभ्यास होता है।

अभ्यास ही जीवन में परिपक्वता लाता है। फिर इन्सान जो कुछ भी करता है,

- रुचि पूर्ति के लिए ही करता है।
- वह मजबूरन करता है।

यह अभ्यास मानसिक या स्थूल, दोनों स्तरों पर होता है। इस अभ्यास के परिणाम में जो कार्य होते हैं, उनमें सुख या दुःख निहित हैं।

मेरी नन्हीं लाडली!

१. जीव विषयों में भी सुख पाने के कारण संग करता है।
२. जीव जीवन में अनेकों कार्य सुख पाने के लिए करता है।
३. जीव नित्य भगवान का स्मरण भी सुख पाने के लिए करता है।
४. जो संसार को छोड़ जाते हैं, वे भी सुख पाने के लिए छोड़ जाते हैं।
५. जो संसार में रत हो जाते हैं, वे भी सुख पाने के लिए हो जाते हैं।
६. जो संसार में पाप करते हैं, वे भी सुख

पाने के लिए करते हैं।
७. जो संसार में पढ़ाई करते हैं, वे भी सुख पाने के लिए करते हैं।
८. जो संसार में नौकरी करते हैं, वे भी सुख पाने के लिए करते हैं।
९. जो संसार में ज्ञान देते हैं, वे भी सुख पाने के लिए ही देते हैं।

जीव को जहां भी यह सुख मिलता है, जीव वही करता है। किन्तु यह सुख मिलता किस किस को है? जीव अपनी बुद्धि के अनुसार सुख पाने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा के दोहराव को अभ्यास कहते हैं।

सुख :

सर्वप्रथम समझ ले कि सुख किसे कहते हैं :

क) मनो संतोष को सुख कहते हैं।
ख) मनो अनुकूलता में सुख निहित है।
ग) जब किसी भी अभाव के प्रति अभाव के भाव का अभाव हो, तो सुख होता है।
घ) जब मन अनुकूल हो तो सुख मिलता है।
ङ) जब मन और बुद्धि में अभेदता हो तो सुख मिलता है।
च) जब मन किसी में खो जाता है तो सुख मिलता है।
छ) जब मन अपने आपको भूल जाता है तो सुख मिलता है।
ज) जब मन मन पर आश्रित नहीं होता तो सुखी होता है।

भाई! सुख तो मनो अनुकूलता में होता है, बाह्य विषय या परिस्थितियों का उससे कोई नाता नहीं होता। जब तक जीव अपने सुख के लिए बाह्य परिस्थितियों या दूसरे जीवों पर आश्रित है, तब तक उसके सुख में निरन्तरता नहीं आती।

अब यहां उस सुख की बात कर रहे हैं :

- जो नित्य आनन्द में परिणित हो जाता है।
- जो नित्य आनन्द की ओर ले जाता है।
- जिसमें रहकर साधक साधना करता है।

एक बात स्पष्ट समझ लो, सुखी ही साधना कर सकता है, दु:खी को परम की प्राप्ति नहीं हो सकती।

साधना राही जीव क्या चाहता है, गर वह इसे स्पष्टता से देख ले तो वह :

१. अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहर्ष सब कुछ करने को तैयार हो जायेगा।
२. अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहर्ष सब कुछ छोड़ सकता है।
३. अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहर्ष सबसे नाता जोड़ सकता है।
४. सबके चरण में झुक सकता है।
५. अपने लक्ष्य में खोया हुआ विपरीतता नहीं देखता, इस कारण वह नित्य सुखी रहता है।
६. साधक अपनी न्यूनता पर कभी दु:खी नहीं होता है।
७. साधक दूसरों की न्यूनता देखकर कभी सुखी नहीं होता।

साधक जानता है कि :
क) वह कुछ नहीं जानता।
ख) वह दोषहीन नहीं है।
ग) अभी उसमें बहुत कमज़ोरियां हैं।
घ) वह त्रुटिहीन नहीं है।
ङ) वह क्षमास्वरूप नहीं है।
च) वह करुणापूर्ण नहीं है।
छ) वह धैर्यवान् तथा धीर पुरुष नहीं है।
ज) वह विशाल हृदय नहीं है।
झ) वह स्वच्छ तथा निर्मल नहीं है।
ञ) वह अभी देहात्म बुद्धि वाला है, इस कारण वह अपना स्वार्थ छोड़ नहीं सका है।
ट) अभी उसमें व्यक्तिगत अहं बाकी है।
ठ) अभी उसमें अनेकों आसुरी गुण हैं।
ड) अभी वह मनो उद्वेग से निर्मल नहीं हुआ है।
ढ) अभी उसमें अज्ञानता का नितान्त अभाव नहीं हुआ, अभी उसे बहुत कुछ सीखना है, इत्यादि।

इस कारण वह किसी की प्रतिकूल वाणी पर दुःखी नहीं होता।

वह अपनी ही न्यूनता की बात सुनकर :

१. आंसू नहीं बहाता।
२. अपमानित नहीं हो जाता।
३. चलायमान नहीं हो जाता।
४. मानसिक विपर्यय को प्राप्त नहीं होता। यानि,

- वह मानसिक अनास्तिक नहीं बन जाता।
- उसकी बुद्धि विभ्रान्त नहीं होती।
- वह मानसिक उलझन में नहीं पड़ता।
- उसकी बुद्धि गुमराह नहीं होती।

जो साधक साधना आरम्भ करता है, वह तो यह पहले से जानता है कि :
क) वह गलत है और भगवान ठीक हैं।
ख) वह भगवान जैसा नहीं है।
ग) वह सत् में स्थित नहीं है।
घ) उसमें दैवी गुण नहीं हैं।
ङ) वह गुणातीत नहीं है।
च) वह स्थित प्रज्ञ नहीं है।

गर वह यह मान लेता है तो कोई कुछ भी कहले,

- वह अपने आपको अपमानित हुआ नहीं मानेगा और भड़केगा नहीं।
- वह अपने आपको गिराया गया नहीं मानेगा और तड़पेगा नहीं।

वास्तव में वह इसको अपना सौभाग्य मानेगा कि :

१. किसी ने सत् बताया तो सही!
२. किसी ने मेरा चेहरा मुझे दिखाया तो सही!
३. किसी ने मेरा मिथ्यात्व मुझे सुझाया तो सही!
४. किसी ने मेरी न्यूनता की पोल खोली तो सही!
५. किसी ने मेरे चित्त की अशुद्धि दिखाई तो सही!

उसे दुःख क्या होगा, वह तो सुखी हो जायेगा। वह तो कृत् कृत् हो जायेगा। वह

तो हमेशा के लिए दूसरे का आभारी हो जायेगा और नित्य प्रेम विभोर हो जायेगा।

इसलिए साधक की आंखों में दु:ख या विक्षेप के आंसू नहीं आते, उसकी आंखों में तो प्रेम के आंसू होते हैं, कृतज्ञता के आंसू होते हैं। हर विपरीत परिस्थिति साधक के लिए अनुकूल परिस्थिति बन जाती है।

परम चाहुक नन्हीं आत्मा! नित्य सुखी ही ऐसी साधना कर सकता है। विपरीतता से डरने वाला भागवत् तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता। विपरीतता से भागने वाला साधना सिद्धि कभी नहीं पा सकता।

वास्तव में उच्च कोटि का साधक अनुकूलता से दूर होना चाहता है, क्योंकि विपरीतता में ही अपने वास्तविक दर्शन हो सकते हैं। विपरीतता में ही सात्त्विक गुण पलते हैं। नन्हूं! विपरीतता ही साधक का विज्ञान स्वरूप गुरु है और अभ्यास कराने वाला आचार्य है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

पहले भगवान सात्त्विक तत्त्व का निरूपण करते हुए कहने लगे कि :

शब्दार्थ :

१. वह, जो पहले विष के समान
२. और परिणाम में अमृत तुल्य होता है,
३. और जो आत्म बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख है,
४. वह सात्त्विक कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान! अब भगवान कहते हैं,

'जो सुख आरम्भ में विष के समान हो, किन्तु उसका परिणाम अमृतपूर्ण हो, वह सात्त्विक सुख है।'

सात्त्विक सुख क्या है?

क) जो सुख विपरीतता को सहने के परिणाम में उत्पन्न होता है,
ख) जो सुख तप करने के परिणाम में उत्पन्न होता है,
ग) जो सुख संयम के परिणाम में उत्पन्न होता है,
घ) जो सुख शम, दम या दान के परिणाम में उत्पन्न होता है,
ङ) जो सुख दु:ख या कष्ट सहने के परिणाम में उत्पन्न होता है,
च) जो सुख औरों को सुख देने के परिणाम में उत्पन्न होता है,

वह सात्त्विक सुख है।

१. मूर्ख या अज्ञानी गण, जो विपरीतता से डरते हैं, उन्हें सात्त्विक सुख नहीं मिलता।
२. डरपोक गण इस सुख को नहीं पा सकते।
३. लोभी और कामना पूर्ण लोग सात्त्विक

सुख को नहीं पा सकते।

४. रुचिकर के पीछे भागने वाले इस सुख को नहीं पा सकते।

५. सत्त्व से भागने वाले इससे डरते हैं।

६. जो वास्तविकता में रहना नहीं चाहते, वे इस पथ को विष समान मानते हैं।

बात भी सच्ची है!

क) वे अपने में निहित अशुद्धि रूपी विष को पीना नहीं चाहते।

ख) वे अपने ही सत्पूर्ण दर्शन से घबराते हैं।

ग) वे अपने आपको ही जानना नहीं चाहते।

घ) वे अपनी न्यूनता से घबराते हैं।

ङ) वे समझते हैं कि लोग मुझे अच्छा समझते हैं, कहीं मेरी पोल न खुल जाये।

च) वे समझते हैं कि हमने अपने को बहुत दक्षता से छिपा रखा है, कहीं लोग सत् न जान लें।

छ) कहीं हमारा रोब न चला जाये।

ज) कहीं हमारा मान न चला जाये।

झ) कहीं हमारी हानि न हो जाये।

इन सबकी क्षति को वे विष समझते हैं।

वास्तव में वे केवल असत् में जीते हैं। जो इस असत् रूप विष को पी लेता है, वह शिव रूप बन जाता है। उसके सीस से जो वाक् बहता है वह परम पावनी गंगा के समान होता है।

देख मेरे नन्हें से प्यार!

१. वह शिव के समान गले में सर्पों को लिपटाये हुए भी मानो नित्य मुदित रहता है।

२. वह जान लेता है कि सर्प काटते हैं पर फिर भी उन्हें नहीं ठुकराता।

३. सर्पों का विष मानो वह पी जाता है।

४. सर्पों के प्रति उसका मौन ही उसका विषपान है।

५. सर्पों के प्रति उसकी उदासीनता ही उसका विषपान है।

आरम्भ में विपरीतता विष समान लगती है किन्तु उसी विपरीतता में ही साधक के सद्गुण पलते हैं।

अमृत रूप :

क) नित्य आनन्द, जीवन में यज्ञशेष भक्षण करने वाले को मिलता है।

ख) नित्य तृप्तता, जीवन में विष पीने के पश्चात् ही मिलती है।

ग) उदासीनता जीवन में कर्त्तव्य करते रहने से ही मिलती है।

घ) निर्द्वन्द्व तथा निर्विकार भी जीव तभी होता है जब किसी बाह्य परिस्थिति से प्रभावित न हो। इसका अभ्यास दुःखमय ही होता है।

ङ) स्थिर बुद्धि तथा गुणातीतता भी इसी अभ्यास के पश्चात् आती है तथा इस अभ्यास की परिपक्व स्थिति है।

च) भागवत् गुण भी इसी सुख का अभ्यास करते हुए आते हैं।

छ) भागवत् ज्ञान, जो अनुभवी का ज्ञान बनता है, वह भी इसी अभ्यास राही होता है।

निष्काम प्रेम, निष्काम सेवा, निष्काम कर्त्तव्य, निष्काम उपासना और निष्काम ज्ञान, आरम्भ में ये सब विषपूर्ण ही तो लगते हैं, क्योंकि इनका फल अनेकों बार दुःखदे होता है। इनके करने में अनेकों कष्ट होते हैं :

१. यदि झुक जाओ तो लोग दबाते हैं।
२. यदि सेवा करो तो लोग और बोझा लाद देते हैं।
३. यदि प्रेम करो तो लोग केवल अपना रिझाव चाहते हैं।
४. यदि कर्त्तव्य परायण हो जाओ तो लोग आपकी तरफ़ देखते ही नहीं, आपको नौकर समझ लेते हैं।
५. यदि सच बोल दो तो लोग बिछुड़ जाते हैं।
६. किसी के लिए कुछ करो तो वे शंका करते हैं आप पर।
७. यदि ऐसा काम करो, जो वे न कर सकें तो आप पर तोहमत लगाते हैं।

पर मेरी नन्हीं सी वफ़ाये जान! सच्चा साधक इन सब विपरीत भावनाओं का विष पी जाता है। तब ही तो वह :

- सर्वोत्तम बनता है।
- तन से उठता है।
- आत्मवान् बनता है।
- ब्रह्ममय होता है।

यह सब साधक आत्म बुद्धि के बल पर ही तो कर सकता है।

देहात्म बुद्धि वाला तो :

१. अपने तन को ही प्रधान जानता है।
२. अपने तन की ही स्थापति चाहता है।
३. लोभ और कामना की पूर्ति में लगा रहता है।
४. संग, मोह, मम को छोड़ ही नहीं सकता।

जो सुख नित्य आनन्द की ओर ले जाता है, वह आत्म बुद्धि की देन है। यानि,

क) जो अपने आपको आत्मा समझता है,
ख) जो अपने आप को चेतना समझता है,
ग) जो अपने संसार पर दृष्टि न धरकर भगवान पर दृष्टि धरता है,
घ) जो जग की देन को न देखकर परम प्रेम में खोया रहता है,

- उस परम प्रेम का प्रसाद परम आनन्द है।
- उस परम से संग का प्रसाद परम आनन्द है।
- उस परम से संग का प्रसाद तनो निसंगता है।

नन्हीं जान! देहात्म बुद्धि उसकी होती है जो अपने तन में आसक्त हुए अपने आपको तन ही मानता है।

आत्म बुद्धि उसकी है, जो अपने आपको आत्मा मानता है और स्वरूप में जीने का प्रयत्न करता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

अब भगवान राजस सुख के विषय में अर्जुन को बताते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होता है।

२. वह पहले अमृत तुल्य और परिणाम में विष के समान होता है।

३. वह राजस सुख है।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान राजस सुख की बात करते हैं कि वह आरम्भ में तो अमृत के समान होता है किन्तु परिणाम में विष पूर्ण होता है।

नन्हीं! प्रथम रजोगुण को पुनः समझ ले।

क) रजोगुण कर्मफल आसक्ति से बान्धता है।

ख) रजोगुण से राग और कामना उत्पन्न होती है।

ग) यह जीव को विषय उपार्जन के लिए नित्य कर्म प्रवृत्त करता है।

घ) धर्म अधर्म, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को न जानने वाला यह गुण हिंसक होता है।

आभा! तू स्वयं सोच! गर जीव ऐसे गुण से प्रेरित होगा तो वह कैसे काज करेगा ?

क) वह तो विषयों का चाकर होगा।

ख) उसके और वांछित विषय के मिलन की राह में जो भी आयेगा, उसे वह केवल राह का पत्थर जानकर तोड़ देगा।

ग) चाहे किसी का घर टूटे, रजोगुणी को परवाह नहीं होती, उसे तो अपनी कामना पूर्ति चाहिए।

घ) चाहे किसी का कुल नष्ट हो जाये, रजोगुणी को क्या, वह तो केवल अपना लोभ पूर्ण करना चाहता है।

ङ) चाहे कोई कष्ट में फंस जाये, उसे क्या, उसे तो वांछित फल पाना है, उसे तो अपनी कामना पूर्ति करनी है, उसे तो दूसरे से केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करना है।

च) जब तक किसी के राही स्वार्थ पूरा होने की सम्भावना हो, तब तक उससे मैत्री रखता है, तब तक उसके काम भी क़रता है, तब तक उससे प्रेम भी करता है; किन्तु जिस पल स्वार्थ सिद्ध होने की बात न रहे, पल में उसे त्याग देता है। फिर मित्र भी बेगाने हो जाते हैं, बन्धु भी बेगाने हो जाते हैं, फिर मातु पितु को भी दूर कर देता है।

नन्हीं! रजोगुण यही करता है। अब तुम ही सोचो, ऐसे गुण का परिणाम क्या हो सकता है ? ऐसे लोगों का मन :

१. नित्य भयभीत रहता है।
२. जो मिला, वह बिछुड़ न जाये, इसकी चिन्ता लगी रहती है।
३. और अधिक कैसे मिले, यह चिन्ता खाती है।
४. कर्त्तव्यहीनता के कारण
   - विकार उत्पन्न हो जाते हैं।
   - द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं।
   - ग्रन्थियां बन जाती हैं।
   - मानसिक अशान्ति पैदा हो जाती है।
   - अपने लोभ को छुपाने के लिए हर पल चेत, अर्ध चेत तथा अचेत में प्रयत्न करते रहते हैं।
   - क्रोध उत्पन्न हो जाता है।
   - मोह ग्रसित हो जाते हैं।
   - अपराध की भावना चित्त को सताती है।
५. जब इन पर दु:खों के पहाड़ टूटते हैं, ऐसे लोगों का साथ दूसरे भी नहीं देते।

इनके अपने बच्चे इनका मान नहीं करते और इनके अपने ही कुल वाले इनका त्याग कर देते हैं। असल बात तो यह है कि ये लोग वास्तव में अपनी इज़्ज़त स्वयं ही नहीं करते, अपनी आंखों से ख़ुद ही गिर जाते हैं।

वे जानें या न जानें, वे मानें या न मानें, किन्तु अपनी इज़्ज़त इन्सान श्रेष्ठ गुणों से ही कर सकता है। यह दु:ख वे स्वयं ही नहीं सह सकते, इस कारण दु:खी हो जाते हैं, किन्तु अपनी दुष्टता का दोष किसी और पर लगाते हैं। अपनी दु:खी अवस्था का दोष भी किसी दूसरे पर मढ़ देते हैं। पर दु:खी तो वे ही हो जाते हैं।

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

अब भगवान तामस सुख की बात कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. और जो सुख,
२. आरम्भ तथा परिणाम में भी जीवात्मा को मोहित करने वाला है,
३. तथा जो निद्रा, आलस और प्रमाद से उत्पन्न होता है,
४. वह तामस कहा गया है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं जान! अब तामस गुण से उत्पन्न हुआ सुख क्या करता है, यह समझ ले। ये तामस गुण वाले :

क) नित्य अज्ञान के अन्धेरे में रहते हैं।
ख) मिथ्या सिद्धान्तों का आसरा लेते हैं।
ग) अप्रवृत्ति का आसरा भी लेते हैं।
घ) इन्द्रियों को यथार्थ इस्तेमाल नहीं करते।
ङ) अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य कहते हैं।
च) सत् को मिथ्या कहते हैं, मिथ्या को

सत् कहते हैं।

छ) दूसरे को मिथ्या कहते हैं, अपने को ब्रह्म कहते हैं।

ज) दूसरे को इन्सान भी नहीं मानते, अपने को भगवान समान मानते हैं।

झ) दूसरे के मन को देखते ही नहीं, अपने को बुद्धिमान् कहते हैं।

ञ) अपने झूठ को भी सत् कहते हैं, दूसरे के सत् को भी झूठ कहते हैं।

ये लोग मोह पूर्ण अन्धकार में पड़े रहते हैं। ये बुद्धि के अन्धे होते हैं। ये आंख और कान के भी अन्धे होते हैं। यही तमोगुणी का प्रमाद होता है।

१. ऐसे लोग नीच कर्मों में सुख पाते हैं।
२. ऐसे लोग कर्त्तव्य विमुखता में सुख पाते हैं।
३. ऐसे लोग अपनी ही शक्तियों को निर्बल बना देते हैं।
४. ऐसे लोग नाज़ुक मिजाज़ होते हैं।
५. ऐसे लोग छोटी छोटी बात पर बिछुड़ जाते हैं।
६. छोटी छोटी बात पर मुसकराना भूल जाते हैं।
७. ऐसे लोग नित्य विक्षिप्त रहते हैं।
८. ऐसे लोग औरों के प्रति अनेकों झूठे सच्चे गिले शिकवे रखते हैं।
९. ऐसे लोग नित्य मानसिक क्षोभ में प्रवृत्त रहते हैं।
१०. ऐसे लोग दूसरों की निन्दा करते हैं, अपने प्रतिकूल कुछ नहीं सहते।
११. दूसरों का मज़ाक करते हैं, अपने प्रति मज़ाक नहीं सहते।
१२. इन लोगों के परिहास में भी व्यंग भरा होता है।
१३. इन लोगों के परिहास में भी विष भरा होता है।
१४. वास्तव में ये लोग भीरु होते हैं।
१५. ये लोग अपने आपको महा बलवान् मानते हैं।
१६. बुद्धि इन लोगों की गौण होती है, पर अपने आपको यह बुद्धिमान् मानते हैं।
१७. ज़िद्दी भी यही गुण बनाता है।
१८. झुकना तो ये जानते ही नहीं, चाहे ये स्वयं ही तबाह हो जायें।
१९. क्रोध स्वरूप ये होते हैं।
२०. अपने ही घर को ये स्वयं आग लगा देते हैं।
२१. अपने ही प्रमाद के कारण मिथ्या मान्यताओं में पड़े हुए वास्तविकता से अनभिज्ञ रह जाते हैं।

नन्हीं! ये लोग दूसरे को दुःख देने में सुख मानते हैं। ये कहते हैं,

क) 'मैंने उसे इतना सुनाया कि मज़ा आ गया।

ख) मैंने उसे मार मार कर सीधा कर दिया।

ग) मैंने यह कहा, मैंने वह कहा। उसने दुःख दिया तो मैंने भी उसे दुःख दिया।'

जब तमोगुण का नशा चढ़ा होता है, तब तक ही ये लोग सुखी होते हैं। यह तमोगुण का सुख है।

ऐसे लोग दुःख देते हैं और दुःखी रहते हैं। वे लोग दुःखी होते हैं, फिर भी दुःख देते हैं। इन्हें चैन भी दुःख देकर मिलता है, यानि ये दुःख के व्यापारी हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. पृथ्वी या आकाश में,
२. अथवा देवताओं में,
३. ऐसा तत्त्व कोई नहीं है,
४. जो प्रकृति से उत्पन्न इन हुए तीन गुणों से रहित हो।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान कहते हैं कि सृष्टि में कुछ भी नहीं जो त्रैगुण पूर्ण न हो। पृथ्वी लोक में :

क) साधारण लोग,
ख) संसार के पूर्ण लोग,
ग) संसार के पूर्ण जन्तु,
घ) संसार में जड़ चेतन, जो कुछ भी है,

सब ही त्रैगुण पूर्ण हैं। द्यु लोक में, यानि,

- आकाश में भी,
- सूर्य, चांद, तारागण भी,
- वायु भी,

ये सब भी त्रैगुण पूर्ण हैं।

फिर ध्यान से देख! इससे यह न समझ लेना कि देवतागण में ये गुण नहीं हैं। उनमें भी ये तीनों गुण विराजित हैं। यानि, तमोगुण अंश, रजोगुण अंश तथा सतोगुण अंश सबमें निहित है। यानि,

१. जिसकी भी रचना हुई है, उसमें ये तीनों गुण हैं।
२. मन, बुद्धि, ज्ञान में भी ये तीनों गुण हैं।
३. पंच तत्त्वों में भी ये तीनों गुण हैं।
४. सत्त्वगुणी में भी ये तीनों गुण हैं।
५. रजोगुणी में भी ये तीनों गुण हैं।
६. तमोगुणी में भी ये तीनों गुण हैं।

मेरी जान! केवल सत्त्वगुणी की बात नहीं; तन जड़ है, जड़ तन के गुण अपने ही हैं। जड़ तन के गुण अन्धे ही हैं। जड़ तन के गुण स्वतः सिद्ध हैं। फिर मन के भी गुण होते हैं। फिर बुद्धि के भी गुण होते हैं।

- तन के गुण तमोपूर्ण कह लो।
- क्रिया तथा कर्म प्रणाली रजोगुण कह लो।
- ज्ञान और प्रकाश सतोगुण कह लो।

ये तीनों ही देवताओं में भी होते हैं। गुण सब ही सबमें हैं; यह समझना आसान है, पर एक बात और समझ लो, दैवी सम्पदा सम्पन्न लोग देवता कहलाते हैं, आसुरी सम्पदा सम्पन्न लोग असुर कहलाते हैं।

प्रकृति रचित वही गुण स्वभाव दैवी हो सकता है और प्रकृति रचित वही गुण

स्वभाव आसुरी हो सकता है। एक ही गुण दोनों इस्तेमाल कर सकते हैं, भेद केवल दृष्टिकोण का है। जो हर गुण को संग रहित होकर दूसरों के लिए इस्तेमाल करे, वह देवता है। जो हर गुण 'मैं' की स्थापति के लिए इस्तेमाल करे, वह असुर है। गुणातीत और स्थित प्रज्ञ वह है जो गुण से प्रभावित नहीं होता।

स्वाभाविक गुण जो भी हैं, वे कोई अर्थ नहीं रखते। आप गुणातीत ही हैं, यदि आप :

१. उनसे संग नहीं करते।
२. द्रष्टामात्र बनकर उन्हें देखते हैं।
३. उनके प्रति उदासीन हैं।
४. अपने आपको गुणों का मालिक नहीं समझते।
५. अपने गुणों के अभिमानी नहीं हैं।
६. न्यून गुणों के कारण दुःखी नहीं होते।
७. श्रेष्ठ गुणों के कारण इतराते नहीं हैं।
८. अपने आपको आत्मा जानकर गुण खिलवाड़ देखते हैं।
९. 'गुण गुणों में वर्त रहे हैं', यह जानते हुए दूर से द्रष्टा बनकर देखते हैं तो आप गुण बधित नहीं होते।

अब आगे समझ! ज्यों यह तन और अहंकार मिलकर ही जीव भाव बनता है, त्यों ही तन और भाव ही ब्रह्म की विभूति हैं। मन और भाव ही जीव बनता है। मन और भाव ही ब्रह्म विभूति है।

अहं भाव ही संग है और संग ही अहंकार में प्राण डालता है। गर आपको तन से संग न रहे, तो आपका कोई गुण नहीं रहता। जब तन ही आपका नहीं रहता तो तन के गुण आपके कैसे हो सकते हैं? फिर इस तन की स्थापति अर्थ जीवात्मा कुछ नहीं करता; क्योंकि,

१. उसे अपने तन को अपना मानने का अभ्यास ही नहीं रहता।
२. उसे अपने तन की विस्मृति हो जाती है।
३. उसका मन तब विकार रहित हो जाता है,
४. जब मन में संकल्प विकल्प ही न उठें, तो मन की याद कैसे रहे ?
५. अपने तन को वह सामने देख नहीं सकता। यानि तब :
   क) चाहना उठती ही नहीं है।
   ख) संकल्प विकल्प कैसे उठें ?
   ग) कामना तब रहती ही नहीं।
   घ) मन मौन हो जाता है।
   ङ) बुद्धि स्वयं कुछ नहीं कहती।
   च) संग अभाव के कारण देहात्म बुद्धि का अभाव हो जाता है।
   छ) संग के अभाव के कारण तनत्व भाव का अभाव हो जाता है।
   ज) संग अभाव के कारण कर्तृत्व भाव का अभाव हो जाता है।
   झ) संग अभाव के कारण भोक्तृत्व भाव का अभाव हो जाता है।
   ञ) संग अभाव के कारण तन से ही नाता नहीं रहता।
६. इस कारण उसे अधिकांश अपनी विस्मृति ही रहती है।
७. जो थोड़ी सी स्मृति रह जाती है, वह भी परम कृपा से ख़त्म हो जाती है।

तब गुण उसके अपने लिए कोई अर्थ नहीं रखते। गुणों को वह अपने लिए इस्तेमाल नहीं करता। तब जो भी सामने आता है और उससे जो नाता बनाता है, वह वही बन जाता है।

इससे यह समझ ले मेरी जान कि गुण कोई अर्थ नहीं रखते, गुण तो केवल स्वभाव रचते हैं।

- देवत्व और असुरत्व तो दृष्टिकोण से होता है।
- देवत्व और असुरत्व संग पर आधारित है।
- देवत्व और असुरत्व अहंभाव पर आधारित है।

इससे अब समझ ले, गुणों में निहित अहंकार भी त्रैगुणी होता है और प्रत्येक गुण में भी अहंकार त्रैगुणी हो सकता है। तो प्रश्न यह उठता है कि अहंकार का प्रयोजन क्या है ?

अहंकार जब धर्म का रूप धरता है, तब निहित प्रवर्तक वृत्ति का क्या गुण है ? अहंकार जब गुण से संग करता है तब निहित चाहना क्या है ? 'मैं मारूंगा', 'मैं दान दूंगा', 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूं', ये सब आसुरी भावनायें हैं; पर वे दान तो देते हैं, वे श्रेष्ठ तो होते हैं, वे यज्ञ तो करते हैं, यह सात्त्विक अहंकार कह लो, परन्तु असुरत्व अहंपूर्ण है।

यदि,

- 'मैं साधु हूं' यह भी कहो,
- 'मैं भगवान हूं' यह भी कहो,

तो अभी 'मैं' है, अभी देहात्म बुद्धि है। अभी देहाभिमानी हो।

१. देहाभिमान तमोगुण है।
२. देहाभिमान अज्ञानता और मोह है। यह तमोगुण का अंश है।

सो सत्त्व में ही तमोगुण निहित है। सत्त्व में ही प्रकाश और सुख से संग होता है। तन ही अपना न हो तो तन के गुणों से संग नहीं होता।

इससे यह समझ लो, हर गुण में दूसरा गुण निहित है। यही यहां भगवान समझा रहे हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे परन्तप! हे महा तपस्वी अर्जुन!
२. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के भी कर्म,
३. स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के कारण विभक्त किये गये हैं।

तत्त्व विस्तार :

*ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पहले सविस्तार कह आये हैं। भगवान कह रहे हैं :

१. गुण के स्थूल रूप के अनुसार वर्ण बनते हैं।
२. गुण की कार्य प्रवृत्ति के अनुसार वर्ण बनते हैं।
३. जीवन में सहज स्वभाव के अनुसार कर्म बनते हैं।
४. स्थूल कर्मों के अनुसार वर्ण बनते हैं।
५. जीवन में गुण प्रधानता के अनुसार वर्णों का निश्चय होता है।
६. जैसे संस्कार हों, वैसा स्वभाव बनता है। फिर तद् अनुकूल वर्ण बनते हैं।

जीवन के विभिन्न वर्ण आश्रम बनाये गये हैं। नन्हीं!

- विभिन्न जातियां जन्म सिद्ध नहीं होतीं।
- विभिन्न जातियां कुल से सिद्ध नहीं होतीं।
- विभिन्न जातियां गुणों से सिद्ध नहीं होतीं।

वर्ण जन्म से सिद्ध नहीं होता, जीवन में आपकी सहज अभिरुचि से सिद्ध होता है; जीवन में आपके सहज स्वभाव से सिद्ध होता है।

भगवान कहते हैं कि वर्ण, गुण, कर्म स्वभाव पर आधारित है। सो जैसा जिसका गुण, कर्म, स्वभाव है, वही उसका वर्ण है।

अब आगे भगवान चार वर्णों के स्वाभाविक गुणों का वर्णन करते हैं। नन्हूं! यह वर्ण पर आधारित नहीं कि आप जीवन में अध्यात्म के दृष्टिकोण से क्या स्थिति पायेंगे ?

चाहे किसी भी वर्ण में जन्म हो, यदि आप नित्य निसंग हो :

क) तो आप साधु हो।
ख) तो आप नित्य संन्यासी हो।
ग) तो आप आत्मवान् हो।

आप जीवन में किस जगह काम करते हो, इसका फ़र्क नहीं पड़ता। आप जीवन में बड़ा काम करते हो या छोटा काम करते हो, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। जीव मूर्खता तथा अज्ञान के कारण अपना सहज धर्म छोड़कर नव धर्म ग्रहण करते हैं, यह सोचते हुए कि अमुक कार्य करते हुए उन्हें स्वरूप मिल जायेगा। ले! तुझे इसका राज़ पुनः समझा दूं।

नन्हीं सी आत्म अभिलाषिणी आभा! यदि तुम सच ही आत्मवान् बनना चाहती हो, तो पहले यह समझ लो कि तुम्हारा अपने तन के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए तथा आत्मवान् बनने के लिए क्या अनिवार्य गुण आपको समझने चाहिएं।

आत्मवान् का दृष्टिकोण अपने तन के प्रति :

- या तुम तन हो या तुम तन नहीं हो।
- या तन तुम्हारा है या तन तुम्हारा नहीं है।

---

* वर्णों के विस्तार के लिए ४/१३ देखिये।

आत्मवान् पद का याचक मानता है कि वह तन नहीं है। यदि यह सच है तो :

१. आपका तन एक फ़िज़ूल सी चीज़ है।
२. आपका तन आपके किसी काम का नहीं है।
३. आपका तन आपके लिए कोई भी अर्थ नहीं रखता।
४. आपका तन जैसा भी हो, आपको उससे क्या ?
५. आपके तन को कोई कैसे भी इस्तेमाल करे, आपको क्या ?
६. आपका तन बड़ी नौकरी करे या छोटी नौकरी करे, आपको क्या ?
७. आपके तन का कोई मज़ाक करे, आपको क्या फ़र्क पड़ता है ?
८. आपके तन का कोई अपमान करे, आपको क्या फ़र्क पड़ता है ?
९. आपका तन जीवन में कहां रहता है, आपको क्या फ़र्क पड़ता है ?
१०. आपका तन जीवन में किस सामाजिक स्थिति को पाता है, आपको क्या फ़र्क पड़ता है ?
११. आपके तन की यदि कोई पूजा करे, तो भी आपको क्या फ़र्क पड़ता है ?

नन्हूं! आप तो आत्मा हो, तन नहीं हो, तो आप किस वर्ण के हो, इससे आपको क्या फ़र्क पड़ता है ? आप तो आत्मा हो, तन नहीं हो, यदि आपसे सारी उम्र कोई झाड़ू लगवाता रहे तो क्या फ़र्क पड़ता है ?

आत्मवान् का दृष्टिकोण अपने तन के प्रति :

१. विनोदपूर्ण होगा।
२. हंसीपूर्ण होगा।
३. विचारशील नहीं होगा।
४. एक मज़ाकिये का स्वभाव होगा।

- तब आप अपनी ही आलोचना खूब मुसकराकर, खूब हंसते हुए करोगे।
- तब आप अपने आपको बचाने का प्रयत्न नहीं करोगे।
- तब आप मुसकराते हुए अपने ही अवगुणों को बयान कर सकोगे।

नन्हीं! तब अपने प्रति आपका दृष्टिकोण गम्भीर नहीं होगा बल्कि हास्य विनोदपूर्ण होगा। तब किसी ने क्या कह दिया, आपको क्या ? आपके तन को ही तो कहा है।

नन्हीं जाने जान! जब आप तन नहीं हो, तो फिर आपको क्या कि कोई आपसे कौन सा काम निकलवा ले ? जो कोई आपके तन से, जो कुछ भी करवाना चाहता है, करवा ले। नन्हूं! जो आपको जिस काम के योग्य समझेगा, वही आपसे करवा लेगा; आपको कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा। तब आप अपने तन के प्रति मौन होने लगेंगे।

आत्मवान् का दृष्टिकोण अपने मन के प्रति :

यदि तुम सच ही तन नहीं हो, तब तुम्हारा मन :

क) तन से संग नहीं कर सकता।
ख) तन की चिन्ता नहीं कर सकता।
ग) तन के कारण घबरायेगा नहीं।
घ) तन के अपमान पर रोयेगा नहीं।
ङ) तन के मान पर इतरायेगा नहीं।
च) तन पर मुसीबत आने पर भागने का प्रयत्न नहीं करेगा।

- यदि तुम तन नहीं हो, तो तन की जीत या हार से तुम्हें क्या फ़र्क पड़ेगा ?
- यदि तुम तन नहीं हो, तो तन की हानि हुई या लाभ हो गया, इससे तुम्हें क्या फ़र्क पड़ता है ?
- यदि तुम तन नहीं हो, तो तन बदनाम हो गया या उसको मान मिल गया, तुम्हारे लिए कौन सी कोई महत्त्वपूर्ण बात हो गई ?
- यदि तुम तन नहीं हो, तो तन को किसी ने ठुकरा दिया या अंग लगा लिया तो फिर क्या हुआ ? इससे तुम्हें क्या फ़र्क पड़ता है ?
- यदि तुम तन नहीं हो, तो तन ने क्या पा लिया और क्या गंवा दिया, इससे तुम्हें क्या फ़र्क पड़ता है ?

नन्हीं! यदि यह ऊपर कही गई बात सच है तो :

क) आपका मन बेचारा अब किसकी चिन्ता करे ?

ख) आपका मन बेचारा अब किसका चिन्तन करे ?

ग) आपका मन बेचारा मानो बेकार हो गया ?

आपका मन आपके तन को अपना आप मानता हुआ आपके लिए :

१. हर पल संकल्प विकल्प करता रहता था।
२. हर पल सुखी दुःखी होता रहता था।
३. क्रोध भी करता था, लोभ भी करता था।
४. आपके तन के कारण अनेकों संरक्षण चाहता था।
५. आपके तन को सुरक्षित तथा मान्वित बनाने के लिए अनेकों झूठ सच बोलता और झूठ सच को छिपाता रहता था।
६. आपके तन के कारण बेचारा इतना फ़िक्रमन्द रहता था।
७. आपके तन के कारण बेचारा कितने योजन बनाता था।
८. आपके तन के कारण उसे लोगों के प्रति भी झूठ सच बोलना पड़ता था।

तुम ही बताओ नन्हूं! यदि तुम तन से ही नाता तोड़ दो तो मन बेचारा कहां जाये? फिर मन सच ही बेकार हो जायेगा। फिर मन को क्या ज़रूरत होगी कि वह नाहक मुसीबतों में पड़े ?

नन्हूं! तब वह स्वतः ही मौन हो जायेगा।

यह मन केवल तन के लिए चाहिए था। आत्मवान् ने तन से नाता क्या तोड़ा, मन के मानो प्राण ही हर लिये।

नन्हीं जान! जब मन मौन ही हो गया तो मौन का दृष्टिकोण क्या होगा- केवल मौन!

आत्मवान् का दृष्टिकोण अपनी बुद्धि के प्रति :

नन्हूं! जब तन ही आपका नहीं रहा तो फिर :

१. आपको अपनी बुद्धि की अपने लिए ज़रूरत नहीं रहती।

२. फिर आप अपने तन को चहुं ओर से घेरे रहने वाली परिस्थितियों से प्रभावित कैसे होंगे ? प्रभावित तो मन करता था, वह बेचारा तो मौन हो गया।
३. बुद्धि सब कुछ देखकर चुप रहेगी ही।
४. बुद्धि मान अपमान में भी चुप रहेगी ही।
५. बुद्धि हानि लाभ में भी चुप रहेगी ही।
६. बुद्धि जय पराजय में भी चुप रहेगी ही।

क्यों न कहें नन्हीं! मन के मौन हो जाने के बाद बुद्धि निरावरण हो जाती है। आप तब देखते तो सब कुछ हो, किन्तु :

क) दृश्य को अर्थबद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते।
ख) दृश्य का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न नहीं करते।
ग) दृश्य को समझने के भी प्रयत्न नहीं करते।
घ) दृश्य के ऊपर अभिप्राय भी नहीं मढ़ते।
ङ) किसी के शब्द सुनकर, उन्हें भी अर्थ या अभिप्राय बद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते।

नन्हूं! वास्तव में यदि अपने तन के नाते वस्तु या विषय कोई अभिप्राय रखता, तो मन उसे अपने इस्तेमाल के लिए समझने के प्रयत्न भी करता; अब उसकी आवश्यकता ही नहीं रही। इस कारण इसे द्रष्टा मात्र कहते हैं।

स्थित प्रज्ञ की बुद्धि केवल द्रष्टा मात्र होती है। वे मूक में सब जानते हैं किन्तु वहां ज्ञान नहीं है। यानि, जागरूक हैं परन्तु ज्ञान नहीं, या कह लो सब कुछ देखा है किन्तु सोचा नहीं है।

नन्हीं! इस कारण उसे यह भी नहीं याद कि उसने क्या देखा है। उसे यह भी नहीं याद रहता कि किसी ने उससे क्या किया है ? किन्तु यदि कोई याद दिलाये तो वह सब कुछ जानता है; कोई प्रश्न पूछे तो वह सब कुछ बता सकता है।

फिर से समझ नन्हूं! वह अपने तन की जब परवाह ही नहीं करता, तब वह अपने प्रति नितान्त मौन तथा उदासीन हो जाता है। अब अपने प्रति उदासीनता का परिणाम मौन है; अपने प्रति उदासीनता का परिणाम मन का अभाव हो जाना है।

जिस बात का आपने चिन्तन ही नहीं किया, वह बात आपको भूल गई समझिये। किसी ने आपका अपमान किया, आपने उसके बारे में सोचा ही नहीं, तो बात ख़त्म हो गई। यदि चिन्तन करते तो चिन्ता होती, किन्तु जब आपने कहा कि मैं तन ही नहीं हूं तो न आपका अपमान हुआ, न चिन्तन हुआ और न ही चिन्ता बढ़ी।

यानि, आपने देखा तो ज़रूर था कि आपके तन को कुछ कहा गया, आपने सुना तो ज़रूर था कि आपके तन को कुछ कहा गया, आप जानते तो हैं कि आपके तन को कुछ किया गया; किन्तु 'क्या, क्यों, क्या मतलब' पर चिन्तन नहीं किया, ध्यान नहीं दिया, इस कारण वहां द्रष्टा मात्र ही है। वह दृश्य को अपनाता नहीं। दर्शन उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता।

तुमने कहना है तो यूं कह लो, दृश्य और दर्शन, दोनों द्रष्टा में ही समा गये और त्रिपुटी टूट गई। तब नन्हीं! केवल द्रष्टा रह जाता है और दर्शन भी निरर्थक हो जाता है। दर्शन में अर्थ आरोपित करने वाला मन मौन हो गया तो दर्शन निरर्थक ही हो गया।

दूसरी ओर से देखो तो मन, जो व्यर्थ अर्थ दे दे कर बुद्धि को आवृत्त करता था, वह जब निरावृत्त हो गया, तो बुद्धि केवल द्रष्टामात्र रह गई।

नन्हीं! 'द्रष्टामात्र' कहा है 'द्रष्टा' नहीं। 'मैं द्रष्टा हूं' ऐसा भाव कहीं नहीं रहता; 'मैं हूं' ऐसा भाव भी नहीं रहता; केवल द्रष्टामात्र है, तब संसार है भी; और है भी नहीं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

अब भगवान ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण बताते हैं :

शब्दार्थ :

१. शम, दम और तप,
२. शौच, क्षमा तथा सरलता,
३. ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक बुद्धि,
४. ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म जान लो।

शम :

१. जब अन्तःकरण मौन हो जाता है,
२. मन, बुद्धि, चित्त के विकार शान्त हो जाते हैं,
३. जब वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं,
४. जब अहंकार भी निरुद्ध हो जाता है,

उसे शम कहते हैं।

दम :

१. जब तीव्र चाहनायें बस में हो जाती हैं,
२. इन्द्रियां विषयों के पीछे नहीं जातीं,
३. काम उपभोग के प्रति विरक्ति हो जाती है,
४. अनुचित कार्य की ओर प्रवृत्ति नहीं होती,
५. मन इन्द्रियों सहित परम में जा टिकता है,

उसे दम कहते हैं।

तप :

१. परम संग के आसरे सब कुछ हंस कर सह लेना तप है।
२. तप में इन्द्रियां विषयों के पीछे नहीं जातीं।
३. मानसिक सहिष्णुता तप है।
४. मनो मौन तप का परिणाम है।
५. अपने प्रति उदासीनता का अभ्यास तप है।

६. हर विपरीतता में समभाव में रहने का अभ्यास तप है।

शौच :

शौच चित्त शुद्धि का दूसरा नाम है। शौच को समझने के लिए पहले चित्त अशुद्धि समझ ले।

चित्त अशुद्धि :

१. अवास्तविकता को वास्तविकता मान लेना चित्त अशुद्धि है।
२. असत् को सत् मान लेना चित्त अशुद्धि है।
३. अनात्म को आत्म मान लेना चित्त अशुद्धि है।
४. असत् बुद्धि सत् नहीं देख सकती, यह अशुद्धि आवरण के कारण होती है।
५. किसी अन्य व्यक्ति पर अधिकार चित्त अशुद्धि के कारण होता है।
६. तनो संग, तनो अभिमान, चित्त अशुद्धि है।
७. तनो गुण अभिमान चित्त अशुद्धि है।
८. लोगों के गुणों के कारण उनका परित्याग चित्त अशुद्धि है।
९. लोगों के गुणों के कारण उनकी निन्दा करना और उनको गिराना चित्त अशुद्धि है।
१०. अपमान के डर से गिरे हुए को न उठाना चित्त अशुद्धि है।
११. अपनी किसी हानि के भय से गिरे हुए को न उठाना चित्त अशुद्धि है।
१२. गिरे हुए को इसलिए न उठाना कि कहीं अपने पर दाग़ न लग जाये, चित्त अशुद्धि है।
१३. परिस्थिति अनुसार कर्त्तव्य परायण न होना चित्त अशुद्धि है।
१४. अपने कर्त्तव्य से विमुख होना चित्त अशुद्धि है।
१५. सकाम कर्म चित्त अशुद्धि के कारण होते हैं।
१६. लोभ, मोह, अज्ञान, चित्त अशुद्धि के कारण होते हैं।
१७. मान्यता के बन्धन चित्त अशुद्धि के कारण होते हैं।
१८. निर्मल बुद्धि, नित्य नवीन दर्शन कर सकती है, वरना वह अशुद्ध है।

भाई! वास्तव में देखा जाये तो :

क) देहात्म बुद्धि चित्त अशुद्धि के कारण होती है।
ख) मनोविकार चित्त अशुद्धि के कारण होते हैं।
ग) कर्त्तापन का भाव चित्त अशुद्धि के कारण होता है।
घ) अहंकार, दम्भ, दर्प चित्त अशुद्धि के कारण होते हैं।
ङ) सम्पूर्ण रजोगुण चित्त अशुद्धि के कारण होता है।
च) सम्पूर्ण तमोगुण चित्त अशुद्धि के कारण होता है।
छ) इन्सानियत से गिरावट चित्त अशुद्धि के कारण होती है।
ज) आनन्द से बिछुड़ना चित्त अशुद्धि के कारण होता है।
झ) अज्ञान चित्त अशुद्धि ही है।
ञ) पुराने गिले शिकवे न छोड़ना चित्त को अशुद्ध रखना है।

ट) क्षमा न करना चित्त अशुद्ध रखना है।
- सतोगुण चित्त की शुद्धता का गुण है।
- गुणातीतता चित्त की शुद्धता का गुण है।
- स्थितप्रज्ञता चित्त की शुद्धता का गुण है।
- दैवी सम्पदा चित्त की शुद्धता का गुण है।

*** क्षमा :**

१. भाई! वह क्षमा क्या करेगा, जिसने विपरीतता पर चित्त ही न धरा हो? वह तो स्वयं क्षमा ही है।
२. क्षमा तो अपराधी को करते है; ब्राह्मण ब्रह्म में चित्त टिकाए हुए दूसरे के गुण अवगुण देखते ही कब हैं?
३. फिर तन भगवान का समझने वाले, अपने प्रति किसी को भी अपराधी नहीं समझते।
४. गर तन भगवान का है तो अत्याचार भगवान पर हुआ, इससे सत्त्व स्थित ब्राह्मण को क्या?
५. अपनी जन्म जन्म की मल धोकर उन्होंने तो मानो अपने आपको क्षमा किया। अब वे किसी से गिला शिकवा नहीं करते।

**** आर्जव :**

१. वे तो आर्जव लोग होते हैं।
२. वे तो सरल लोग होते हैं।
३. वे तो दयावान लोग होते हैं।
४. वे तो झुके हुए लोग होते हैं।
५. वे तो करुणापूर्ण लोग होते हैं।
६. वे तो प्रेम करने वाले लोग होते हैं।

वे तो सरलता के कारण अतीव,
क) निष्कपटी लोग होते हैं।
ख) विनम्र लोग होते हैं।
ग) अनुकम्पा पूर्ण लोग होते हैं।
घ) उदार हृदय लोग होते हैं।
ङ) कोमल हृदय लोग होते हैं।
च) शान्त मनी लोग होते हैं।

ये पूर्ण मनो मौन पाये हुए होते हैं। इनका मन इन्हें तंग नहीं करता।

देख कमल! तुझे एक सूक्ष्म बात बताते हैं, ध्यान से सुन!
क) मन महाराज जी केवल आपका नाजायज़ फायदा उठाते हैं।
ख) जब तक आप अपने आपको मन के तद्रूप करते हैं, तब तक मन बेकाबू रहता है।
ग) जब तक आपको मन से संग है, तब तक वह आप पर राज्य करता है।
घ) जब कभी आपने यह सच ही मान लिया कि आप मन नहीं तो मन महाराज मौन हो जाते हैं।
ङ) गर आपने यह मान लिया कि आप तन नहीं, तो आपका मन सीधा हो जाता है, क्योंकि :

---

* विस्तार के लिए १३/७ और १६/३ देखिये

** विस्तार के लिए १३/७ और १६/१ देखिये।

- आप ही अपने तन का प्रयोग बंद कर दोगे, अपने ही मन के मौन के लिए।
- आपने जान लिया और मान लिया है कि तन आपका नहीं और मन आपका नहीं, तो आप इसकी ओर ध्यान नहीं देते।

*** ज्ञान**

इसकी राही जीव,

१. आत्म अनात्म को पृथक् पृथक् जान लेता है।
२. 'तन मैं नहीं हूं,' इसको जान सकता है।
३. 'मन मैं नहीं हूं,' इसको जान सकता है।

बुद्धि भी जड़ है, यह भी साधक जान सकता है और अभ्यास करके जीवन में आत्मवान् बन सकता है। ज्ञान को इसी कारण श्रेष्ठ कहते हैं।

भाई!

भगवान का नाम लो या न लो;
- ज्ञान विज्ञान की बातें करो या न करो,
- ब्रह्म पर चित्त धरो या न धरो,
- राम कहो या न कहो,

सत् तो जान लो! हकीकत क्या है, यह तो जान लो!

क) तुम कौन हो यह तो जान लो!
ख) तुम जो अपने आपको समझे बैठे हो, क्या तुम वही हो, देख तो लो।
ग) तुम अपने आप में जो गुण समझे बैठे हो, क्या वे तुम में हैं, देख तो लो।
घ) और जो गुण तुममें हैं, क्या वे तुम्हारे बस में हैं, यह भी देख लो।
ङ) कौन मालिक है आपके तन का, इसकी सत्यता जान लो।

स्वतन्त्रता :

मुश्किल यह है कि आप स्वयं कैदी हैं। आप की बुद्धि भी कैदी है। आप आज़ादी के लिए नित्य लड़ते हो पर आज़ाद नहीं हो। वह कैसे आज़ाद हो, जिसे कभी अपने मन से ही आज़ादी नहीं मिलती। अरे! जहान से नहीं, तुझे अपने से आज़ादी पानी है। यह आज़ादी ज्ञान से मिलती है।

१. आपकी बुद्धि आज़ाद नहीं, उस पर आप ही के मन का राज्य है।
२. आपका मन भी आज़ाद नहीं, उस पर आप ही की इन्द्रियों का राज्य है।
३. आपकी अपनी इन्द्रियां भी आज़ाद नहीं, उन पर स्थूल विषयों का राज्य है। गर सच ही आज़ाद होना चाहते हो तो ज्ञान का आसरा लो।

नन्हीं जान! ज्ञान केवल अध्यात्म है।

क) ज्ञान का अर्थ जान लेना ही ज्ञान है।
ख) ज्ञान का अर्थ अपने जीवन का अर्थ बना लेना ही ज्ञान है।
ग) भगवान के रूप तथा स्वरूप को समझ

---

* विस्तार के लिए १३/११ देखिये

लेना ही ज्ञान है।

घ) जीवन ब्रह्ममय बना लेना ही ज्ञान है। बाकी सब अज्ञान है।

विज्ञान

१. किन्तु शुद्ध ज्ञान भी आज़ाद नहीं करा सकता आपको।
२. शुद्ध ज्ञान को जीवन में मान लो, तब आज़ाद हो सकते हो।
३. शुद्ध ज्ञान की प्रतिमा बन जाओ, तब आज़ाद हो सकते हो।
४. ज्ञान को विज्ञान में बदल दो, तब आप आज़ाद हो सकते हो।

गर आपका तन से संग नहीं रहे, तो आप पूर्णतय: आज़ाद हो जाओगे, क्योंकि :

क) मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सब तन के ही अंग हैं।
ख) मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सब तन के ही चाकर बन गये हैं।
ग) मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सब तनो स्थापति के लिए ही लगे हुए हैं।

नन्हीं! अपमान भी तन का ही होता है; मान भी तन का ही होता है। हानि लाभ भी तनो स्थापति को सामने रखकर तोले जाते हैं। गर आप तन ही नहीं, तो आपके लिए बाकी चीज़ें कोई भी अर्थ नहीं रखतीं।

गर आपकी दृष्टि मन से उठकर परम सत् में जा टिकी, तो :

१. मन स्वत : ही ख़ामोश हो जायेगा।
२. मन स्वत : ही कर्त्तव्य परायण हो जायेगा।
३. मन कर्तृत्व भाव से उठ ही जायेगा।
४. स्वत: देहात्म बुद्धि का अभाव हो ही जायेगा।

ये सब ज्ञान को विज्ञान में बदलने से हो जाता है; यानि, ज्ञान को जीवन में परिणित करने से होता है। तत्पश्चात् जीव अनुभवी बनता है और आत्मवान् हो जाता है।

- ब्राह्मण ये सब जानता है।
- ये सब ब्राह्मण के स्वभाव जन्य कर्म हैं।

ब्राह्मण की स्थिति का बल उसकी आस्तिक बुद्धि में होता है। यानि,

क) भगवान हैं।
ख) केवल मात्र वह ही हैं।
ग) पूर्ण वह ही हैं।
घ) उनके बिना कुछ भी नहीं है।

उसे इसी में श्रद्धा है और वह श्रद्धा ही उसका एकमात्र आसरा होता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

भगवान क्षत्रिय के स्वभाव जम गुण और उनके परिणाम रूप कर्मों के विषय में कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. शौर्य, तेज, धृति, दक्षता,
२. युद्ध से पलायन न करने का स्वभाव,
३. दान, स्वामिभाव,
४. ये सब क्षत्रिय के स्वभाव से पैदा हुए कर्म हैं।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! क्षत्रिय के स्वभावजम् कर्म समझ ले!

शौर्य :

क) शूरवीरता को शौर्य कहते हैं।
ख) न्माययुक्त विधि से युद्ध करना शौर्य है।
ग) न्माययुक्त विधि से हर परिस्थिति का सामना करना शौर्य है।
घ) अनन्त निर्भयता और पराक्रम शौर्य है।
ङ) अनन्त वीर्य को शौर्य कहते हैं।

*** तेज :**

१. तेज पूर्ण वह होता है जिसका सतीत्व कोई न झुका सके।
२. तेजपूर्ण वह होता है जिसकी शक्ति के प्रभाव से हर दुर्वृत्ति कुचली जाये।
३. तेजपूर्ण वह होता है जो किसी के प्रभाव से प्रभावित होकर कर्त्तव्य से पलायन नहीं करता और अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ता।
४. देदीप्यमानता को तेज कहते हैं।
५. न्यायपूर्णता का अपना ही तेज होता है।

**** धृति :**

१. दृढ़ संकल्प को धृति कहते हैं।
२. धैर्य में दीर्घकाल तक स्थिर रहने को धृति कहते हैं।
३. दूसरे को सहारा देने को धृति कहते हैं।
४. सहिष्णुता को धृति कहते हैं।
५. क्षत्रिय गुण पूर्ण में मानसिक धृति भी होती है।
६. मनोधारणा को भी धृति कहते हैं।

दक्षता :

दक्ष वह होता है जो :
- अतीव सावधान हो।
- अतीव चतुर हो।
- अतीव सयाना हो।
- काज करने में योग्य हो।
- सुचेत हो।

---

* तेज के विस्तार के लिए १६/३ देखिये।
** धृति के विस्तार के लिए देखें १८/२९, १६/३।

- विचारवान् हो।
- निपुणता से काम करे।
- अतीव कार्य कुशल हो।
- परिस्थिति से घबराये नहीं।

अपलायनकर :

क) जो भागने वाली वृत्ति के रहित हों,
ख) जो मुश्किलों का सामना करते हैं,
ग) जो कठिन परिस्थिति से भागना नहीं चाहते,
घ) जो कठिन समस्या का परित्याग नहीं करते,
ङ) जो अपना मान बनाने के लिए कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते,
च) जो आफ़त पड़ने पर छुपने के तरीके नहीं ढूंढते,
छ) जो कभी दोस्ती से पीछे नहीं हटते,
ज) जो अपना फ़ायदा न देखकर भी वफ़ा को नहीं छोड़ते,
झ) जो अपने आपको अच्छा बनाये रखने के लिए चुप नहीं रहते तथा सीधी बात कर देते हैं,
ञ) जिनमें छुटकारा पाने की भावना नहीं होती,
ट) जो अपनी परिस्थिति से विमुक्त नहीं होना चाहते,

वे अपलायनकर लोग होते हैं।

दान :

ये लोग,

१. महा दानशील होते हैं।
२. दूसरे के संरक्षण के लिए क्षत्रिय ने अपना तन ही दान दे दिया होता है।
३. देश के संरक्षण के लिए क्षत्रिय ने अपना तन ही दान दे दिया होता है।
४. संरक्षण कर वृत्ति होने के नाते वे धन का भी बहुत दान देते हैं।
५. ये उदार दिल वाले होते हैं।
६. करुणा पूर्ण भी होते हैं।
७. लोगों के दर्द को पहचानने वाले होते हैं।

इस कारण दान देते हैं।

ईश्वर भाव युक्त :

क्षत्रिय प्रभुत्व भाव पूर्ण होते हैं। यानि,

क) मालिक के समान होते हैं।
ख) शासन करना इनका स्वभाव है।
ग) वे राजा भी हैं और राज्य भी चाहते हैं। आजकल अधिकांश लोग राज्य चाहते हैं, राजा नहीं बनते।
घ) यानि, प्रजा पर राज्य भी करते हैं, किन्तु पिता के समान पालन पोषण भी करते हैं।
ङ) स्वयं भी ऐश्वर्य पसन्द होते हैं, दूसरे को भी ऐश्वर्य पूर्ण होने की सामर्थ्य देते हैं।
च) महा शक्तिशाली होते हैं।
छ) न्याय कभी नहीं छोड़ते।

भगवान कहते हैं ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म होते हैं; यानि जिसके पास ये गुण हैं, वह क्षत्रिय ही है, अन्यथा वह नाहक अपने आपको क्षत्रिय कहता है, वह मिथ्याचारी ही है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

अब भगवान शूद्र और वैश्य लोगों के स्वाभाविक कर्म के विषय में कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. खेती, गौ पालन तथा व्यापार,
२. वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।
३. (और) सबकी सेवा करना ही शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! अब भगवान वैश्य तथा शूद्र लोगों के सहज स्वाभाविक कर्मों को विस्तार पूर्वक समझाते हैं।

वैश्य के कर्म :

वैश्य लोग सम्पूर्ण संसार के लिए,

१. अन्न पैदा करते हैं।
२. शारीरिक सुविधायें उत्पन्न करते हैं।
३. तन पुष्टित रखने के लिए औषधि उत्पन्न करते हैं।
४. औद्योगिक विकास करते हैं।
५. व्यापार करते हैं।
६. विभिन्न इस्तेमाल की चीज़ों को देश देशान्तर में पहुंचाते हैं।
७. ख़रीद कर ऊपर के दामों पर चीज़ों को बेचना इनका स्वाभाविक कर्म है।
८. व्यापारी लोग वैश्य होते हैं।

भगवान कहते हैं कि गौ रक्षा यही लोग करते हैं।

गौ :

नन्हीं! सर्वप्रथम गौ का अर्थ समझ ले।

गौ धेनु को कहते हैं।

गौ का अर्थ :

क) स्वर्ग भी है।
ख) पृथ्वी भी है।
ग) सरस्वती भी है।
घ) मां भी है।
ङ) वाणी भी है।
च) इन्द्र का वज्र भी है।
छ) प्रकाश की किरण भी है।
ज) तीर भी है, यानि अस्त्र शस्त्र भी हैं।

इससे समझ ले नन्हीं कि धन को कमाने वाले वैश्य का स्वाभाविक धर्म है- केवल अपने कुल के व्यक्तियों का ही नहीं, बल्कि अन्य सभी का पालन करना।

वाणिज्य :

वाणिज्य,

१. व्यापार को कहते हैं।
२. क्रय विक्रय को कहते हैं।
३. तोल कर देने को भी कहते हैं।
४. संसार में जिसका भी सौदा किया जाये, उसे वाणिज्य कहते हैं।

यह सम्पूर्ण धन कमाने तथा सबका धन से पालन करने का धर्म वैश्य लोगों का स्वाभाविक गुण होता है।

नन्हूं! ध्यान रखना!

१. धन कमाने वाले, धर्म का उपार्जन करने वाले ब्राह्मण का संरक्षण करते हैं।
२. सबका संरक्षण करने वाले क्षत्रियों को भी धन देते हैं।
३. शूद्रों को भी धन देते हैं।

शूद्र गण :

शूद्रों का स्वभाव जन्य कर्म :

क) दूसरों की सेवा करना है।
ख) दूसरों की टहल करना है।
ग) दूसरों के मनोरंजन की व्यवस्था करना है।
घ) दूसरों के पीछे चलना है।
ङ) दूसरे के स्वप्न पूरे करने में सहयोग देना है।
च) दूसरों की नौकरी करना है।
छ) दूसरों की अंग रक्षा करना है।
ज) रोगियों की सेवा करना है।
झ) हर श्रेणी तथा वर्ण के लोगों की सहायता करना है।

ये शूद्र लोग हर वर्ण के कार्यक्रम में सहायक होते हैं और हर वर्ण के कार्यक्रम करने में उन्हें मदद देते हैं।

नन्हूं! वास्तव में ये सम्पूर्ण गुण सब में होते हैं, व्यक्तिगत रूप में चारों वर्णों के अंश प्रत्येक जीव में हैं।

- हर जीव को बुद्धि के स्तर पर ब्राह्मण होना चाहिए।
- हर जीव को कुल के लिए संरक्षक रूप क्षत्रिय होना चाहिए।
- हर जीव कुल के लिए वैश्य भी होता है और कमाता है।
- कुल की सेवा करता है, तो वह शूद्र होता है।

वर्ण के धर्म :

क) संसार में समष्टिगत रूप में विधान रचयिता, पंडित गण को उदासीन होना चाहिए तथा अपनी दिनचर्या के लिए हर पल धन के लोभ में लिप्त नहीं होना चाहिए।
ख) क्षत्रिय लोगों को विधान तथा देश का संरक्षक होना चाहिए और राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए।
ग) फिर व्यापारी गण तथा वैश्य गण को राजनीति तथा नीति संरक्षण में दखल नहीं देना चाहिए।
घ) शूद्र वर्ण को सभी वर्णों की सेवा करनी चाहिए।

ब्राह्मण के कर्म :

यदि ब्राह्मण विधान बनायेंगे तो सबके लिए बनायेंगे।

वे तो ऐसा विधान बनायेंगे,

१. जिसके राही सबका संरक्षण हो सके।
२. जिसके राही सबको अन्न मिल सके।
३. जिसके राही सबको जीवन की ज़रूरतें पहुंचाई जा सकें।

वे लोभी नहीं होंगे, वे तो न्याय प्रधान होंगे। वे स्थित प्रज्ञ होने चाहियें, वे चाहना

तथा रुचि प्रधान नहीं होने चाहिएं। उनका काम विधान बनाना है।

क्षत्रिय का काम विधान की रक्षा करना है। पुलिस और सेना क्षत्रिय होते हैं। एडमिनिस्ट्रेटिव अफ़सर भी क्षत्रिय होते हैं। उन्हें तो विधान का संरक्षण करना होता है।

शूद्र गण सम्पूर्ण लोगों के सेवक तथा इनकी कार्य सिद्धि में सहायक होते हैं। नन्हूं! इनका संरक्षण तथा पालन पोषण वैश्य गण के धन से होता है। वैश्य गण का संरक्षण इसी में है कि सम्पूर्ण लोग अपने अपने वर्ण में उन्नति पायें। इन्हें अपने बचाव के लिए भी ब्राह्मण और क्षत्रिय की आवश्यकता होती है।

इन्हें अपनी कार्य सिद्धि के लिए शूद्र की भी आवश्यकता होती है।

- इस कारण इन्हें अपना धन बांटना ही पड़ता है।
- इस कारण इन्हें अन्य वर्ण वालों के सुख का विधान करना ही चाहिए।

संसार में ये पूर्ण अंग अनिवार्य हैं। संसार में ये पूर्ण वर्ण हर जगह ही हैं, चाहे लोग इन्हें किसी भी नाम से पुकारें। यहां तो भगवान ने कहा है कि पूर्ण संसार के चार अंग हैं :

१. संविधान और कानून बनाना;
२. शासन का प्रबन्ध और लोगों व कानून की सुरक्षा;
३. आर्थिक व्यवस्था; तथा
४. श्रमिक।

संसार में इन सबका सहयोग और उचित प्रयोग ही सुख दिला सकता है वरना संसार प्रगति की ओर जाने की बजाय अवनति की ओर चला जाता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अपने अपने कर्म में लगा हुआ,
२. मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।
३. जिस प्रकार से अपने कर्म में परम सिद्धि को पाता है,
४. वह तू मुझसे सुन!

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! भगवान यहां जीव से कहते हैं :

क) कोई भी ऊंचा या नीचा नहीं होता।
ख) श्रेष्ठ या न्यून जीव पर आरोपित उपाधियां हैं।
ग) कर्म सबके ही श्रेष्ठ होते हैं।
घ) काज, कर्म तो करने ही होते हैं, किसने कौन सा किया, इससे क्या फ़र्क पड़ता है ?
ङ) जिसने कृषि का काज किया, वह भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना कि क्षत्रिय का काज करने वाला, क्योंकि :

- अन्न ही उत्पन्न न हुआ तो क्षत्रिय जीयेगा कैसे ?

- अन्न ही उत्पन्न न हुआ तो क्षत्रिय लड़ेगा कैसे ?
- अन्न ही उत्पन्न न हुआ तो जीव जीयेंगे कैसे ?
- कृषि का काज तो अनिवार्य है।
- कृषि का काज तो होना ही होगा।
- कृषि का काज तो प्राणाधार है।

गर प्राण ही न रहे, तो अन्य वर्ण जीते कैसे रहेंगे ? इस कारण यह जान लो कि कर्म में श्रेष्ठता या न्यूनता नहीं होती।

भगवान कहते हैं कि अपने कर्म में लगा हुआ जीव ही,

१. सिद्धि पा सकता है।
२. पावन हो जाता है।
३. प्रतिष्ठा को पाता है।
४. समृद्धि को पाता है।
५. सुख को पाता है।
६. विलक्षण क्षमता को पाता है।
७. अपने कर्म में लगा हुआ जीव जीवन मुक्त हो जाता है।

पुनः समझ मेरी जाने जान!

१. कोई भी कार्य श्रेष्ठ नहीं होता।
२. कोई भी कार्य न्यून नहीं होता।
३. कर्म कर्म ही होता है और जीवन के लिए हर प्रकार के कर्म ज़रूरी हैं।
४. जो भी किसी का सहज कर्म हो, उसी से सिद्धि मिल जाती है।
५. जो भी जीवन में आपका सहज काज हो, उसी से सिद्धि मिल सकती है।
६. जो भी जीवन में आपका वर्ण हो, उसी में सिद्धि मिल सकती है।

जब जीव अपने सहज कर्म कर लेता है, यानि, अपने लिए जो अनिवार्य है, वह कर लेता है, तब भी उसके पास बहुत मूल शक्ति बची रहती है। वह शक्ति औरों के काज के लिए देनी चाहिए, यही जीव का कर्त्तव्य है।

१. लोग आपसे वहीं मांगेंगे जो आप कर सकते हैं।
२. लोग आपसे सफलता की आस लेकर मदद मांगते हैं।
३. लोग शनैः शनैः आपके सामर्थ्य को पूर्ण रूपेण इस्तेमाल करते हैं।
४. धीरे धीरे आप और भी प्रवीण तथा दक्ष होते जायेंगे।
५. धीरे धीरे आप और भी निरासक्त होते जायेंगे।

जिस काम में आपको सफलता मिली है, वही दूसरों के लिए भी कीजिये, जीवन में यज्ञ यही है।

क) अपने सहज काम छोड़कर दूसरे के धर्म कर्म अपनाने से कुछ नहीं बनता।
ख) अपने सहज काम में जितने दक्ष हो जाओगे, वे काज उतने ही कम समय में समाप्त हो जायेंगे। बाकी समय दूसरों को दे दो।
ग) बाकी समय में, जिस वस्तु की आपको ज़रूरत है, वही दूसरों के लिए भी उपार्जित करो। जो भी काज वे करवाना चाहते हैं, उसके लिए अपना तन, मन, बुद्धि और धन दे दो।
घ) अपनी कीमत मत बढ़ाओ, अपने पर प्रतिबन्ध मत लगाओ।

किन्तु याद रहे अपना सहज कर्म करते जाओ।

साधक तथा ज्ञानियों को सहज ही संशय हो जाता है कि कर्म, परम पद की प्राप्ति कैसे करवा सकते हैं ?

१. साधारण कर्म उन्हें भगवान से कैसे मिला सकते हैं ?
२. साधारण जीवन उन्हें परम पद कैसे दिला सकता है ?
३. साधारण कर्म उन्हें कर्मफल से कैसे मुक्त करा सकते हैं ?
४. कर्म तो बन्धन कारक होते हैं, फिर भगवान कर्म करने को क्यों कहते हैं ?
५. छोटे छोटे काम करते हुए परम स्थिति कैसे मिल सकती है ?
६. साधारण जीवन में जुटे रहे, तो परम सिद्धि कैसे मिल सकती है ? भगवान कहते हैं, 'लो! तुझे बताता हूं कि किस प्रकार से कर्म करता हुआ जीव परम पद को पा लेता है।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

भगवान अब बताते हैं कि अपने सहज स्वाभाविक कर्म करते हुए हम सिद्धि पा सकते हैं। वह कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. सम्पूर्ण भूतों की जिससे प्रवृत्ति यानि उत्पत्ति हुई है,
२. जिससे यह सब (संसार) व्याप्त है,
३. उसको अपने कर्मों से पूज कर,
४. मनुष्य सिद्धि पाता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! यहां देख भगवान वह राज़ बता रहे हैं, जिसके कारण सत्त्व ज्ञान लुप्त हो गया है।

ध्यान से देख! भगवान यहां :

१. जीवन का सार कह रहे हैं।
२. जीवन में अखिल कर्म का आधार बता रहे हैं।
३. जीवन में यज्ञ का आधार बता रहे हैं।
४. जीवन में कर्त्तव्य का आधार बता रहे हैं।

वह कह रहे हैं कि :

क) जो भी करो, उसे भगवान के अर्पित कर दो।
ख) जो भी करो, उसे भगवान की पूजा जान कर करो।
ग) इस जहान को भगवान का मानकर काज कर्म करो।
घ) इस जहान में हर व्यक्ति की उत्पत्ति का कारण भगवान को ही जानकर, उससे व्यवहार करो।
ङ) जीवन भगवान के अर्पित होना चाहिए।

देख! तुझे एक बात कहूं!

१. यह जहान भगवान का ही है।
२. यह जहान भगवान के इन्सान का ही है।
३. आज भी सब इन्सानों का है, कल भी सब इन्सानों का ही रहेगा।

केवल हमारा तुम्हारा नहीं है और न रहेगा।

- यह जानते हुए हर कर्म भगवान को अर्पित करके कर।
- यह जानते हुए हर कर्म इन्सान पर अर्पित करके कर।

परम की पूजा अर्थ कार्य करने की सहज विधि भगवान ९/२७ में कह चुके हैं।

क) नित्य भगवान को साक्षी बनाकर साथ रखने का अभ्यास करो।
ख) नित्य मृत्यु को साक्षी बनाकर साथ रखने का अभ्यास करो।
ग) नित्य आत्म तत्त्व को साक्षी बनाकर साथ रखने का अभ्यास करो।
घ) यानि, नित्य ज्ञान को साक्षी बनाकर साथ रखने का अभ्यास करो।

भाई, जो भी करना है करो, परन्तु, सत् को भुलाकर न करना।

१. श्रेष्ठ या न्यून कर्म नहीं होते, श्रेष्ठ या न्यून आन्तरिक दृष्टिकोण होता है।
२. कर्म को श्रेष्ठ या न्यून कहना अज्ञानता है।
३. इन्सान इन्सानियत के बल पर श्रेष्ठ कहलाता है।
४. भक्त अपनी भक्ति के कारण पूजा जाता है।
५. साधु अपनी साधुता के कारण साधु कहलाता है।
६. ज्ञान से नहीं, ज्ञानमय दृष्टिकोण से साधु बनते हैं।
७. ज्ञान से नहीं, ज्ञानमय दृष्टिकोण से ज्ञानी बनते हैं।

स्थूल जीवन में आपके सहज कर्म क्या हैं, इनसे आन्तरिक स्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यानि, आप चाहे ब्राह्मण हैं, चाहे क्षत्रिय हैं, चाहे वैश्य हैं, चाहे शूद्र हैं, भाई! आप जो भी हैं, दक्षता से अपने काज करो। किन्तु :

- भगवान को अर्पित करके कर्म करोगे तो सिद्धि पाओगे।
- भगवान के साक्षित्व में कर्म करोगे तो सिद्धि पाओगे।
- भगवान के लिए कर्म करोगे तो सिद्धि पाओगे।

नन्हीं जान!

१. तब कभी पलायन करने की बात नहीं उठेगी।
२. तब कभी बुरा लगने की बात नहीं उठेगी।
३. तब कभी लोभ की बात नहीं उठेगी।
४. तब कभी दूसरों को तड़पाते रहने की बात नहीं उठेगी।

फिर आपका हर कर्म पावन करने वाला होगा, हर कर्म पावन ही होगा।

भाई! आप स्वयं पावनता स्वरूप ही होंगे और आपको सिद्धि मिल ही जायेगी।

भगवान की सच्ची पूजा तो :

क) भागवत् चरणों में तनो अर्पण है।
ख) भागवत् चरणों में मनो अर्पण है।
ग) भागवत् चरणों में बुद्धि अर्पण है।
घ) भागवत् चरणों में अहं अर्पण है।

भगवान के चरणों में जब तन ही दे दिया तो :

- विधान की राही वह चाकर बना दे या मालिक बना दे, एक ही बात है।
- लोगों के राही वह बड़े काम करवा ले या छोटे काम करवा ले, एक ही बात है।
- जब जीव भगवान की पूर्णता को मान ले, तब उसका तन भगवान का हो जाता है।

भाई! तब सब भगवान का हो जाता है। जीव केवल द्रष्टामात्र रह जाता है, जीव केवल आत्मा मात्र रह जाता है।

बाकी जहान आपके अपने तन के समेत केवल गुण खिलवाड़ रह जाता है, यही भगवान की पूजा है। जीवन में कर्मों राही इसी विधि जीवन व्यतीत करने से सिद्धि मिलती है।

नन्हूं! बड़े बड़े काम तथा जग को दिखाने वाले काम सिद्धि नहीं दिलवाते। जीवन में जो आप सहज, छोटे छोटे काम करते हैं :

१. वे आपका दृष्टिकोण बदल देते हैं।
२. वे आपके गुमान को सहज में हर लेते हैं।
३. वे आपकी आदतों में प्रेम पूर्ण दृष्टिकोण भर सकते हैं।
४. वे आपको अपना आप देना सिखा सकते हैं।
५. वे आपको अपना आप भुलाना सिखा सकते हैं।
६. वे आपको अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानने की आदत से दूर कर सकते हैं।
७. वे आपको औरों को भी सहना सिखा सकते हैं।
८. वे आपके मन को भी द्वन्द्वों से बचा सकते हैं।
९. वे आपको दिनचर्या में भी निर्द्वन्द्व बनना सिखा सकते हैं।

- छोटे छोटे काम करते हुए आप सहज ही योग को पा सकते हैं।
- छोटे छोटे काम करते हुए आप अपने आपको सहज ही भुला सकते हैं।
- छोटे छोटे काम करते हुए आप औरों से भी तद्रूपता सीख सकते हैं।
- किसी को लाख रुपये दे देना आसान है, परन्तु किसी के साथ रहकर, उसके अधीन होकर उसकी सेवा करना बहुत कठिन है। आप जितना अधिक समय लाख रुपये कमाते हुए लगाओगे, उतना समय यदि आप उस व्यक्ति की सेवा में दे दो, तो आपको बहुत ही लाभ होगा।

जब उसकी सेवा स्वयं करोगे तो :

क) आपको झुकना आ जायेगा।
ख) आपको प्रेम करना आ जायेगा।

ग) आपको अपने आपको किसी को देना आ जायेगा।
घ) आपको अपने आप के प्रति उदासीन होना आ जायेगा।
ङ) आपको अपने आपको भूलना आ जायेगा।

इसी में निहित दैवी सम्पदा के बीजों के नन्हें नन्हें अंकुर फूटते हैं। दैवी सम्पदा रूपा फलों की पनीरी इन छोटे छोटे कर्मों की खेती में लगती है।

इस कारण भगवान कहते हैं कि जीव अपने अपने कर्मों में लगा हुआ ही सिद्धि पाता है। कर्मों को छोटा या बड़ा मानना मूर्खता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

भगवान कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. अपना विगुण पूर्ण धर्म भी,
२. भली भांति अनुष्ठान किया हुआ,
३. दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ है।
४. स्वभाव से नियत किये हुए कर्म को करता हुआ,
५. जीव पाप को प्राप्त नहीं होता है।

तत्त्व विस्तार :

आत्म अभिलाषिणी आभा! भगवान कहते हैं कि अपना सहज धर्म त्रैगुण पूर्ण भी दिखे और दूसरे का धर्म महाश्रेष्ठ भी दिखे, तो भी अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि :

क) श्रेष्ठता रुचि अरुचि के पीछे जाने में नहीं होती।
ख) विजय पराजय पर भी ध्यान नहीं देना चाहिए।
ग) सिद्धि असिद्धि को सम जानना चाहिए।
घ) कर्मफल पर दृष्टि नहीं धरनी चाहिए।
ङ) निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों को सम जानना चाहिए।
च) श्रेष्ठ या न्यून कुछ भी नहीं होता।
छ) जो मिले, उसमें संतुष्ट रहना चाहिए।
ज) ज्ञानी गण अकुशल कर्म से द्वेष या कुशल कर्म से संग नहीं करते।
झ) कर्मफल स्वरूप सुख दुःख के प्रति समत्व भाव हो तो श्रेष्ठ या न्यून की बात ही नहीं रहेगी।
ञ) लाभ और अलाभ के प्रति गर समत्व भाव हो तो कोई अपना धर्म क्यों छोड़ेगा?

भगवान यहां कह रहे हैं कि तुम्हारा जो भी धर्म है, उसी की राही तुम परम पद पा सकते हो। तुमको जीवन में छोटे कर्म मिलें या बड़े कार्य मिलें इस पर ध्यान न दो। उनकी राही ही तुम पाप विमुक्त हो सकते हो, क्योंकि :

१. त्याग तो संग का करना है।

२. त्याग तो कर्मफल चाहना का करना है।
३. पाप और पुण्य संग की बातें हैं।
४. त्याग तो काम्य कर्मों का करना है।
५. त्याग तो कर्म फल आसक्ति का करना है।
६. त्याग तो अहं जम् और अहं स्थापितकर कर्मों का करना है।

भाई! यह तो आन्तरिक स्थिति की बात है। धर्म यह हुआ या वह हुआ, इससे क्या फ़र्क पड़ता है ? काज जीवन में क्या है आपका, इससे जीव श्रेष्ठ या न्यून नहीं बनता। पाप विमुक्ति या बन्धन तो दृष्टिकोण की बात है।

स्वभाव जो भी हो, वह कोई अर्थ नहीं रखता। स्वभाव में अर्थ दृष्टिकोण भरता है।

देख मेरी जान! ध्यान से समझ!

क) गर आप जहान को प्रभु की रचना समझते हो तो उसके प्रति मालिक की दृष्टि नहीं रखोगे बल्कि चाकर की दृष्टि रखोगे।
ख) गर आप 'गुण गुणों में वर्त रहे हैं', ऐसा मानते हो, तो कर्त्ता गुण बन जायेंगे और आपके दृष्टिकोण में कर्त्तापन का अभाव झलकेगा।
ग) यदि आप अपने तन को अपना नहीं मानते, तो आपके दृष्टिकोण में तनत्व भाव का अभाव होगा।
घ) गर आपका अपने ही तन, मन, बुद्धि से नितान्त संग छूट गया तो,

- आप आत्मवान् हैं और आप अपने तन की ओर ध्यान नहीं धरेंगे।
- आपका तन तो है, पर आपका उस पर अपना ही अधिकार नहीं होगा।
- मान, अपमान, सुख, दुःख, लोभ, तृष्णा, विजय, पराजय पर आपका ध्यान ही नहीं जायेगा।

तब आपके दृष्टिकोण में यह सब निहित रूप में भी आच्छादित नहीं होंगे। जब तन ही आपका नहीं तो :

१. तनो कर्म आप कैसे अपनायेंगे ?
२. 'श्रेष्ठ करूंगा या न्यून करूंगा,' कैसे कहेंगे ?
३. 'मुझे यह मिले यह नहीं मिले,' किसके लिए कहोगे ?
४. अपमान हुआ पर किसका ? आपके तन का तो नहीं हुआ, क्योंकि आपका तन तो है ही नहीं, इत्यादि।

जब ऐसी बातें या भावनायें आपके दृष्टिकोण में नहीं हों, तब निवृत्ति या प्रवृत्ति में भी रुचि या अरुचि का प्रश्न नहीं उठेगा। तब 'यह धर्म अपनाऊंगा या वह धर्म छोड़ दूंगा,' ऐसा प्रश्न नहीं उठेगा। स्वभाव से नियत कर्म जो हैं, वे करने ही चाहिएं।

स्वभाव स्थूल स्तर पर :

१. जीव के मूल गुणों के कारण उसकी सहज प्रवृत्ति को स्वभाव कहते हैं।
२. जीव की मूल शक्ति के सहज ध्यान को स्वभाव कहते हैं।
३. प्रकृति देन त्रैगुणों के रूप में हर प्राणी में स्वभाव विद्यमान होता है।

४. स्वभाव, निजी गुण सत्ता का रूप कह लो।
५. स्वभाव, निजी गुण सत्ता का जीवन में बहाव कह लो।
६. स्वभाव, निजी गुण सत्ता का जीवन में प्राकट्य कह लो।
७. बार बार एक ही प्रकार का कार्य करने से कार्य सिद्धि विधि में अभ्यास राही जो परिपक्वता आ जाती है, उसे साधारणतय: स्वभाव कहते हैं।
८. कर्मफल या वांछित फल पाने के लिए जीव जीवन में अनेकों रास्ते निकालता है; जैसे, भिन्न भिन्न काम किये, या कम काम किये, फल अधिक मिल जाये, इसके साधन का अभ्यास करता है। परिणाम में उसका स्वभाव वैसा ही बन जाता है।
९. यह स्वभाव स्थूल स्तर पर स्थूल अभ्यास से परिपक्वता पाता है।

स्वभाव सूक्ष्म स्तर पर :

- दूसरे को डरा कर रखना;
- क्रोध करके अपना काम पूरा करवा लेना;
- दूसरे की बातें बनाकर, यानि, दूसरे की निन्दा करके अपने आपको स्थापित करना, इत्यादि;

यह सूक्ष्म स्वभाव होता है।

इसी तरह से बुद्धि भी अपना स्वभाव बना लेती है। जैसे,

क) तमोगुणी की बुद्धि अज्ञानवृत्त होते हुए भी नित्य अपने आपको श्रेष्ठ कहती है।

ख) अपनी बुद्धि की स्थापना के लिए जीव अपनी ही बुद्धि इस्तेमाल नहीं करता।

ग) फिर बुद्धि अनेकों मान्यताओं से बधित हुई तमोगुणी का स्वभाव प्रवाहित करती है।

स्वभाव और प्रकृति :

नन्हूं! वैसे सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो समझ सकोगी कि स्वभाव जन्म जन्म के संस्कारों से बनता है और स्वभाव के कारण जीवों में भी विभिन्नता तथा व्यक्तिगतता उत्पन्न होती है, गुण भेद होता है। प्रकृति सबको सम गुण देती है, स्वभाव गुण भेद देता है। प्रकृति ने सब जीवों को आंखें दीं, कान दिये, इन्द्रियां दीं, खून दिया, सब कुछ तकरीबन बराबर ही दिया; परन्तु संस्कारों के आधार पर जीव में गुण भेद तथा विभिन्न स्वभाव उत्पन्न हुए।

सो स्वभाव मूल गुण पूर्ण प्रकृति पर आधारित होता है। वांछित वस्तु के उपार्जन की विधि में परिपक्वता आने के साथ साथ स्वभाव दृढ़ होता जाता है।

जो काज आप करते हो, वह विगुण पूर्ण भी दिखे, तो उसे छोड़ मत दो। अपना सहज धर्म छोड़ देने से परम पद नहीं मिलता। अपना सहज धर्म निभाते हुए ही,

१. आपको परम पद मिल सकता है।
२. आप ज्ञान उपार्जन कर सकते हो।
३. आप ज्ञान का अभ्यास कर सकते हो।
४. आप संग रहित हो सकते हो।
५. आप लोभ रहित हो सकते हो।
६. आप कामना रहित हो सकते हो।
७. आप तनत्व भाव रहित हो सकते हो।

सहज धर्म तथा कर्त्तव्य निभाव परम पद की राह में बाधा नहीं डालता बल्कि समर्थन ही करता है।

*** नियत कर्म :**

क) तुम अवश्यम्भावी को नियत कर्म कह लो।

ख) तुम अनिवार्य कर्मों को नियत कर्म कह लो।

ग) जीवन के स्वनिर्मित कर्मों को नियत कर्म कह लो।

घ) निश्चयात्मक कर्म प्रणाली को नियत कर्म कह लो।

देख!

- बच्चे पालने ही पड़ेंगे, यह नियत कर्म है।
- बच्चे पालने ही पड़ेंगे, यह कर्त्तव्य भी है।
- बच्चे पालने ही पड़ेंगे, यह धर्म है।
- बच्चे पालने ही पड़ेंगे यह स्वभाव भी है।

विधान तथा रेखा द्वारा निर्मित कर्म को नियत कर्म मान लो।

बच्चों के प्रति दृष्टिकोण :

अब आपका इनके प्रति दृष्टिकोण क्या है, यह समझ लो।

- क्या आप बच्चों को पालना श्रेष्ठ या न्यून कर्म समझते हैं ?
- क्या आप बच्चों को पालना श्रेष्ठ या न्यून धर्म समझते हैं ?
- क्या आप बच्चों को पालना श्रेष्ठ या न्यून कर्त्तव्य समझते हैं ?

नन्हूं! आप जो भी जीवन में करते हो, यदि उसे अपना कर्त्तव्य जानकर करो तो आपका काम बन जायेगा!

फिर यह भी सोच लो कि आजकल की समस्याओं का सामना करते हुए यह धर्म तुम कैसे निभाओगे ?

बच्चों को क्या चाहिए ? बच्चों से क्या नहीं कराना चाहिए ? क्या पढ़ाई ही सब कुछ है या इन्हें इन्सानियत सिखाना चाहते हो, यह सब सोच लो।

१. बच्चों का पालन पोषण माता पिता का सहज स्वभाव है।
२. बच्चों को विद्वान बनाना तथा पढ़ाना लिखाना और अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाना, आपका कर्त्तव्य है।
३. बच्चों को इन्सान बनाना और इन्सानियत सिखाना आपका धर्म है।

विगुणपूर्ण स्वधर्म श्रेष्ठ है

नन्हीं! यदि आपका धर्म विगुणपूर्ण भी दिखे, तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए।

इसे भी समझ ले :

क) यदि शूद्र कहे कि मैं सेवा नहीं करूंगा बल्कि राज्य करूंगा, तो मुश्किल पड़ जायेगी।

ख) यदि नारी समझे कि बच्चे पालना और घर की देखभाल करना विगुण पूर्ण कर्म हैं, तो मुश्किल पड़ जायेगी।

---

* विस्तार के लिए १८/२३ देखिये!

ग) यदि पति समझे कि वह घर में भी निर्देशक बन जाये, तो मुश्किल होगी।

घ) यदि ज्ञानवान् ब्राह्मण को नौकर बना दिया जाये, तो पाप बढ़ने लगेगा।

ङ) यदि सैनिक समझे कि किसी की हत्या करना विगुणपूर्ण है, तो देश और समाज की रक्षा कैसे होगी ?

च) यदि न्यायाधीश समझे कि किसी को दण्ड देना विगुणपूर्ण है, तो संसार में न्याय कैसे रहेगा ?

नन्हूं! इस भांति सबको अपना अपना धर्म निभाना होता है और सत्य में रहते हुए न्यायपूर्वक अपना धर्म निभाते हुए हर कोई परम पद पा सकता है। जो कोई न्यायपूर्वक अपना धर्म निभाता रहता है, उसे पाप नहीं लगता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

मेरी जान! अब भगवान स्वयं कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. अपना सहज कर्म सदोष भी हो,
२. तो भी उसको नहीं त्यजना चाहिए।
३. क्योंकि सारे कर्म धुएं में अग्नि समान,
४. दोष से आवृत्त हैं।

तत्त्व विस्तार :

दोषपूर्ण कर्म :

नन्हीं देख! जीवन के सहज कर्म गर दोषपूर्ण भी समझो, तब भी उन्हें न छोड़ना।

१. किसी न किसी दृष्टिकोण से सब कर्मों में दोष आरोपित हो सकते हैं।
२. कर्म का दुःख भी हो सकता है।
३. कर्म का परिणाम भी दुःखमय हो सकता है।
४. कर्मों से दूसरा भी दुःखी हो सकता है।
५. कर्मों में संग भी दिखाई दे सकता है।
६. कर्मों में अहंकार भी दिखाई दे सकता है।
७. वास्तव में विपरीत गुणों की वृद्धि भी कर्मराही हो सकती है। सब कर्म धुएं से आवृत्त होते हैं, किन्तु उनके पीछे अग्र रूप ज्योति हो सकती है।

जीव का जन्म भी ब्रह्म का कर्म है :

क) जीव के जन्म से पहले ही कर्म का जन्म हो जाता है।
ख) जीव का जन्म ब्रह्म का कर्म है।
ग) सृष्टि की रचना ब्रह्म का कर्म है।
घ) हर कर्म त्रैगुणात्मक है,
ङ) हर क्रिया त्रैगुणात्मक है, हर कार्य त्रैगुणात्मक है और यही ब्रह्म कर्म का नियत नियम है।

परम तत्त्व सार, रहस्य रूप में मानो ज्ञान अग्र के समान इन सबमें निहित है।

- परम स्वभाव भी इसी कर्म में निहित है।
- परम का धर्म भी इसी कर्म में निहित है।
- परम का कर्म भी इसी कर्म में निहित है।

भगवान यहां कह रहे हैं :

१. सम्पूर्ण कर्म त्रिगुणी माया से आवृत्त हैं।
२. सम्पूर्ण जीव ही त्रिगुणी माया से आवृत्त हैं।
३. फिर कर्म के बिना जीव जीवन में रह भी नहीं सकता।

तन तो कर्म करेगा ही, यह तन का सहज स्वभाव है। अपने आपको कर्म से कैसे रोक सकोगे? भगवान ने कहा है कि वह भी कर्त्तव्य कर्म करते हैं। भगवान जब जन्म लेते हैं, वह स्वयं भी सब कर्म सहज में करते हैं। इस कारण कर्म त्याग की मत सोचो, कर्म को दोष युक्त जानकर मत छोड़ दो। कर्त्तव्य छोड़कर जाओगे, तो भी कुछ तो करना ही होगा।

*** कर्म-अकर्म :**

पर देख मेरी सखी! भगवान पहले कहकर आये हैं :

- जो कर्म में अकर्म देखता है, वही सत् को देखता है।
- जो अकर्म में कर्म को देखता है, वही सत् देखता है।
- जो दृष्ट रूप से देख रहे हो, वह तो सहज गुण करते हैं।
- वह तो प्रकृति करवाती है।
- वह तो स्वभाव का परिणाम है।
- इसमें आपने क्या किया है? इसमें आपका कौन सा कर्म है?

क) कर्म से राग या कर्म से द्वेष ही आपका कर्म है।
ख) राग द्वेष चाहे दृष्ट रूप में कुछ नहीं करते, यानि कर्म नहीं करते, पर फिर भी ये महा जटिल कर्म कर देते हैं।

देख न! यही तो :

१. जन्म मरण का चक्र चलाते हैं।
२. स्थूल का सूक्ष्म प्राण बनते हैं।
३. नवजीवन के बीज का रूप धरते है।
४. उच्च नीच योनि का कारण बनते हैं।
५. कर्मों को पापयुक्त या पुण्यमय बना देते हैं।

इसे ध्यान से समझ मेरी जान! यह संग और अज्ञान ही कर्मों पर धुंआ है। कर्म त्याग नहीं चाहिए, अज्ञान आवरण को मिटाना चाहिए।

नन्हीं लाडली!

क) जब तक कर्तृत्व भाव है, तब तक सब कर्म सदोष ही हैं।
ख) जब तक भोक्तृत्व भाव है, तब तक सब कर्म सदोष ही हैं।

---

* कर्म अकर्म के विस्तार के लिए ४/१८ देखिये।

ग) जब तक अहं भाव है, तब तक सब कर्म सदोष ही हैं।

फिर जीव कई कर्मों को न्यून समझता है और कई कर्मों को श्रेष्ठ समझता है। जो कर्म जीवन में जीने के लिए ज़रूरी हैं, वे न्यून नहीं हो सकते। वे तो किसी न किसी को करने ही होते हैं। इसलिए जो कर्म आपके लिए ज़रूरी हैं, पर कोई और कर देता है, उस करने वाले को न्यून कहना मूर्खता ही है।

नन्हीं! साधना भी कर्म ही है और जब तक साधक सिद्धि नहीं पा जाता, उस का साधना रूपा कर्म भी त्रैगुण पूर्ण ही होता है। साधक का साधना रूपा कर्म भी कर्त्तापन के गुमानपूर्ण होने के नाते धुएं से आवृत्त होता है।

साधना के प्रति अपना दृष्टिकोण देख लो, उसी में त्रैगुण निहित होते हैं।

यदि साधना आपको,

१. कर्त्तव्य पलायन कर दे तो तामसिक है।
२. फल से बांध दे तो राजसिक है।
३. सुख और ज्ञान से बांध दे तो वह सात्त्विक है।
४. संग रहित कर दे तो वह परम पद दायिनी है।

तब आप न कर्त्तव्य छोड़ेंगे, न ही कर्मफल चाहेंगे, न ही सुख को चाहेंगे। तब आप अपना तनत्व भाव ही छोड़ देंगे।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

लो मेरी प्रिय सजन! अब सहज कर्म करते हुए सिद्धि कैसे पाते हैं, भगवान से इसकी बात सुनो!

शब्दार्थ :

१. सर्वत्र निरासक्त बुद्धि वाला,
२. अपने आपको जीता हुआ,
३. (और) स्पृहा रहित हुआ,
४. संन्यास के द्वारा भी,
५. परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

तत्त्व विस्तार :

अब सुन! भगवान कहते हैं कि :

निरासक्त बुद्धि :

अर्थात्,

१. जिसकी बुद्धि हर प्रकार से आसक्ति रहित है,
२. जिसकी बुद्धि कभी लिपायमान नहीं होती,
३. जिसकी बुद्धि कभी आवृत्त नहीं होती,
४. जिसकी बुद्धि कभी चलायमान नहीं होती, वह निरासक्त बुद्धि वाला है।

स्पृहा रहित :

अर्थात्,

– जो सूक्ष्म स्तर पर चाहना रहित है,

- जो सूक्ष्म स्तर, यानि मनो स्तर पर कामना से कर्म में प्रेरित नहीं होता,
- जो सूक्ष्म स्तर, यानि मनो स्तर पर मान अपमान की चाहना भी नहीं रखता; तथा मनो स्तर पर मान अपमान से चलायमान नहीं होता,
- जो मनो स्तर पर आशा तृष्णा रहित होता है,

वह स्पृहा रहित होता है।

जितात्मा :

जो आत्मा को जीता हुआ है, यानि,

क) जिसने अपने मन को जीत लिया है।
ख) जिसने अपने अहंकार को जीत लिया है।
ग) जिसने अपने चित्त को शुद्ध कर लिया है।

यह सब बातें समाधिस्थ की कह रहे हैं। नन्हीं! वह जितात्मा है।

ले! तुझे समाधि की पूर्ण प्रक्रिया को सविस्तार समझा दें।

समाधि :

१. समाधि में स्थित प्रज्ञता होती है।
२. जब बुद्धि नाम रूप से प्रभावित नहीं होती, तब समाधि है।
३. जब बुद्धि अपने ही गुणों से प्रभावित नहीं होती, तब समाधि है।
४. जब बुद्धि दूसरे के गुणों से प्रभावित नहीं होती, तब समाधि है।
५. जब जीवात्मा अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है, वह समाधि अवस्था होती है।
६. समाधि अवस्था तब होती है जब जीव अपने व्यक्तित्व को भूलकर सब जगह खो सके।
७. समाधि अवस्था तब होती है जब जीव दूसरे को भी भूलकर सब जगह खो सके।

स्वरूप से पतन का कारण :

अब यह समझ ले कि जीव अपने स्वरूप को भूलकर अज्ञानता में कैसे आ जाता है ?

क) जीव अपने को पंच तत्त्व रचित, इन्द्रिय समूह रूप एक तन ही मानता है।
ख) जीव इन्द्रियगण के तद्रूप होकर अपने आपको इन्द्रियां ही मानता है।
ग) जीव मन के तद्रूप होकर अपने आपको मन मानता है, वह उस मन के सम्पूर्ण गुण अपने ही मानता है।
घ) फिर वह मनो तथा इन्द्रिय रसना और चाहना को पूर्ण करने के लिए ही अपना जीवन व्यतीत करता है।

मूर्त पूजक :

१. यह माटी का तन माटी से उत्पन्न हुआ, माटी से इसका पालन होता है और यह पुनः माटी में ही मिल जाता है। इस माटी के बुत की उपासना 'मैं' ने ऐसे करी कि वह माटी ही हो गया।
२. इस माटी के बुत की इतनी पूजा करी कि जीवन भर उस माटी का सेवक हो गया।
३. पूर्ण चेतन शक्ति लगाकर के जीव केवल बुत स्थापना चाहता है।

भाई! जब आत्मा का अखण्ड योग हुआ अनात्म से तो बाकी अज्ञान ही रह गया।

यानि, योग हुआ,

क) तनो पुंज रस रसना से,

ख) तनो स्थापना की चाहना से,

ग) मनो रुचि अरुचि से,

घ) मनो गुण और अवगुण से,

तब बुद्धि आवृत्त हो गई।

मन की मौज पूर्ण हुई तो कुछ सुख मिल गया; मन की मौज को ठेस लगी तो दुःख मिल गया। फिर संकल्प विकल्प उठने लग गये और छुपाव के सामान बनने लगे, जड़ चित्त ग्रन्थियां बनने लगीं।

- फिर कामना चाहना के झमेले लगने लगे।
- आशा तृष्णा ने बांध लिया।
- मन द्वन्द्वपूर्ण हो गया।
- तनो स्थापना के लिए लोभ भी उठ आया।

भाई! क्या कहें। तन से तद्रूपता क्या हुई, मन बुद्धि भी माटी हो गये। वास्तव में बुद्धि, मन और तन से तद्रूपता ही 'मैं' है। जीव को व्यक्तिगत करने वाली यह 'मैं' ही है।

नन्हीं देख! 'मैं' का अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से भूल कर तन में एकाग्रचित होकर खो जाना मूर्ख की समाधि है। इस मूढ़ में कभी संशय नहीं उठता। वह तो अहर्निश उस एक तन में खोया रहता है। अभंग निद्रापूर्ण समाधि है यह।

अब देखना यह है कि :

१. 'मैं' तन का नौकर है या तन 'मैं' का नौकर है ?
२. 'मैं' मन का नौकर है या मन 'मैं' का नौकर है ?
३. 'मैं' बुद्धि की नौकर है या बुद्धि 'मैं' की नौकर है ?
४. तन, मन, बुद्धि प्रधान हैं या 'मैं' प्रधान है ?

सवाल यह नहीं कि तन, मन, बुद्धि कैसे हैं', सवाल तो यह है कि इनका मालिक कौन है ? आप मालिक हैं या नौकर हैं ?

आप आत्मा हैं या अनात्म हैं, आप क्या हैं ? गर आप चेतना हैं तो आपसे चेतन शक्ति पाकर :

- यह तन चेतन सा होता है।
- यह मन चेतन सा होता है।
- यह बुद्धि चेतन सी होती है,

यानि यह सब चेतन से भासित होते हैं।

तन तो नित्य रूप बदलता है; तन का तो स्वभाव ही बदलना है; कभी शिशु रूप, कभी युवा रूप, कभी बुढ़ापा, कभी तन माटी का रूप धरता है। तन आपका मीत नहीं! तुम लाख चाहो यह रूप न बदले, यह आपकी एक नहीं मानता। भाई! ऐसे तन से तद्रूपता क्या, जो आपकी एक न माने ? ऐसे तन को अपना कहना फ़िज़ूल है जो आपकी बात ही न माने।

नन्हूं! कभी तन की मूक भाषा भी सुनी है तुमने ? मालूम है वह हर पल क्या कहता रहता है ? वह तो नित्य बिन कहे कहता है :

क) 'मैं तुम्हारा नहीं हूं।'
ख) 'तुमने जो भी करना है करो, मैं कुछ नहीं कहूंगा।'
ग) 'मैं तुम्हारा साथ नहीं दूंगा।'
घ) 'तुम जो चाहो मेरी ज़ुबान से बुलवा लो, किन्तु मेरे अंग अपने प्रति मौन हैं।'
ङ) 'तुमने नाता लगाना है तो तुम्हारी मर्ज़ी है। मैं अनात्म आत्म नहीं हूं, इस कारण मैं भूले से भी आत्म से नाता नहीं लगाता।'
च) 'मैं रेखा घड़ित, काल बधित, नित्य परम का चाकर, अपनी मर्ज़ी क्या जानूं ?'
छ) 'कोई मुझे कैसे इस्तेमाल करे, मुझे क्या ?'
ज) 'कौन सा गुण मुझमें हैं, मैं क्या जानूं?
झ) 'मेरा कौन सा गुण कौन इस्तेमाल करेगा, मैं क्या जानूं ?'

नन्हीं! यही तन का सहज गुण है। इसी विधि मन और बुद्धि के भी सहज गुण होते हैं, उनको अपनाने से पहले सोचो कि :

१. क्या वे गुण मैं ही हूं ?
२. क्या वे गुण मेरे हैं ?
३. क्या वे गुण मेरे अधीन हैं ?
४. क्या इन गुणों पर मेरा राज्य है।

गर तुम समझते हो कि उन पर तुम्हारा राज्य है तो :

क) थोड़े से गुण बदल कर दिखाओ!
ख) मन को मौन करके दिखाओ!
ग) बुद्धि में स्थितप्रज्ञता लाकर दिखाओ!
घ) कोई महा श्रेष्ठता का गुण तो दिखाओ!
ङ) अपने अहंकार को मिटाकर तो दिखाओ!
च) अपने दम्भ दर्प को हटाकर तो दिखाओ!
छ) अपनी ही मनो विकलता मिटाकर तो दिखाओ!
ज) अपने में से प्रेम बहाकर तो दिखाओ!
झ) अपने प्रति उदासीन होकर तो दिखाओ!

भाई! दूसरे व्यक्ति पर राज्य करना तो आसान है, परन्तु अपने आप पर राज्य करना बहुत कठिन है। दूसरे के प्रति उदासीन हो जाना आसान है, पर अपने प्रति उदासीन हो जाना ज़रा मुश्किल सी बात है।

अब सत्त्व स्थित जीव :

१. अपने तन, मन, बुद्धि को इस रूप से जान लेता है।
२. अपने तन, मन, बुद्धि को गुणों का खिलवाड़ जान लेता है।
३. अपने तन, मन, बुद्धि पर भी गुणों का राज्य है, यह जान लेता है।
४. तब यह जान लेता है कि :

- जिसे वह अपना कहता आया है, वह ही बेगाना है।
- जिसे वह अपना आप कहता आया है, वह ही उसका आप नहीं है।

- जहां वह अपना राज्य माने बैठा था, वहां उसका राज्य नहीं है। वहां वह एक कैदी की तरह रहता है।

तब उसके लिये आत्म अनात्म का भेद खुलने लगता है।

१. तब वह द्रष्टा बनकर दूर से अपने ही तन,मन,बुद्धि के गुण देखता है।
२. तब वह अपने ही तन, मन, बुद्धि के गुणों से संग नहीं करता।
३. तब वह अपने ही तन, मन व बुद्धि को बेगाना जानता है।
४. तब वह अपने ही तन, मन व बुद्धि से लिपायमान नहीं होता।
५. तब वह अपने ही तन, मन व बुद्धि के गुणों से प्रभावित नहीं होता।
६. तब वह अपने ही तन, मन व बुद्धि के लिए कुछ पाना नहीं चाहता।
७. तब उसे अपने ही तन, मन व बुद्धि को रिझाना नहीं होता।
८. तब वह अपने ही तन, मन व बुद्धि को स्थापित नहीं करना चाहता।
९. तब उसे जहान से क्या ?

- जहान से तो तन के कारण सब कुछ चाहिए था,
- तनो संरक्षण के लिए जग से कुछ चाहिए था, अब वह किसके लिए चाहे ?
- मनो मौज के लिए बहुत कुछ चाहिए था, अब किसके मन के लिए चाहिए ?

तनो स्थापति के लिए बहुत कुछ चाहिए था, रुचिकर चाहिए था, अरुचिकर मिटाना था, पर तन से नाता ही टूट गया, तो 'मैं' तनो तद्‌रूपता छोड़कर द्रष्टामात्र रह गया। क्यों न कहें 'मैं' चेतन स्वरूप हो गया, पर निष्प्राण हो गया।

क्योंकि :

- जहां प्राण हैं, वहां मृत्यु भी है।
- जहां प्राण हैं, वहां तन भी है।
- जहां प्राण हैं, वहां मृत्यु धर्म भी है।

जब मैं तन ही नहीं, तो मैं तनो मृत्यु गुण से भी दूर हो गई। यानि, नाम, रूप से नाता गया।

क) इसका परिणाम समाधि है।
ख) इस अवस्था को समाधि कहते हैं।
ग) जग उसके तन पर समाधिस्थ का नाम मढ़ता है।

- जो वह बात करे तो उसे शब्दानुबद्ध समाधि कहते हैं।
- जो वह कर्म करे तो उसे कर्मानुबद्ध समाधि कहते हैं।
- जहां वह दृष्टि धरे उसे दृष्टि अनुबद्ध समाधि कहते हैं।

सविकल्प कहो या निर्विकल्प कहलो, वह तो नित्य समाधिस्थ है। क्योंकि,

१. वह अपने प्रति प्रगाढ़ निद्रा में सो गया है।
२. वह अपने प्रति मौन हो गया है।
३. उसका अपना आप ही बेगाना हो गया है।

४. वह परम तत्त्व में खो गया है।
५. उसने अनात्म से संग छोड़ दिया है।
६. वह आत्म में आत्म हो गया है।
७. वह आत्मवान् कहलाता है।
८. वह भगवान कहलाता है।

जब चेतन से अहं स्वरूप चेतना खींच ली तो :

- मन भी चाकर हो गया।
- मन ने मनमानी छोड़ दी।
- संकल्प विकल्प सब मौन हो गये।
- द्वन्द्व उठने ही बन्द हुए।
- कामना, तृष्णा और लोभ गये।
- विक्षेप, द्वेष और क्षोभ गया।
- निर्वैर वह स्वतः हुआ।

भाई! मन जो मौन हुआ, तब ही तो आत्मवान् बना। बाकी जो रहा, उसे जग है देख रहा।

क) केवल परम विभूति रूप एक तन है खड़ा, जो स्वतः विधाता रचित काज कर रहा है।
ख) मन, बुद्धि भी विभूति मात्र रह जाते हैं।
ग) वह निर्विकार हो ही गया;
घ) वह नित्य तृप्त हो ही गया;
ङ) वह उदासीन हो ही गया;
च) वह निर्दोष हो ही गया;
छ) वह गुणातीत हो ही गया;
ज) वह स्थित प्रज्ञ, अकर्त्ता, अभोक्ता है;
झ) वह निर्मम, निरहंकार है;
यह सब भी जग ही कहता है।

वास्तव में वह साकार नित्य निराकार ही है। सहज समाधि उसकी सहज अवस्था को कहते हैं। वह नित्य अद्वैत में रहता है। जो भी उसके सामने आये, वह उसमें खो जाता है।

वह महा साधारण है क्योंकि उसके,

१. सहवासी बहुत साधारण हैं।
२. उसके मिलने वाले बहुत साधारण हैं।
३. जीवों के काज बहुत साधारण हैं।

अकेला हो तो वह जड़वत् है, कोई सप्राण आये, तो वह भी सप्राण हो जाता है। जो आये वा सामने, उसमें वह खो जाता है, उसके समान हो जाता है।

- यही अवस्था नित्य समाधि की है।
- यही परम नैष्कर्म सिद्धि है।
- यही परम संन्यास की भी स्थिति है।

नन्हीं! जो संन्यासी होते हैं वे :

१. निष्कामता के स्वरूप होते हैं।
२. सर्वारम्भ परित्यागी होते हैं।
३. अपने आपको भूले हुए होते हैं।
४. अपने प्रति उदासीन होते हैं।

वे स्वप्न में भी अपने आपको स्थापित नहीं कर सकते। वे स्वप्न में भी अपने आपको याद नहीं कर सकते।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

अब भगवान बताते हैं कि अपना धर्म, अपना कर्त्तव्य निभाते हुए निरासक्त, निष्काम बुद्धि से भगवान को कैसे पाते हैं?

शब्दार्थ :

१. सिद्धि को प्राप्त हुआ,
२. जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है।
३. तथा जो ज्ञान की पराकाष्ठा है,
४. हे अर्जुन! वह भी मुझसे संक्षेप में सुन।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान नैष्कर्म सिद्धि में स्थिति की कहने लगे हैं। अर्थात्,

क) ब्रह्म को प्राप्त होने के विषय में कहने लगे हैं।
ख) जिस प्रकार समाधिस्थ ब्राह्मी स्थिति को पाता है, कहने लगे हैं।
ग) ज्ञान की पराकाष्ठा तक कैसे पहुंचता है, कहने लगे हैं।

अभी तक उन्होंने कहा कि :

१. आप अपने सहज गुणों का अनुसरण करो।
२. आप अपने सहज स्वभाव का अनुसरण करो।
३. आप अपने सहज कर्त्तव्य का अनुसरण करो।
४. आप अपने सहज धर्म का अनुसरण करो।

फिर कहा :

५. यह सब करते हुए कर्मों को परमात्मा पर अर्पित करो।
६. यह सब परम पूजन जानकर करो।
७. यह सब संग रहित होकर करो।
८. यह सब कामना रहित होकर करो।
९. यह सब निरासक्त बुद्धि से करो।
१०. यह सब निष्काम भाव से करो।

यानि,

- आपकी पूजा निष्काम होनी चाहिए।
- आपके कर्म निष्काम होने चाहिए।
- आपका ज्ञान निष्काम होना चाहिए।

इसको दूसरे तरीके से कहें तो यूं कहेंगे :

क) तन भगवान का है, उन्हें दे दो।
ख) मन भगवान का है, उन्हें दे दो।
ग) बुद्धि भगवान की है, उन्हें दे दो।

यही संन्यास है। यही नैष्कर्म सिद्धि उत्पन्न करता है।

अब बताने लगे हैं कि नैष्कर्म सिद्धि पूर्ण जीव ब्रह्म को कैसे पाते हैं? समाधिस्थ नैष्कर्म सिद्धि पाये हुए होते हैं। यह *ओम् का तीसरा पाद है।

---

* ॐ के विस्तार के लिए माण्डूक्योपनिषद् देखिये!

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन! ब्रह्म को पाने के योग्य लोग कैसे होते हैं, अब यह समझ ले! भगवान के साधर्म्य जो लोग बनते हैं, वे कैसे होते हैं; अब भगवान स्वयं उनकी जीवन में जीने की विधि बताते हैं। वे लोग :

शब्दार्थ :

१. विशुद्ध बुद्धि से युक्त,
२. धृति से अपने अन्तःकरण को वश में किये हुए,
३. शब्दादि विषयों को त्याग कर
४. और राग द्वेष के प्रति उदासीन होकर,
५. एकान्त का सेवन करते हैं।
६. (वे) अल्प आहारी,
७. तन, मन, वाक् को वश में किये हुए,
८. नित्य ध्यान योग में टिके हुए,
९. वैराग्य का आश्रय लिये हुए होते हैं।

तत्त्व विस्तार :

देख मेरी सजनी! यहां भगवान ब्रह्म साधर्म्य बनने योग्य चिह्न बता रहे हैं और कहते हैं ऐसे लोग :

विशुद्ध बुद्धि से युक्त होते हैं, यानि उनकी बुद्धि :

क) निर्मल होती है।
ख) निर्लिप्त होती है।
ग) निरावृत्त होती है।
घ) चलायमान नहीं होती।
ङ) नित्य अप्रभावित रहती है।
च) उदासीन होती है।
छ) भय अभय के प्रति उदासीन होती है।
ज) मान अपमान के भय से प्रभावित नहीं होती।
झ) अपनी ही कामनाओं से प्रभावित नहीं होती।
ञ) अपने ही राग द्वेष से प्रभावित नहीं होती।
ट) अपने ही मित्र या अरि के भाव से प्रभावित नहीं होती।

यानि, उनकी बुद्धि स्थित प्रज्ञता पूर्ण होती है। वे न्याय कभी नहीं छोड़ते, चाहे न्याय करने में अपनी ही हानि हो जाये। वह स्थित प्रज्ञ रूपा बुद्धि ही परम तलक ले जा सकती है और स्थित प्रज्ञ रूपा बुद्धि युक्त ही भगवान जैसा होने के योग्य हैं।

एकान्त सेवन करने वाला और शुद्ध स्थान में रहने वाला :

भाई! जब चित्त शुद्ध हो जाये, तो :

१. आन्तर शुद्ध हो जाता है।
२. आन्तर मौन हो जाता है।
३. संकल्प विकल्प मौन हो जाते हैं।
४. कामना रूपा वृत्तियां मौन हो जाती हैं।
५. तब राग द्वेष रूपा द्वन्द्व बन्द हो जाते हैं।
६. अहंकार का अखण्ड शोर अति क्षीण हो जाता है।
७. 'यह करूंगा, यह नहीं करूंगा' की गुंजार बन्द हो जाती है।
८. आशा, तृष्णा, लोभ की पुकार बन्द हो जाती है।
९. क्षोभ, दुःख दर्द की कराहट बन्द हो जाती है।
१०. दुश्मन पर मनो आक्रमण के नाद बन्द हो जाते हैं।
११. छिपे मोह जाल और अज्ञान के पाश खुल जाते हैं।

नन्हीं! तब उसका आन्तर शुद्ध स्थान बन जाता है, जिसमें वे एकान्त में रहते हैं। वृत्ति झमेले मौन हो जाने पर वे पूर्ण जहान में एकान्तवासी ही होते हैं।

अल्प आहारी लोग ब्रह्म को पाते हैं :

ठीक ही तो है, वे तो केवल यज्ञशेष खाते हैं। वास्तव में वे तो कुछ खाते ही नहीं, क्योंकि :

क) उनका तन खाता होगा, वे तो तन को अपनाते ही नहीं।
ख) उनके गुण गुणों को खाते होंगे, पर वे तो तनोगुणों को अपनाते ही नहीं।
ग) भोक्ता हो तो भोग्य भी हो, जब भोक्ता ही नहीं तो भोगेगा कौन ?
घ) बुद्धि को आहार की आवश्यकता ही नहीं।
ङ) मन ने खाना पीना ही छोड़ दिया,

क्योंकि :

१. इन्द्रिय रस का जूठन कौन खाये ?
२. मन वास्तव में बुद्धि में विलीन हुआ, या कहें, बुद्धि ने मन को खा लिया। तुमने कहना है तो यूं कहलो, बुद्धि ने मन को अपने में समा लिया।

अब तुम ही देख लो। तन अपना नहीं, मन रहा नहीं, बुद्धि परम में जा टिकी, तो कौन खायेगा अन्न ?

तन, मन, वाक् को वश में करने वाला:

तन, मन, वाक् वश में हो ही गये जब :

क) तन ही अपना नहीं रहा।
ख) तनत्व भाव ही चला गया।
ग) तनो स्थापति के कारण ही मन भड़कता था, अब तनो स्थापति का प्रश्न ही नहीं रहा, तो

- दूसरे के लिए मन भड़कता नहीं।
- दूसरे के लिए मन तड़पता नहीं।
- दूसरे के लिए मन क्रोध नहीं करता।

अपने ही संग और मोह के कारण मन शोर मचाता था। तन से संग क्या गया, मन ही मौन हो गया।, हां! आपने कहना है तो चाहे कहलो उसका मन वश में हो गया। अब रही वाक् की बात!

१. अपने तनो संग के कारण वाक् गलत बोलते हैं।
२. अपनी तनो स्थापति के कारण वाक् गलत बोलते हैं।
३. जो अपने आप को तथा अपने स्वार्थ को न भूले, उसका वाक् गलत हो सकता है।
४. जो अपना मान बनाये रखना चाहता है, उसका वाक् गलत हो सकता है।
५. जो लोभ, कामना, संगपूर्ण हो, उसका वाक् आवृत्त हो सकता है।

जिसकी चाहना ही कोई न हो, जिसका तन ही अपना न हो, उसका निरावरण वाक् नित्य सत्य ही होता है। उसका निरावरण वाक् नित्य वश में ही होता है।

भाई! यह निष्काम कर्म की बात कह रहे हैं।

वैराग्य :

वैराग्य पूर्ण स्थिति हो, तब भगवान जैसा बनने के योग्य होते हैं।
१. संग अभाव वैराग्य है।
२. आसक्ति अभाव वैराग्य है।
३. रुचिकर विषय में भी निरासक्ति का होना वैराग्य है।
४. अपने ही राग द्वेष के प्रति उदासीनता और निरपेक्षता वैराग्य है।
५. मन की रुचि के प्रति मन ही मौन हो, तब वैराग्य होता है।
६. मन जब बुद्धि से प्रेम करे, तब वैराग्य होता है।
७. मन जब सत् से संग करे, तब वैराग्य होता है।
८. मन जब न्याय से संग करे तब वैराग्य होता है।
९. वैराग्य मन का गुण है।

क) परम से मन का संग भक्ति है, विषय से मन का संग आसक्ति है।
ख) परम से मन का संग विरक्ति है, विषय से मन का संग अनुरक्ति है।
ग) परम से मन का संग योग है, विषय से मन का संग भोग है।
घ) परम से मन का संग ज्ञान है, विषय से मन का संग अज्ञान है।
ङ) परम की ओर कदम धरो तो स्थूल दूर रह जाता है।
च) परम से लग्न हो ही गई तो मन वैरागी हो जाता है।
छ) वास्तव में वैरागी ने कुछ नहीं छोड़ा, उसे परम याद रहता है और विषय भूल ही जाता है।

नन्हीं!
- तनो विस्मृति ही तनो त्याग है।
- मनो विस्मृति ही मनो त्याग है।
- देहात्म बुद्धि की विस्मृति ही संन्यास है।

'ध्यान योग युक्त परो नित्यम्' :
यानि,
क) जो लोग नित्य ध्यान में स्थित होते हैं,
ख) परम के ध्यान में नित्य निमग्न रहते हैं,
ग) चित्त वृत्तियां सम्पूर्ण जब परम में टिकी हों,

घ) यानि वृत्तियां सम्पूर्ण एकरूप होकर आत्म में खोई हों,

ङ) परम निमग्न ऐसा हो जाये, कि अपनी सुध बुध ही खो जाये,

च) कौन राम और कौन मैं, यह भी याद जब न आये,

छ) जग में काज तो सब करे, पर कौन करे, यह भूल जाये,

तब वह नित्य ध्यान योग में स्थित कहलाता है।

पहले राम साक्षी था भया, अब मन में राम कहीं छुपे रहते हैं, अपना नाम नहीं याद रहा, राम का नाम भी भूल रहा। यह तन मेरा या राम का, यह भी वह भूल रहा होता है। 'अपना कहूं तो झूठ कहूं, कहूं राम का है तो झूठ भये,' कुछ ऐसी स्थिति होती है। यह तो नाम रूप की बात है, उसकी बात ही कौन कहे ?

नन्हीं ! यह नित्य ध्यान योग स्थिति की बातें हैं, समझ सको तो समझ लो। पर एक बात का ध्यान रहे :

ध्यान लगाया नहीं जाता,
ध्यान तो लग ही जाता है।
प्रेम किये हो प्रेम नहीं,
प्रेम तो हो ही जाता है॥ १॥

आसन बैठ के ध्यान लगे,
आसन से उठे जो टूटे है।
कैसा ध्यान वह तेरा है,
जो मन के नाते छूटे है॥ २॥

ध्यान तो हर पल लगता है,
गर सच्ची लगन तुम्हारी है।
साक्षी बनी चलें संग राम,
गर सत् जीवन में प्यारी है॥ ३॥

दिनचर्या में जो न टूटे,
ध्यान उसी को कहते हैं।
सहज काम में साथ जो दे,
नाम उसी को कहते हैं॥ ४॥

राम समान तू स्वतः भये,
गर राम ही तेरा साक्षी रहे।
जीवन भी राममय हो जाये,
गर सच ही उसमें ध्यान रहे॥ ५॥

धृति से आत्मा को नियम में रखते हुए :

१. नन्हीं ! अन्य धारणा क्या होगी, जब परम में ध्यान ही लग गया।
२. भगवान ने स्वयं ही कहा है, मन, प्राण और इन्द्रिय क्रिया अव्यभिचारी होकर गर योग में लगें, तो सात्त्विक धृति होती है।
३. ध्यान योग युक्त तो अपने प्राण भगवान को ही दे देता है।
४. ध्यान योग युक्त तो प्राण सहित अपना तन भगवान को दे देता है। तब नियम क्या, अनियम क्या ?

भगवान के साक्षित्व में सब कुछ नियमबद्ध ही होता है।

भगवान के साक्षित्व में नियम विरुद्ध दर्शाने वाला भी नियम बद्ध ही होता है।

केवल प्रेम ही चाहिए,
बाकी हो ही जायेगा।
केवल संग ही चाहिए,
रंग चढ़ ही जायेगा॥ १॥

साक्षी राम बन जायेगा,
नित्य साथ हो जायेगा।
योग भी जिस पल भूलेगा,
नित्य योगी हो ही जायेगा॥ २॥

ज्ञान कोण से गर कहें,
तनत्व भाव तू छोड़ दे।
जो करे सब ब्रह्म करे,
अहंकार तू छोड़ दे॥ ३॥

गुण गुणन् में वर्त रहे,
कर्तृत्व भाव तू छोड़ दे।
तू आत्म, तू तन नहीं,
अपना आप तू छोड़ दे॥ ४॥

समाधि लग ही जायेगी,
जग कहे तू जाग रहा।
तू परम में लीन भये,
जग को राम मिल जायेगा॥ ५॥

जग का तू चाकर भये,
ठाकुर तू बन जायेगा।
तू ठाकुर या राम है,
तुझको भूल ही जायेगा॥ ६॥

भाई! यह निष्काम उपासना की बात कर रहे हैं जिस राह से अन्तःकरण पावन हो जाता है।

शब्दादि विषयों को त्यागकर

भगवान ने स्वयं कहा है कि :

१. संग त्याग ही त्याग है।
२. कर्मफल चाह त्याग ही त्याग है।
३. कुशल या अकुशल जानकर छोड़ देना त्याग नहीं।
४. निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों से संग त्याग ही त्याग है।

इस दृष्टिकोण से शब्दादि विषयों का त्याग करने से त्याग का अर्थ कुछ और ही होगा!

शब्दादि विषयों के त्याग का अर्थ :
क) विषयों से संग त्याग है।
ख) रसना पूर्ति की चाह का त्याग है।
ग) कामना पूर्ति की चाह का त्याग है।

क्यों न कहें यहां निष्काम ज्ञान की बात कह रहे हैं।

देख कमला! तुझे बात बतायें!

१. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संसार की प्रतीति होती है।
२. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संसार भला लगता है।
३. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संसार बुरा लगता है।
४. ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संसार से संग होता है। यानि, ज्ञानेन्द्रियां ही सारी गड़बड़ करवाती हैं। किन्तु ज्ञानेन्द्रियों के बिना गुज़ारा भी नहीं हो सकता।

फिर कहते हैं, विषय ही त्याज्य हैं, क्योंकि :

१. उनके राही लोभ बढ़ता है।
२. उनके राही कामना बढ़ती है।
३. उनके राही दुःख बढ़ता है।
४. कोई विषय न मिले तो दुःख होता है।
५. कोई विषय विरुद्ध हो जाये, तो दुःख होता है, इत्यादि।

बहुत लोग विषयों को दोष लगाते हैं, किन्तु विषयों के बिना भी गुज़ारा नहीं।

भाई!
- अन्न भी विषय ही है।
- तन भी विषय ही है।
- मन भी विषय ही है।
- बुद्धि भी विषय ही है।

ये सब किसी न किसी के विषय हैं। तो जीव किस विषय का त्याग करे और किस को अपनाये ?

'राग द्वेष व्युदस्य' यानि,

१. राग द्वेष का ध्यान न करते हुए,
२. राग द्वेष से प्रभावित न होते हुए,
३. राग द्वेष के प्रति उदासीन रहते हुए,
४. राग द्वेष के प्रति आसक्ति रहित होते हुए,
५. राग द्वेष को अलग करके,
६. मानो राग द्वेष को दूर फेंक कर,

यही विषयों का त्याग है।

और आगे सुन! विषय तो ब्रह्म रचित, ब्रह्म की पूर्णता में नित्य स्थित हैं। विषय को विषपूर्ण :

क) अहंकार ही बनाता है।
ख) संग ही बनाता है।
ग) राग ही बनाता है।
घ) द्वेष ही बनाता है।
ङ) मोह ही बनाता है।

- विषय त्याग की बात नहीं, आसक्ति त्याग से विषय मानो छूट जाता है।
- विषय त्याग की बात नहीं, राग और द्वेष के त्याग से विषय मानो छूट जाता है।

१. जब कोई याद ही नहीं रहे तो समझो उससे संग नहीं रहता।
२. जब कोई वस्तु निरर्थक ही हो जाये, तो उससे संग नहीं रहता।
३. जब आपको विषय प्रभावित ही न कर सकें तो समझो संग छूट गया।

राग द्वेष को पुनः समझ!

यह सम्पूर्ण कर्म चक्र राग और द्वेष के बल पर चलता है और जीव में प्रवृत्ति या निवृत्ति राग और द्वेष के प्रभाव से होती है।

राग :

अधिकांश जीवन में जहां राग हो, जीव स्वत :

१. उससे आकर्षित होता है।
२. उससे प्रभावित होता है।
३. उसको अपनाना चाहता है।
४. उसका चाकर बनता है।
५. उसका समीपवर्ती बनता है।
६. उसकी ओर सहज प्रवृत्ति वाला होता है।
७. उसे अपनाने के लिए कार्य प्रवृत्त होता है।
८. उसके गुण गाता है।
९. उसकी छवि मन में बसाता है।
१०. उसे पाकर मुदित हो जाता है।
११. उससे बिछुड़ कर तड़प जाता है और विक्षिप्त हो जाता है।
१२. उसे पाने के लिए बहुत कष्ट उठाता है।
१३. जहां राग हो, वहां रुचि होती है।
१४. जहां राग हो, जीव उसी का सत्कार करता है।

द्वेष :

द्वेष में इस सबसे विपरीत भावना होती है।

१. अरुचिकर से द्वेष होता है।
२. अरुचिकर से विरोध होता है।
३. अरुचिकर से घृणा होती है।
४. अरुचिकर से जीव विमुक्ति चाहता है।
५. अरुचिकर से जीव की शत्रुता होती है।
६. अरुचिकारक का जीव तिरस्कार करता है।
७. जहां द्वेष होता है, वहां जीव भड़कता है।
८. जहां द्वेष होता है, वहां जीव लड़ता है।
९. जहां द्वेष होता है, वहां जीव टाल मटोल करता है।
१०. जहां द्वेष होता है, वहां जीव बहाने लगाता है।

देख मेरी जान! राग द्वेष ही जीव में विभिन्न प्रकार के व्यवहार का कारण हैं।

क) आकर्षण पसन्द के हाथ है और जहां पसन्द है वहां राग है।
ख) प्रतिकर्षण अरुचि की बात है और जहां अरुचिकर है वहां द्वेष है।
ग) वियोग तथा संयोग राग द्वेष के ही परिणाम हैं।
घ) कामना तृष्णा भी राग के कारण ही होती है।
ङ) ईर्ष्या, घृणा भी द्वेष के कारण ही होती है।
च) परिग्रहण तथा परित्याग भी राग द्वेष पर आश्रित है।

वास्तव में देखा जाये तो :

- राग द्वेष ही जन्म मरण का चक्र चलाते हैं।
- राग द्वेष ही जन्म मरण हैं।

किन्तु यदि संग ही न हो तो राग द्वेष कोई अर्थ नहीं रखते। इस कारण भगवान ने यहां कहा, ' राग द्वेष व्युदस्य' यानि, राग द्वेष की परवाह न करके अथवा उनके प्रति उदासीन होकर जो रहता है, वह परम के योग्य होता है।

यहां एक और बात समझ ले :

१. गर संग न रहे तो राग द्वेष निरर्थक हो जाते हैं।
२. गर संग न रहे तो राग द्वेष निष्प्राण हो जाते हैं।
३. फिर जो निष्काम कर्म युक्त, उपासना युक्त और ज्ञानपूर्ण हो, वह अपनी रुचि अरुचि की परवाह नहीं करता।

जैसे जिह्वा अपना सहज धर्म नहीं छोड़ती; कड़वा, मीठा, नमकीन, खट्टा, यह तो ज़ुबान बतायेगी ही; इनमें से कोई आपको भायेगा, कुछ अरुचिकर होगा ही। किन्तु परम को पाने के योग्य है जो, वह इन पर ध्यान न धरे, वह इनसे प्रभावित न हो। बुरा खाना ज़रूरी नहीं, किन्तु जिह्वा रसना के कारण प्रभावित नहीं होनी चाहिए।

तनो पीड़ा तो सतायेगी ही, तनो पीड़ा तो रुचिकर नहीं हो सकती। किन्तु तनो पीड़ा से उनकी बुद्धि अप्रभावित रहती है।

देहात्म बुद्धि का अर्थ देह से संग है।

संग राही जीव एक रूपता पाता है। संग राही ही जीव समान धर्म वाला हो जाता है।

- तन से संग हुआ तो तनोगुण अपना लिये।
- तन से संग हुआ तो तनोकर्म अपना लिये।
- तन से संग हुआ तो गुणों के कर्म अपना लिये।

संग राही जीव अपने आपको वही मान बैठता है और अपने जीवन को रंगता जाता है।

सत्संग :

इस कारण कहते हैं सत् से संग करो; सत् स्वरूप से संग करो; भगवान से संग करो।

क) गर सत् से संग हो गया तो असत् छूट ही जायेगा।
ख) गर आत्म से संग हो गया तो अनात्म से संग नहीं होगा।
ग) तब 'यह छोड़ दो या वह छोड़ दो', इसकी बात भी नहीं उठेगी।
घ) तब 'यह न करो या वह न करो', इसकी बात ही नहीं उठेगी।

तन से संग हो गया तो राग द्वेष सप्राण हो जाते हैं। यदि तन से संग ही नहीं रहा तो राग द्वेष निष्प्राण हो जाते हैं।

संग और आसक्ति में भेद :

तन से संग के पश्चात् राग द्वेष से आसक्ति होती है।

- संग से रंग चढ़ता है, आसक्ति से दूसरे का फ़ायदा उठाना चाहता है।
- संग से तद्रूपता होती है, आसक्ति से भिन्नता बनी रहती है।
- संग से दूसरे के गुण अपने में लाता है, ये गुण सद्गुण हों या दुर्गुण, यह और बात है। आसक्ति विषय से होती है और जीव विषय प्राप्त करना चाहता है।

लाडली नन्हीं!

क) संग से तद्रूपता आती है।
ख) संग से एकरूपता उत्पन्न होती है।
ग) संग से दूसरे के गुण अपने में आते हैं।
घ) संग से संगम होता है।
ङ) संग से ऐक्य की ओर जाते हैं।
च) संग से साधर्म्य बनता है।
छ) संग से मिलन होता है।

आसक्ति के कारण जीव :

१. दूसरे से लाभ उठाता है।
२. दूसरे के राही अपना सुख चाहता है।
३. दूसरे के राही ख़ुद नाम कमाना चाहता है।
४. दूसरे के राही प्रेम पाना चाहता है।
५. दूसरे के राही अपनी पूर्ति चाहता है।
६. गुण अपने में नहीं आते, दूसरे में रहते हैं।
७. दूसरे के जैसा नहीं बनता।
८. मुग्ध हो जाने से आसक्ति होती है।
९. आसक्ति मोहित हो जाने को भी कहते हैं।
१०. राग द्वेष जिससे हो, वहां आसक्ति है।
११. दुश्मन से भी एक प्रकार की आसक्ति होती है, तब ही तो उसे भूल नहीं पाते।

इसको समझ कर देख! भगवान कहते हैं, भगवान जैसा होने योग्य जो जीव है, वे :

- राग और द्वेष के प्रति उदासीन होते हैं।
- परम से संग के कारण नित्य ध्यान योग के परायण होते हैं।
- सत् से संग के कारण नित्य ध्यान योग के परायण होते हैं।
- सत् से संग के कारण असत् को भूल कर परम को पाने के योग्य बनते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

भगवान कहते हैं अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. अहंकार, बल, घमण्ड,
२. काम, क्रोध और परिग्रह छोड़कर,
३. निर्मम तथा शान्त पुरुष,
४. ब्रह्म में एकत्व भाव पाने के योग्य होता है।

तत्त्व विस्तार :

मेरी सखी! सर्वप्रथम *अहंकार समझ ले।

अहं के कार्य को अहंकार कहते हैं।

क) देहात्म बुद्धि अहंकार है।
ख) देहाभिमान अहंकार है।
ग) तनोगुण का अभिमान अहंकार है।
घ) अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानना अहंकार है।
ङ) कर्तृत्व भाव अहंकार है।
च) मैं तन हूं, यह बात मानना ही अहंकार है।
छ) तनोगुण का मान या अपमान अपना मानना ही अहंकार है।
ज) तन, मन, बुद्धि में व्यक्तिगत कर 'मैं' को मिलाकर जीवन में विचरना अहंकार है।
झ) तन से संग अहंकार है।
ञ) प्रवृत्ति या निवृत्ति से संग अहंकार है।
ट) तन के मान अपमान से संग अहंकार है।
ठ) तनो स्थापति के कारण दूसरे से भिड़ाव अहंकार है।
ड) तनो स्थापति के कारण स्वार्थपूर्ण व्यवहार अहंकार है।
ढ) 'मैं संन्यासी हूं' या 'मैं भक्त हूं' ऐसा भाव ही अहंकार है।
ण) 'मैं निकृष्ट हूं या पापी हूं,' इससे भी संग अहंकार है।
त) स्वार्थपूर्णता अहंकार है।
थ) दूसरे को बुरा मानना भी अहंकार है।
द) दूसरे को अपने से नीचा मानना भी अहंकार है।

* अहंकार के विस्तार के लिए १६/१८ देखिये!

ध) बुद्धि गुमान भी अहंकार है।
न) अपने को ही पावन मानना अहंकार है।
प) 'मैं यह हूं' या 'मैं वह हूं' और इस नाते श्रेष्ठ हूं, यह सोचना या मानना अहंकार है।

भाई! अहंकार दूसरे को दबाने के यत्न करता है। अहंकार दूसरे को मनाने के यत्न करता है; सीधा मनाये या टेढ़ा।

यानि, कभी रोकर अपनी स्थापति चाहता है, कभी क्रोध करके अपनी स्थापति चाहता है, कभी धन के राही अपनी स्थापति चाहता है, कभी लड़कर अपनी स्थापति चाहता है। कभी निन्दा चुगली करके अपनी स्थापति चाहता है और कभी झूठ कभी सच बोलकर अपनी स्थापति चाहता है।

अहंकार केवल दूसरे के ऊपर अपनी श्रेष्ठता जताना चाहता है।

जो ब्रह्म को पाने योग्य होते हैं, उनमें
१. अहंकार का नितान्त अभाव होता है।
२. व्यक्तिगत कर भाव ही नहीं होता।
३. उनका किसी पर अधिकार ही नहीं होता।
४. वे सबके होते हैं।

उनकी दृष्टि में या सब अपने हैं या उनका तन भी अपना नहीं। निज तनत्व भाव त्याग के पश्चात् ही जीव :
क) अद्वैत में स्थित हो जाता है।
ख) तब उसको पूर्ण जहान में भेद नहीं दर्शाता।
ग) भगवान की तरह वह भी सबको अपना आप ही मानता है।
घ) जो जैसा सामने आये, वह वैसा ही रूप धर लेता है।
ङ) निर्भय, निर्मम, निर्मोह हो जाता है।

नन्हीं! वह तो प्रेम स्वरूप होता है, क्योंकि वह,
- सबको अपना आप जानकर सबके काज करता है।
- सबके साथ एकरूप हो जाता है।
- अपने तन को भुलाकर, दूसरे के तन के तद्रूप होकर, दूसरे की ही चाहना पूर्ति के यत्न करता है।

नन्हीं! जो अपने आपको भूल जाता है, वह प्रेम स्वरूप हो ही जाता है। अब मेरी नन्हीं जान! समझ ले प्रेम किसे कहते हैं:
१. प्रेम ही योग का दूसरा नाम है।
२. प्रेम एकरूपता को कहते हैं।
३. प्रेम प्रेमास्पद से तद्रूपता को कहते हैं।
४. प्रेम प्रेमी में प्रेमास्पद के गुण अवतीर्ण करता है।

प्रेम में सहज शक्ति है, जो :
क) आपको अपना आप भुला दे।
ख) आप में भगवान के गुण भर दे।
ग) आपको सहज में तनत्व भाव से परे कर दे।
घ) पल में आपको विनम्रता की मूर्त बना दे।
ङ) आपका हृदय भी आपके प्रेमास्पद के समान विशाल बना दे।

यहां भागवत् प्रेम के दृष्टिकोण से समझा रहे हैं। जहां प्रेमी भगवान से प्रेम करता है, वह भगवान के लिए ही जीता है।

जीते जी गर अपना तन भगवान को दे दो तो भगवान आपके तन में ही सप्राण हो जायेंगे। लोगों के लिए आपका नाम नहीं बदला, किन्तु आपने अपने मन में अपना तन भगवान को दे दिया होता है।

- प्रेम करने वाले अपना सर्वस्व भगवान का समझते हैं।
- प्रेम करने वाले तन को भी भगवान का समझते हैं।
- प्रेम करने वाले अपने मन और जीवन को भी भगवान का समझते हैं।

उनका भाव होता है कि 'जो मिला वह भगवान को मिला, जो नहीं मिला वह भगवान को नहीं मिला।'

भगवान की प्रीत कौन समझे :

१. महा शुभ काज करने वाले लोग शायद उन्हें समझ सकें।
२. नित पाठ पठन करने वाले लोग शायद उन्हें समझ सकें।
३. अपनी तरफ़ से नित्य आज्ञाकारी गण शायद उन्हें समझ सकें।
४. नित भगवान का नाम जो लें, वे लोग शायद उन्हें समझ सकें।
५. नित भागवत् गुणगान करने वाले लोग शायद उन्हें समझ सकें।
६. नित कीर्त्तन में निमग्न रहने वाले लोग शायद उन्हें समझ सकें।
७. नित मन्दिर के पुजारीगण शायद उन्हें समझ सकें।
८. जो प्रेम करते हैं भगवान से, वे शायद उन्हें समझ सकें।
९. जो भागवत् प्रेम पर श्रद्धा रखते हैं, वे शायद उन्हें समझ सकें।
१०. जो भगवान को प्रेमस्वरूप मानते हैं, वे शायद उन्हें समझ सकें।

वे भी भगवान का प्रेम देखकर घबरा जाते हैं। भगवान प्रेम स्वरूप हैं, पर :

क) वे केवल प्रेमी से ही प्यार नहीं करते।
ख) वह भूले भटकों से भी प्यार करते हैं।
ग) वह अपने विद्रोहियों से भी प्यार करते हैं।
घ) वह अज्ञानियों से भी प्यार करते हैं।
ङ) वह दुराचारियों से भी प्रेम करते हैं।
च) वह वेश्या तथा अत्याचारी से भी प्रेम करते हैं।
छ) जो भगवान के गुण गाये, उससे भी प्रेम करते हैं; जो भगवान के गुण ठुकराये, उससे भी प्रेम करते हैं।
ज) भागवत् प्रेम आपके ऊपर के आडम्बर पर आश्रित नहीं होता। भागवत् प्रेम तो केवल प्रेम है।
झ) वह ज्ञानी को भी प्रेम करते हैं, किन्तु उससे कहीं अधिक सत्प्रिय को प्रेम करते हैं।

गुमान जीव को भगवान से दूर करता है। ज्ञान गुमान, शुभ कर्म का गुमान, अपने अच्छे गुणों का गुमान, अपनी श्रेष्ठता, अपनी विद्वत्ता का गुमान आपको भगवान से दूर करता है।

- गुण अभिमान तो महा जटिल अहंकार है।
- गुण अभिमान तो महा पतन कारक है।
- गुम अभिमान तो अन्धेपन को बढ़ाता है।
- गुण अभिमान भगवान से दूर करवाता है और आपको अपावन करता है।

जब भगवान निकृष्ट गुण सम्पन्न को गले लगाते हैं, तो साधुता गुमानी तड़प जाते हैं और भगवान पर भी कलंक लगाते हैं। जब भगवान हारे हुओं को गले लगाते हैं तो नित्य विजयी गण तड़प जाते हैं। जब भगवान गिरे हुओं को अंग लगाते हैं तो साधुता गुमानी उन्हें भी पतित मान लेते हैं। तब वे भगवान को अन्यायी मान लेते हैं। ऐसे इन्सान को बुरा समझने लगते हैं।

वे कहते हैं, 'इस स्वर्ग क़ो भी क्या करना, जहां नीच या कुटिल लोग भी सहज में आ सकें। ऐसे भगवान को क्या करना, जो मूर्खों की भान्ति सबको क्षमा कर दे।'

याद रहे! भगवान जीव को वही देते हैं जैसे जीव उन्हें जीवन में इस्तेमाल करते हैं। जो जीवन में भगवान के गुणों का इस्तेमाल करते हैं, उन्हें भगवान अपना स्वरूप देते हैं।

क) भगवान से करुणा चाहते हो तो अपने में देख लो, आपको करुणा कितनी पसन्द है।

ख) भगवान से क्षमा चाहते हो तो अपने को देख लो, आप स्वयं कितना क्षमा करते हैं।

ग) गर आप में दया नहीं तो दया की भीख मत मांगो।

घ) गर आप में झुकाव नहीं तो भगवान आप तक झुककर कैसे आयें ?

ङ) गर आप दूसरे को दुष्ट कहकर दूर हो जाते हो, तो भगवान आपके गुमान के कारण आपसे दूर हो जाते हैं।

च) आपका गुमान आपको भगवान से दूर कर देता है।

छ) गर आप निरपेक्ष प्रेम करो तो भगवान का प्रेम आपको घेरे रहेगा।

ज) गर आप नित्य सत्यता में रहें तो सत्यता आपको घेरे रहेगी।

झ) गर आप अपना तन भगवान को दे दें, तो भगवान आपके मन में आन बसेंगे।

ञ) गर आप अपना मन भगवान को दे दें तो भगवान आपके मन में आन बसेंगे।

ट) गर आप अपने कर्म भगवान को अर्पित कर दें तो भगवान आपके कर्मों में आन बसेंगे।

ठ) गर आपको भगवान का ध्यान रहे, तो भगवान भी आपके नित्य साक्षी बने रहेंगे।

ड) जो जीवन में भगवान को चाहते हैं, भगवान उन्हें नहीं छोड़ते।

ढ) जो केवल अपनी स्थापति के लिए भगवान को चाहते हैं, भगवान उनसे दूर रहते हैं।

नन्हीं! तुम यह सोच तो लो! अपने सहज जीवन का कितना भाग आप भगवान को दे सकते हो ? बस उतना ही प्रेम है भगवान से आपका! यदि आपको ज्ञान चाहिए, अपने आपसे पूछ लो, क्यों

चाहिए ? यदि भगवान चाहिए तो अपने आपसे पूछ लो, क्यों चाहिए ? आपकी निहित चाह पर आधारित है आपकी सत्यता। आपकी निहित चाह पर आधारित होती है आपकी सत्यप्रियता।

१. गर आपका प्रेम सांचो है तो तन भगवान का है।
२. गर तन भगवान का है तो मान भगवान का है।
३. गर तन भगवान का है तो अपमान भी भगवान का है।
४. जो भी आपने कार्य किया, वह भगवान के तन ने किया।
५. तब भागवत् गुण बहते हैं जीव के तन राही।

- यह तभी हो सकता है यदि भगवान से प्रेम हो जाये।
- यह तभी हो सकता है यदि आप भगवान के परायण हो जायें।

भगवान का प्रेम जीवन में देख तो सही :

क) भगवान दुश्मन से भी प्रेम करते हैं,
ख) भगवान को जो दुष्ट कहते हैं, भगवान उनको भी प्रेम करते हैं।
ग) जिन्हें लोग दुष्ट कहकर ठुकरा देते हैं, भगवान उनको भी प्रेम करते हैं।
घ) पापियों से भी वह प्रेम करते हैं।
ङ) निन्दा करने वालों से भी वह प्रेम करते हैं।
च) चोरों से भी वह प्रेम करते हैं।
छ) वह साधुओं से भी प्रेम करते हैं।
ज) सबके प्रहार सहकर भी वह प्रेम करते हैं।
झ) कोई घर बुलाये उसे भी प्रेम करते हैं।
ञ) कोई घर से निकाले उसे भी प्रेम करते हैं।

मेरी नन्हीं जान!

- प्रेम ही उनकी शक्ति है।
- प्रेम ही उनकी भक्ति है।
- प्रेम ही उनका नाम है।
- प्रेम ही उनका काम है।
- प्रेम ही उनका जीवन सारांश है।
- प्रेम ही उनके जीवन का आधार है।

वह स्वयं प्रेम की एक महा पावनी धारा हैं। वह स्वयं प्रेम का ही एक प्रमाण हैं। जानती हो, यह सब कैसे होता है ? वे भगवान से प्रेम करते हैं, वे भगवान में खो गये, वे भगवान ही हो गये। यानि, उन्हें अपना आप भूल गया, बाकी भगवान ही रह गया।

नन्हीं!

१. योग प्रेम को ही कहते हैं।
२. योग राही सब समझ आ ही जाता है।
३. योग राही परम का धर्म ही अपना धर्म हो जाता है।
४. योग राही अपना आप भूल जाता है।
५. योग राही 'मैं' की जगह पर भगवान ही रह जाते हैं।

यही साधक की और भगवान की कहानी है। यही साधक की साधना की पराकाष्ठा है।

सो मेरी जान! सुख, चैन, शान्ति, भगवान के चरणों में ही है, भगवान के नाम में ही है। भगवान का तन भगवान को लौटा देने में ही सुख है। भागवत् प्रेम में खो जाने में ही चैन है। भगवान का हो जाने में ही शान्ति है। तब,

क) जीवन यज्ञमय हो ही जायेगा।
ख) जीवन सत्मय हो ही जायेगा।
ग) जीवन कर्त्तव्यपरायण हो ही जायेगा।
घ) सुख देने से आपको आनन्द मिल ही जायेगा।

नन्हीं साधिका!

१. भगवान से परिस्थिति परिवर्तन न मांगो।
२. जिस परिस्थिति से आप भयभीत होते हो, वही परिस्थिति आपको वीर बना सकती है।
३. जहां आपको ज़फा मिलती है, वहीं आप वफ़ा का अभ्यास कर सकते हैं।
४. जहां लोग आपको ठुकराते हैं, वहीं आप प्रेम के देवता बन सकते हैं।
५. क्रोधी के पास रहकर ही आप शान्ति का अभ्यास कर सकते हैं।
६. लोभी के पास रहकर ही आप झुकना सीख सकते हैं।
७. सद्गुण तथा साधुगुण विपरीतता में ही पलते हैं।
८. यदि विपरीतता में सद्गुण नाश हो जायें तो वह सद्गुण नहीं हैं।
९. यदि चित्त विपरीतता में अशुद्ध हो जाये तो उसे शुद्ध कहना मूर्खता है।
१०. गर आप मान अपमान से डरते हो, तो आप मान अपमान से नहीं उठे, इसे जान लो।
११. गर दामन बचा कर चलते हो, तो तनत्व भाव से नहीं उठ सकते।

नन्हीं! बेवफ़ाओं में ही वफ़ा पलती है। बेवफ़ा से वफ़ा कर सको तो मानें कि आप में वफ़ा है, वरना आप भी बेवफ़ा हैं।

दुष्टों से दूर रहने वाले साधु नहीं हो सकते। दुष्टों से प्रेम करने वाला भगवान कहलाता है। दुष्टता से लड़ना है तो लड़ो, दुष्ट से क्यों द्वेष करते हो ? भागवत् प्रेमी साधु को बचाते हैं, साधु का नित्य संरक्षण करते हैं।

यानि, जीवन में सत् का अनुसरण करते हुए :

क) जो किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाये, उसको उठाकर पुनः सत्य पथ पर लाते हैं।
ख) परिस्थितिवश जो घबरा जायें, उन्हें बल देते हैं, ताकि वे परिस्थिति का सामना कर सकें।
ग) जो किसी नेता, मालिक या अधिकारी के चंगुल में फंस जायें, भगवान के प्रिय भक्त उनकी सहायता करते हैं।

नन्हीं! उन्हें बचाने के लिए अपना सर्वस्व लुटा देना ही भगवान का नाम है; उन्हें बचाने के लिए अपना सर्वस्व लुटा देना ही भगवान का प्रेम है; यही भगवान का गुण है। इसलिए ही भगवान का जन्म होता है। यही भगवान का प्रेम है; यही भगवान से योग की पराकाष्ठा है। यही अहंकार रहितता की निशानी है। अहंकार

रहित अहं रहित हो ही जाते हैं। अहं रहित भगवान का स्वरूप पा ही जाते हैं। भगवान का स्वरूप ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म ही हैं।

बल :

१. बल अहंकार का ही एक रूप है।
२. तन की किसी शक्ति पर गुमान ही बल का गुमान है।
३. बल और अहंकार केवल दूसरे को गिराने की बात कर सकते हैं।
४. प्रेम के बल को बल नहीं कहते, प्रेम करने वाले का बल भगवान होते हैं।
५. झुकाव के बल को बल नहीं कहते क्योंकि झुकाव भागवत् गुण है।
६. वफ़ा के बल को बल नहीं कहते, वफ़ा करने वाले का केवल मात्र सहारा भगवान होते हैं।
७. बेख़ुदी का बल क्या हो सकता है ?
८. मौन का बल क्या हो सकता है ?

जीव के बल में कर्त्तापन का अहंकार है। भगवान के बल में अखण्ड मौन है।

तप ही बल होता है, तपस्वी के पास बल नहीं।

किन्तु इन सब बातों से क्या, गर तन ही अपना नहीं रहा। जब तनत्व भाव में ही अहं नहीं रहा, तो बल किसका रह गया ? हिंसा भी तो बल के अहंकार का परिणाम है।

भाई! यह सब निरर्थक हो जाते हैं सच्चे योगी के लिए!

*** दर्प :**

१. मिथ्या अभिमान की तब बात ही नहीं रहती।
२. वे तो उन गुणों का भी अभिमान नहीं करते जो उनके पास हैं। जो गुण उनके पास हैं ही नहीं, उनका गुमान वे क्या करेंगे ?
३. दम्भपूर्ण व्यवहार का वहां नितान्त अभाव हो जाता है।
४. अपनी न्यूनता के छुपाव का सारा सामान खत्म हो जाता है।
५. तब क्रोध का प्रयोजन ही खत्म हो जाता है।
६. अपने पर से ध्यान खत्म हो जाये तो दूसरे को बड़ा बनकर दिखाने की चाहना भी खत्म हो जाती है।

अहंकार ही नहीं रहा तो :

क) अकड़ भी नहीं रहती।
ख) भिड़ाव भी नहीं होता किसी से।
ग) तक़रार खत्म होने से दर्प का प्रयोजन नहीं रहता। तब दर्प का अभाव हो जाता है।
घ) राग द्वेष भी खत्म होने लगते हैं, अजी नहीं, खत्म ही हो जाते हैं।

**** काम :**

काम को भी ये लोग छोड़ देते हैं। जब तन ही अपना नहीं रहा तो कामना को कौन अपनायेगा ? अद्वैत में दूसरे की कामना को

---

* दर्प के विस्तार के लिए १६/४ देखिये।

** काम के विस्तार के लिए १६/१२ देखिये!

अपनाता हुआ, या यूं कहो, किसी की कामना के तद्रूप होकर किसी के लिए कामना करता हुआ सा दिखता है।

- वह हर पल कार्य में प्रवृत्त होता हुआ सा दिख सकता है।
- वह हर पल लड़ता झगड़ता सा दिख सकता है।
- वह हर किस्म की बातों में तत्पर और खोया हुआ सा दिख सकता है।

किन्तु वह अपने अहं की बढ़ती, पूर्ति या स्थापति के लिए कुछ नहीं करता।

काम को पुनः समझ!

१. अपनी किसी इन्द्रिय रसना पूर्ति की चाह को काम कहते हैं।
२. बाह्य विषय उपभोग की चाह काम है।
३. रुचिकर पाने की तीव्र चाह काम है।
४. अरुचिकर मिटाकर रुचिकर पाने की तीव्र चाहना को कामना कह लो।
५. अपनी तनो स्थापति की चाहना काम है।
६. स्थूल से संग का परिणाम कामना है।
७. मन की प्रधानता के लिए जो चाह उठे, वह कामना है।
८. इन्द्रिय परायणता कामना है तथा कामना वर्धक है।
९. तनो परायणता कामना है तथा कामना वर्धक है।
१०. तनो मान की चाह भी कामना उत्पन्न करती है।
११. वास्तव में जड़ तन से संग हो जाने के कारण जो भी चाहो या करो, वह कामना ही है।
१२. विषयों से तृप्ति की इच्छा कामना है।
१३. अभिरुचि अर्थ और अर्थ आकांक्षा कामना है।
१४. अतृप्त क्षुधा, किसी भी अभीष्ट पदार्थ की आकांक्षा कामना है।
१५. लालसा, लोभ, आशा, यह सब कामना ही तो हैं।
१६. जब बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और राग द्वेष नहीं रहते, तब जीव किसी की भी कामना नहीं करता।

क्रोध :

क्रोध का कारण ही नहीं रहा तो क्रोध कौन करे ?

१. कुछ छुपाना ही नहीं रहा।
२. कुछ पाना ही नहीं रहा।
३. मान अपमान की परवाह नहीं रही।
४. किसी को मनाने की चाह नहीं रही।
५. कोई धाक जमाने की बात ही नहीं रही।
६. आत्म संरक्षण की भी बात चली गई।
७. अपनी न्यूनता कोई देख लेगा, इसकी घबराहट ही नहीं रही।
८. किसी ने इसे गिरा दिया, ऐसा भाव ही जब नहीं उठता तो क्रोध के लिए स्थान ही कहां रहा ?

जब अपनी सत्यता देख ली तो :

क) अपनी न्यूनता छुपाने की जगह पर दूसरे की श्रेष्ठता मान ली।
ख) अपनी असमर्थता जानकर दूसरे की सामर्थ्य को मान लिया।
ग) ईर्ष्या का प्रश्न ही नहीं उठता तो क्रोध कैसे आयेगा ?

घ) गुण खिलवाड़ समझ लिया तो क्रोध कैसे आयेगा ?
ङ) जो आप हैं, गर उसकी सत्यता जान लें तो क्रोध कम हो जायेगा।
च) गर दूसरे के भी सहज गुण समझ लें तो क्रोध शान्त हो जायेगा।

वास्तव में क्रोध तो :

१. आपकी हार की निशानी है।
२. आपके मानसिक बचपने का चिह्न है।
३. आपकी बुद्धिहीनता का चिह्न है।
४. आपकी परिस्थिति को सम्भालने की असमर्थता का ढंग है।
५. आपकी बुद्धि की कमज़ोरी का चिह्न है।
६. आपके सत् न देख सकने का चिह्न है।
७. आपकी काल्पनिक, मानसिक मान्यता के बाह्य हकीकत से मेल न खाने की प्रदर्शनी है।
८. मूर्ख का अहंकार है।
९. दूसरे से सान्त्वना की चाह है।
१०. मन में छुपे दाग़ों का उबाला है।
११. मन में छुपे पापों की तड़प है।
१२. भाई! जब सत् न देखना चाहें तो अन्धा बनने की विधि है।
१३. अपनी गलती छिपाने की विधि है।
१४. अपनी गलतियां दूसरों पर मढ़ने का सहज और सीधा रास्ता है।
१५. 'जी' कहकर मुकर जाने का रास्ता है।
१६. बुद्धि के भिखारी की बुद्धिमान् कहलाने की पुकार है।
१७. अरे! मूढ़ की भगवान बन जाने की चाहना का चिह्न है।

यह क्रोध :

क) दम्भ, दर्प और अहंकार पूर्ण का गुण है।
ख) बुद्धि के अन्धे का गुण है।
ग) दूसरे को दबाने वाले का गुण है।
घ) असत् पूर्ण का गुण है।
ङ) अपने आपको श्रेष्ठतम मानने वाले का गुण है।
च) गुमानी का गुण है।
छ) अपनी गलती को ठीक सिद्ध करने वाले का गुण है।

वास्तव में यह निर्बल का बल है। क्रोध सत् प्रिय के काम का नहीं, वह इसे अपने लिए इस्तेमाल नहीं करता।

*** निर्मम :**

निर्मम का अर्थ है :

१. जिसका अपना कुछ भी नहीं है।
२. जिसका अपना कोई भी नहीं है।
३. जिसका अपना तन भी नहीं है।
४. जिसका किसी पर अधिकार नहीं है।
५. वह अपने तन पर ही अपना अधिकार नहीं रखता।
६. वह अपनी किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं रखता।
७. वह अपनी करनी पर भी अपना अधिकार नहीं रखता।
८. कर्तृत्व भाव का अभाव होने के कारण कर्म भी नहीं अपनाता।

---

* निर्मम के विस्तार के लिए २/७१ देखिये।

९. तनत्व भाव का अभाव होने के कारण तन भी नहीं अपनाता।
१०. तनत्व भाव का अभाव होने के कारण तन का मान भी नहीं अपनाता।
११. तनत्व भाव का अभाव होने के कारण तनो अपमान भी नहीं अपनाता।

नन्हीं! वह तो किसी पर अपना अधिकार नहीं रखता; किन्तु वह दूसरे के अधिकार नहीं छीनता। पिता पर उसका अधिकार नहीं रहा, किन्तु पिता का उस पर पूरा अधिकार है। यानि, वह किसी के अधिकार नहीं छीनता, वह तो केवल अपने अधिकार भगवान को अर्पित कर देता है।

इस बात को पुनः ध्यान से समझ! उसने अपने अधिकार छोड़े हैं, उसने अपने कर्त्तव्य नहीं छोड़े। उसका कोई नहीं रहा, पर वह तो सबका हो गया। इसलिए कहते हैं, वह सब कुछ छोड़ चुका है।

१. वास्तव में वह अपने प्रति उदासीन हो जाता है।
२. वास्तव में वह अपने तन के प्रति उदासीन हो जाता है।
३. वास्तव में वह अपने मान अपमान के प्रति अनपेक्ष हो जाता है।
४. दुश्मन और सज्जन में भेद कैसे रहे, जब अपने प्रति ही उदासीन भये ?
५. दुश्मन की दुश्मनी के प्रतिरूप वह विचलित नहीं होता, क्योंकि तन उसका नहीं।
६. निर्मम ने अपना हक छोड़ा है, दूसरे का हक छीना नहीं।
७. वह स्वयं को लुटवाने आया है, किसी को लूटने नहीं।
८. वह सबका नौकर होता है, किसी को नौकर नहीं बनाता।

सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर :

अर्थात्, वह :

क) अपने लिए कुछ भी नहीं लेता।
ख) अपने लिए उसे वैभव सम्पत्ति नहीं चाहिए।
ग) किसी को वह बन्दी बनाना नहीं चाहता।
घ) किसी को वह अपनी तरफ़ खेंचने का यत्न नहीं करता।
ङ) किसी को वह अपने संरक्षण में नहीं लगाता।
च) किसी पर वह अपना नाम नहीं धरता।
छ) वह कुछ भी उपलब्ध नहीं करना चाहता।
ज) वह कुछ भी ग्रहण नहीं करता।

भगवान कहते हैं, 'जो ऐसा जीव है, वह ब्रह्म बनने के काबिल है।'

भाई! पुनः समझ क्या कहा भगवान ने! जब :

१. तनत्व भाव का अभाव हो जाये।
२. काम का नितान्त अभाव हो जाये।
३. अपना कुछ भी नहीं रहे।
४. मन में विकार एक न हो,
५. निर्द्वन्द्व हो जाये,
६. नित्य तृप्त हो जाये,
७. अपने प्रति उदासीन हो जाये,
८. अपना पराया कोई न रहे,

९. अपना अधिकार किसी पे न रहे,
- तब वह शान्त चित्त हो जाता है,
- तब वह अहं रहित तन, ब्रह्म का मन्दिर बनने के काबिल होता है।
- तब वह अहं रहित जीव आत्मवान् हो जाता है।

भाई! तनत्व भाव से जब उठ ही गये तब आत्मवान् हो ही जाओगे। ले मेरी लाडली! यह स्थिति पाने की विधि अब तू संक्षिप्त विस्तार में पुनः समझ ले।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

भगवान अर्जुन से कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. ब्रह्मभूत जीव प्रसन्नात्मा होता है,
२. (वह) न शोक करता है न आकांक्षा करता है।
३. सब भूतों में सम हुआ (वह),
४. मेरी परम भक्ति को पाता है।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! अब आगे समझ! भगवान कहते हैं :

१. ब्रह्मभूत जो हो चुका है,
२. ब्रह्मभूत में स्थित जो हो चुका है,
३. ब्रह्म में जिसका तनत्व भाव खत्म हो चुका है,
४. जीवत्व भाव को जो भूल चुका है,
५. ममत्व भाव का जिसमें अभाव हो चुका है,
६. अहं भाव का जहां नामो निशान नहीं रहा,
७. देहात्म बुद्धि जिसकी नहीं रही,

भाई! वह तो आत्मा में स्थित आत्मवान् है। उसके सम्पर्क में जो आये, वह वैसा ही रूप धर लेता है। यानि, वह अपने आप को भूल चुका है। जो सामने हो, उसमें उसकी समाधि लग जाती है।

भाई! उसका तन होता भी है और नहीं भी होता। मुदित मनी होता है वह!

*** मन :**

प्रथम समझ ले मेरी जान!

क) जीवन में अज्ञानता तथा दुःख का कारण मन ही है।
ख) जीवन में जीव को मिथ्यात्व में मन ही डालता है।
ग) जीवन में मन ही आपको तड़पाता है।
घ) जीवन में मन ही स्वयं तड़पता है।
ङ) किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का कारण मन ही है।
च) जीवन में कर्त्तव्यविमुख करने वाला मन ही है।

---

* मन के विस्तार के लिए १७/१६ और १८/३३ देखिये।

छ) मान्यता मन ही बनाता है और मान्यता से मन ही बन्ध जाता है।

ज) उचित अनुचित भी मन के कारण ही समझ में नहीं आते।

झ) बुरा भला दूसरे को मन ही कहता है।

ञ) मन ही गिला शिकवा करता है।

ट) मन ही सत् को छिपाता है।

ठ) मन ही आपको अपने आप से बेगाना कर देता है।

ड) मन ही अपने में मल उत्पन्न करता है और फिर अपनी ही उत्पन्न की हुई मल को छुपाने के लिए लाखों उचित अनुचित यत्न करता है।

ढ) रुचिकर के साथ मन आसक्त हो जाता है और उसे पाने के नित्य यत्न करता है।

ण) रुचिकर पाने की धुन में मन :

- अपनी इन्सानियत गंवा बैठता है।
- नाहक अन्धा हो जाता है।
- कर्त्तव्य भुला बैठता है।
- ज्ञान का गलत इस्तेमाल करता है।
- इन्सानों को इन्सान नहीं समझता।
- लोभ में अन्धा होकर लोगों के हक छीन लेता है।
- लोभ में अन्धा होकर लोगों को नौकर बनाना चाहता है।
- चोरी भी करता है मन को लुभाने के लिए।

अरुचिकर से मन भागना चाहता है, पलायनकर वृत्तियों को जन्म अरुचिकर भावना देती है।

मन के गुण तू संक्षेप में पुनः समझ ले :

१. संकल्प विकल्प मन के गुण हैं।
२. क्षोभ विषाद मन के गुण हैं।
३. लोभ कामना मन के गुण हैं।
४. अतृप्ति मन का गुण है।
५. विकार मन में उठते हैं।
६. द्वन्द्व पूर्ण मन ही होता है।
७. विक्षेप मन में उठता है और विक्षिप्त मन ही होता है।
८. रुचिकर से मैत्री और अरुचिकर से वैर मन का गुण है।
९. अज्ञान मन का गुण है।
१०. हकीकत से बेगाना मन करता है।
११. दोषपूर्ण मन ही कर देता है।
१२. हमारी विचारधारा को सत् विमुख मन ही करता है।
१३. रुचिकर बात हो तो मन उसके अनुकूल तर्क वितर्क करता है।
१४. अरुचिकर बात हो तो मन उसके प्रतिकूल तर्क वितर्क करता है।
१५. महापापी भी अपने मन ही मन में मन के आसरे अपने आपको दोष विमुक्त कर लेते हैं।
१६. बहाने मन ही लगाता है।
१७. कोई कार्य उचित जानते हुए भी जब करने में रुचि नहीं, तब मजबूरियां मन ही दिखाता है।

नन्हूं! यह सब तब होता है जब मन :

- इन्द्रियों का नौकर बन जाता है।
- इन्द्रियां विषयों की नौकर बन जाती हैं।
- विषयों का जीव पर राज्य हो जाता है।

जब अन्धे विषयों का राज्य होगा, तब :

क) जीव ठोकर खायेगा ही।
ख) अन्धापन बढ़ेगा ही।
ग) दु:खी सुखी होगा ही।
घ) जीव घबरायेगा ही।
ङ) बुरा बनेगा ही।
च) लोभ बढ़ेगा ही।

नन्हीं! मन ही तन से संग करता है और जड़ तन से संग करके अन्धा हो जाता है।

१. अन्धकार मन के कारण होता है।
२. दम्भ दर्प मन ही करता है।
३. अज्ञानता मन का ही दूसरा नाम है।

आसुरी गुण तनो संग के कारण ही उत्पन्न होते हैं। संग का घर यह मन ही है।

अब भगवान कहते हैं कि ब्रह्म भूतात्मा प्रसन्नात्मा होते हैं।

नन्हीं लाडली! प्रसन्नात्मा तो वे होंगे ही, क्योंकि :

- मन, तन और विषय संग के मिलन का परिणाम दु:ख है।
- मन, बुद्धि और भगवान के मिलन का परिणाम आनन्द है।

क्योंकि जब मन का संग परम से हो जाये, तब :

१. तनत्व भाव अभाव हो जाने से, मन के जितने गुण कह आये हैं, उनका अभाव हो जाता है।
२. विषयों पर आश्रितता का अभाव हो जाता है।
३. अहंकार का अभाव हो ही जाता है।
४. तन, जो कभी अपना था, भगवान का ही हो जाता है।
५. घमण्ड, काम, क्रोध का प्रयोजन ही खत्म हो जाता है।
६. कर्तृत्व भाव का अभाव हो जाता है।
७. भाई! जब तन ही आपको याद नहीं रहता, जब तन ही आपका नहीं रहता, तब तन को क्या मिला, इससे आपको क्या मतलब ?
८. मान मिला, अपमान मिला, इसका ध्यान ही नहीं रहता।
९. बड़ा काज किया या छोटा काज किया, आपको कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता।
१०. कुछ मिला या कुछ लुट गया, आपको क्या ?
११. निवृत्ति, प्रवृत्ति, ज्ञान, अज्ञान सब सम हो जाता है।
१२. श्रेष्ठ मिला या न्यून अथवा निकृष्ट मिला, कोई फ़र्क नहीं पड़ता।
१३. 'मैं पन' ही नहीं रहा तो बाकी राम ही रह गये।
१४. 'मैं पन' ही नहीं रहा तो बाकी कौन रह गया ?
१५. 'मैं पन' ही नहीं रहा तो मन मौन हो जाता है।

तत्पश्चात् आनन्द ही रह जाता है।

न शोचति :

वह शोच रहित है, यानि :

क) चिन्ता समाप्त हो जाती है।
ख) शोचनीय बात कोई नहीं रहती।

ग) विकल्प तथा रुदन बन्द हो जाते हैं।
घ) कोई अफ़सोस नहीं रहता।
ङ) कोई कष्ट नहीं रहता।
च) गर शोकाकुल मन न हो तो विक्षेप खत्म हो जाते हैं।
छ) वह निर्द्वन्द्व हो जाता है।
ज) संकल्प विकल्प रहित हो जाता है।
झ) क्षोभ रहित हो जाता है।

भाई! यह तब ही होगा जब जीव कांक्षा रहित होगा।

यानि :

१. जो चाहना रहित होगा,
२. जो विभिन्न जा पर संग रहित होगा,
३. जो कहीं भी परिवर्तन नहीं चाहेगा,
४. जो अपने प्रति ही उदासीन होगा,
५. जो प्रवृत्ति या निवृत्ति के प्रति भी उदासीन होगा,

वह कांक्षारहित ही होगा।

ऐसा तो सबकी ओर समदृष्टि पूर्ण होगा ही।

- जो आये उसके साथ समभाव में तद्रूप होने वाला होगा।
- सबमें समभाव रखने वाला होगा।
- सबके लिए वह बराबर है।
- सब उसके लिए बराबर हैं।

इसी की बात करते हुए भगवान ने पहले भी कहा :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(४/११)

यानि, 'जैसा कोई मुझे भजता है, वैसा ही मैं उसे भजता हूं।'

भगवान कहते हैं ऐसे लोग परम भक्ति को पाते हैं।

क) नन्हीं! वे आत्म स्वरूप याचकगण भगवान की अखण्ड भक्ति को पाते हैं।
ख) वे परम में एकरूप हुए होते हैं, क्योंकि उन्हें केवल मात्र परम ही प्रिय हैं।
ग) उन्हें परम के ज्ञानी भक्त कह लो।
घ) उन्हें परम योग में स्थित जान लो।
ङ) उनका परम से मिलन हुआ जान लो।
च) भक्त और भगवान का मिलन हुआ जान लो।
छ) वे अपने को भूल गये जान लो।
ज) वे अपने व्यक्तित्व को भूल गये जान लो।
ज) वे अपने आपको भूल जाते हैं और उन्हें केवल भगवान की याद रहती है। वे भगवान रूप ही हो जाते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. वह परम भक्ति से मुझे,
२. 'जैसा और जो मैं हूं',
३. वैसा तत्त्व से जान लेता है।
४. तब मुझे तत्त्व से जानकर,
५. वह इसके पश्चात् (मुझमें ही) प्रवेश कर जाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं जो परम भक्ति से उन्हें जान लेते हैं, यानि :

क) योग स्थित होकर भगवान के तत्त्व को जान लेते हैं।
ख) अपने तन की विस्मृति के पश्चात् परम में स्थित होकर परम का अनुभव पा लेते हैं।
ग) जो देहधारी होते हुए भी तनत्व भाव से उठ जाते हैं।
घ) जो अपने तन को मानो भगवान को दे देते हैं।
ङ) जो व्यक्त तन के होते हुए भी उसकी तद्रूपता छोड़कर निज को अव्यक्त तत्त्व मान लेते हैं।
च) जो अपने को आत्म रूप जान लेते हैं।
छ) जो आत्मवान् हो जाते हैं।

वे :

- भगवान में खो जाते हैं।
- परम में विलीन हो जाते हैं।
- आत्म तत्त्व को जान लेते हैं।

यह कैसे होता है समझ लो!

१. 'मैं आत्मा हूं,' इसका अभ्यास कर जीवन में।
२. 'मैं भगवान हूं,' इसका अभ्यास कर जीवन में।
३. 'मैं राम हूं,' इसका अभ्यास कर जीवन में।
४. 'मैं तन नहीं,' इसका अभ्यास कर जीवन में।
५. 'मैं शिव हूं,' मानकर शिव के समान बन जीवन में।
६. 'मैं सत् हूं,' मानकर सत् में ही जी, जीवन में।
७. 'मैं सुन्दर हूं,' मानकर, सौन्दर्य पूर्ण जीवन बना।

'मैं तन नहीं हूं,' तू यह मानता है तो तू :

क) तन की परवाह न कर।
ख) तन से लोगों के काज करवाता जा।
ग) तन के मान अपमान से न घबरा।
घ) तन के गुणों पर मत इतरा।
ङ) तन के गुणों पर दुःखी मत हो।
च) तन की न्यूनता को मत छिपा।
छ) तुम्हारा अधिकार नहीं रहा तन पर, जिनका इस पर अधिकार है, तन उन्हें दे दे।

ज) यदि तुम्हारा काम कोई नहीं रहा तो जिनके काम हैं, उनके काम करता जा।
झ) तन ऊंचा काम करे या नीचा, क्या हुआ ?
ञ) कोई इससे झाड़ू लगवा ले या इसे अफ़सर बना दे, आपको क्या ?
ट) कोई आपके सम्पूर्ण हक छीन ले या सम्पूर्ण हक दे दे, आपको क्या ?

बुद्धि इस्तेमाल इतनी कीजिये, जिससे भगवान के नाम पर कलंक न आये।

- जो भी आपका धर्म है, वह सहज में हो जाये।
- जिसका भी आपने नाम लिया है, उस पर कलंक न आये।
- जिसका भी आपने नाम लिया है, आपका तन उसी का हो जाये।

ज्ञान :

स्वरूप के विषय में पढ़ने से क्या होगा ? अद्वैत को शब्दों में जान लिया तो थोड़ा सा ज्ञान हुआ; किन्तु यह जानने के प्रयत्न करो कि उसे जीवन में कैसे लाया जाये ?

१. राम के गुण जीवन में कैसे आते हैं, इसे समझने के प्रयत्न करो।
२. राम जीवन में साधारण रूप में कैसे जीते हैं, इसे समझने के प्रयत्न करो।
३. क्षमा किसे कहते हैं, इसे समझने के प्रयत्न करो।
४. दया कैसे करते हैं, इसे समझने के प्रयत्न करो।
५. प्रेम कैसे करते हैं, इसे समझने के प्रयत्न करो।
६. प्रेम का स्वरूप और रूप क्या है, इसे समझने के प्रयत्न करो।
७. वफ़ा की पराकाष्ठा क्या है, इसे समझने के प्रयत्न करो।
८. भाई! ब्रह्म का स्वभाव अध्यात्म है, जीवन ब्रह्ममय बनाना ही साधना है।
९. ज्ञान वही है जो जीवन में उतर आये, बाकी सब बातें ही हैं।

- ज्ञान का प्रमाण जीवन है।
- नाम का प्रमाण जीवन है।
- साधना का प्रमाण जीवन है।

उपासना जीवन में होती है। परम के सहवास में उपासना होती है। नित्य भगवान का साक्षित्व रहे, तो उपासना होती है। गर उपासना अहर्निश होती है तो वह बाह्य नहीं हो सकती, मन में ही होगी।

भगवान और 'मैं' मन में बैठें और तन जाये काम करने। भगवान और बुद्धि मन में बैठें और तन जाये काम करने। इस अभ्यास के उपरान्त केवल भगवान और उनका तन रह जायेगा।

क) फिर तन भूल ही जायेगा।
ख) उसके पश्चात् भगवान का नाम भी भूल जायेगा।
ग) फिर न 'तू' रहेगा, न 'मैं' ही रह जायेगा।
घ) ध्याता गया जब राम रहा।
ङ) ध्यान गया जब राम रहा।
च) नाम गया जब राम रहा।
छ) राम रह गया तब राम भाव गया।

ज) जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, एक हो जाता है, तब अद्वैत में टिकाव होता है।

नन्हीं ! अज्ञानी भी अद्वैत में ही रहते हैं, उन्हें दूसरा दिखता ही नहीं। साधक को तीन दिखते हैं; एक हूं मैं, एक भगवान और एक जहान।

शनैः शनैः दो रह जाते हैं। एक मैं और एक भगवान। भगवान से मिलन का प्रमाण जीवन में मिलता है। जितने जितने भगवान के गुण उसमें आ जायें, उतना ही मानो मिलन हुआ। एक दिन ऐसा आता है, 'मैं' की जा पर भगवान ही रह जाते हैं; 'मैं' अपने आपको भूल ही जाता है।

- 'मैं' प्रथम निज तन को भूला।
- फिर मैं 'मैं' को भूल गया।
- जीवन में भी निहित 'मैं' मिट गई।
- 'मैं राम हूं' यह भी नहीं याद रहा।
- बाकी एक ही रह गया।
- बाकी एक भी नहीं रहा।

जो आये वा सामने, उसका आप ही रह गया। यही अखण्ड अद्वैत की पराकाष्ठा है मेरी जान! तब मानो :

१. नाम रूप की उपाधि गई।
२. बुद्धि की भी उपाधि गई।
३. बुद्धि मौन ही हो गई।
४. मन की भी उपाधि गई।
५. गुण भी कोई नहीं रहा।
६. हर गुण अपना हो गया, जब कोई गुण अपना नहीं रहा।
७. उपाधियों के अभाव से, बाकी शुद्ध निर्मल आत्मा रह जाता है।
८. उपाधियां जीव केवल अहंकार के कारण अपनाता है।
९. नाम, रूप जब भगवान को दे ही दिये तो औरों के नाम रूप भी निरर्थक हो जाते हैं।
१०. जब जीव अपने ही गुणों से प्रभावित नहीं होता, तब वह दूसरे के गुणों से भी प्रभावित नहीं होता।

उपाधि अभाव आत्मा है। आत्मा से चेतनता पाकर मन चेतन होता है। मन के गुण आत्मा पर क्यों आरोपित करते हो ? आत्मा बुद्धि में प्रतिभासित होता है।

क) बुद्धि केवल द्रष्टा है।
ख) बुद्धि केवल चेतना है।
ग) बुद्धि केवल चित्त में है।
घ) बुद्धि केवल सत् में है।
ङ) बुद्धि केवल आनन्द में है।

आत्मवान् आत्म स्थित के ये चिह्न हैं।

- चेतना और मन मिलकर कहते हैं 'मैं जानता हूं।'
- आवृत्त बुद्धि, यानि, मन की चाकर बुद्धि अपनाती है, तथा अहम्पूर्ण दर्शाती है।
- शुद्ध बुद्धि निरावृत्त हुई केवल द्रष्टा मात्र है।

गुण मन के होते हैं, मनो संग के कारण आवृत्त बुद्धि के होते हैं। निरावृत्त बुद्धि के गुण नहीं होते। निरावृत्त बुद्धि को स्थित प्रज्ञ कहते हैं। जो बुद्धि अपने आपसे भी प्रभावित नहीं हो, वह निरावरण होती है। जो बुद्धि अपने आपसे भी प्रभावित न

हो, वह दूसरे से प्रभावित नहीं होती, वही वास्तविक बुद्धि है। ले ज़रा आगे बढ़ें।

आत्मा :

क) आत्मा बुद्धि नहीं है।

ख) आत्मा द्रष्टा भी नहीं है।

ग) आत्मा ज्ञाता भी नहीं है।

घ) आत्मा बस 'है'। वह 'यह' या 'वह' नहीं है।

ङ) आत्म स्वरूप शब्दों में बान्धने की बात नहीं है।

च) अखण्ड मौन का वर्णन कौन कर सकता है ?

छ) निराकार का रूप क्या हो सकता है ?

- ब्रह्म के कर्म तो देख लो।
- ब्रह्म के स्वरूप की कौन कहे ?
- आन्तर की कौन कह सके ?

वह हीं होकर उसे जान ले,
वहां फिर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कहां ?

एक बात और समझ ले!

कर्म और ज्ञान

कर्म :

कर्म से अज्ञान नहीं मिटता क्योंकि :

क) कर्म का अज्ञान से भिड़ाव नहीं है।

ख) कर्म का अज्ञान से प्रतिरोध नहीं है।

ग) कर्म की राही मान ही मिलता है।

घ) कर्म की राही जो चाहो मिलता है।

ङ) कर्म की राही आपकी स्थिति का प्रमाण मिलता है।

ज्ञान :

ज्ञान की अज्ञान से नित्य लड़ाई है। जो भी आपको नया ज्ञान मिला, कुछ पिछला अज्ञान मिट गया। जो भी आपको नया ज्ञान मिला, उसके अनुरूप पूर्व मान्यता बदल गई। ज्ञान अज्ञान का नित्य वैरी है।

अनेकों बार लोग कर्म को बन्धन कहते हैं, ऐसी बात नहीं है।

१. ज्ञान सहित कर्म ही मुक्त कर होते हैं।

२. ज्ञान का प्रमाण भी कर्म ही हैं, क्योंकि कर्म ही जीवन है, कर्म ही यज्ञ का रूप है।

बड़े बड़े कर्मों में नहीं, बल्कि छोटे छोटे कर्मों में स्वरूप झलकता है। जीवत्व भाव अभाव, तनत्व भाव अभाव, ममत्व भाव अभाव, ये सब जीवन में ही प्रमाणित होते हैं। इसलिए कहते हैं :

क) भावना से कर्त्तव्य श्रेष्ठ है।

ख) भगवान ने कहा, 'मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं, फिर भी मैं कर्त्तव्य करता हूं।'

ग) भगवान ने कहा, 'ज्ञानीजन अज्ञानियों में अज्ञानियों के समान वर्तते हैं।'

घ) नन्हीं! देहात्म बुद्धि का अभाव होगा, तब ही तो ऐसे रह सकेंगे।

ङ) तनत्व भाव त्यागी ही मान अपमान से उठा हुआ होगा। तभी तो वह अज्ञानियों में अज्ञानी सा बनकर रह सकेगा।

च) जिसे अपनी ख़बर ही न होगी, यानि, जो गुणों से मोहित न होगा वह ही अज्ञानी बनकर जीयेगा और जी सकेगा।

- तब वह ब्रह्ममय ही होगा।
- तब वहां ब्रह्म ही होगा।
- तब वह साकार होते हुए भी निराकार ही होगा।

वह मानो ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥

अब भगवान परम पद पाने की सहज विधि बताते हैं।

शब्दार्थ :

१. सब कर्मों को नित्य करता हुआ भी,
२. मेरा आश्रय लिया हुआ पुरुष,
३. मेरे प्रसाद से,
४. शाश्वत और अव्यय पद को पाता है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं :

'भगवान का आश्रय लेकर सब कर्म करता हुआ जीव', यानि,

१. हर कर्म भगवान को अर्पित करता हुआ।
२. हर कर्म भगवान के चरण में धरता हुआ।
३. हर कर्म भगवान के लिए करता हुआ।
४. हर कर्म भगवान के साक्षित्व में करता हुआ।

अर्थात्,

क) जैसी परिस्थिति है, उसमें जो भी करो, भगवान के लिए करो।
ख) सहज स्वभाव जो भी हो, उसे भगवान के साक्षित्व में निभाओ।
ग) सहज कर्म जो भी हो, उसे भगवान के साक्षित्व में निभाओ।
घ) नौकरी भगवान की समझकर करो।
ङ) स्वामित्व भगवान का समझकर किया करो।
च) घर को भगवान का जानकर उसमें वर्तो।
छ) जो भी करो, मानो भगवान का प्रतिनिधि बनकर करो।
ज) जो भी करो, मानो भगवान का काज जानकर करो।
झ) जिससे मिलो, ब्रह्मभाव में मिलो।

आत्म स्वरूपा नन्हीं! यदि आप अपना तन भगवान को दे दें, तो वह सहज में सबका हो जायेगा। तब :

१. आपके हाथ आपके नहीं रहते, हाथ भगवान के हो जायेंगे।
२. आपके पांव आपके नहीं रहते, पांव भगवान के हो जायेंगे।
३. आपकी आंखें आपकी नहीं रहतीं, आंखें भगवान की हो जायेंगी।
४. आपकी ज़ुबान आपकी नहीं रहती, ज़ुबान भगवान की हो जायेगी।
५. आपका तन आपका नहीं रहता, तन भगवान का हो जायेगा।

भक्त भगवान को अपना तन देने जाते हैं, भगवान से कुछ लेने नहीं जाते। भक्त

भगवान को अपना मन देने जाते हैं, भगवान से मनो संरक्षण की याचना नहीं करते। वे तो भगवान के चरण में अपनी बुद्धि अर्पित करते हैं, जग में अपनी बुद्धि की प्रधानता नहीं चाहते। उनके लिए कोई काज भी :

क) न्यून या श्रेष्ठ नहीं होता।

ख) प्रासव्य और त्याज्य नहीं होता।

ग) निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों बराबर होते हैं।

घ) मान और अपमान तन का होने के कारण वे अपने पर गुमान नहीं करते। तनत्व भाव का स्वत: अभाव हो जाता है जब :

- तन भगवान का मान लेते हैं।
- तन से संग छूट जाता है।
- भगवान से संग हो जाता है।

परम अभिलाषिणी नन्हीं जान देख! वे तो :

ङ) दु:ख सुख से परे होते हैं, क्योंकि दु:ख सुख तन के नाते होता है।

च) हर पल आत्म संरक्षण की चिन्ता उन्हें नहीं रहती।

छ) हर पल आत्म स्थापना की चिन्ता उन्हें नहीं रहती।

ज) जग मान्यता या आत्म मान्यता का बन्धन टूट जाता है।

झ) चित्त जड़ ग्रन्थियों से वे मुक्त हो जाते हैं।

ञ) वास्तव में वे अपने आप से विमुक्त हो जाते हैं।

ट) वास्तव में वे अपने आप को भूल जाते हैं।

ठ) वास्तव में वे अपने आप के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

ड) तब वे अपने ही श्रेष्ठ या न्यून कर्म से प्रभावित नहीं होते।

ढ) तब वे अपने आपको व्यक्तिगत नहीं करते।

ण) जो आये उनके सामने, वे उसके तद्रूप हो जाते हैं।

तब उनका एक तन नहीं रहता। ज्यों भगवान कृष्ण ने कहा, 'जो मुझे तन पर आश्रित मानते हैं, वे मूर्ख हैं।' दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में भगवान ने कहा 'सब वही हैं।' वे तब उस तत्त्व को समझ सकते हैं; क्योंकि पूर्ण की पूर्णता में वे स्वयं एकरूप हो जाते हैं।

- वे अपने तनो संग के नितान्त अभाव के पश्चात् परम में विलीन हो जाते हैं।
- वे अपने तनो संग के नितान्त अभाव के पश्चात् नित्य स्वतंत्र हो जाते हैं।
- वे अपने तनो संग के नितान्त अभाव के पश्चात् नित्य मुक्त हो जाते हैं।

नित्य मुक्त जीव :

नित्य मुक्त जीव सब कर्मों को नित्य करता हुआ भी परम में ही लीन होता है; क्योंकि :

१. वह तन से संग छोड़ चुका होता है।
२. फिर कर्त्तापन का अभाव स्वत: हो जाता है।
३. फिर तनो स्थापति का प्रश्न ही नहीं उठता।
४. फिर अपनी किसी चाह का प्रश्न ही

नहीं उठेगा। क्योंकि :

- चाहना तन के नाते उठती है।
- चाहना इन्द्रिय रसना पूर्ति चाह के कारण उठती है।
- तनो नाम की स्थापति अर्थ उठती है।

जब 'मैं' का संग तन से नहीं रहता तो :

१. तन भगवान के आसरे जीता है।
२. तन भगवान के आश्रय काज करता है।
३. तन भगवान के आसरे जग में विचरता है।
४. तन भगवान के आसरे जीवन में बहता है।
५. भगवान का विधान तन पर राज्य करता है।
६. उस तन का मालिक 'मैं' न होकर भगवान हो जाते हैं।
७. या यूं कहें, उस तन के मालिक ब्रह्म हो जाते हैं और वह तन भगवान का कहलाता है।

तब वहां तन तो है किन्तु वह तन नहीं! तब उनको तन मान लेना मूर्खता है। भाई! वह तन भगवान का है। वह ब्रह्म योग युक्त है।

भगवान उस जीव के तन का नाम है जिस तन में :

१. अहं का नामो निशान नहीं है।
२. संग का नामो निशान नहीं है।
३. 'मैं' के हाथ में अपने ही तन की पतवार नहीं है।
४. वे सर्वारम्भ परित्यागी अपना कोई प्रयोजन नहीं रखते, इस कारण वे योजन नहीं बनाते।
५. ऐसे स्वरूप स्थित समत्व स्थित होंगे ही।
६. वे सर्वहितकर होंगे ही।
७. उन्हें जो मिलेगा, उसे वे उसी के हित की बात कहेंगे।
८. उन्हें जो कार्य में लगायेगा, वे उसी के हित का कार्य करेंगे।

जब अपने तन की पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती है, जब देहात्म बुद्धि का अभाव हो जाता है, जब तन मन बुद्धि का कोई भी विकार परम लग्न से दूर नहीं कर सकता; जब तन मन बुद्धि का कोई भी गुण परम लग्न से दूर नहीं कर सकता, तब वह परम में विलीन हुआ होता है।

यानि,

- जीवन में वह जीव अपने को भूल जाता है।
- उसे अपना ख्याल कभी आता ही नहीं है।
- अपनी पसन्द अपने लिए भूल जाती है।
- किंसी ने आपसे कब क्या किया, इसका ध्यान नहीं रहता।

यानि, किसी ने आपका बुरा भी किया हो तो आप उनका भला ही करेंगे। किसी ने आपका अपमान भी किया हो तो आप उसको मान पाने के साधन ही कहेंगे। यदि

किसी ने आपको लूट लिया हो, तो आप उनको बचाने के साधन ही कहेंगे। यह स्वतः ही होगा। जब ब्रह्म से योग अखण्ड होगा, तब आपका जीवन यज्ञ, तप, दान ही होगा।

अव्यक्त ब्रह्म स्वरूप भगवान कृष्ण कहते हैं, 'वह ब्रह्म में लीन हुआ, ब्रह्म के प्रसाद से परम पद पायेगा।'

परम का प्रसाद इसमें क्या हुआ ?

परम का नाम लिया,
आप परम में खो गये।
परम का नाम लिया,
आप परम ही हो गये॥

परम का नाम लिया,
परम प्रेम ही हो गये।
परम का नाम लिया,
आनन्द स्वरूप ही हो गये॥

परम का नाम लिया,
प्रेमघन स्वयं वह हो गये।
करुणा स्वरूप क्षमा रूप,
वात्सल्य रूप हो गये॥

- भगवान से भगवान के गुणों का प्रसाद मिल सकता है।
- भगवान से भगवान के गुणों की ही भेंट मिल सकती है।
- भगवान की करुणाशीलता वह परम पावनी प्रेम गंगा है जो उन्हीं के भक्तों के हृदय से बह निकलती है।

देखो मेरी जाने जान!

भक्त झुका वा चरण में,
भगवान ने अंग लगा लिया।
भक्त सप्रेम बुलाया उन्हें,
राम ने अपना बना लिया॥

इक प्रेम की बुन्दिया भक्त ने दी,
प्रेम सागर बन राम आ गये।
करुणा पूर्ण की करुणा देख,
नयनों में प्रेम ही भर गये॥

करुणा दया क्षमा सागर,
भक्त को ही बना दिया।
दैवी गुण आभूषण ला,
शृंगारित भक्त को कर दिया॥

राम नाम लिया भक्त ने,
जग भक्त को राम ही कहता है
दिव्य प्रसाद यह नाम का है,
दरिया दिल वह ऐसा है॥

परम प्रसाद जिसे मिला,
वह परम आप ही हो जाये।
परम गुण वहां बह जायें,
वह ब्रह्म आप ही हो जाये॥

वह जो भी कहे वह ज्ञान है; (क्योंकि)
अपने अनुभव की कहता है।
भगवान की बात कहकर के,
अपनी ही तो वह कहता है॥

ज्ञान की प्रतिमा आप है वह,
विज्ञान ही उसका जीवन है।
वह परम पुरुष वह सत् स्वरूप,
वह आप स्वयं अध्यात्म है॥

क्योंकि भगवान का नाम लेने वाला

भक्त जीवन में :

१. हर काज भगवान के साक्षित्व में करता है।
२. हर बात भगवान के साक्षित्व में करता है।
३. हर व्यवहार भगवान के साक्षित्व में करता है।
४. हर भोग भगवान के साक्षित्व में करता है।

तब वह वही करना चाहता है जो भगवान को पसन्द आये। इस कारण :

- वह नित्य उचित ही करता है।
- वह वही करता है, जो भगवान करते।

वह अपनी परिस्थिति में वही करने का अभ्यास करता है।

अहर्निश वह जीवन में भगवान का आसरा लेकर व्यवहार करता है, इसके प्रसाद रूप वह भगवान सा हो जाता है, इसके प्रसाद रूप वह भगवान ही हो जाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

भगवान कहते हैं अर्जुन को, कि हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. मन से समस्त कर्मों को,
२. मुझमें अर्पण करके,
३. मेरे परायण हुआ,
४. बुद्धि योग का आश्रय लेकर,
५. निरन्तर मुझमें चित्त टिकाने वाला हो।

तत्त्व विस्तार :

अब भगवान सारी साधना का उपसंहार करते हुए कहते हैं :

- 'मन से सब कर्म मुझ पर अर्पित कर दे।'
- 'मेरे परायण हो और मुझे याद करके सब कुछ कर।'
- 'योग पूर्ण बुद्धि का आश्रय लेकर निरन्तर मेरे में चित्त टिकाने वाला हो, यानि, मेरे में चित्त वाला हो।'

क्यों न कहें यहां भगवान कह रहे हैं, 'मेरे चित्त वाला हो।'

यानि, चित्त मौन स्वरूप ब्रह्म रूप हो जाये।

ले मेरी नन्हीं जान! अब तुझे पुन : याद दिलाते हैं, सर्वप्रथम भगवान ने क्या कहा था, जिसे जीवन में समझकर जीव :

१. स्थिर बुद्धि को समझ सकता है।
२. भगवान को समझ सकता है।
३. योग को समझ सकता है।

तत्पश्चात् समझायेंगे कि 'मैं', 'मेरे,'

'मेरा' कहकर वह क्या कहते हैं।

प्रथम ज्ञान कह दिया।

क) आत्मा अमर है, कह दिया।
ख) जो मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं, या जो ज़िन्दा हैं, उनके बारे में व्याकुल होना मूर्खता है।
ग) शरीर मृत्युधर्मा है।
घ) शरीर परिवर्तनशील है।
ङ) सुख दु:ख स्पर्श मात्र हैं।
च) जो धीर सुख दु:ख को सम समझते हैं, वे मोक्ष पाते हैं।
छ) सत् का अभाव नहीं, असत् का टिकाव नहीं।
ज) अविनाशी केवल ब्रह्म है।
झ) आत्मा न मरता है, न मारता है और न जन्मता है।
ञ) देही एक तन को त्यागकर दूसरे को ग्रहण करता है।
ट) आत्मा अव्यक्त, अविकार्य, अवध्य है।
ठ) अपने धर्म को देखकर घबरा नहीं, धर्म युद्ध से बढ़कर जीवन में और कुछ भी श्रेयस्कर नहीं।
ड) स्वधर्म त्याग अकीर्तिकर पाप है।
ढ) भय से भाग जाना उचित नहीं है।
ण) दु:ख सुख को सम करके, जय पराजय को समान समझकर युद्ध कर।

यही सांख्य है। इसी में पूर्ण ज्ञान निहित है।

यह सब कहकर भगवान कहते हैं, अब इसी सांख्य ज्ञान को योग के रूप में सुन। जैसी बुद्धि से युक्तहुआ कर्म तेरे बन्धन को नाश करेगा, उसके बारे में सुन!

प्रथम बुद्धि की कहते हैं कि योगपूर्ण व्यवसायात्मिका बुद्धि एकाकार होती है और योग रहित की अव्यवसायात्मिका बुद्धि बहु शाखा युक्त होती है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि :

ऐसी बुद्धि वाले :

१. कामना परायण होते हैं।
२. वेदों के वाद से संग करने वाले होते हैं।
३. स्वर्ग परायण, यानि भोग ऐश्वर्य को सर्वश्रेष्ठ मानने वाले होते हैं।
४. जन्म रूप कर्म फल देने वाले होते हैं।
५. भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए विशेष कर्म करते हैं।
६. दिखाऊ वाणियां बोलते हैं।

उनके पास बुद्धि नहीं होती, उनकी बुद्धि में स्थिरता नहीं होती। बुद्धि भी त्रैगुण का विषय है। फिर कहा :

क) तू निस्त्रैगुण्य, यानि गुणातीत बन।
ख) तू निर्द्वन्द्व हो और नित्य सत्त्व में स्थिर रह।
ग) निर्योगक्षेम हो, यानि त्रैगुणी विषयों से संयोग चाहुक न बन।
घ) और अनित्य की रक्षा न चाह। तू आत्मवान् बन!

आत्मवान् के लिए पूर्ण जाना हुआ ज्ञान त्रैगुणी विषय होने के कारण निरर्थक है।

अब भगवान कहते हैं : 'योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। तू केवल कर्म कर

सकता है, कर्मफल पर दृष्टि मत रख।'

फिर कहा

- योग क्या है ?
- संग छोड़ दे।
- सिद्धि असिद्धि को सम जान।

यह सम जानना ही योग है। बुद्धि का द्वन्द्वन् के प्रति सम होना ही योग है। समत्व भाव ही योग है।

१. योग से बुद्धि युक्त हो जाती है।
२. योग से कर्मों में कुशलता आ जाती है। भगवान कहते हैं, इसलिए योग पाने की चेष्टा कर।
३. योग से बुद्धि जब युक्त हो, तब कर्म जम फल को त्याग करके, जन्म बन्धन से विमुक्त होकर ज्ञानी जन परम पद पाते हैं।
४. योग द्वारा बुद्धि मोह की दलदल से मुक्त हो जायेगी, तब सुनने योग्य और जो सुने हुए हैं, उन दोनों प्रकार के वाक्यों से भी तू अप्रभावित हो जायेगा।

तब तुम्हारी बुद्धि अचल और स्थिर, समाधिस्थ हो जायेगी; तब तू योग पायेगा।

देख मेरी नन्हीं प्रिया! भगवान कहते हैं :

क) जब तेरी बुद्धि स्थिर हो जायेगी,
ख) जब तेरी बुद्धि नित्य सम रहेगी,
ग) जब तेरी बुद्धि नित्य अप्रभावित रहेगी,
घ) जब तेरी बुद्धि गुणों से विचलित नहीं होगी,
ङ) जब तेरी बुद्धि जय पराजय की परवाह नहीं करेगी,
च) जब तेरी बुद्धि कर्मफल से संग नहीं करेगी,

- तब योग सफल हो जायेगा।
- तब स्थिर समाधि लग जायेगी।
- तब जीव किसी पर अधिकार नहीं रखता।
- तब जीव निरहंकार हो जाता है।

यहां पर पुनः भगवान उस बुद्धि योग को समझाते हुए उस बुद्धि को पाने की सहज विधि समझा रहे हैं, जिससे :

१. जीव आत्मवान् बन सकता है।
२. जीव परम में योग स्थित हो सकता है।
३. जीव देहात्म बुद्धि का त्याग कर सकता है।

अब भगवान कहते हैं कि, 'मन से सम्पूर्ण कर्म मुझ पर अर्पित कर दे और मेरे परायण हो जा। फिर समत्व बुद्धि पूर्ण होकर, योग स्थिति का अवलम्बन लेकर निरन्तर मेरे में चित्त वाला हो। यही विधि है परम में खोने की। यही विधि हैं परम का होने की।'

किन्तु यह भगवान कृष्ण जो बार बार कहते हैं :

- मुझ पर सब अर्पित कर दे।
- मुझ में चित्त धर।
- मन मुझ में लगा।
- मेरे परायण हो जा।
- मेरे जैसा हो जायेगा।

इससे उनका क्या तात्पर्य है, इसे समझ ले।

देख बच्चू! भगवान अपने नाम की महिमा नहीं गा रहे। अपने मन की ओर भी संकेत नहीं कर रहे। वह किसी को अपना चाकर नहीं बनाना चाहते।

अर्जुन ने भगवान को कहा :

- तुम्हारा शिष्य हूं मैं।
- तुम्हारी शरण पड़ा हूं मैं।
- मुझे शिक्षा दीजिये, इत्यादि। (२/७)

भगवान ने अर्जुन को पूरा ज्ञान दिया किन्तु अर्जुन को शिष्य एक बार भी नहीं कहा। उन्होंने उसे,

१. अपना सखा कहा।
२. अपना प्रिय कहा।
- अनेकों नाम से अर्जुन को सराहा!
- अनेकों नाम से अर्जुन का उत्साह बढ़ाया!

और नाम भी समझ ले। भगवान ने अर्जुन को :

१. 'अनुसूय' कहा, अर्थात् ईर्ष्या तथा द्वेष दृष्टि रहित कहा।
२. 'अनघ' के नाम से पुकारा, यानि निष्पाप कहा।
३. 'पुरुषर्षभ' के नाम से पुकारा, यानि पुरुषों में श्रेष्ठ कहा।
४. 'परंतप' के नाम से पुकारा, यानि महा तपस्वी कहा।
५. 'देहभृताम्बर' के नाम से पुकारा, यानि देहधारियों में श्रेष्ठ कहा।
६. 'तात्' के नाम से पुकारा, यानि प्रिय कहा।

ऐसे अनेकों नाम दिये पर 'शिष्य' कभी नहीं कहा। फिर कहा, 'अर्जुन! पाण्डवों में मैं धनंजय हूं।' यानि, 'हे अर्जुन! तू भी तो मैं ही हूं।' 'गीता रचयिता व्यास भी तो मैं हूं', यह भी भगवान ने कहा विभूति पाद में। अनेकों जड़ चेतन, जीव जन्तुओं के नाम लेकर कहा, 'यह सब मैं ही हूं।' जीव के सूक्ष्म आन्तरिक भाव भी कहकर कहा, 'मैं ही हूं।' इन सबसे अभिप्राय यह है कि वह अपने एक तन के तद्रूप नहीं थे। वह अपने तन के दृष्टिकोण से बात नहीं कर रहे थे, वह तो अखण्ड आत्म तत्त्व के तद्रूप होकर बात कर रहे थे। स्पष्ट तो कहा भगवान ने कि: 'मूर्ख लोग मेरे भूतों के महेश्वर रूप भाव को न जानते हुए मुझ मानव तनधारी का अनादर करते हैं।'

इस बात से यही स्पष्ट होता है कि :

१. भगवान अपने तन की उपासना नहीं चाह रहे।
२. परम तत्त्व स्वरूप, परम ब्रह्म स्वरूप की बात कर रहे हैं।
३. उस आत्म स्वरूप की बात कर रहे हैं, जो परम अखण्ड है।
४. नन्द नन्दन की बात नहीं कर रहे, उस नन्दन की बात कर रहे हैं जो नन्द भी आप है।
५. परम में परम होने को कह रहे हैं।
६. परम में ही खोने को कह रहे हैं।
७. जब 'मैं' अहंकार सहित राम से जाय मिले तो बाकी तन भगवान का रह जाता है, इस परम मिलन की विधि सुझा रहे हैं।

ध्यान से समझ नन्हीं! जब तनत्व भाव नहीं रहता, तब जीव अखण्डता में स्थित हो जाता है। जब तनत्व भाव नहीं रहता, तो या तो आप सब कुछ हैं, या कुछ भी नहीं, इस नाते भगवान ने अपने आपको सब कुछ कहा। फिर ब्रह्म का विराट रूप दर्शाते हुए कहा सब उन्हीं में है।

यह सब परम में योग हो जाने के पश्चात् दर्शाता है। यह सब चेत, अर्धचेत तथा अचेत में, यानि चित्त में निरन्तर परम का स्वरूप टिका रहे, तब ही होता है। जब बुद्धि में समता आ जायेगी, तब ही योग होगा।

बुद्धि की समता का अर्थ समझ :

१. मान अपमान में बुद्धि सम रहे।
२. विजय पराजय में बुद्धि सम रहे।
३. दुःख सुख में बुद्धि सम रहे।
४. हर परिस्थिति में बुद्धि सम रहे।
५. वैरी और मित्र के प्रति बुद्धि सम रहे।
६. रोग या पीड़ा में बुद्धि सम रहे।
७. शुभ अशुभ में बुद्धि सम रहे।

समत्व ही योग है, यह भगवान ने कहा। यानि,

- समत्व ही परम मिलन की राह है।
- समत्व ही परम मिलन का प्रमाण है।
- समत्व ही दुःखों का नितान्त अभाव करवा देता है।
- समत्व ही नित्य आनन्द में स्थित करवा देता है।

समत्व में वही स्थित हो सकता है जो :

क) तन की परवाह न करे।
ख) तन के किसी भी गुण से प्रभावित न हो।
ग) तन की किसी भी अवस्था से प्रभावित न हो।
घ) तन के किसी भी सुख दुःख से प्रभावित न हो।
ङ) जिसकी बुद्धि नित्य अप्रभावित रहे

वह स्थिर बुद्धि ही :

१. स्थित प्रज्ञ कहलाता है।
२. योग स्थित कहलाता है।
३. कर्मों में समभाव रखता है।
४. उस स्थिर बुद्धि का ज्ञान भी समता पूर्ण होने के कारण ज्ञान योग कहलाता है।

यदि ये सब हो जाये, तो सब कर्म स्वतः परम परायण हो जायेंगे और यह स्थिति पाने की सहज राह भी अखिल कर्म परम के अर्पण करने में ही है। यही भगवान यहां कह रहे हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

भगवान कहने लगे अर्जुन से :

शब्दार्थ :

१. मुझमें चित्त लगाने वाला होकर, तू मेरे प्रसाद से भीषण संकटों से तर जायेगा
२. और अगर अहंकार के कारण (मेरे वचनों को) नहीं सुनेगा,
३. तो नष्ट हो जायेगा।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! भगवान उस अर्जुन से कह रहे हैं जो :

क) किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ था।
ख) मोह ग्रसित हुआ था।
ग) जिसके हाथों से गाण्डीव गिर रहा था।
घ) जिसके अंग शिथिल पड़ गये थे।
ङ) जिसके सिर में चक्कर आने लगे थे।
च) जिसके लिए खड़ा होना भी मुश्किल हो गया था।
छ) जो अपना स्वभाव भी भूल गया था।

यह क्यों होता है समझ ले!

१. ये सब भ्रम मन में मन के ही कारण होते हैं।
२. ये सब द्वन्द्व मन में मोह के कारण ही होते हैं।
३. ये सब विकार मन में मोह और संग के कारण ही होते हैं।
४. ये सब विक्षेप मन में बुद्धि की अस्थिरता के कारण ही होते हैं।
५. बुद्धि की अस्थिरता देहात्म बुद्धि के कारण ही होती है।
६. बुद्धि में अस्थिरता सत्य को न जानने के कारण होती है।
७. बुद्धि में अस्थिरता तब होती है, जब जीव तन तथा इन्द्रियों का नौकर बन जाता है।
८. फिर इसी कारण जीव :

क) लोभी बन जाता है।
ख) कामना ग्रसित हो जाता है।
ग) अत्याचार करता है।
घ) दूसरे का हक छीन लेता है।
ङ) केवल अपनी स्थापति चाहता है।
च) केवल अपने लिए ही जीना चाहता है।
छ) केवल अपनी चाहना और ज्ञान को सुरक्षित रखना चाहता है।
ज) वह व्यक्तिगत होना चाहता है।
झ) निन्दा, चुगली, अत्याचार भी जीव बुद्धिहीनता के कारण ही करता है।

वास्तव में वह केवल अपने तन का नौकर बन जाता है और अन्धा हो जाता है। गर स्वरूप को सामने रखकर देखो तो आंखे खुलती हैं। वह केवल अन्धा ही नहीं, अनाथ भी हो जाता है; क्योंकि :

- वह अकेला ही अपनी स्थापति में लगा रहता है।

- उसकी बुद्धि भी विकास को नहीं पा सकती क्योंकि वह अपनी बुद्धि से श्रेष्ठ किसी को नहीं मानता और उसे किसी की बात का ध्यान ही नहीं रहता।

जब जीव अपने आपको श्रेष्ठ मानने लग जाता है तब वह दर्प और अभिमान से अन्धा हो जाता है। तब वह सच ही अनाथ हो जाता है और बिल्कुल अकेला रह जाता है।

गर बुद्धि गुमान न रहे तब जीव अन्य लोगों की बुद्धियों की सलाह लेता है। यानि, अन्य बुद्धियों को भी इस्तेमाल करता है। उसकी बुद्धि का तब दिनों दिन विकास होता है, तब जीव की अपनी बुद्धि पावन होने लगती है, तब जीव की अपनी बुद्धि बढ़ने लग जाती है। वरना जीव लोगों के विचार चोरी कर लेता है पर उन्हें समझ नहीं सकता।

इस कारण :

१. उसकी अपनी बुद्धि सत्य समझ नहीं पाती।
२. उसको अनुभव नहीं हो सकता।
३. उसे ज्ञान चुराना पड़ता है।
४. उसे ज्ञान याद रखना पड़ता है।
५. वह जहान में अधपके भाव फैलाता है।

अब भगवान कहते हैं, 'यदि तू मुझमें चित्त धरेगा तो तू महाभीषण संकटों से तर जायेगा।'

क) कुछ संकट तो बुद्धि गुमान के चले जाने से कट जायेंगे।
ख) बाकी संकट अपने तन को भगवान को देते हुए कट जायेंगे।
ग) शेष संकट तनत्व भाव का अभाव होते ही कट जायेंगे। क्योंकि जब तन अपनाओगे नहीं, तो तनो संकट कौन अपनायेगा ?

फिर भगवान में चित्त धरेगा तो :

१. तू गुणातीत हो जायेगा, तब गुण तुझे विचलित नहीं करेंगे।
२. तू दैवी सम्पदा सम्पन्न हो जायेगा, तब मन पावन हो जायेगा।
३. फिर प्रज्ञा स्थिर हो ही जायेगी, क्योंकि तू समचित्त हो ही जायेगा।
४. तत्पश्चात् परम का स्वरूप जानता हुआ अपने आप स्वरूप में स्थित होकर आत्मवान् हो जायेगा।

तब कोई संकट कहां रहेगा ? संकट हरने वाला तू स्वयं हो जायेगा। आगे भगवान कहते हैं, 'यदि तू यह नहीं करेगा, तो तेरा पतन हो जायेगा और तू नष्ट हो जायेगा।'

नन्हूं! पतन तो होगा ही जब :

क) उसे राज्य नहीं मिलेगा।
ख) लोग उसका मज़ाक बनायेंगे।
ग) लोग उस पर तोहमत लगायेंगे।
घ) लोग उस पर पुनः एतबार नहीं करेंगे।
ङ) वीरता पर कलंक लग जायेगा।
च) जो लोग दुर्योधन के अत्याचार से दुःखी हैं, जो आज तुझे एक उत्साह और उम्मीद से देख रहे हैं, वही तुझे आहें भरते हुए बद् असीस देंगे।

किन्तु नन्हूं! अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों को अपने सतीत्व पर नाज़ था। अर्जुन तथा अन्य पाण्डवों को अपने साधुत्व पर नाज़ था। यदि वह अपनी ही आंखों से गिर गये तो उन्हें चैन कैसे मिलेगी ?

नन्हीं!

- वफ़ा करने वाले वफ़ा भगवान से करते हैं, इस कारण सबसे वफ़ा करते हैं।
- प्रेम करने वाले प्रेम भगवान से करते हैं, इस कारण सबसे प्रेम करते हैं। संग यदि अपने तन से हो तो असुरत्व उत्पन्न होता है; यदि औरों से अधिक संग हो तो देवता बनता है; संग यदि भगवान से हो तो आत्मवान् बनता है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो अहंकार का आश्रय लेकर,
२. 'मैं युद्ध नहीं करूंगा',
३. तू ऐसा मानता है,
४. तो तेरा निश्चय झूठा है।
५. प्रकृति तुझे ज़बरदस्ती (युद्ध) में लगा देगी।
६. जिस कर्म को तू मोहवश नहीं करना चाहता,
७. अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म से बन्धा हुआ,
८. तू विवश हुआ करेगा।

तत्त्व विस्तार :

नन्हूं! प्रथम प्रकृति तथा स्वभाव को समझ!

प्रकृति ने तन, मन, बुद्धि, इन्द्रियां, (कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां) ये सब अनिवार्य अंग जीव को दिए हैं।

क) स्वभाव संस्कारों से बनता है।
ख) स्वभाव जन्म जन्म के कर्म फल बीज से बनता है।
ग) स्वभाव रेखा को बनाता है।
घ) स्वभाव जीवन में भिन्नता रचता है।
ङ) स्वभाव के कारण जीव को विभिन्न परिस्थितियां मिलती हैं।

भाव जीवन में आपके मूल्य हैं, जो

आप जीवन में वर्तते हैं। भाव से संस्कार बनते हैं। स्वभाव आपके जन्म जन्मान्तर के संस्कारों पर आधारित है। संस्कार ही जन्म लेते हैं, संस्कार ही स्वभाव बनाते हैं। नन्हूं! स्वभाव तथा प्रकृति का अर्थ पुनः समझ ले।

प्रकृति	स्वभाव
१. मूल शक्ति, जिसने रूपात्मक जगत की रचना की है।	१. संस्कारों में निहित शक्ति, जो जीव में भिन्नता तथा व्यक्तिगतता पैदा करती है।
२. मौलिक शक्ति का मूल रचनात्मक प्रवाह है।	२. प्रकृति जिन सांचों में रचना करती है, वह स्वभाव है।
३. प्रकृति समता को देती है।	३. स्वभाव भेद उत्पन्न करता है।
४. प्रकृति समष्टिगत है।	४. स्वभाव व्यष्टिगत है।
५. प्रकृति सहज गुण देती है।	५. स्वभाव व्यक्तिगतता उत्पन्न करता है।
६. किसी वस्तु की मौन स्थिति उसकी प्रकृति है।	६. किसी वस्तु की मौन स्थिति को कार्य में लाना स्वभाव से होता है।
७. प्रकृति परम्परा में सम है।	७. स्वभाव बदलते रहते हैं।
८. प्रकृति ब्रह्म का धर्म है।	८. स्वभाव जीव बनाता है।
९. प्रकृति, अखण्ड मौन स्वरूप, अखिल कर्त्ता, किन्तु नित्य अकर्त्ता का स्वभाव है।	९. स्वभाव, कर्त्तापन अभिमान के कर्मफल बीज का प्रादुर्य है।
१०. प्रकृति ने तो सबको तन दिया, सबको आंखें, रक्त, मस्तिष्क इत्यादि दिए।	१०. स्वभाव के कारण जीव इन सबको भिन्न भिन्न ढंग से इस्तेमाल करते हैं।
११. प्रकृति विशाल है।	११. स्वभाव सहज प्रकृति पर मानो प्रतिबन्ध है।

नन्हूं! प्रकृति देन बुद्धि शुद्ध तथा निर्मल होती है। जीव जब गुण तथा स्वभाव से संग कर लेता है, तब बुद्धि अशुद्ध हो जाती है। नन्हीं! प्रकृति ही स्वभाव बनाती है। जीवन में जीव के जो भाव होते हैं, वे कर्मफल बीज बनते हैं, वैसा ही स्वभाव प्रकृति रच देती है। इस तरह नाते, स्वभाव और प्रकृति में भेद होते हुए भी अभेदता ही होती है। यानि स्वभाव :

क) जो प्रकृति से पाया है, महा प्रबल है।

ख) जो संस्कारों से पाया है, जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

ग) जो संस्कारों से पाया है, जीव को

विवश खेंच ले जाता है।

घ) जो परवश है, उसे बदलने की कोशिश करना मूर्खता है।

१. मोह के कारण तू युद्ध नहीं करना चाहता।
२. अज्ञान के कारण तू युद्ध नहीं करना चाहता।
३. यह तेरा अहंकार है जो अपने आपको श्रेष्ठ मानकर युद्ध नहीं करना चाहता।
४. यह तेरा अहंकार है जो तू समझता है कि 'मैं' के हाथ में सब कुछ है।
५. जो तू अपने आपको बड़ा धर्मात्मा माने बैठा था, इसका मिथ्या अभिमान छोड़ दे।
६. स्वाभाविक कर्मों का त्याग जीव मोह के कारण करता है। स्वभाव प्रकृति ने रचा है।

नन्हूं! आपका स्वभाव आपको विवश आपके स्वभाव के अनुकूल कर्मों में प्रवृत्त करवा देता है।

- स्वभाव आपके संस्कारों के अनुकूल प्रकृति ने रचा है।
- स्वभाव में आपके संस्कारों के अनुकूल गुण भरे हैं।
- प्रकृति ने आपके संस्कारों के अनुकूल आपकी परिस्थितियां बनाई हैं।

अब आपके गुण :

क) आपसे स्वतः काम करवाते रहते हैं।
ख) स्वतः गुणों की ओर आकर्षित हो जाते हैं।
ग) स्वतः गुणों से प्रतिकर्षित हो जाते हैं।

नन्हूं! स्वभाव भी प्रकृति ने रचा है। प्रकृति ब्रह्म का स्वभाव है। प्रकृति के आसरे मानो ब्रह्म सम्पूर्ण संसार की रचना करते हैं।

नन्हीं! ब्रह्म आपके संस्कारों को बदलते नहीं हैं, ब्रह्म आपको बदलना भी नहीं चाहते। वह तो अखण्ड मौन में बैठे आपके स्वभाव को अपनी प्रकृति के आसरे रच देते हैं। वह स्वभाव जम् कर्म रोक नहीं सकते। स्वभाव के विरुद्ध जाने के यत्न किये तो दुःख, सन्ताप, विक्षेप इत्यादि ही आपको घेरेंगे।

१. जब नाते रिश्ते अर्जुन के सामने आ गये, तो उसका मोह उठ आया।
२. जब नाते रिश्ते अर्जुन के सामने आ गये तो उसका मन क्षत्रियता से भी डोल गया।
३. जब नाते रिश्ते अर्जुन के सामने आ गये तो उसमें पलायनकर वृत्ति उठ आई और उस महावीर के स्वभाव में कुछ पल के लिए दुर्बलता आ गई।

तो भगवान ने कहा, 'तेरा स्वभाव तुझे विवश युद्ध की ओर खेंचकर युद्ध में लगायेगा।'

भाई! होता तो वही है जो आपके निहित स्वभाव तथा गुणों में होता है। इसलिए मोह के कारण अपना स्वाभाविक कर्म छोड़ देना मूर्खता है। 'मैं यह करूंगा', 'मैं यह नहीं करूंगा', ये दोनों भाव ही मूर्खतापूर्ण हैं। जैसी भी परिस्थिति आये, उसको सम्मुख धरते हुए जो भी ठीक हो,

उसे करो।

१. संग छोड़कर कर्म करने चाहियें।
२. मोह छोड़कर कर्म करने चाहियें।
३. फल पर से दृष्टि हटाकर कर्म करने चाहियें।
४. अरे जान लड़ा कर कर्म करो किन्तु स्वभाव के प्रतिकूल कैसे जाओगी?
५. गुमान छोड़ कर कर्म करो?
६. भगवान ने कहा, ऊंच नीच का भाव छोड़ कर कर्म करो, यानि निरासक्त होकर काज करो, कायरता तथा भय छोड़कर काज करो।

नन्हीं! भगवान ने कहा है कि आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति जो भी है, वही आप अपने जीवन में कीजिये। किन्तु :

क) निष्काम भाव से कीजिये।
ख) यज्ञ समझ कर कीजिये।
ग) भगवान का काज जानकर कीजिये।
घ) कर्मफल पर से दृष्टि हटाकर कीजिये।
ङ) संग का त्याग करके कीजिये।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ ६१॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे अर्जुन!
२. ईश्वर (शरीर रूप) यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को,
३. अपनी माया से घुमाता हुआ,
४. सब भूतों के हृदय देश में स्थित है।

तत्त्व विस्तार :

प्राणी मात्र के हृदय में ईश्वर हैं।

प्राणी मात्र को उनके आन्तर में स्थित ईश्वर ही नाच नचाता है। सबका अन्तर्यामी ईश्वर सबमें स्थित है। हर जीव :

क) उस ईश्वर की शक्ति के आश्रित है।
ख) उस ईश्वर की त्रैगुणी माया के अधीन है।
ग) उस ईश्वर की शक्ति से गुण बधित हुआ कार्य करता है।
घ) उस ईश्वर की शक्ति से जीवन में सब कुछ करता है।

इसलिए भगवान कहते हैं :

१. जो भी, जैसा भी तेरा स्वभाव है, उसे निरासक्त होकर इस्तेमाल कर।
२. जो भी, जैसा भी तेरा गुण है, उसे निरासक्त होकर इस्तेमाल कर।
३. जो भी, जैसा भी तेरा स्वभाव या गुण है, उसे निष्काम भाव से इस्तेमाल कर।

- यही तेरा धर्म है।
- यही तेरा जीवन का आधार है।
- यही तेरा कर्त्तव्य है।

अपने गुणों का पूर्ण रूप से विकास

कर। इस की विधि भी स्वभाव या गुण त्याग नहीं है। भाई! त्याग तो तू कर ही नहीं सकता, अपने गुण और स्वभाव का इस्तेमाल कर।

भगवान सबके आन्तर में स्थित हैं, तो जीव को चाहिए कि :

क) अपने आपको जानने के यत्न करे।
ख) अपने आन्तर की आवाज़ को समझने का यत्न करे।
ग) अपने गुणों की आवाज़ को समझने का प्रयत्न करे।
घ) अपने तन की आवाज़ को समझने का प्रयत्न करे।

देख नन्हीं! जीव या बाह्य से प्रभावित होकर दुःखी सुखी होता है, या बाह्य से अप्रभावित रहकर जो उचित समझता है, वह करता हुआ आनन्द में रहता है।

बाह्य से अप्रभावित रहने वाला :

- गुणातीत होता है।
- समता में स्थित होता है।
- योग में स्थित होता है।

क्योंकि यदि मन अप्रभावित रहे तो :

१. बाह्य से संग नहीं रहेगा।
२. बाह्य से राग द्वेष नहीं रहेगा।
३. निवृत्ति से संग नहीं रहेगा।
४. मान मिले या अपमान मिले, वह अप्रभावित रहेगा।
५. दुःख से भागना नहीं चाहेगा।
६. सुख से राग उत्पन्न नहीं होगा।

ऐसा जीव नित्य संन्यासी होगा, नित्य सत्त्व स्थित होगा। ऐसा जीव अपने हृदय में स्थित ईश्वर से एकत्व पाकर जो भी करेगा, वह शुभ ही करेगा।

नन्हीं! भगवान ने कहा है,

क) तुम्हारा कर्मों पर अधिकार है। (२/४७)
ख) जीव अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। (३/३३)
ग) मेरे से ही सब जगत चेष्टा करता है। (१०/८)
घ) प्रकृति तेरे से ज़बरदस्ती कार्य करवा लेगी। (१८/५९)
ङ) स्वभाव के वश में हुआ परवश होकर कार्य करेगा। (१८/६०)

अब भगवान यहां कह रहे हैं कि 'सम्पूर्ण कर्म ईश्वर करवाते हैं,' तो मन में संशय उठता है कि उन सबमें (ईश्वर, स्वभाव, प्रकृति) कौन है, जो कार्य करवाता है; और जीव अपने कर्म करने में कितना स्वतन्त्र है?

नन्हीं! जब भगवान ने कहा, 'तुम्हारा कर्मों पर अधिकार है', तब वह प्रकृति रचित कर्मों की बात कर रहे थे। वे कर्म लोभ, कामना, राग द्वेष से प्रेरित नहीं होते। फिर भगवान ने कहा कि 'जीव किसी भी क्षण बिना कर्म किये नहीं रहता, जीव प्रकृति के परवश हुआ कर्म करता है।' (३/५) सो नन्हूं जान! कर्मों की स्वतंत्रता गीता में कहीं भी नहीं कही गई है। (३/६) में भगवान ने स्वयं कहा है जो मन से विषयों का चिन्तन करता है और बाहर से इन्द्रियों को रोक लेता है, वह

मिथ्याचारी होता है।

नन्हीं! ईश्वर, प्रकृति या स्वभाव, एक ही बात माननी चाहिए। यहां इतना ही जान लेना ठीक है कि कर्मों में जीव स्वतंत्र नहीं है।

- जीव को संग छोड़ देना चाहिए।
- जीव को अहं छोड़ देना चाहिए।
- जीव को कर्मफल चाह छोड़ देनी चाहिए।
- जीव को अपने आपको जानने का प्रयत्न करना चाहिए और राग द्वेष छोड़ देने चाहिएं।
- जीव को भगवान के शरणागत होना चाहिए।

नन्हूं जान! आपने कुछ करना ही है, तो साधना करो। मन ही कर्त्तापन का गुमान करता है। यानि, मन मौन हो जाये तो आप कर्मों से बन्धायमान नहीं होंगे। वास्तव में यदि मन मौन हो जाये तो :

१. संसार निरर्थक हो जायेगा।
२. जीव नित्य आनन्द में रहेगा।
३. जीव नित्य अप्रभावित रहेगा।
४. चित्त जड़ ग्रन्थियां टूट जायेंगी।
५. त्रिपुटी भंजन स्वतः हो जायेगा।
६. जीव नित्य संकल्प विकल्प के रहित हो जायेगा।
७. तब देहात्म बुद्धि का भी नाश हो जायेगा।
८. तब जीव के सम्मुख जैसी भी परिस्थिति आयेगी, वह निस्संकोच कार्य प्रवृत्त हो जायेगा।
९. तब अपने तन को रोक लेने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

किन्तु यह मन, अहं और संग के कारण अपने आपको अनेक बार कार्य प्रवृत्ति से रोकने का प्रयत्न करता है। तब जीव के सहज गुण उसे विवश ही अपनी प्रकृति की ओर खींच लेते हैं। जीव नाहक ही कर्त्तापन का गुमान करता है और अपने आपको दु:खी सुखी कर लेता है।

भगवान यहां वास्तव में यही कह रहे हैं कि :

१. त्रैगुण से बन्धा हुआ जीव विवश कर्म करता है।
२. यह प्रकृति ही इसे घुमाती फिराती रहती है।
३. ये गुण मौन ही हैं।
४. ये गुण मानो हृदय में स्थित हैं।
५. जीव के बस में कुछ भी नहीं है।

सब कुछ स्वतः हो रहा है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

अब भगवान अर्जुन को उस ईश्वर के शरणापन्न होने को कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. अर्जुन! सर्वभाव से,
२. उस ईश्वर की शरण में जा।
३. उसके प्रसाद से,
४. तू परम शान्ति को
५. और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।

तत्त्व विस्तार :

मेरी अपनी नन्हूं! आत्म स्वरूपा! भगवान कहते हैं, क्योंकि हर प्राणी के आन्तर में ईश्वर वास करते हैं, हर प्राणी को चाहिए कि वह :

क) अपने ही हृदय में स्थित मुझ ईश्वर की शरण में जाये।
ख) अपने ही आन्तरिक स्वरूप की शरण में जाये।
ग) अपने ही आपके पास जाये।
घ) अपनी ही अन्तरात्मा की शरण में जाकर अपनी ही अन्तरात्मा से योग करे।

अपनी ही आत्मा के प्रसाद से, अपनी ही अहं कृपा से वह परम पद पा लेगा, परम शान्ति पा लेगा।

देख मेरी जान! जीव वास्तव में :

- श्रेष्ठ बनना चाहता है।
- अच्छे काज ही करना चाहता है।

जीव क्या चाहता है ?

जीव :

१. कुछ अच्छा करना चाहता है।
२. कुछ नाम कमाना चाहता है।
३. कुछ जग में मान चाहता है।
४. कुछ जग में नाम छोड़कर जाना चाहता है।
५. श्रेष्ठ कहलाना चाहता है।
६. उदार कहलाना चाहता है।
७. दयावान् तथा क्षमाशील कहलाना चाहता है।
८. शुभ कर्म करने वाला कहलाना चाहता है।
९. पुरुषोत्तम कहलाना चहता है।
१०. विश्वासपात्र बनना चाहता है।
११. विशाल मनी कहलाना चाहता है।
१२. तीक्ष्ण बुद्धि कहलाना चाहता है।

बुरा कोई भी नहीं बनना चाहता।

सच तो यह है कि हमारे अन्दर ईश्वर है, जो भगवान की शक्ति है। आत्मा हमारा स्वरूप ही है, जो पावन है। भूल तो केवल बाह्य से संग के कारण हो गई। भूल तो केवल बाह्य से प्रभावित होने के कारण हो गई। भूल तो केवल बाह्य की शरण में जाने से हो गई।

इसलिए भगवान कहते हैं, हे जीव! तू अपने ही आन्तर में स्थित ईश्वर की शरण में जा! अपने ही आन्तर में स्थित आत्मा की शरण में जा! अपने ही आपको जान ले, अपने ही आत्म स्वरूप में एक हो जा! इसी में आनन्द निहित है, इसी में सत् निहित है, इसी में परम पद निहित है।

अपने आन्तर स्थित मायापति तथा त्रैगुणपति ईश्वर की शरण में जायेगा तो :

१ अपने सहज गुण स्वभाव से भिड़ाव छूट जायेगा।
२. अपने प्राकृतिक स्वभाव से भिड़ाव छूट जायेगा।
३. तब तू परिस्थितियों से लड़ना बन्द कर देगा।

यदि तू यह मान लेगा कि यह मायापति ईश्वर ही तुमसे सब कुछ करवा रहे हैं तो तेरा मन भी अपने कर्तृत्व भाव को छोड़कर मौन की ओर बढ़ जायेगा।

तब तू सहज ही परम पद को पा लेगा!

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

भगवान कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. इस प्रकार गुह्य से गुह्यतम ज्ञान,
२. मुझसे तेरे लिये कहा गया।
३. इसको सम्पूर्णता से भली भान्ति विचार करके (फिर),
४. तू जैसा चाहे वैसा कर।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं! गीता में भगवान ने बार बार गुह्य शब्द का इस्तेमाल किया है और वह कहते हैं जो ज्ञान वह दे रहे हैं, वह लुप्त हो गया है। गुह्यतम क्यों कहा, इसे समझने से पहले यह समझ कि गुह्य का अर्थ क्या है।

गुह्य ज्ञान का अर्थ है, वह ज्ञान :

१. जो गुप्त हो।
२. जो छुपा हुआ हो।
३. जो निहित हो, पर समझ न आये।
४. जो आवृत्त हुआ हो।
५. जो रहस्य पूर्ण हो।
६. जो प्रत्यक्ष न हो।
७. जो अदृश्य हो।
८. जो गहन हो।
९. जो कठिनता से समझ में आये।

भगवान नानक ने भी ज्ञान देने के बाद कहा था, 'खोज शब्द में ले।' नन्हीं! वास्तविकता यह है कि शब्द ज्ञान और उसके अनुभव में बहुत भेद है।

क) शब्द ज्ञान तो पल में हो जाता है।
ख) शब्द ज्ञान श्रवण से भी हो जाता है।
ग) शब्द ज्ञान पठन से भी हो जाता है।

किन्तु उसका अनुभव उसे जीवन में अनुसरण करने के पश्चात् होता है।

अनुभव :

अनु का अर्थ है :

१. जो पीछे आये।
२. जो सिद्धि के पश्चात् आये।
३. जो क्रमानुसार आये।
४. पश्चात्।

भव का अर्थ है :

- हो जाना।
- उत्पन्न हो जाना।
- अस्तित्व पा लेना।

१. सो निजी जीवन के प्रमाण पर जो ज्ञान आधारित है, वह अनुभवी का ज्ञान है।
२. अपने जीवन में परीक्षा सिद्ध करके जो आता है, वह अनुभव होता है।
३. अपने जीवन में साकार हुए गुणों का ज्ञान अनुभवी का ज्ञान है।
४. अपने जीवन में यथार्थ गुण दर्शन अनुभवी का ज्ञान है।
५. अपने जीवन में प्रत्यक्षीकरण किया हुआ ज्ञान बोध, अनुभवी का ज्ञान है।

शब्दों में लाख ज्ञान की चर्चा कर लो, धुआंदार शब्दों में ज्ञान के भाषण दे लो, लाख शास्त्र कण्ठस्थ कर लो, अनेकों मन्त्रों का जाप कर लो, चाहे रोज़ ध्यान लगाया करो; किन्तु गर जीवन में वह ज्ञान नहीं उतरे, तो अनुभव नहीं होता। मनो कल्पना की उड़ान हो सकती है, झलक मिल सकती है, किन्तु स्थिति तो साधारण जीवन में होनी है।

इससे यह न समझ लेना कि :

- ध्यान निरर्थक है।
- नाम जपन निरर्थक है।
- शास्त्र पठन निरर्थक है।

उन्हीं के आसरे तो जीव का,

क) भगवान से प्रेम बढ़ता है।
ख) भगवान का साक्षित्व मिलता है।
ग) दिनचर्या में सत् का स्वरूप या रूप समझ आ सकता है।

किन्तु ज्ञान गर जीवन में न आये, तो इसका मतलब स्पष्ट है कि :

१. आपकी बुद्धि अभी उस ज्ञान को मानी नहीं है।
२. आपकी बुद्धि अपने ही मन को मना नहीं सकती।
३. आपकी बुद्धि को खिलौना मिल गया है खेलने के लिए।
४. आप बातें करना चाहते हैं, वैसा बनना नहीं चाहते।
५. आपको सत् से संग नहीं हुआ।

गर सत् से संग होता तो उसका रंग चढ़ ही जाता; जो ज्ञान आपको सत् लग रहा है, आपके जीवन में परिणित हो ही जाता।

तब आप जान लेते कि :

- साधुता के बिना साधु नहीं बन सकते।
- तन दूसरे को दिये बिना तन से नहीं उठ सकते।

- मान से उठना चाहते हो तो जीवन में अभ्यास करना ही होगा।
- अपमान में समता चाहते हो तो जीवन में अभ्यास करना ही होगा।

यानि बुद्धि :
१. द्वन्द्वों में सम रहे।
२. हानि लाभ में सम रहे।
३. मान अपमान में सम रहे।
४. दु:ख सुख में सम रहे।
५. निवृत्ति या प्रवृत्ति में सम रहे।
६. कल्याणकर या अकल्याणकर के सम्पर्क में सम रहे।
७. श्रेय या प्रेय में सम रहे।
८. अरि या मित्र मिले तो सम रहे।
९. दुष्ट या सज्जन मिले तो सम रहे।
क) ऐसी नित्य निरावृत्त बुद्धि ही योग का चिह्न है।
ख) जो बुद्धि अप्रभावित रहे, वह योग का चिह्न है।
ग) जो बुद्धि अविचलित रहे, वह योग का चिह्न है।

नन्हीं! इसे जीवन में लाना है तो इस बुद्धि का अनुभव होगा।
- सहज परिस्थिति में ही इसका अनुभव हो सकता है।
- सहज परिस्थिति में ही इसका अभ्यास हो सकता है।
- सहज परिस्थिति में ही इसका अनुसरण हो सकता है।

हर मन की आदत है, वह :
क) अपने आपको श्रेष्ठ कहता है।
ख) अपने आपको विलक्षण कहता है।
ग) अपने आपको बहु बलवान् कहता है।

अजीब बात तो यह है कि इस कारण जीव ने अध्यात्म को भी कठिन बना लिया है। इस कारण यह ज्ञान लुप्त हो गया है और ब्रह्म भी लुप्त हो गया है।

नन्हीं! यह सत् ही तो ज्ञान है यानि हकीकत को ही सत् कहते हैं।
१. यह ज्ञान इतना साधारण है कि जीव इसकी ओर ध्यान ही नहीं देता।
२. यह ज्ञान इतना साधारण है कि जीव को धोखा हो जाता है।
३. जीव साधारणता में कठिनता की तलाश करता हुआ सा प्रतीत होता है।
४. जीवन के हर पहलू में यह सत् समाहित है।
५. जीवन के हर काज में यह सत् समाहित है।

यह सत् इतना सहज है कि समझ में नहीं आता।

देख मेरी जान!
क) भगवान राम के जीवन को देख।
ख) भगवान नानक का जीवन देख।
ग) भगवान ईसामसीह के जीवन को देख।
घ) भगवान मुहम्मद का जीवन देख।

उन जैसे कर्म कई लोग करते हैं, उनसे श्रेष्ठ कर्म भी कई लोग करते होंगे, किन्तु फिर बाकी लोग भगवान क्यों नहीं हैं?

बच्चू! भगवान का सम्पूर्ण जीवन गीता

से तुलता है। भगवान का सम्पूर्ण जीवन ज्ञान का प्रमाण है। उनका सहज साधारण जीवन शास्त्र ही होता है।

- उनका हर कर्म ज्ञान के किसी पहलू का दर्शन है।
- उनका हर वाक् ज्ञान के किसी पहलू का दर्शन है।
- उनका हर कदम ज्ञान के किसी पहलू का दर्शन है।
- उनका हर व्यवहार ज्ञान के किसी पहलू का दर्शन है।

१. वह नित्य दैवी गुण सम्पन्न होते हैं।
२. वह नित्य गुणातीत होते हैं।
३. वह नित्य स्थित प्रज्ञ होते हैं।
४. वह नित्य संग रहित होते हैं।
५. वह नित्य निष्काम कर्म करने वाले होते हैं।
६. वह नित्य काम्य कर्म त्यागी होते हैं।
७. वह नित्य अपने तन के प्रति उदासीन होते हैं।
८. वह नित्य अज्ञानियों में अज्ञानियों के समान रहते हैं।
९. वह नित्य अज्ञानियों में अज्ञानियों के समान रहते हुए उनसे भी कर्म करवाते हैं।
१०. वह नित्य कर्त्तव्यपरायण होते हैं, लोक संग्रह अर्थ कार्य करते हैं।

नन्हीं! वह अतीव साधारण होते हैं, इसी में उनकी विलक्षणता है। उनके जीवन में ऊपर कहे गए सब लक्षण निहित होते हैं। जो वह आप होते हैं, वही उनके शब्द होते हैं।

क) साधारण जीवन में अखण्ड सत् का प्रमाण भगवान का चिह्न है।
ख) साधारण जीवन में देहात्म बुद्धि के अभाव का प्रमाण भगवान का चिह्न है।
ग) साधारण जीवन में तनत्व भाव के अभाव का प्रमाण भगवान का चिह्न है।
घ) साधारण जीवन में कर्तृत्व भाव के अभाव का प्रमाण भगवान का चिह्न है।
ङ) साधारण जीवन में दूसरे से तद्रूपता का प्रमाण भगवान का चिह्न है।

आभा! साधारण जीवन में प्रमाण चाहिए :

- यही बात गुप्त हो गई है।
- यही बात लुप्त हो गई है।
- यही बात गुह्य हो गई है।
- यही बात सर्वोत्तम है।

यही राज़ है वास्तविक साधना का। बार बार भगवान यही समझा रहे हैं अर्जुन को, बार बार भगवान यही बता रहे हैं अर्जुन को। वह कहते हैं :

क) स्वभाव छोड़ कर भाग नहीं, कर्त्तव्य कर।
ख) गुण नहीं छोड़ेंगे, सहज में सब करवा ही लेंगे।
ग) परिस्थिति से न भाग, उसका सामना कर।
घ) जन्म मरण से न घबरा।
ङ) कर्त्तव्य न छोड़, अपना तनत्व भाव छोड़ दे।
च) लोगों की मान्यता न तोड़, उन जैसा

बनकर कार्य कर्म कर।

इन बातों को समझकर जान ले कि :
१. जीवन हर क्षण ज्ञान के समतुल्य चाहिए।
२. सहज जीवन ज्ञान अनुकूल चाहिए।
३. छोटे छोटे कामों में संग रहितता चाहिए।
४. छोटे छोटे कामों में निष्कामता चाहिए।
५. छोटे छोटे कामों में भी काम्य कर्म त्याग चाहिए।

नन्हीं! गुह्य तो है ही यह ज्ञान! कहने वाले को देख!

कृष्ण सामने खड़े हैं और कहते हैं :
१. 'मैं तन नहीं हूं, जो मुझे तन से बांधे, वह मूर्ख है।'
२. 'हम हमेशा थे, तू नहीं जानता- मैं जानता हूं।'
३. 'सारी सृष्टि मैं ही हूं।'
४. 'सारी सृष्टि मुझमें समाई है।'
५. 'सामने मेरे जो तू खड़ा है अर्जुन! वह तू भी मैं ही हूं।'

यानि, वह आत्मा से तद्रूप होकर सब बता रहे हैं। वह आत्मवान् की स्थिति बता रहे हैं। वह ब्रह्म के तद्रूप होकर कह रहे हैं। अखण्ड अद्वैत में स्थित की स्थिति बता रहे हैं। एक तनधारी होते हुए भी तन से परे कैसे रहते हैं, यह बता रहे हैं। जग गुण खिलवाड़ है, यह कोई कैसे समझे और इस समझ के पश्चात् कैसे जीते हैं, यह प्रमाण सहित समझा रहे हैं।

मानो वह कह रहे हैं कि जीव के :
क) गुण ही गुणों को प्रभावित करते हैं।
ख) गुण ही गुणों को आकर्षित करते हैं।
ग) गुण ही गुणों को प्रतिकर्षित करते हैं।
घ) गुण ही गुणों को परिवर्तित करते हैं।
ङ) गुण ही गुणों को मिटाते हैं।
च) गुण ही गुणों से लड़ते हैं।

जब तक जीव गुणों के तद्रूप होकर रहता है, तब तक वह गुण तत्त्व सार कैसे समझ सकता है? गुणों को ज़रा दूर से देख, तब यह राज़ समझ आयेगा। यदि गुण आप पर राज्य करते हैं तो आप यह नहीं समझेंगे, वरना द्रष्टा बनकर अप्रभावित हुए दूर से देखेंगे।

देख तो मेरी नन्हीं लाडली! गुण अच्छे हों या बुरे, इसकी बात नहीं! देखना तो यह है कि :
१. आपका संग कहां है?
२. आपकी देहात्म बुद्धि में तीक्ष्णता कितनी है?
३. आपका अहंकार कितना है?
४. आपकी तनो तद्रूपता कितनी है?
५. गुण आप अपने अहं पूजन के लिए इस्तेमाल करते हो या दूसरे की स्थापति के लिए?
- जब गुण दूसरे के लिए इस्तेमाल किये जायें, वे दैवी हैं।
- जब गुण अपने लिए इस्तेमाल किये जायें, वे आसुरी हैं।

नन्हूं बच्चू! गुण बुरे या अच्छे नहीं होते, दृष्टिकोण ही उन्हें बुरा या अच्छा

बनाता है। उस गुण का इस्तेमाल किस निहित कारण से किया, इसी पर उस गुण का बुरा या अच्छा होना निर्भर है।

परम मिलन रूप योग का रूप समत्व है। जीवन में दृष्टिकोण में समता चाहिए, किन्तु उदासीनता अपने प्रति होती है यानि :

क) आपका मान हो तो आपको मान पर गुमान न हो।
ख) आपका मान हो तो आपको मान से संग न हो।
ग) आपका मान हो तो आपको मान पर अत्यधिक खुशी न हो।
घ) आपका अपमान हो तो आपको अपमान पर अत्यधिक दुःख न हो।
ङ) निन्दा स्तुति के प्रति आप तुल्य रहें।
च) अपने हानि लाभ के प्रति आप उदासीन रहें।
छ) द्वन्द्व आपको प्रभावित न कर सकें।
ज) आप अपने या दूसरों के गुणों से प्रभावित न हों।
झ) गुणों के कारण आपकी बुद्धि आवृत्त न हो।
ञ) बुद्धि साधारण जीवन में नित्य अप्रभावित रहे।

भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन! तुझे मैंने पूर्ण ज्ञान दे दिया है। अब इस पर अच्छी तरह से विचार कर ले और फिर तू जो चाहता है सो कर ले।'

यानि :

- पूर्ण ज्ञान विज्ञान सहित बता चुके हैं।
- ज्ञान का स्वरूप बता चुके हैं।
- ज्ञान का रूप बता चुके हैं।
- आत्मवान् का दृष्टिकोण सुना चुके हैं।
- गुणातीत का राज़ समझा चुके हैं।
- स्थित प्रज्ञता की भी बता चुके हैं।
- विभिन्न गुण खिलवाड़ भी समझा चुके हैं।
- असुरत्व और देवत्व का दृष्टिकोण बता चुके हैं।
- असुरत्व और देवत्व के जीवन में प्रधान गुण बता चुके हैं।
- परम जीवन को पाने की विधि बता चुके हैं।
- निष्काम कर्म और निष्काम ज्ञान की बात भी सुझा चुके हैं।
- कर्त्तव्य की भी तो बता चुके हैं।

अब कहते हैं, 'ये सब बातें तू समझ ले और इन पर विचार कर ले। तत्पश्चात् जो जी चाहे सो कर।'

यह कहकर भगवान जीव को :

१. स्वतंत्रता प्रदान कर रहे हैं।
२. विचार के राही बुद्धि जागरण की भी सलाह देते हैं।
३. किसी को दबाना नहीं चाहते।

फिर जीव जो निर्णय स्वयं करता है :

क) उसे वह निभाता भी स्वयं ही है।
ख) वह उचित ढंग से कर भी सकता है।

वरना बिन स्वयं ही माने जो काज किया जाता है, वह फल क्या लायेगा? वह तो दक्षता से करना भी कठिन होगा।

नन्हें सजन! सुन! जो बात आपकी

चेत बुद्धि स्वयं विचार द्वारा स्वीकार न कर सके, उसे वह अपने ही मन को नहीं मना सकती। साधना भी इस कारण सिद्धि को प्राप्त नहीं होती।

जीव या साधक अपने विचार द्वारा न ही लक्ष्य को समझने के यत्न करता है, न ही लक्ष्य को पाने की राहों में जो विघ्न आते हैं, उनका ही अनुमान लगाता है। वह यह नहीं सोचता कि :

क) जीवन में सब गुणों का रूप क्या होगा ?
ख) ज्ञानी को जीवन में व्यवहारिक स्तर पर कैसे वर्तना पड़ेगा।
ग) ज्ञानी को जीवन में व्यवहारिक स्तर पर कौन सी मान्यता छोड़नी पड़ेगी ?
घ) तनत्व भाव अभाव का रूप या स्वरूप क्या होगा ?
ङ) अहं अभाव का रूप या स्वरूप क्या होगा ?
च) निर्मम का रूप या स्वरूप क्या होगा ?
छ) आत्मवान् का रूप या स्वरूप क्या होगा ?

गर इन सब पर पहले ही विचार कर लें तो साधना सफल हो जायेगी।

विचारवान् ही भगवान को पाते हैं। विचारवान् ही रूप तथा स्वरूप, दोनों पर विचार करते हैं, तत्पश्चात् निर्णय करते हैं कि क्या करना है ? भगवान यहां अर्जुन को यही समझा रहे हैं।

नन्हीं जान!

१. यदि मनमानी ही करनी है, तो भगवान जैसी कैसे बनोगी ?
२. यदि मान ही चाहिए तो अपमान कैसे सहोगी ?
३. यदि तन इस्तेमाल नहीं करना तो तन से कैसे उठोगी ?
४. यदि धन से अधिक संग है तो किसी के कष्ट में करुणा या मदद क्या करोगी ?
५. यदि अपने तन को कष्ट नहीं देना चाहती तो जीवन से भागना ही पड़ेगा।

नन्हीं! यह सब कहकर साधक को इतना ही कहते हैं कि सोच समझकर अपनी सामर्थ्य के अनुकूल लक्ष्य बनाओ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

देख मेरी जान! भगवान पूर्ण गीता अर्जुन को सुनाने के बाद मानो उपसंहार करते हुए अपने अतीव प्रिय सखा को पुन : समझाते हैं और कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. तू मेरा अतीव प्रिय है,
२. ऐसा होने के कारण तेरे हित की कहूंगा।

३. तू सारे गुह्यों का गुह्यतम ज्ञान रूप,
४. मेरा परम वचन फिर से सुन।

तत्त्व विस्तार :

भगवान पूर्ण गुह्य ज्ञान का अति सूक्ष्म राज़ पुनः कहते हैं।

क) साधक का जो एकमात्र आसरा है,
ख) साधक को जो भगवान जैसा बना दे,
ग) साधक को जो भगवान का साधर्म्य बना दे,
घ) साधक को जो सत् के साथ एक रूप कर दे,
ङ) साधक को जो ज्ञान की प्रतिमा बना दे,
च) साधक को जो परम में स्थित करा दे,
छ) साधक को जो भगवान से मिला दे,
ज) साधक को जो जन्म मरण से मुक्त करा दे,
झ) साधक को जो पावन कर दे,
ञ) साधक को जो पाप विमुक्त करा दे,
ट) साधक को जो देहात्म बुद्धि से मुक्त करा दे,
ठ) साधक को जो कर्तृत्व भाव से मुक्त करा दे,
ड) साधक को जो आत्मवान् बना दे,
ढ) चित्त जड़ ग्रन्थियों को जो पल में काट दे,
ण) जिससे अज्ञान का नामो निशान न रहे,
त) स्थित प्रज्ञ जो पल में बना दे,
थ) गुणातीत जो पल में बना दे,
द) दैवी सम्पदा रूप श्रृंगार जो पल में पहना दे,

भगवान वह गुह्यतम राज़ पुनः कहते हैं।

नन्हीं! जो परम मिलन करा दे, आज वही तो कहने लगे हैं!

- भगवान अपने प्रिय को और क्या कह सकते हैं ?
- भगवान अपने प्रिय को और क्या दे सकते हैं ?

वह स्वयं सत् चित्त आनन्द स्वरूप हैं, वही तो देंगे अपने भक्त को। अपने प्रिय को मना मना कर वह अपना आप हैं दे रहे, इससे बड़ा वरदान कोई और क्या देगा ?

मेरी जाने प्रेम!भगवान के इस श्लोक को पढ़ कर मन झूम ही उठता है और उदास भी हो जाता है। भगवान स्वयं मना रहे हैं, यह देखकर कृत् कृत् भी हो जाता है। वह बार बार गुह्य ज्ञान दे रहे हैं, अब तो उनकी बात मान ही ले!

साधक को सावधान करने के लिए इसे गुह्य कह रहे हैं और फिर बार बार कह रहे हैं :

- यह साधारण जीवन ही उन्हें भगवान बनाता है।
- उनका जीवन ही सबके लिए प्रमाण होता है।
- उनका जीवन ही सबके लिए सहज जीवन में प्रमाणित हो सकता है।
- साधारण जीव के जीवन में ही परम गुण बहाव हो सकता है। यानि, भगवान के गुण जीव में ही विराजित हो सकते हैं।

देख नन्हीं सत् प्रिया जान! भगवान ने अर्जुन को कितने ही प्रेमपूर्ण शब्दों में पुकारा है, जो अर्जुन के लिए भगवान का अतीव प्रेम प्रकट करते हैं।

भगवान ने अर्जुन को :

क) 'अनघ' कहा, अर्थात् निष्पाप कहा।

ख) 'अनसूय' कहा, अर्थात् दोष दृष्टि तथा ईर्ष्या रहित कहा।

ग) 'शुचित' कहा, अर्थात् पावन चित्त वाला कहा।

घ) 'गुडाकेश' कहा, अर्थात् आलस्य रहित और निद्रा को जिसने वश में कर लिया हो, ऐसा कहा।

ङ) 'देहभृताम्बर' कहा, अर्थात् देहधारियों में श्रेष्ठ कहा।

च) 'धनजंय' कहा, अर्थात् सम्पूर्ण धनों पर विजय पाने वाला कहा।

छ) 'परंतप' कहा, अर्थात् महा तपस्वी, शत्रुओं को तपाने वाला कहा।

ज) 'पुरुषर्षभ' कहा, अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ कहा।

और भी अनेकों ऐसे प्रिय शब्द कहे।

- अनेकों शब्द स्वरूप के नाते कहे।
- अनेकों शब्द रूप के नाते कहे।
- अनेकों बातें सान्त्वना देने को कही।
- अनेकों बातें साहस बन्धाने को कहीं।

फिर सखा कह कर उसे अपनाया।
फिर प्रिय कह कर उसे अपनाया।
फिर 'तू भी मैं ही हूं' यह भी कहा।

- यह ही भगवान का प्रेम है।
- यह ही भगवान की साधक की ओर दृष्टि है।
- यह ही भगवान की साधक के लिए वाणी है।
- यह ही भगवान की साधक को समझाने की विधि है।
- यह ही भगवान की विषाद्पूर्ण मन को उठाने की विधि है।
- यह ही भगवान का शरणापन्न हुए को सत् पर स्थापित करने का ढंग है।

याद रहे भगवान ने पहले अर्जुन को :

१. मूर्ख भी कहा था, जब कहा– पण्डितों जैसी बातें करता है। (२/११)

२. नपुंसकता को छोड़ने के लिए कहा था। (२/३)

३. अज्ञानपूर्ण भी कहा था। (२/२)

४. हृदय की दुर्बलता को प्राप्त हुआ भी कहा था, (२/३)

ऐसी अनेकों बातें भी की थी।

यह भी भगवान का प्रेम है मेरी जान! पहले उसका उस पल जो रूप था, वह दर्शाया, तत्पश्चात् जब अर्जुन अपनी मूर्खता जान गया और भगवान के शरणापन्न हो गया, फिर :

क) भगवान बहु प्रेम से उसे उठाने लगे।

ख) उसका मोह मिटाने लगे।

ग) उसे सत्त्व में स्थित करवाने लगे।

घ) यही जीवन में गुरु शिष्य का नाता होता है।

ङ) यही जीवन में शिष्य को सत् दिखाने की विधि होती है।

गीता परम जीवन में स्थित करवाती है।

अब सब कहकर देख आगे भगवान अर्जुन को क्या कहते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नामस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

पुनः अपने अतीव प्रिय सखा तथा शिष्य रूप धारण किये हुए अर्जुन को भगवान अतीव गुह्य ज्ञान देते हुए कहने लगे, हे अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. मुझमें मन वाला,
२. मेरा भक्त हो,
३. मेरा यजन कर,
४. मुझे ही नमस्कार कर,
५. तू मुझे ही प्राप्त होगा,
६. मैं तेरे लिए इसकी सत्यता की प्रतिज्ञा करता हूं,
७. क्योंकि तू मेरा प्रिय है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान का जीव को आश्वासन, तू मुझे पा लेगा!

मेरी अतीव प्रिय सजनी कमला, देख! यहां भगवान अपनी ही प्राप्ति की सहज विधि बताते हुए कहते हैं :

१. मेरे स्वरूप को पा लेगा।
२. मेरे सार्धम्य, अर्थात् मेरे समान धर्म वाला हो जायेगा।
३. मेरे को ही पा लेगा।
४. मुझ जैसा ही हो जायेगा।
५. परम स्थिति जो भगवान की है, वह परम स्थिति पा जायेगा।
६. ब्राह्मी स्थिति में स्थित हो जायेगा।
७. भगवान कृष्ण के समान गुणातीत हो जायेगा।
८. भगवान कृष्ण के समान स्थित प्रज्ञ हो जायेगा।

भगवान को पा लेने का परिणाम :

यानि, भगवान कृष्ण के समान :

क) तनत्व भाव से परे हो जायेगा।
ख) आत्मवान् हो जायेगा।
ग) पाप पुण्य से परे हो जायेगा।
घ) जन्म मरण से परे हो जायेगा।
ङ) तन होते हुए भी तन रहित हो जायेगा।
च) अखण्ड, अद्वैत में स्थित हो जायेगा।
छ) साकार रूप निराकार हो जायेगा।
ज) एक रूप, अखिल रूप हो जायेगा।
झ) अखिल भावी, भाव पति, भाव रहित, भाव परे हो जायेगा।
ञ) नित्य प्रकट, अप्रकट, तत्त्व स्वरूप बन जायेगा।
ट) पूर्ण कर्त्ता, किन्तु अकर्त्ता स्वयं बन जायेगा।
ठ) कर्मातीत, कर्मपति, कर्म आप बन जायेगा।

मेरी नन्हीं जान! गर समझ सके तो जान ले कि वह नित्य अध्यात्म प्रकाश स्वरूप बन जाते हैं, क्योंकि उनका जीवन ही अध्यात्म का प्रकाश है। जो, जब भी उनके जीवन से ज्ञान की समतुलना करेगा तथा उनके पद चिह्नों पर चलेगा, वह वैसा ही हो जायेगा।

ड) दिव्य विशुद्ध आत्म स्वरूप हो जायेगा।
ढ) नित्य सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप, निर्रूप हो ही जायेगा।
ण) परम ब्रह्म दिव्य रूप, तत्त्व रस सार हो जायेगा।
प) नित्य विज्ञान रूप, शाश्वत तत्त्व प्रमाण स्वयं हो जायेगा।
फ) सर्वोत्तम पुरुष पुरुषोत्तम, यह वह आप हो ही जायेगा।

अब ऐसे परम पुरुष पुरुषोत्तम की स्थिति को देख! या यूं कहें कि उनके सहज दृष्टिकोण को समझ ले।

तनत्व भाव से परे हुए की स्थिति :

जो स्वयं तनत्व भाव से परे होगा वह :

१. नित्य निरासक्त होगा ही,
२. नित्य निर्विकार होगा ही,
३. नित्य निर्द्वन्द्व होगा ही,
४. नित्य निर्मम होगा ही,
५. नित्य उदासीन होगा ही,
६. नित्य तृप्त होगा ही,
७. नित्य निर्दोष होगा ही,
८. नित्य निरहंकार होगा ही,
९. नित्य निर्लिप्त होगा ही।

क्योंकि उसे अपने ही तन से संग नहीं होता।

फिर जब अपने ही तन से संग न रहे तो :

- मोह रहित हो जायेगा, क्योंकि जीव के मोह का कारण तनो संग ही है।
- संकल्प रहित हो जायेगा,
- आशा तृष्णा रहित हो जायेगा,
- क्षोभ, लोभ रहित हो जायेगा,
- मनोविकार रहित हो जायेगा,

क्योंकि ये सब तन के नाते होते हैं।

अब तनिक आगे बढ़ें तो जान लें कि देहात्म बुद्धि रहितता के पश्चात् :

क) शुभ अशुभ के प्रति वह मौन हो ही जायेगा।
ख) निवृत्ति प्रवृत्ति दोनों के प्रति समभाव हो ही जायेगा।
ग) प्रिय अप्रिय दोनों के प्रति समभाव हो ही जायेगा।
घ) मान अपमान भी तन का होता है, फिर इसकी कौन परवाह करे ?
ङ) राग द्वेष भी तन के होते हैं, ये सब मौन हो जाते हैं।
च) जय पराजय भी तन की होती है, ये सब मौन हो जाते हैं।
छ) दुःख सुख भी तन के नाते होते हैं, ये सब मौन हो जाते हैं।
ज) हानि लाभ भी तन के होते हैं, ये सब मौन हो जाते हैं।
झ) कर्म या अकर्म भी तन के होते हैं।

वह ये सब करता हुआ कर्म से परे हो जायेगा।

जब मन भगवान को दे देगा, तब यह सब सहज में होगा। यानि, उसके बाद तन क्या करेगा, इसकी उसको परवाह नहीं होगी।

सत्त्व स्थित पुरुष की मनोस्थिति :

- उसके बाद तन को क्या मिलेगा,
- उसके बाद तन का क्या बनेगा,

इसकी उसको परवाह नहीं होगी। इस सबके प्रति वह मौन हो जाता है, तभी तो वह गुणातीत हो सकता है।

नन्हीं! जब मन भगवान को दे दिया तो उसे क्या कि उसके तन को क्या मिला? तब वह नित्य गुणों से अप्रभावित रहता है। यानि,

१. गुणों के प्रति उदासीन हो जाता है।
२. प्रवृत्ति या निवृत्ति के प्रति उदासीन हो जाता है।
३. मान अपमान के प्रति मौंन हो जाता है।
४. वह नित्य अविचलित रहता है।

वह 'सर्वारम्भपरित्यागी' हो जाता है, क्योंकि :

क) वह अपने तन के कारण अपने लिए कुछ भी आरम्भ नहीं करता।
ख) किसी गुण के प्रहार से बचने के लिए कुछ नहीं करता।
ग) किसी गुण के प्रति आकर्षित होकर कुछ नहीं करता अपने तन के लिए। तत्पश्चात् वह स्थित प्रज्ञ हो जाता है।

स्थित प्रज्ञ की बुद्धि :

१. उसकी बुद्धि नित्य समत्व स्थित होती है।
२. उसकी बुद्धि नित्य अप्रभावित होती है।
३. उसकी बुद्धि समदर्शी होती है।

ऐसे का जीवन क्या होगा, यानि जब भक्त भगवान को मन दे देता है, तब वह कैसा हो जाता है, अब समझ ले।

नन्हीं जान! आत्म तत्त्व अभिलाषिणी! जब उसका तन ही अपना नहीं तो :

क) उसका जीवन भी अपना नहीं रह जाता।
ख) तन के कर्म भी वह नहीं अपनाता, यानि, वह नित्य अकर्त्ता ही होता है।
ग) तनोभोग भी उसके नहीं होते, वह सब कुछ भोगता हुआ भी अभोक्ता ही होता है।
घ) वह बुद्धि से भी संग नहीं करता।
ङ) वह मन से भी संग नहीं करता।

स्थित प्रज्ञ का जीवन :

ऐसे का जीवन क्या होगा, अब समझ ले नन्हूं! वह तो भगवान जैसा ही होगा, यानि :

१. वह सर्व हितकर ही होगा।
२. जो उसके पास आयेगा, वह उसके भले की ही बात करेगा।
३. जो उसका साथ मांगेगा, वह उसके भले में ही साथ देगा।
४. वह अपनी तद्रूपता छोड़कर दूसरे के काज में ही तद्रूप हो जायेगा।
५. वह अपनी तद्रूपता छोड़कर दूसरे के

ही तद्रूप हो जायेगा।

६. उसका जीवन निष्काम कर्म की प्रतिमा होगा।
७. उसका जीवन प्रेम की प्रतिमा होगा।
८. उसका जीवन निष्काम उपासना की प्रतिमा होगा।
९. उसका जीवन निष्काम ज्ञान की प्रतिमा होगा।
१०. उसका जीवन केवल कर्त्तव्य रूपा लड़ी ही होगा।

इस कारण वह :

- साधारण लोगों में साधारण जीवन ही व्यतीत करेगा।
- साधारण लोगों में नित्य साधारण काज ही करेगा।
- साधारण लोगों में नाहक द्वन्द्व उत्पन्न नहीं करेगा।
- अज्ञानियों में अज्ञानियों की तरह ही रहेगा।
- अज्ञानियों में कर्म करता हुआ उनसे भी कर्म करवाता रहेगा।

पूर्ण दैवी गुण उसके सहज गुण होंगे। पूर्ण दैवी गुणों का प्रमाण उसके सहज जीवन में मिल जायेगा। जीवन में जैसी भी परिस्थिति आ जाये, वह उसी में दक्षतापूर्ण काज करता हुआ मानो खो जायेगा, क्योंकि उसका तन उसी में तत्पर हो जायेगा।

- उसका जीवन अखण्ड यज्ञ ही होगा।
- उसका जीवन अखण्ड तप ही होगा।
- उसका जीवन अखण्ड दान ही होगा।
- उसका जीवन अखण्ड ज्ञान ही होगा।
- उसका जीवन अखण्ड विज्ञान ही होगा।
- उसका जीवन अखण्ड सत् ही होगा। अजी! वह भगवान ही होगा।

अब नन्हीं बिटिया समझ! जो भगवान ने इस श्लोक में कहा है, उसका अर्थ क्या होगा ? देख मेरी नन्हीं लाडली अर्पणा रूपा बिटिया! यदि इन्सान को कोई पसन्द हो और वह वैसा ही बनना चाहे तो जीवन में:

क) वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसे कि आपका प्रेमास्पद करता है।
ख) मन वैसा ही होना चाहिए जैसा आपके प्रेमास्पद का है।
ग) अपने प्रेमास्पद में श्रद्धा रूपा भक्ति होनी चाहिए।
घ) अपने प्रेमास्पद के ही गुणों के सम्मुख झुकना चाहिए।
ङ) अपने प्रेमास्पद का दृष्टिकोण अपने जीवन में लाने का यत्न करना चाहिए।

नन्हीं! भगवान जैसे तो तब बनोगे गर:

१. भगवान जैसे करुणापूर्ण बनोगे।
२. भगवान जैसे न्यायकर बनोगे।
३. भगवान जैसे क्षमास्वरूप बनोगे।
४. भगवान जैसे, तन होते हुए भी तनत्व भाव रहित होकर जग में विचरोगे।
५. भगवान जैसे मन वाले हो जाओगे, तो अपने आपको भूलकर दूसरे के तद्रूप हो सकोगे।

अब प्रथम समझ ले :

- मन किसे कहते हैं ?

- भक्ति किसे कहते हैं ?
- यजन किसे कहते हैं ?
- नमन किसे कहते हैं ?

तब आगे समझ सकोगे।

*** मन :**

क) मन ही सम्पूर्ण वृत्तियों का पुंज है।
ख) संकल्प विकल्प मन के गुण हैं।
ग) आशा निराशा का वास मन में ही होता है।
घ) भय निर्भयता का वास मन में ही होता है।
ङ) संशय असंशय मन ही करता है।
च) तृष्णा कामना भी मन के ही गुण हैं।
छ) सुख दु:ख भी मन के ही गुण हैं।
ज) क्रोध भी मन का ही गुण है।
झ) लोलुपता तथा लोभ भी मन के ही गुण हैं।
ञ) बुद्धि का आवरण भी मन ही है।
ट) चेत, अर्धचेत तथा अचेत में अधिकांश मन का ही राज्य होता है।
ठ) अहंकार मोह के कारण मन में ही उठता है।
ड) अहंकार मन से ही अन्न पाकर पुष्टित होता है।
ढ) इन्द्रिय रस रसना रसिक मन ही होता है।
ण) रुचि का अनुयायी मन ही होता है।
त) अरुचि से भागने वाला मन ही होता है।
थ) रुचिकर का उपासक भी मन ही होता है।
द) विभ्रान्तकर यह मन ही होता है।
ध) धुन्धलापन उत्पन्न करने वाला यह मन ही होता है।
न) सत् पथ से दूर ले जाने वाला मन ही होता है।
प) मोह ग्रसित होकर मिथ्या सिद्धान्तों में रमण करने वाला मन ही है।
फ) मिथ्या सिद्धान्तों को सत् साबित करने वाला मन ही है।
ब) मोह रूपा मूर्छा से ग्रसित रहने वाला मन ही है।
भ) अपने आपको धोखे में रखने वाला मन ही है।
म) कल्पना आधारित मिथ्या तर्क वितर्क करके अपने आपको न्यायमूर्ति ठहराने वाला मन ही है।
य) वास्तविकता को छुपाने वाला मन ही है।
र) कर्त्तव्यविमुख करने वाला मन ही है।

संग, मन का गुण :

नन्हीं! संग मन का गुण है। जहां इस मन का संग हो जाये,

१. मन उसी के वशीभूत हो जाता है।
२. मन पर उसी का रंग चढ़ जाता है।
३. मन उसी ओर प्रवाहित हो जाता है।
४. तन इन्द्रियों सहित वही पाने के प्रयत्न करता है।
५. मन का संग ही जीव को असुरत्व की ओर ले जाता है।

* मन के विस्तार के लिए ९/३३ और १२/२,८ देखिये।

६. मन का संग ही जीव को देवत्व की ओर ले जाता है।

वास्तव में कहते हैं, जीव वैसा ही है जैसा उसका मन है। मन के गुण कैसे हैं, इन्हें देखकर तथा तोलकर आप जान सकते हैं कि आप सतोगुणी, रजोगुणी या तमो गुणी हैं।

मनोसंग ही वह प्रेरक है जो आपको विभिन्न कार्यों में प्रेरित करता है।

- यदि मन का संग सत् से हो जाये, तब जीव सत् को जीवन में लाने के प्रयत्न करेगा।
- यदि मन का संग भगवान से हो जाये, तब जीव भगवान के गुण जीवन में लाने के प्रयत्न करेगा।
- यदि मन का संग आत्मा से हो जाये, तो वह आत्मवान् बन ही जायेगा। तब जीव भगवान के गुण अपने में ले आयेगा।

पहले कहकर आये हैं, जहां मन का संग होता है, वही रंग मन पर चढ़ जाता है, वही गुण मन में उत्पन्न होते हैं।

गर आपको राम पसन्द हैं, गर आपको राम से संग है, तो आप राम जैसे गुण अपने जीवन में ले आयेंगे। यदि आपको श्याम से संग है तो आप श्याम जैसे गुण अपने जीवन में ले आयेंगे। यदि आपको ईसामसीह से संग है, तो आप उन जैसे गुण अपने जीवन में ले आयेंगे। यदि आपको महात्मा गांधी से संग है तो आप उनके जैसे गुण अपने जीवन में ले आयेंगे।

इसका अभ्यास तन, मन, बुद्धि उनको देने से सहज में हो जायेगा।

१. यानि गर राम से संग है तो आप राम के सहज गुणों पर अपना तन अर्पित कर दोगे।
२. आपके जीवन में राम के सहज गुण वर्तेंगे।
३. आप जीवन में राम के समान कर्त्तव्य परायण हो जायेंगे।
४. आप जीवन में राम के समान सहनशक्ति वाले हो जायेंगे।
५. आप जीवन में राम के समान क्षमा स्वरूप हो जायेंगे।
६. आप जीवन में राम के समान भक्त वत्सल हो जायेंगे।
७. आप जीवन में राम के समान समचित्त हो जायेंगे।

ध्यान रहे सत् प्रिया! साधक भगवान को अपना आप देने जाते हैं, भगवान से कुछ लेने नहीं जाते।

भगवान से प्रेम का परिणाम :

भगवान से प्रेम का अर्थ ही,

क) निष्काम कर्म है।
ख) निष्काम पूजा है।
ग) निष्काम क्षमा है।
घ) तन भगवान को दे देना है।
ङ) मन भगवान को दे देना है।
च) बुद्धि भगवान को दे देनी है।

सच्चा भक्त भगवान पर कलंक नहीं बनता।

भक्त का दृष्टिकोण भगवान के प्रति :

भक्त भगवान के नाम को अपना ही नाम मानकर भगवान के समान हो जाता है और अपने तन को भगवान का तन मानता है, उस पर अपना हक नहीं मानता।

उसे याद ही नहीं रहता कि :

क) उसका अपना तन भी है।
ख) उसकी अपनी रुचि भी है।
ग) उसे कुछ पाना भी है।
घ) उसका कुछ अपना भी है।

जिसे वह अपना कहता था, उसे वह भगवान का मानता है।

१. अपना घर उसका अपना नहीं, वह घर भगवान का हो जाता है।
२. अपना धन उसका अपना नहीं, यह धन भगवान का हो जाता है।
३. अपना तन उसका अपना नहीं, वह तन भगवान का हो जाता है।
४. अपना जीवन उसका अपना नहीं, यह जीवन भगवान का हो जाता है।
५. मानो अपना कुछ भी नहीं रहा, सब भगवान का हो गया।
६. उसका मान हुआ तो भगवान का हुआ।
७. उसका अपमान हुआ तो भगवान का हुआ।
८. हानि लाभ, सब भगवान के हो गये।

हर काज कर्म जो तन करे, सब भगवान के हो गये।

इन सबके परिणाम रूप फिर,

- मन में विकार नहीं उठते।
- मन में प्रतिद्वन्द्व नहीं उठते।
- मन में क्षोभ तथा दुःख नहीं उठते।

गर सच मानते हो कि आपका कुछ नहीं तो मन मौन हो जाता है। तब :

क) जीव नित्य परम प्रेम पूर्ण कहलाता है।
ख) जीव नित्य परम भक्ति पूर्ण कहलाता है।
ग) जीव का जीवन यज्ञमय हो ही जाता है।

इसलिए भगवान कहते हैं, 'मुझमें मन वाला हो।'

तब साधना सहज हो जायेगी। नन्हीं! तब तन के मालिक श्याम हो जायेंगे। गर मन श्याम में टिक गया तो साधना सहज हो जायेगी। गर मन श्याम में टिक गया तो भक्ति का जन्म होता है।

भक्ति का जन्म :

गर भगवान से संग हो गया, तो भगवान में भक्ति उठ ही आयेगी; क्योंकि जहां संग हो गया, तुम उसके बनना चाहोगे। जहां संग हो गया, उससे अखण्ड लग्न हो जायेगी। फिर उसके गुण आपमें आते हैं। तब साधक के हृदय में भक्ति का जन्म हो ही जायेगा। उसका ध्यान नित्य भगवान के गुणों को जानने में लगा रहेगा। वह भागवत् गुण अच्छी तरह जानना और समझना चाहेगा, क्योंकि उसे वह गुण जीवन में लाने और समझने हैं।

गर यह संग सच्चा है तो :

१. बाकी केवल समझना ही रह जाता है।
२. बुद्धि जिसे समझ जाये, मन मान ही जायेगा।

३. तब मन भी बुद्धि का समर्थन करता रहता है।
४. तब मन भी बुद्धि का सहयोगी बन जाता है।
५. फिर मन बुद्धि का आसरा लेकर वर्तता है।

भक्ति :

मनो संग के पश्चात् जो परम गुण विवेक होता है, वह भक्ति है।

भक्ति तब उत्पन्न होती है जब :

क) परम गुण अपने जीवन में लाने का इरादा हो।
ख) परम गुण अपने राही बहाने का इरादा हो।
ग) अपना तन भगवान के हवाले करने का इरादा हो।
घ) अपनी बुद्धि भगवान के हवाले करने का इरादा हो।
ङ) अपना सर्वस्व भगवान के हवाले करने का इरादा हो।

जब सच ही अपना तन, मन और धन, जग, संसार भगवान को देने का इरादा हो, तब भक्ति उत्पन्न हुई मानो। भक्ति का पुत्र सत् ज्ञान होता है। तब मन राहों में नहीं आता।

भक्त की राहों में मन नहीं आता, यानि वहां :

१. मनो मान्यता का अभाव हो जाता है।
२. मनो ग्रन्थियों का अभाव हो जाता है।
३. मनो संकोच का अभाव हो जाता है।
४. मनो संशय का अभाव हो जाता है।
५. मनो संकल्प विकल्प का अभाव हो जाता है।
६. जीव आशा तृष्णा के बन्धन से मुक्त हो जाता है।
७. मन शुभ अशुभ की चाहना भी छोड़ देता है।
८. मन प्रवृत्ति के प्रति मौन हो जाता है।
९. मन प्रिय या अप्रिय से राग द्वेष नहीं रखता।
१०. मन दुश्मनी या सज्जनता, सब भूल जाता है।
११. मनो उद्विग्नता का अभाव हो जाता है।

- क्योंकि मन का संग सत् से हो जाता है।
- क्योंकि मन का संग परम से हो जाता है।
- क्योंकि मन का संग भगवान से हो जाता है।

तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर हो जाती है और हर वाक् ज्ञान हो जाता है।

भक्ति का पुत्र- सत् ज्ञान :

जब संग ही मिट गया स्थूल से, तब परम में स्वत: श्रद्धा होने लगती है। परम में तीव्र लग्न के पश्चात् भक्ति उत्पन्न होती है। इस भक्ति राही जो ज्ञान बहता है, वह गंगा बन जाता है और वह भक्ति रूपा गंगा का बहाव अहं को भी पावन कर देता है। यानि, अहं में से अहंता मिटा देता है।

नन्हीं! भक्ति का पुत्र सत् ज्ञान है।

- भक्ति की पुत्री पावनी गंगा है।
- भक्ति योग का पथ है।

- भक्ति ही योग का सार है।
- भक्ति को समझ,

तत्पश्चात् 'मेरा यजन् कर', जो कहा है, वह समझ में आ जायेगा, क्योंकि फिर :

१. हर कर्म भगवान के लिए ही होगा।
२. हर कर्म भगवान के जैसा ही होगा।
३. हर कर्म भगवान के आश्रित ही होगा।
४. हर कर्म भगवान के साक्षित्व में ही होगा।
५. हर कर्म भगवान के अर्पित ही होगा। तब जीव वही करेगा, जो, गर भगवान का तन होता, तो वह करते।
६. उसका पूर्ण जीवन ही एक महायज्ञ बन जायेगा।
७. उसका हर कर्म मानो जीवन यज्ञ में निष्काम आहुति होगा।
८. उसकी हर निगाह मानो जीवन यज्ञ में प्रेम की आहुति होगी।
९. उसका हर वाक् मानो जीवन यज्ञ में ज्ञान बहाव होगा।

यज्ञ क्या है ?

वास्तव में भक्ति सम्बन्धी क्रिया को ही यज्ञ कहते हैं। परम के नाम पर जो कर्म करें, उसे यज्ञ कहते हैं। कामना रहित जो कर्म करें, उसे यज्ञ कहते हैं। अपने तन, मन तथा बुद्धि की परम अर्थ आहुति को यज्ञ कहते हैं।

ईश्वर परायण जीवन प्रणाली महा यज्ञ है।

नन्हीं! जो दूसरे के लिए किया जाये, वह यज्ञ ही होता है।

दूसरे के लिए कार्य करते हुए :

क) अपनी रुचि अरुचि को भूल जाना,
ख) अपना मान अपमान न्यौछावर करना,
ग) अपने दुःख सुख की परवाह न करना,
घ) श्रेय प्रेय की परवाह न करना,
ङ) अपने तन तथा उसके सुख चैन का भुलाव करना,
च) धन, द्रव्य भगवान का जानकर औरों के सुख में लगा देना,

यही परम यज्ञ में दी हुई आहुति है।

जीवन को ही निष्काम भाव से न्यौछावर कर देना जीवन को यज्ञमय बनाना है। वही महा सुगन्ध भरी समिधा होती है। उसमें प्रेम, दया, करुणा तथा अन्य दैवी सम्पदा का घृत पड़ता है। अहं रहित परम का तन ही यज्ञ करने वाला होता है, जग के कुण्ड में संग रहितता की अग्नि जलाकर यह यज्ञ किया जाता है। यानि, अपना सर्वस्व अर्पित किया जाता है, तब ही भक्ति सफल होती है। तत्पश्चात् 'माम्-नमस्कुरु' हो सकता है।

नमन कब होता है ?

१. जब तन भगवान का ही हो गया।
२. जब तन मानो परम का हो गया।
३. जब मनो संग परम से ही हो गया।
४. जब भक्ति उत्पन्न हो ही गई।
५. जब ज्ञान बहाव बह ही निकला,

तब सीस स्वतः झुक जाता है।

नमन क्या है ?

क) तब अहंकार झुक ही जाता है।
ख) तब नित्य स्वरूप में माथा झुकाये रहता

है।

ग) परम गुण से कभी विचलित नहीं होता।

घ) गुण परिणाम में जो भी मिले, वह परिणाम के प्रति उदासीन हो जाता है।

भाई! उसका अपने तन से नाता छूट ही जाता है।

सीस झुकाने का अर्थ यह है कि :

- अब से यह तन पूर्ण रूप से भगवान का हो गया।
- अब से यह सीस पूर्ण रूप से भगवान का हो गया।
- अब से यह मन पूर्ण रूप से भगवान का हो गया।

जब अंग अंग भगवान के हो गये, तब उसे नमस्कार मानना चाहिए।

- तब तनत्व भाव अभाव हुआ मानो।
- तब देहात्म बुद्धि अभाव हुआ मानो।
- तब वह परम में विलीन हुआ जानो।
- तब वह सबके तद्रूप हो जाता है।
- तब वह सब कुछ है, पर कुछ भी नहीं है।

तब मानो उसने :

१. प्राण ही भगवान को अर्पित कर दिये हैं।

२. 'मैं' की जा पर भगवान को स्थापित कर दिया है।

३. हर तनो अंग, जो पहले 'मैं' का था, अब भगवान का ही हो गया।

४. हर इन्द्रिय कर्म, जो पहले 'मैं' का था, अब भगवान का ही हो गया।

५. हर मनो चिन्तन, जो पहले 'मैं' का था, अब भगवान का ही हो गया।

६. भाव भगवान के हो गये।

७. अपना संकुचित 'मैं' पूर्ण दृष्टिकोण नहीं रहा, वहां भगवान का दृष्टिकोण विराजित हो गया।

८. यानि, व्यक्तिगतता का अभाव होकर समष्टिगतता आ जाती है।

बिन नाम लिये भगवान का,
तन भगवान का हो गया।
अपना कुछ भी नहीं रहा,
सब ही राम का हो गया॥

वही मानो 'नम:' का स्वरूप हो गया। वही मानो 'नम:' का रूप हो गया।

पुनः समझ नन्हीं!

क) प्रथम मन ने पुकारा भगवान को।

ख) आह्वान किया भगवान का अपने तनो मन्दिर में।

ग) फिर भगवान को साक्षी बना लिया।

घ) फिर भगवान को जीवन के हर पहलू में साथी बना लिया।

ङ) फिर ऐसा सीस झुकाया अपना कि वहां राम ही रह गये।

साधना प्रक्रिया :

इक मन अपने को क्या भूला, पूर्ण संसार को भूल गया।

इक मन अपना दिया भगवान को, पूर्ण संसार को भूल गया।

- तब वह सब कुछ करता हुआ भी

अकर्त्ता होता है।

- तब वह सब कुछ कहकर भी कुछ नहीं कहता।
- तब वह सब कुछ कहकर भी नित्य मौन ही रहता है।
- तब वह तन रूपा होता हुआ भी तन रहित ही होता है।
- तब वह भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता ही होता है।
- तब वह पाप पुण्य से परे होता है।
- तब वह अपने प्रति नित्य उदासीन, प्रेम स्वरूप ही होता है।
- तब वह है भी, पर है भी नहीं, ऐसा मानना चाहिए।

भाई! वहां पर तो भगवान बसते हैं। उस तन पर तो भगवान का राज्य है।

भगवान कहते हैं, देखो!

- गर तुम यही करोगे तो तुम भी मुझ जैसे हो जाओगे।
- गर तुम यही करोगे तो तुम भी मुझे ही पाओगे।
- गर तुम यही करोगे तो तुम भी मुझ जैसे धर्म वाले हो जाओगे।

कैसी सुन्दर तथा सहज विधि कही है भगवान ने। तुम भी गर इसे मान लो तो तुम भी वही हो जाओगे। फिर तन जहां भी रहे, जो भी करे, भगवान का ही होगा। परिस्थिति जैसी भी हो, तन भगवान का ही होगा।

नन्हीं परम पद याचिका! यहां भगवान ने जो वादा किया है, उसकी परीक्षा ले लो न!

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सम्पूर्ण ज्ञान देने के पश्चात् अब भगवान कहते हैं।

शब्दार्थ :

१. सम्पूर्ण धर्मों को छोड़कर,
२. तू मुझ एक में ही शरण ले!
३. मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त करवा दूंगा,
४. शोक मत कर।

तत्त्व विस्तार :

भागवत् प्रिया नन्हीं साधिका! अभी भगवान कहकर आये हैं कि :

क) मन भगवान में रख।
ख) भक्ति भगवान में रख।
ग) यजन् भगवान का कर।
घ) नमस्कार भगवान को कर।

अब कहते हैं, 'पूर्ण धर्म मुझ पर छोड़ दे।'

सर्व धर्म परित्याग का अर्थ :

१. गर आधार भगवान स्वयं बन जायें तो ही भागवत् गुणों का आसरा ले सकोगे जीवन में।

२. हर पल साक्षी रूप भगवान बन जायें तो ही भक्ति होगी।
३. हर पल ध्यान उनके गुणों पर ही रहेगा।
४. जीवन का हर कर्म भगवान पर अर्पित करते जाओगे।
५. केवल भगवान के गुणों के सम्मुख ही झुकोगे। यानि,

- साधुता पर ही मिटोगे, असाधुता के सम्मुख नहीं झुकोगे।
- जीवन में केवल परम गुण ही व्यवहार में लाओगे।
- भगवान जैसा बनना चाहोगे।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य' से भगवान का क्या अभिप्राय हो सकता है? प्रथम समझ :

क) जीवन में कर्त्तव्य तो भगवान भी करते थे, हमें वह छोड़ने के लिए कैसे कह सकते हैं?
ख) जीवन में धर्म का प्रमाण रूप भगवान हैं, तो धर्म छोड़ने के लिए वह कैसे कह सकते हैं।
ग) जीवन में धर्म स्थापित करने के लिए जिनका जन्म हुआ, वह धर्म त्याग को नहीं कह सकते।
घ) जीवन में वह स्वयं भी तो धर्म त्याग का समर्थन नहीं कर सकते।
ङ) जो सम्पूर्ण गीता में कर्त्तव्य को श्रेष्ठ ठहराते आये हैं, वह अपनी ही बात को कैसे गलत कह सकते हैं?
च) जो नित्य यज्ञ को सराहते हुए आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
छ) जो नित्य यज्ञ को पावन कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ज) जो नित्य निष्काम कर्म को पावन कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
झ) जो निष्काम जीवन को पावन कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ञ) जो गुण समझाते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ट) जो दैवी सम्पदा इकट्ठी करने को कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ठ) जो गुणातीत बनने को कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ड) जो अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ढ) जो 'सर्वारम्भपरित्यागी' का ज्ञान देते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
ण) जो उदासीनता की बात समझाते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
त) जो कर्मों में अकर्मता का ज्ञान देते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
थ) जो कर्म फल त्याग का ज्ञान देते आये हैं, वह धर्म त्यागने को नहीं कह सकते।
द) जिन्होंने सदा कर्तृत्व भाव अभाव की बात कही, कर्मत्याग की बात नहीं कही, वह अब कैसे कहेंगे कि 'जो

मैंने कहा है, उसे न मान।'

त्याग किसका करना है, यह समझ ले।

१. मैं 'धर्मवान् हूं', यह भाव छोड़ दे।
२. 'मैं धर्म का कर्त्ता हूं', यह कर्तृत्व भाव छोड़ दे।
३. 'यह श्रेष्ठ है यह निकृष्ट है', ऐसा भाव छोड़ दे।
४. अपने गुणों का गुमान छोड़ दे।
५. अपने ज्ञान का मान छोड़ दे।
६. अपने श्रेष्ठ कर्म का अभिमान छोड़ दे।
७. अपनी न्यूनता से भी संग छोड़ दे।
८. श्रेय और प्रेय से भी संग छोड़ दे।
९. निवृत्ति और प्रवृत्ति से भी संग छोड़ दे।
१०. बच बच के चलने का ढंग छोड़ दे।
११. मान अपमान में तुल्य रहना सीख ले।
१२. अपने और दूसरे के गुणों से भिड़ाव छोड़ दे।
- मनोसंग त्याग ही त्याग है।
- कर्मफल से संग त्याग ही त्याग है।
- परिस्थिति से संग त्याग ही त्याग है।
- तनोसंग त्याग ही त्याग है।

१३. 'करने योग्य ही है', ऐसा जानकर सब कर्म कर।
१४. कर्तृत्व भाव से संग छोड़ दे, क्योंकि कर्त्ता गुण हैं और गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं।
१५. भोक्तृत्व भाव से संग छोड़ दे, क्योंकि भोक्ता भी गुण ही हैं।
१६. 'मैं' और 'मम' का भाव छोड़ दे, क्योंकि 'मैं' कुछ नहीं करता।
१७. अरे! अपना तनत्व भाव छोड़ दे क्योंकि तू तन नहीं, भगवान के समान आत्मा ही है।

'मेरी शरण में आ', इसी में गीता का राज़ है।

भगवान कहते हैं :

क) जो मैंने कहा है, सो कर।
ख) जैसा मैं हूं, वैसा बनकर विचरना।
ग) जैसे मैं जीवन में वर्तता हूं, वैसे तू भी विचर।
घ) जो मेरा दृष्टिकोण है, उसे तू भी अपना ले।
ङ) ज्यों मैं तन से संग नहीं करता, तू भी संग न कर।
च) ज्यों मैं जीवन रूपा यज्ञ करता हूं, वैसा तू भी कर।
छ) ज्यों मैं निष्काम जीवन व्यतीत करता हूं, त्यों तू भी जीवन निष्काम कर ले।
ज) ज्यों मेरा कोई स्वार्थ नहीं, पर मैं कर्म करता हूं, त्यों तू भी कर।
झ) ज्यों मेरा कोई स्वार्थ नहीं, पर मैं कर्त्तव्य करता हूं, त्यों तू भी कर।
ञ) ज्यों मैं अज्ञानियों में अज्ञानियों जैसे कर्म करता हूं, त्यों तू भी कर्म कर।
ट) ज्यों मैं अज्ञानियों के साथ कर्म करता हुआ उनसे कर्म करवाता हूं, त्यों तू भी करवा।
ठ) ज्यों मैं अपने प्रति उदासीन हूं, तू भी अपने प्रति उदासीन हो जा।
ड) ज्यों स्वयं योजन बनाते हो, त्यों लोगों के योजन में सहयोग दो मेरे समान।
ढ) ज्यों मेरा जीवन साधारण है, त्यों तू भी जीना सीख ले।

नन्हीं! यदि तन उसने भगवान को दे दिया तो जीवन के सम्पूर्ण धर्म वह भगवान के समान निभायेगा ही।

भगवान की शरण में जायेगा तो वह :

१. हर परिस्थिति में वही करेगा, जो वहां यदि श्याम होते तो वह करते।
२. वह वही करेगा, जो श्याम ने कहा है, किन्तु वह उसे अपनी परिस्थिति में उतारेगा।
३. उसके लिए श्याम का वाक् आदेश होगा।
४. श्याम का जीवन ही जीवन प्रणाली में उनके आदेश की व्याख्या होगी।

- ज्यों भगवान सब जगह मान अपमान में सम रहते थे, आप भी सम रहोगे।
- ज्यों भगवान सब जगह सारथी रूप धरते थे, आप भी धरोगे।
- ज्यों भगवान सब जगह अपने प्रति उदासीन रहते थे, आप भी रहोगे।
- ज्यों भगवान सब जगह विजय पराजय में सम रहते थे, आप भी रहोगे।

भगवान का स्वरूप :

भाई! भगवान नित्य :

- आनन्द स्वरूप स्वयं हैं।
- उदासीनता स्वरूप स्वयं हैं।
- निर्लिप्त स्वरूप स्वयं हैं।
- निर्दोष स्वयं हैं।
- नित्य निरासक्त स्वरूप स्वयं हैं।
- निर्विकार स्वरूप स्वयं हैं।
- निसंग स्वरूप स्वयं हैं।
- गुणातीत स्वरूप स्वयं हैं।
- दैवी गुण स्वरूप स्वयं हैं।
- स्थित प्रज्ञ स्वरूप स्वयं हैं।

पर कैसे ? यह तो समझ ले!

क) वह तनधारी होते हुए भी तनत्व भाव रहित हैं।
ख) वह तनधारी होते हुए भी देहात्म बुद्धि रहित हैं।
ग) वह तनधारी होते हुए भी नित्य निराकार हैं।
घ) वह स्वार्थ रहित होते हुए भी सर्वभूत हितकर स्वयं हैं।
ङ) वह निर् आशी होते हुए भी सबकी आशायें पूर्ण करते हैं।

पर यह कैसे करते हैं, यह जानने के लिए भगवान का दृष्टिकोण समझ! पहले भगवान का जीवन की ओर दृष्टिकोण समझ ले। इसके लिए पहले भगवान का :

१. जीवन में अन्य लोगों के प्रति व्यवहार समझ ले।
२. अपने तन के प्रति दृष्टिकोण समझ ले।
३. अपने तन के मान अपमान के प्रति दृष्टिकोण समझ ले।
५. अपने तन के हानि लाभ के प्रति दृष्टिकोण समझ ले।
६. अपने तन के दुश्मन मित्र के प्रति दृष्टिकोण समझ ले।
७. अपने तन के जन्म मरण के प्रति दृष्टिकोण समझ ले।

नन्हीं! जो अपने तन को अपना ही नहीं मानता,

क) उसका अपना तन कौन सा होगा ?

ख) उसका जन्म ही कहां हुआ ?
ग) उसका मान अपमान क्या होगा ?
घ) उसकी लाभ हानि क्या होगी ?

तो यूं कहलो उसका अपना कोई दृष्टिकोण नहीं होता। उसका मान अपमान कुछ नहीं होता।

जाने जान! जब तन ही अपना नहीं, तब तन का कोई कर्म अपना नहीं होता। इस नाते वह कहते हैं कि 'सम्पूर्ण कर्मों से संग त्याग दो। अपने तन से मेरे समान संग त्याग दो।'

भाग्यवान् देख! भगवान अपने प्रिय सखा को उसी के सुख के लिए मना रहे हैं, 'मैं तुझे सारे पापों से मुक्त करवा दूंगा।' 'मा शुचा' को समझ कि यह कैसे होता है।

'मा शुचा' का अर्थ और विधि :

१. जब भगवान का नाम लिया तो साक्षी भगवान हो गये।
२. जब भगवान में भक्ति बढ़ी, तो तन भगवान का होने लगा।
३. जब तन भगवान का होने लगा, तो तनो कर्म उनके चरण में अर्पित होने लगे।
४. यानि, जब भगवान का तन होने लगा, तो तनो कर्म भगवान जैसे होने लगे।
५. जब तन भगवान का होने लगा तो मनो कर्म भगवान के साधर्म्य होने लगे।
६. यानि, साधक भगवान के गुणों को अपने जीवन राही बहाने लगा।
७. यानि, साधक भगवान के गुणों को जीवन राही नमन करने लगा।
८. भगवान के गुणों को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर अपने आपको उन गुणों पर अर्पित करने लगा।

क) तब वह शनैः शनैः अपने आपको भूलकर दूसरों में खोने लगेगा।
ख) दुर्गुणों से अप्रभावित होने लगेगा।
ग) अपने गुणों से भी अप्रभावित होने लगेगा।
घ) तत्पश्चात् वह तनत्व भाव से परे होने लगता है।
ङ) वह नाम के बन्धन से मुक्त हो जाता है।
च) तब उसका अपने तन के रूप से भी संग नहीं रहता।
छ) यानि, वह नाम और रूप की उपाधियों से परे हो जाता है।

नन्हीं! वह भगवान में मन क्या लगा बैठा, उसके तन पर 'मैं' की जगह भगवान का राज्य हो गया, उस 'मैं' की जगह राम राज्य हो गया।

'मैं' रहितता का परिणाम :

जब 'मैं' ही नहीं रही, तो पाप पुण्य उसके नहीं रहे। जब तन ही उसका नहीं रहा तो वह नित्य मुक्त हो ही गया।

यही विधि है परम मिलन की नन्हीं! यह कह रहे हैं। तत्पश्चात् सर्व धर्मों से परे तो वह स्वतः हो जायेगा।

१. जब तन 'मैं' का नहीं रहा तो वह सबका हो गया।
२. एक धर्म ही अपना नहीं रहा, हर धर्म

उसी का हो गया।
३. एक नाम ही उसका नहीं रहा, हर नाम उसी का हो गया।
४. एक तन के नाते ही उसके नाते नहीं रहे, सब नाते उसी के हो गये।
५. जिस नाते किसी ने पुकारा उसे, वह वही नाता बनके सामने आ गया।
६. उसका कर्त्तव्य केवल नाते वालों के प्रति ही नहीं रहा, सबके प्रति हो गया।
७. अपना पराया कोई नहीं रहा, सब कोई अपना हो गया।
८. उसे कोई एक बांध नहीं सकता तब, वह सबसे निभाता है।

वास्तव में उसका योग परम से ही हो गया।

- वह स्वयं प्रेम ही हो गया।
- वह स्वयं वफ़ा ही हो गया।
- वह स्वयं करुणा ही हो गया।
- वह स्वयं क्षमा स्वरूप ही हो गया।
- उसका जीवन यज्ञ स्वरूप रूप ही हो गया।
- उसका जीवन एक अखण्ड कर्त्तव्य रूप ही रह गया।

वह स्वयं तन के सब कर्मों से परे आत्म स्वरूप हो जायेगा।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

पूर्ण ज्ञान देने के पश्चात् भगवान अर्जुन को कहते हैं कि अनाधिकारी के प्रति गीता का उपदेश नहीं सुनाना चाहिए। यह कहते हुए वह कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. यह (जो मैनें तुझे कहा है),
२. न कभी तप हीन को,
३. न कभी भक्ति हीन को,
४. न ही जो सुनना नहीं चाहते, उनको।
५. न ही मेरी निन्दा करने वाले के प्रति,
६. कहना उचित है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं अर्जुन से, 'जो ज्ञान मैंने तुझे दिया है, उसे अनाधिकारी को नहीं देना चाहिए', और फिर बताते हैं कि अनाधिकारी कौन है ?

तपहीन ज्ञान का अनाधिकारी है

क्योंकि :

१. वह नित्य ही इन्द्रिय रुचि के पीछे भागता है।
२. वह नित्य मनोचाहना रूपा रसना रस पूर्ति ही चाहता है।
३. वह उचित या अनुचित जानकर भी रुचिकर का ही अनुसरण करता है।

४. वह मानसिक विपरीतता नहीं सह सकता।
५. वह बुद्धि के स्तर पर विपरीतता नहीं सह सकता।
६. वह अपने तन को कष्ट नहीं देना चाहता।
७. उसके पास सहन शक्ति है ही नहीं।
८. वह मान का लोभी अपमान नहीं सह सकता।
९. जो अपने मन के ऊपर राज्य नहीं कर सकता, वह भगवान की बात नहीं समझ सकता।
१०. जो अपने आपको सह नहीं सकता, वह सत्य को कैसे जानेगा ?
११. जो अपनी वास्तविकता छिपाने में लगा रहे, वह सत् में कैसे जीयेगा ?
१२. जो अपनी वास्तविकता जाने बिना अपने आपको श्रेष्ठ समझे, वह तपस्वी नहीं हो सकता।
१३. जो कानों का कच्चा हो, वह तपस्वी नहीं हो सकता।
१४. जो निवृत्ति प्रवृत्ति से घबराये, वह तपस्वी नहीं हो सकता।
१५. नन्हूं! जब तक मन संयम में न आ जाये, तब तक तप सफल नहीं हो सकता।
१६. जब तक तप न हो जाये, सत् का अनुसरण नहीं होता।

सो भगवान कहते हैं : 'जो अपनी ही रुचि के पीछे भागते हैं, वे, जो मैं कह रहा हूं, उसे नहीं समझ सकते; उसे जीवन में नहीं ला सकते। उन्हें ज्ञान कहना भी नहीं चाहिए।'

भक्तिहीन ज्ञान के अनाधिकारी :

फिर कहते हैं, 'जो मेरा भक्त न हो, उसे भी गीता में निहित गुह्य ज्ञान मत कहो', क्योंकि :

१. जिसे सत् स्वरूप भगवान से प्रेम नहीं, वह उसे कैसे समझ सकेगा ?
२. जिसे सत् स्वरूप भगवान में श्रद्धा ही नहीं, वह उसे कैसे समझ सकेगा ?
३. जिसे सत् स्वरूप भगवान के गुणों में श्रद्धा ही नहीं, वह उसे कैसे समझ सकेगा ?
४. जिसे सत् स्वरूप भगवान के वाक् में श्रद्धा ही नहीं, वह उसे कैसे समझ सकेगा ?
५. जो भगवान के कथन को सत्य नहीं मानता, वह इसे नहीं समझ सकेगा।
६. जो भगवान को समझना ही नहीं चाहते, उन्हें ज्ञान क्या दोगे और वे समझेंगे भी क्या ?

फिर भगवान कहते हैं :

सुनने की इच्छा न रखने वाले, ज्ञान के अनाधिकारी हैं :

क) जो सुनने की इच्छा ही नहीं रखते,
ख) जो भगवान में रुचि ही नहीं रखते,
ग) जो भगवान को जानना ही नहीं चाहते,
घ) जो भगवान को पहचानना ही नहीं चाहते,
ङ) जो भगवान के प्रति उदासीन हैं,
च) जो भगवान के गुणों को पसन्द ही नहीं करते,
छ) जो भगवान की बात सुनने से घबराते हैं,

उन्हें भी यह ज्ञान सुनाना नहीं चाहिए!

अभ्यसूयति :

और फिर जो भगवान की निन्दा करते हैं, उनको गीता मत सुनाओ।

- जो भगवान को तुच्छ ठहराना चाहते हैं,
- जो भगवान को बुरा मानते हैं,
- जो भगवान का दुरुपयोग करते हैं,
- जो भगवान के विपरीत ही चलते हैं,
- जो भगवान के गुणों का आसरा नहीं लेते,
- जो दैवी सम्पदा का आसरा नहीं लेते, उन्हें भगवान की बात मत कहो!

१. जो झुकना ही नहीं चाहते, उन्हें झुकाव और झुके हुए का स्वरूप क्या समझ आयेगा ?

२. जो प्रेम करना ही नहीं चाहते, वे प्रेम को कैसे समझेंगे ?

३. जो सत् पर चलना ही नहीं चाहते, वे सत् को कैसे समझेंगे ?

४. जो भगवान को परम प्राप्तव्य नहीं मानते, वे भगवान को नहीं समझ सकते!

५. जो भगवान के गुणों की सेवा करना नहीं चाहते, वे भगवान को नहीं समझ सकते।

भगवान स्वयं कहते हैं कि उन्हें मेरा ज्ञान मत कहो।

ज्ञान के अनाधिकारी को ज्ञान सुनाने का परिणाम :

क) सम्पूर्ण ज्ञान सुनकर उनका दम्भ ही बढ़ेगा।

ख) ज्ञान अपने में तो आयेगा नहीं, दूसरे को बुरा कहने लगेंगे।

ग) दूसरे को तोलने के लिए ज्ञान को इस्तेमाल करेंगे।

घ) ज्ञान और भी अन्धा कर देता है।

ङ) जीव ज्ञान की चर्चा करते करते अपने आपको ज्ञान स्वरूप मान बैठता है।

च) जीव ज्ञान की चर्चा करते करते दूसरे भक्तों की नित्य परीक्षा ही लेता रहता है।

छ) बजाय स्वयं झुकने के और भी अकड़ जाता है।

ज) बजाय दूसरों से प्रेम करने के, अपने संगी साथियों को दूर कर देता है।

झ) बजाय स्वयं वफ़ा करने के और अधिक बेवफ़ा हो जाता है।

ञ) बजाय स्वयं कर्त्तव्यपरायण बनने के कर्त्तव्यविमुख हो जाता है।

ट) बजाय स्वयं दान देने के, भिखारी बन जाता है।

ठ) बजाय तपस्वी रूप बन कर दूसरों को सहन करने के, दूसरों को दुःख ही देता है।

ड) बजाय यज्ञरूप बनकर दूसरों की सेवा करने के, वह अपनी सेवा करवाना चाहता है।

नन्हीं! वह ज्ञान ही उसे यज्ञ, तप और दान से दूर कर देता है।

वह लोगों से दूर हो जाता है, क्योंकि साधारण लोगों को निकृष्ट कहता है और अपने आपको श्रेष्ठ मानता है।

जब यह सब भूल हो जाती है, तब अज्ञान और बढ़ जाता है। सो जिसने यह ज्ञान अपने जीवन में लाना ही नहीं, उसे यह ज्ञान देना नहीं चाहिए।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

भगवान पुनः कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. जो इस परम गुह्य तत्त्व को,
२. परम प्रेम करके मेरे भक्तों में कहेगा,
३. वह निस्सन्देह मेरे को पायेगा।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! यह ज़रा ध्यान से समझ! अब भगवान अधिकार की बातें कहते हैं।

ज्ञान के अधिकारियों का वर्णन :

क) जो इस परम गुह्य ज्ञान से प्रेम करते हैं,
ख) जो इस परम गुह्य ज्ञान से अपना जीवन रंग लेते हैं,
ग) जो इस परम गुह्य ज्ञान की प्रतिमा बनना चाहते हैं,
घ) जो इस परम गुह्य ज्ञान की प्रतिमा बन जाते हैं,
ङ) जो इस परम गुह्य ज्ञान को मेरा आदेश मानते हैं,
च) जो इस परम गुह्य ज्ञान को मेरा संदेश मानते हैं,

वे मेरी बात मानेंगे ही, मेरे कहे पर चलेंगे ही।

यानि, वे :

१. निष्काम कर्म परायण होंगे ही।
२. निष्काम भक्ति परायण होंगे ही।
३. निष्काम ज्ञान पूर्ण होंगे ही।
४. निष्काम सर्वभूतहितेरताः होंगे ही।
५. सर्वारम्भपरित्यागी होंगे ही।
६. सब लोगों में मैत्री भाव रखेंगे ही।
७. दैवी गुण सम्पन्न होंगे ही।
८. वे गुणों से विचलित न होने वाले गुणातीत होंगे ही।
९. वे स्थित प्रज्ञ बन ही जायेंगे।
१०. वे अतीव साधारण लोगों के साथ एकरूप होकर रहने वाले होंगे।
११. वे लोगों को विचलित नहीं करेंगे।
१२. वे नित्य कर्त्तव्यपरायण होंगे ही।
१३. वे मान अपमान के प्रति तुल्य दृष्टि रखने वाले होंगे ही।
१४. वे हानि लाभ, जय पराजय के प्रति तुल्य दृष्टि रखने वाले होंगे ही।
१५. वे हर धर्म परायण से प्रेम करने वाले होंगे ही।
१६. वे हर बुरे या दुष्ट से प्रेम करने वाले होंगे ही।

भाई! वे भगवान को उन्हीं के जीवन

से तोलेंगे। वे उनके गुण उन्हीं के जीवन से समझेंगे, फिर वे गुण अपने जीवन में ले आयेंगे। वास्तव में गुण समझने से गुण आते हैं। सच्चा प्रेम हो तो प्रेमास्पद के गुण प्रेमी में आ ही जाते हैं।

फिर, जब वे भक्तगण विस्तार पूर्वक भागवत् गुण समझायेंगे, तब अन्य सत्यप्रिय लोग भी भागवत् गुणों को अपने जीवन में ले आयेंगे। नन्हीं जान! गीता में जो भी कहा है, वह जीवन में आ ही जायेगा।

प्रेम :

पुनः तुझे समझाती हूं कि प्रेम किसे कहते हैं ? नन्हीं प्रेम प्रिय!

क) प्रेम का दूसरा नाम समर्पण है।
ख) प्रेम का दूसरा नाम ज्ञान तथा विज्ञान है।
ग) प्रेमी अपने प्रेमास्पद को जानने के नित्य यत्न करता रहता है।
घ) प्रेमी अपने प्रेमास्पद के तद्रूप हो जाता है।
ङ) प्रेम का परिणाम मिलन है।
च) प्रेम का परिणाम एकरूपता है।
छ) प्रेम का परिणाम ही अद्वैत है।
ज) प्रेम ही जीव को अपना तन भूलना सिखा देता है।
झ) प्रेम ही जीव को अपना मन भूलना सिखा देता है।
ञ) प्रेम ही जीव को अपना आप भूलना सिखा देता है।
ट) प्रेम ही जीव की बुद्धि को झुका देता है।
ठ) प्रेम ही जीव को कर्त्तव्यपरायण बना देता है।
ड) प्रेम ही जीव को इन्सान से देवता बना देता है।
ढ) प्रेम का दूसरा नाम तप है। वह सब कुछ सहता हुआ, नित्य मुसकराता हुआ जीव को तपस्वी बना देता है।
ण) प्रेम का दूसरा नाम दान ही है।

प्रेमी :

१. प्रेमी अपना तन, मन, धन, सब अपने प्रेमास्पद पर न्यौछावर कर देता है।
२. उसका सब कुछ प्रेमास्पद के लिए नित्य हाज़िर रहता है।
३. प्रेमी अपने प्रेमास्पद को नित्य रिझाता रहता है।
४. वह यही समझता है कि मैंने अभी काफ़ी नहीं किया।
५. वह यही समझता है कि मैंने अभी कुछ नहीं किया।
६. वह यही समझता है कि मैं अभी कुछ नहीं कर सकता।
७. प्रेमास्पद की मौज ही प्रेमी का जीवन है।
८. प्रेमास्पद की स्थापति ही प्रेमी का एकमात्र ध्येय होता है।
९. प्रेम निष्काम ही है।
१०. प्रेमी का हर कर्म निष्काम ही है।
११. प्रेमी की उपासना निष्काम ही है।
१२. प्रेमी का ज्ञान भी निष्काम ही है।
१३. प्रेमी अपने लिए कोई योजना नहीं बनाता, वह काम्य कर्म परित्यागी होता है।
१४. प्रेमी अपने लिए कोई कार्य नहीं

करता, वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है।

मेरी जान!

- उसे तो अपना नाम भी याद नहीं रहता।
- उसे तो अपने तन की भी विस्मृति हो जाती है।
- उसे तो अपने मन का भी ध्यान ही नहीं रहता।

प्रेमी 'मैं' को कब याद रख सकता है? उसे तो 'मैं' की जगह अपना प्रेमास्पद याद रहता है। शनैः शनैः उसे कुछ भी याद नहीं रहता, प्रेम करना उसका सहज स्वभाव हो जाता है। वह सहज में :

क) निश्चल हो जाता है।

ख) वफ़ादार हो जाता है

ग) नित्य कृतज्ञता पूर्ण हो जाता है।

घ) नित्य सत्यनिष्ठ हो जाता है।

ङ) विनम्रता भी उसका स्वरूप है, किन्तु याद रहे वह झुककर दूसरे को दिखाता नहीं।

च) उदार हृदय तो वह हो ही जाता है, किन्तु दूसरे को पता भी नहीं लगने देता।

छ) वह दूसरों के लिए सब कुछ करता है पर स्वयं छिप जाता है।

ज) वह अपने प्रेमास्पद में कृतज्ञता रूपा ग्रन्थी भी उत्पन्न नहीं होने देता।

झ) ऐसे की अनुकम्पा क्या कहिये, जो अपने आपको हर स्तर पर गिराकर भी दूसरों को स्थापित करने में लगा रहता है।

ञ) आत्म त्याग उसके जीवन का निहित सार होता है।

ट) आत्म संयम उसके जीवन का निहित सार होता है।

ठ) आत्म तिरस्कार उसके जीवन का निहित सार होता है।

ड) क्षमा का वहां प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह अपने आपको भूल जो जाता है।

प्रेम का पथ ही निराला है। प्रेमी तो मतवाला है, यही लोग कहते हैं। हे मेरी जान! बात भी यही है। उसका जीवन एक अखण्ड यज्ञ ही होता है। उस यज्ञ में वह अपनी ही आहुतियां देता रहता है, और उसके प्रेमीगणों को उसके प्रेमास्पद रूप कर्म का प्रसाद मिल जाता है।

भाई! ऐसे का जीवन सारांश परम, पावन ज्ञान ही है। ऐसे का जीवन में हर अनुभव परम अनुभव ही है।

प्रेमी का स्वरूप :

- गुणातीतता तो उसके दृष्टिकोण का सहज गुण है।
- दैवी गुण उसके सहज नौकर हैं।
- दैवी गुण उसके सहज आभूषण हैं।
- प्रज्ञा तो स्थिर हो ही जायेगी, जब 'मैं' का कहीं नामो निशान ही न रहे।

मेरी जान! गर प्रेमास्पद प्रेमी से पूछे कि :

१. मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ?

२. कहो, तुम्हारी खुशी किसमें है ?

तो प्रेमी क्या कहेगा :

'मेरी जान! यह न भूलना कि हम तुम्हारे हैं। तुम हर विधि प्रसन्न रहो, इसी में हमारी खुशी है। तुम्हारी सेवा ही हमें सर्वोत्तम सुखप्रद है। मेरी जान जाये तो जाने दो, पर मेरी जाने जान! तुम खुश रहना। मेरी जान जाये, जो तुम्हारे लिए है, इसका काम ही है तुझको रिझाना।'

तो इसको यूं समझ ले कि 'जाने जान' के पास दो तन हो गये रिझाने को, प्रेमी के पास एक भी नहीं रहा।

प्रेम का परिणाम :

इस प्रेम के परिणाम स्वरूप एक साधारण जीव देवता बन जाता है, एक देवता आत्मवान् बन जाता है, एक आत्मवान् भगवान बन जाता है। यही प्रेम का रंग रूप है।

गर प्रेम भगवान से हो जाये तो जीव :

क) भगवान के सब बन्दों से प्रेम करने लगता है।
ख) भगवान के गुणों से प्रेम करने लगेगा।
ग) उसे भगवान के गुणों से संग हो जायेगा।

क्योंकि प्रेम भगवान से होगा, जहान से जो भी मिले, उसकी परवाह नहीं रहेगी।

भगवान से प्रेम का अर्थ :

मेरी लाडली नन्हीं! भगवान की आभा सुन :

१. भगवान से प्रेम करने वाले की वफ़ा भगवान के गुणों से होती है।
२. भगवान से प्रेम करने वाले की वफ़ा दैवी गुणों से होती है।
३. भगवान से प्रेम करने वाले की दृष्टि भगवान में टिकी होती है, और उसका शरीर भगवान के अर्पित हुआ होता है।

सच बात तो यह है कि उसके दैवी सम्पदा के बहाव को भी पहचानना अतीव कठिन होता है। देख! तुझे एक राज़ समझाऊं।

भगवान के प्रेमी का जीवन :

वह मानों बड़ी बातें तथा औरों के बड़े बड़े प्रहार माफ़ कर देते हैं किन्तु छोटी छोटी बातों में देखने में लड़ पड़ते हैं। इस कारण वे साधारण लोगों में साधारण ही दिख पड़ते हैं और साधारण लोग उन्हें छोटी छोटी बातों के लिए क्षमा नहीं करते, बल्कि उनके स्वरूप पर संशय करने लगते हैं।

कोई उन्हें ज़माने भर में बदनाम कर आये फिर भी वह ऐसे से प्रेम करते हैं; किन्तु उसके सुख के लिए वह उसी की छोटी छोटी बातों पर उससे टकरा जाते हैं।

गर आप में सहन शक्ति नहीं है, गर आप में तप नहीं है, गर आपको भगवान के गुणों से संग नहीं है, गर आपको भगवान के गुणों से प्यार नहीं; तो आप भगवान की चाहना छोड़ दो, आप भगवान को नहीं पा सकते।

भगवान कहते हैं, जो मुझसे ऐसा परम प्रेम करेंगे, वे मेरे भक्त, यदि मेरे में भक्ति

रखने वाले श्रद्धापूर्ण लोगों को यह ज्ञान समझायेंगे, वे मुझे ही पायेंगे।

नन्हीं!

- ऐसा भक्त जो भी ज्ञान कहेगा, उसकी प्रतिमा वह स्वयं होगा।
- ऐसा भक्त जो भी ज्ञान कहेगा, उसका प्रमाण वह स्वयं ही होगा।
- ऐसा भक्त जो भी ज्ञान कहेगा, उसका रूप वह स्वयं होगा।

ज्ञान स्वरूप और ज्ञान रूप वह स्वयं होगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

अब आगे भगवान कहते हैं कि अर्जुन!

शब्दार्थ :

१. मुझसे प्रेम करने वाले और मेरे भक्तों को मेरा गुह्य रहस्य समझाने वाले से
२. बढ़कर मेरा प्रिय कर्म करने वाला,
३. मनुष्यों में न कोई और है
४. और न उससे बढ़कर अत्यन्त प्यारा,
५. मेरा पृथ्वी पर दूसरा कोई होगा।

तत्त्व विस्तार :

देख नन्हीं! भगवान अपनी ही पसन्द की बात कहते हैं।

प्रेमी भक्त

ऐसा भगवान का भक्त :

१. भगवान का सजातीय ही होगा।
२. भगवान के समान गुणों वाला ही होगा।
३. भगवान के गुणों का रूप व स्वरूप जानने वाला होगा।
४. कोई अनुभवी ही होगा।
५. उसका अपना जीवन भी भागवत् गुण पूर्ण ही होगा।
६. वह भगवान की जीवन रूप ज्योति से भागवत् ज्ञान को ज्योतिर्मय करके समझा होगा।
७. वह अपने तन, मन, बुद्धि को भागवत् गुणों पर न्यौछावर किये बैठा होगा।

यानि, वह अपने जीवन की बाज़ी लगाकर अपनी दैवी सम्पदा का संरक्षण करता होगा।

वे अपनी जान छोड़ सकते हैं,

- क्षमाशीलता नहीं छोड़ सकते।
- वफ़ा नहीं छोड़ सकते।
- प्रेम का स्वभाव नहीं छोड़ सकते।
- करुणा पूर्णता नहीं छोड़ सकते।
- न्याय नहीं छोड़ सकते।
- अपने तन की स्थापना की चाहना नहीं कर सकते।

नन्हीं! गर समझ सको तो समझ लो, वह तो :

क) प्रेम की चादरिया पहरे हैं।

ख) नाम का कफ़न पहरे हैं।

ग) अपने तन, मन को भूले बैठे हैं।

घ) उन पर 'मैं' का राज्य नहीं, भगवान का राज्य है।

ङ) वे अपना तन भगवान को दिये बैठे हैं। वे अतीव साधारण लोग होते हैं, किन्तु फिर भी उनसे विलक्षण कौन होगा?

भगवान कहते हैं, नन्हीं! ऐसे लोग मुझे प्यारे हैं। ऐसे लोगों से बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा धरती पर कोई और नहीं है। ऐसे लोग जो भी कर्म करते हैं, मुझे बहुत प्यारे हैं। नन्हीं बच्चू देख! उनकी साधुता के चिह्न ज़रा विलक्षण होंगे!

१. वे अपनी साधुता के गुमानी नहीं हो सकते।
२. वे दूसरे को निकृष्ट या दुष्ट कहकर उससे दूर नहीं हो सकते।
३. वे साधारण लोगों के साथ साधारण रूप में रहेंगे।
४. वे लोगों की मान्यता का भंजन नहीं करते।
५. वे तो अपने तन से बेसुध हैं, ऐसों का तन दूसरों के तन की निरन्तर सेवा करता है।

दूसरे के तद्‌रूप होकर, उसकी चाहनाओं के अनुरूप होकर भी वे अपने स्वरूप में स्थित ही जीवन बसर करते हैं। फिर यूं समझो मेरी जान!

- जो क्षमा स्वरूप हो, उसका दुश्मन कौन हो सकता है ?
- जो वफ़ा स्वरूप हो, उससे बेवफ़ाई कोई क्या करेगा ?

भगवान कहते हैं, उन्हें ऐसे लोग प्रिय होते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

अब भगवान अर्जुन से कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. और जो हम दोनों के,
२. इस धर्म युक्त संवाद का अध्ययन करेगा,
३. उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा,
४. ऐसा मेरा मत है।

तत्त्व विस्तार :

भगवान कहते हैं, हमारे पारस्परिक संवाद का जो अध्ययन करेगा, वह अध्ययन ही उसका ज्ञान यज्ञ होगा।

सर्वप्रथम समझ ले कि 'अध्येषण' का क्या अर्थ है ?

अध्येषण :

क) किसी कार्य को करने की प्रेरणा का संकेत करता है।

ख) किसी कार्य को करने की प्रार्थना को भी कहते हैं।

ग) सीखने, जानने और पढ़ने को भी कहते हैं।

घ) किसी विद्या पर प्रभुत्व पाने को भी कहते हैं।

अब जो यहां भगवान कह रहे हैं, वह :

- केवल पढ़ने की बात नहीं है।
- केवल स्मरण करने की बात नहीं है।
- केवल कण्ठस्थ करने की बात नहीं है।
- वह केवल लोगों को पढ़ाने की बात नहीं कह रहे।

अध्येषण गर सांचो हो तो,

१. अनुभव भी चाहिए।

२. आपके जीवन में उसका प्रमाण भी चाहिए।

३. यदि आप ही उसे जीवन में नहीं ला सकते, तो औरों को क्या समझायेंगे ?

४. और फिर यदि आप स्वयं अपने जीवन में उसे असम्भव समझते हैं तो औरों के जीवन में उसे सम्भव बनाने के यत्न मूर्खता है।

५. यदि ज्ञान केवल शब्द मात्र ही हो तो वह व्यर्थ मानसिक खिलवाड़ होता है।

६. ज्ञान गर जीवन में प्रमाणित करके सप्राण किया जाये, तब ही ज्ञान यज्ञ बनता है।

शब्दों में लाखों प्रेम के व्याख्यान देने से कुछ नहीं बनता, प्रेम करना सीखो तो प्रेम का स्वरूप या रूप समझ सकोगे। कभी भी क्षमा न करने वाला क्षमा को क्या समझेगा ? लोभी उदारता को कैसे समझ सकेगा ?

क) ज्ञान को जीवन में सिद्ध करने से ही ज्ञान का अनुभव होता है।

ख) ज्ञान को जीवन में सिद्ध करने का अभ्यास ही ज्ञान का अध्येषण है।

ग) ज्ञान गर जीवन में न सिद्ध किया जाये तो अज्ञान का रूप धर लेता है।

घ) ज्ञान गर जीवन में न सिद्ध किया जाये, तो निष्प्राण शब्द मात्र ही रह जाता है।

ज्ञान का जीवन में अभ्यास ही आप में ज्ञान वर्णित गुण उत्पन्न करता है और फिर वही गुण दूसरे के लिए प्रसाद रूप धर लेते हैं। आपका जीवन यज्ञमय होने लगता है।

नन्हीं ! इस दृष्टिकोण से यज्ञ पुनः समझ ले। गर ज्ञान की अग्र जल जाये तो उससे क्या तात्पर्य होगा, प्रथम समझ ले।

ज्ञान का आदेश :

ज्ञान ने कहा :

१. निष्काम कर्म कर।

२. निष्काम ज्ञान होना चाहिए।

३. अपने प्रति उदासीन होना चाहिए।

४. दैवी सम्पदा पूर्ण दृष्टि होनी चाहिए।

५. दैवी सम्पदा पूर्ण जीवन होना चाहिए।

६. गुणों से विचलित नहीं होना चाहिए।

७. गुणों से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

८. अनभिष्वंग हो, यानि तेरा किसी पर

अधिकार न हो।
९. निर्मम हो, मेरापन कहीं न रख।
१०. संग छोड़ दे।
११. सिद्धि असिद्धि के प्रति समभाव रख।
१२. मान अपमान के प्रति समभाव रख।
१३. निवृत्ति या प्रवृत्ति के प्रति समभाव रख।
१४. कुशल या अकुशल के प्रति समभाव रख।
१५. सन्त, सज्जन, वैरी या दुष्ट के प्रति समभाव रख।
१६. सर्वारम्भ परित्यागी हो जा।
१७. काम्य कर्म का त्याग कर दे।
१८. सर्वभूत हितकर हो जा।
१९. अपने प्रति नितान्त मौन होना चाहिए।

मेरी नन्हीं जान! यह सारा ज्ञान जीवन में अपनाने के लिए आदेश है, उपदेश नहीं। यह जीवन में इस्तेमाल करने से प्रमाणित हो सकता है, कण्ठस्थ करने से नहीं। बात करने से यह समझ नहीं आता, इस्तेमाल करने से समझ आ सकता है। व्याख्यान लाख दो, वह शब्द बहाव है, जीवन में ले आओ तो ज्ञान यज्ञ बन जाता है। ज्ञान जीवन में उतरे तो वह अग्न बन जाता है। इस ज्ञान की महा अग्न में जीव का :

क) दम्भ जल जाता है।
ख) दर्प, अभिमान जल ही जाता है।
ग) आशाओं का पाश जल जाता है।
घ) चाहनाओं का बन्धन जल ही जाता है।
ङ) मान्यताओं की ग्रन्थियां जल ही जाती हैं।
च) भाई! अपनी चाहनायें भूल ही जाती हैं।
छ) बेख़ुदी की दुनियां का जन्म हो ही जाता है।
ज) अपनी तो विस्मृति हो जाती है।
झ) ज़माने गुज़र जाते हैं, अपना ख़्याल ही नहीं आता।
ञ) क्या पाया क्या नहीं पाया, यह सोचने की फ़ुर्सत ही कहां मिलती है ?
ट) अपना कौन है और पराया कौन है, ज्ञान अग्न जल जाये, तो यह याद ही नहीं रहता।
ठ) किसी को दुष्ट या किसी को श्रेष्ठ कैसे कहें, जब यह जान लिया कि सब गुण खिलवाड़ है!

ज्ञानी का रूप :

जैसा चाहने वाला सामने आये, ज्ञानी वैसा ही हो जाता है। कभी निकृष्ट कर्म करता दिखता है, कभी श्रेष्ठ कर्म करता दिखता है। नन्हीं! वास्तव में गर सूक्ष्म सार समझ सके तो समझ! वह जितना श्रेष्ठ होगा, उतना ही साधारण होगा, यानि साधारण दर्शायेगा। वह जितना ज्ञान में स्थित होगा, उतना भोला होगा, यानि भोला दर्शायेगा। साधारण व्यक्तियों में रहने वाला होगा, साधारणता से घृणा नहीं करता होगा। वह तो लोगों की चाहनाओं से घृणा नहीं करता होगा। वह तो लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने के यत्न करता है। उसकी अपनी कामना नहीं होती पर दूसरों की कामनाओं से वह नहीं भिड़ता।

ज्ञान यज्ञ :

इस दृष्टिकोण से गर ज्ञान यज्ञ समझें तो शायद परम तत्त्व का निहित सार समझ आ जाये!

१. यही ज्ञानयज्ञ से भगवान का पूजन है।
२. यही महायज्ञ है।
३. यही यज्ञमय जीवन का सार है।
४. यही भगवान के मिलन की राह है।
५. भगवान निरन्तर इसी यज्ञ में रहते हैं।
६. भगवान इसी यज्ञ के स्वयं पति हैं। यही यज्ञ परम मिलन करवा देता है।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

भगवान अर्जुन को आगे कहने लगे :

शब्दार्थ :

१. श्रद्धावान् तथा दोष दृष्टि से रहित होकर,
२. जो भी जीव (हमारे, तुम्हारे सम्वाद को) सुनेगा,
३. वह भी मुक्त होकर,
४. पुण्य कर्म करने वालों के,
५. शुभ लोकों को प्राप्त होगा।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं जान ज़रा सुन! भगवान कहते हैं, जो श्रद्धावान् तथा अनसूय होकर इस संवाद को सुनेगा, वह भी शुभ कर्म करने वाले लोकों को पायेगा।

मेरी नन्हीं सजन! पुनः समझ श्रद्धावान् कौन होते हैं ?

श्रद्धावान् :

१. परम सत् में निष्ठा रखने वाले श्रद्धावान् होते हैं।
२. दैवी गुणों को जीवन में श्रेष्ठ मानने वाले श्रद्धावान् होते हैं।
३. भागवत् गुणों को जीवन में श्रेष्ठ मानने वाले श्रद्धावान् होते हैं।
४. जो जीवन में दैवी गुण बहाते हैं, परिणाम चाहे कुछ भी मिले, वे श्रद्धावान् होते हैं।
५. जिन्हें परम गुण क्षमा में श्रद्धा है, वे यहां निकृष्ट तथा दुश्मन को भी क्षमा कर देते हैं।
६. वे दुष्ट की दुष्टता से निर्भय होते हैं, अपने पर ही अत्याचार करवाते हुए वे दुष्ट का मानो जी भर देते हैं।
७. प्रेम में श्रद्धा रखने वाले दुश्मन को भी अपने प्रेम से जीत लेते हैं।
८. श्रद्धा का फल अतीव दीर्घकाल में मिलता है।
९. श्रद्धा निष्काम जीवन की बुनियाद है।
१०. श्रद्धा निष्काम कर्म की बुनियाद है।
११. श्रद्धा निष्काम यज्ञ की बुनियाद है।
१२. श्रद्धा परम सत् को व्यक्त करती है।
१३. श्रद्धा के पलने में दैवी गुण पलते हैं।
१४. श्रद्धा ही जीवन के हर पहलू में

भगवान का साक्षित्व बनाये रखती है।

१५. जीवन में हर प्रहार के प्रति श्रद्धा ही साधक का अटूट कवच है।

१६. श्रद्धा ही मानसिक बल दायिनी है।

१७. श्रद्धा ही तप का मूल है।

१८. श्रद्धा ही दान पाने की सामर्थ्य है।

१९. परम गुणों का जीवन में संरक्षण श्रद्धा के बल पर ही हो सकता है।

वरना आपके सद्गुणों का टकराव जब अन्य जीवों के आसुरी गुणों से होगा, तब आप विचलित हो जायेंगे और घबरा जायेंगे।

देख नन्हीं साधिका!

भगवान में श्रद्धा :

क) भगवान में श्रद्धा का अर्थ ही भगवान के गुणों में अटूट विश्वास है।

ख) भगवान में श्रद्धा का अर्थ ही भगवान के गुणों को जीवन में बहाना है।

ग) यही धर्म है।

घ) यही जीवन में भगवान का राज्य है।

ङ) यही भगवान की चाकरी है।

च) इसी में भगवान का मिलन है।

छ) श्रद्धा का परिणाम कर्त्तव्य है।

ज) श्रद्धा का परिणाम वफ़ा है।

झ) श्रद्धा का परिणाम निष्काम जीवन है।

ञ) श्रद्धा योग स्थित करवा ही देगी।

भगवान ने यहां एक और गुण बताया है उन साधकों का, जो शास्त्र आदेश तथा उपदेश से लाभ उठा सकते हैं।

अनसूय :

साधक को अनसूय होना चाहिए, यानि :

१. दोष दृष्टि रहित होना चाहिए।

२. संशयपूर्ण दृष्टि नहीं होनी चाहिए।

३. निन्दक वृत्ति वाला नहीं होना चाहिए।

४. ईर्ष्या का नितान्त अभाव होना चाहिए।

५. द्वेष रहित होना चाहिए।

६. घृणा रहित होना चाहिए।

७. अरुचिकर से भी विरोध न करने वाला होना चाहिए।

८. शत्रुता पूर्ण नहीं होना चाहिए।

क) गर राग द्वेष में पड़े रहे तो परम गुण अभ्यास करना अतीव कठिन हो जायेगा।

ख) गर अरुचिकर से भागने वाले हो, तो भगवान के गुण आप में नहीं आ सकते।

ग) गर आप में घृणा का भाव है तो आप अरुचिकर जानकर घृणक से दूर हो जायेंगे, फिर परम गुण आप में कैसे आयेंगे ?

घ) फिर जहां संशय बसता है, वहां श्रद्धा नहीं बस सकती।

भगवान कहते हैं, जो जीव संशय रहित तथा श्रद्धावान् है, वह श्रवण मात्र से ही भागवत् गुणों की प्रतिमा बन सकता है; वह श्रवण मात्र से ही भागवत् प्रेम उन्मत्त हुआ परम चाकर बन सकता है। जो श्रद्धावान् होगा और अनसूय होगा, वह शुभ कर्म करने वाला होगा ही।

भाई!

- उसका हर कर्म शुभ होगा।
- वह स्वयं शुभ ही होगा।
- वह शुभ लोक में ही जायेगा।

नन्हूं! जिसमें दोष दृष्टि नहीं होगी और साथ में जो श्रद्धावान् भी होगा, वह जो भी सुनेगा, उसे पल में अपने जीवन में उतार लेगा। ज़रूरी नहीं कि आप बहुत पढ़े लिखे हों, तभी ज्ञान समझ सकोगे। वास्तव में पढ़े लिखे लोग तो बहुत बुद्धि गुमानी हो जाते हैं। उनमें तो श्रद्धा मुश्किल ही होती है, उनकी दोष दृष्टि बहुत बढ़ जाती है।

दोष दृष्टि वाले लोग केवल बहाने ढूंढते हैं, केवल दूसरे को ग़लत साबित करने के प्रयत्न करते रहते हैं, केवल लोगों को तोलते रहते हैं। वह न स्वयं तुलना चाहते हैं, न ही अपने आपको तोलना चाहते हैं। श्रद्धा वाले ही औरों पर आक्षेप करने की बजाय अपने आपको देखते हैं, इस कारण वह भगवान को सहज ही पाते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥ ७२॥

अब भगवान अर्जुन से पूछते हैं,

शब्दार्थ :

१. हे पार्थ! क्या (जो मैंने कहा, वह सब),
२. तुमसे एकाग्र चित्त से सुना गया?
३. हे अर्जुन! क्या (इससे) तेरा अज्ञान जन्य मोह,
४. नष्ट हो गया?

तत्त्व विस्तार :

भगवान पूछते हैं अर्जुन से, 'क्या तुम्हारा मोह दूर हो गया?'

याद रहे अर्जुन ने भगवान से अपने मोह मिटाव के लिए प्रार्थना की थी। धर्म के प्रति किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के भंजन की याचना की थी। सो अब भगवान विविध विधि समझाने के बाद अर्जुन से पूछते हैं कि :

- आप बताईये क्या हाल है आपका?
- आप बताईये क्या हाल है आपके मोह का?
- क्या अज्ञान जन्य मोह का आवरण उठ गया है?
- क्या शोक ग्रसित मन की दुर्बलता ठीक हुई?
- हाथ पैर जो शिथिल हो गये थे, क्या ठीक हो गये?
- क्या अब भी रण से भागने की सलाह है?
- क्या अब भी हाथों से गाण्डीव छुटा जाता है?

भाई! ये सब अज्ञान के कारण था। क्या जो मैंने तुझे कहा, तूने उसे एकाग्रचित्त हो कर सुना? क्या उस ज्ञान से अज्ञान जन्य मोह का नाश हो गया?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन कहने लगे भगवान को :

शब्दार्थ :

१. आपकी कृपा से,
२. मेरा मोह नष्ट हो गया है,
३. मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है,
४. (इसलिए मैं) संशय रहित होकर स्थित हूं,
५. और आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

तत्त्व विस्तार :

मेरी नन्हीं जान! पुनः समझ मोह किसे कहते हैं!

मोह :

१. मोह चेतना की हानि को कहते हैं।
२. मोह चेतना के अभाव को कहते हैं।
३. मोह मूर्छा को कहते हैं।
४. मोह धुंधलेपन को कहते हैं।
५. मोह जड़ीभूत होने को कहते हैं।
६. मोह अन्धेपन को कहते हैं।

मोह के कारण जीव को

७. सत्यता के दर्शन नहीं होते।
८. सत्यता समझ नहीं आती।
९. भ्रम उत्पन्न होता है।
१०. जीव झूठे सिद्धान्तों का आसरा लेता है।
११. जीव वास्तविकता को नहीं देख सकता।
१२. जीव अपने मनोविकार दूसरों पर आरोपित करता है।
१३. जीव अपने आपको भी नहीं जान सकता।
१४. जीव दूसरे को भी नहीं पहचान सकता।
१५. जीव अपने आपको श्रेष्ठ मानता है।
१६. मोह जीव को अपने प्रति अन्धा बना देता है।
१७. मोह जीव को दूसरे के प्रति अन्धा बना देता है।
१८. भ्रम और भ्रान्ति मोह के पुत्र हैं।
१९. अपने पर अविश्वास मोह के कारण होता है।
२०. मोह जीव को नित्य धोखे में रखता है।
२१. मोह के कारण जीव वास्तविकता त्याग कर नित्य काल्पनिक सृष्टि में वास करता है।

मेरी नन्हीं आभा! दूसरी भाषा में कहें तो कहेंगे कि :

१. असत् में सत् का आभास होना मोह है।
२. सत् में असत् का आभास मोह है।
३. मिथ्यात्व रमण मोह का दूसरा नाम है।
४. मोह भ्रमात्मक है।

५. मोह भ्रमात्मक बुद्धि को जन्म देने वाला है।
६. माया मोह का दूसरा नाम है।
७. अज्ञान मोह का दूसरा नाम है।
८. चित्त अशुद्धि भी मोह के कारण होती है।

मोह का जन्म :

यह मोह जीव का सर्वप्रथम अपने साथ ही होता है। या यूं कह लो, जब जीव में तनत्व भाव उठता है तो मोह का जन्म होता है। अपने तन से संग कर लेने से जीव की दृष्टि पर आवरण चढ़ जाता है।

उसके बाद जीव,
- अपने तन के राही संसार को देखता है।
- अपने मन के राही संसार को देखता है।

यह जड़ तन जीव को अन्धा बना देता है।

क) तन बधित आत्म स्वरूप नहीं हो सकता।
ख) तन त्रिगुणात्मिका शक्ति रचित त्रैगुण पूर्ण है।
ग) तनो इन्द्रियां रुचिकर तथा अरुचिकर रस रसना रसिक हैं।
घ) मन रुचिकर का चाकर बन जाता है।
ङ) मन रुचिकर को श्रेष्ठ मानने लग जाता है।
च) मन निरन्तर रुचिकर की प्राप्ति में लगा रहता है तथा अपने रुचिकर को पाने के लिए जो कुछ भी उचित या अनुचित करता है, उसे न्याययुक्त ही प्रमाणित करना चाहता है।

तनो संग होने के कारण जीव :
- अपने तन तथा मन, बुद्धि को नित्य श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है।
- अपने तन, मन, बुद्धि की न्यूनता को नित्य छिपाता रहता है।
- अपने तन, मन, बुद्धि को नित्य श्रेष्ठ दिखाना चाहता है।
- अपने हर पाप को मिथ्या तथा कल्पना पूर्ण तर्क वितर्क राही निर्दोष दिखाकर पाप विमुक्त करना चाहता है।

तनत्व भाव का परिणाम :

नन्हीं बेटू आभा!

१. लोभ, क्रोध, काम, मोह, अहंकार, ये सब अपने तन से संग करने के कारण उत्पन्न होते हैं।
२. मान से संग, अपमान का भय, तनत्व भाव प्रधानता के कारण होते हैं।
३. विजय से संग पराजय का भय, तनत्व भाव प्रधानता के कारण होते हैं।
४. ममत्व भाव भी तनत्व भाव के नाते होता है।
५. मित्र या दुश्मन भी तनत्व भाव के नाते होते हैं।
६. द्वन्द्व उत्पत्ति भी तनत्व भाव के नाते होती है।
७. क्षोभ, विक्षेप, उद्विग्नता, व्याकुलता, ये सब अपने तन से संग होने के कारण होते हैं।

८. राग और द्वेष भी अपने तन के कारण होते हैं।

यह संग, जब अपने तन से हो जाता है तो मानो अपनी आन्तरिक दृष्टि तन रूपा जड़ विषय के राही संसार को देखना चाहती है, और देखती है। यानि, अपने तन मन को शीशा बनाकर अपनी आंखों के सामने धर लेती है। तत्पश्चात् जीव :

क) जो भी देखता या समझता है, उसमें अपनी मनोमान्यता का रंग चढ़ा देता है।
ख) अपने तनो सुख या रुचि को सामने रखकर बुद्धि के निर्णय करता है।
ग) जो भी कहता है अपने आपको भूलकर नहीं कह सकता।
घ) स्वार्थ प्रधान हो जाता है।

यह सब देहात्म बुद्धि तथा जीवत्व भाव प्रधानता के कारण होता है। ऐसा जीव,

१. कर्त्तव्यपरायण नहीं रह सकता।
२. कर्त्तव्य से भी मुखड़ा छिपा लेता है।
३. कर्त्तव्य करने की जगह बहाने बनाने लगता है।
४. कर्त्तव्य करने की जगह अपनी मजबूरियों का आश्रय लेता है ?

भगवान ने अर्जुन को क्या ज्ञान समझाया :

भगवान ने अर्जुन को आत्मा और तन में भेद सुझाया।

१. तनो नश्वरता का विवेक दिया।
२. आत्मा के अमरत्व का ज्ञान दिया।
३. गुणों का राज़ समझाया।
४. संग, मोह, मम त्याग का आदेश दिया।
५. तनो दान का राज़ सुझाया।
६. मनो तप की विधि सुझाई।
७. जीवन रूपा यज्ञ की राह दिखाई।
८. दैवी गुणों का संदेश सुनाया।
९. आत्मा की पूर्णता को दर्शाया।
१०. फिर गुणातीत बनने को कहा।
११. दैवी गुण सम्पन्न बनने को कहा।
१२. स्थित प्रज्ञता का राज़ सुझाया।
१३. और सब कहकर उसे संग मोह तथा मिथ्या सिद्धान्तों पर आश्रित ज्ञान को छोड़कर युद्ध करने का आदेश दिया।

देख मेरी नन्हीं जान! भगवान ने :

क) संन्यास भी समझाया।
ख) भगवान को पाने की विधि भी समझाई।
ग) भगवान के समान जीवन में जीने की विधि भी सुझाई।
घ) भागवत् प्रेम का प्रमाण भी दिया।
ङ) अपनी कर्त्तव्यपरायणता की बात भी कही।
च) उदासीनता की बात भी कही।
छ) निष्काम भाव भी बताया।
ज) यह सब बता कर उसे अपने साथ योग करने की विधि भी बताई।
झ) यह सब बताकर उसे अपने समान बनना सिखाया।

और फिर कहा, युद्ध कर! यही तुम्हारा परम धर्म है; यही तुम्हारा कर्त्तव्य है।

अर्जुन को भगवान के द्वारा क्या ज्ञात हुआ :

अर्जुन ने जान लिया कि,

१. वह तन नहीं, तनत्व भाव मिथ्या है। गुण गुणों में वर्त रहे हैं इसलिए :
२. गुणों से संग मिथ्या है।
३. कर्तृत्व भाव मिथ्या है।
४. गुण अहंकार मिथ्या है।
५. किसी को दोष लगाना मिथ्या है।
६. पूर्ण संसार आत्म तत्त्व में ही खिलवाड़ कर रहा है।
७. आत्मा अमर है, तन तो निश्चित मिट जायेगा।
८. कर्त्तव्य त्याग उचित नहीं है।
९. निष्काम कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।
१०. यज्ञमय जीवन ही महा उच्च संन्यास है।
११. भगवान स्वयं साधुओं की रक्षा करने के लिए जन्म लेते हैं। अच्छे तथा श्रेष्ठ कर्म तथा श्रेष्ठ जीवन वाले लोगों का संरक्षण ही संन्यासी का कर्त्तव्य है।
१२. निरपेक्ष भाव से जीवन की बाज़ी लगा देना ही कर्त्तव्य है।
१३. दुष्टों तथा दुष्टता के सहयोगियों के साथ युद्ध करना धर्म है, चाहे वह अपने नाते रिश्ते ही क्यों न हों।

अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ क्यों हुआ :

अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ इसलिए हुआ क्योंकि :

क) उसे अपने श्रेष्ठ गुणों से संग था।
ख) अपने नाते रिश्ते तथा मित्र बन्धुओं से संग था।
ग) वह ममत्व भाव से घिरा हुआ था।
घ) वह गुण राज़ नहीं समझता था।

भगवान के उपदेश से वह समझा कि :

१. विजय पराजय की परवाह नहीं करनी चाहिए।
२. मान अपमान, हानि लाभ कोई अर्थ नहीं रखते।
३. वास्तव में तन ही कोई अर्थ नहीं रखता।
४. वास्तव में मन भी कोई अर्थ नहीं रखता।
५. बुद्धि भी दूसरे के तद्रूप होनी चाहिए।

साधना के लिए अनिवार्य गुण :

- देहात्म बुद्धि अभाव होना चाहिए।
- कर्तृत्व भाव अभाव होना चाहिए।
- भोक्तृत्व भाव अभाव होना चाहिए।
- तनत्व भाव अभाव होना चाहिए।
- कर्मों में निष्कामता होनी चाहिए।
- सर्वारम्भ परित्यागी होना चाहिए।
- अपने प्रति नितान्त उदासीनता होनी चाहिए और दूसरों के प्रति कर्त्तव्य प्रधानता होनी चाहिए।
- दूसरों के प्रति दैवी गुण बहाव होना चाहिए।
- दूसरों के संरक्षण अर्थ ही जीवन होना चाहिए। यानि :

क) निर्बल के संरक्षण अर्थ ही जीवन चाहिए।
ख) दैवी सम्पदा पूर्ण का संरक्षण ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए।
ग) असाधुओं से साधुओं का बचाव ही संन्यासी का धर्म है, सो इसे करना ही चाहिए।

जब अर्जुन ये सब समझ गये तो बोले,
- मेरा मोह नष्ट हो गया है।
- मुझे जो अपना कर्त्तव्य भूल गया था, पुनः याद आ गया है।
- मुझे जो अपना धर्म भूल गया था, पुनः याद आ गया है।

ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुंचने का परिणाम :

ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुंचकर जीव साधारण जीवन में अपना सहज धर्म जान लेता है।

१. तनो संग अभाव सहज जीवन में आ जाता है।
२. निष्काम कर्म रूपा स्वभाव सहज जीवन में प्रदुर् हो जाता है।
३. तनो संग अभाव के कारण वह सर्वारम्भ परित्यागी हो जाता है।
४. तनो संग अभाव के कारण वह अपने प्रति उदासीन हो जाता है।
५. तनो संग अभाव के कारण वह अपने मान के प्रति उदासीन हो जाता है।

जब यह हो जाता है, तब :
- क्या करूं, क्या न करूं, ऐसा भाव नहीं उठता।
- क्यों करूं, क्यों न करूं, ऐसा भाव नहीं उठता।
- करूंगा या नहीं करूंगा, ऐसा भाव नहीं उठता।
- श्रेष्ठ हूं या न्यून हूं, ऐसा भाव नहीं उठता।
- निवृत्ति या प्रवृत्ति से संग का भाव नहीं उठता।
- इस सबके प्रति भी वह उदासीन हो जाता है।

तब जैसी परिस्थिति या समस्या सामने हो, उसी में निरपेक्ष भाव से दक्षतापूर्ण होकर संलग्न हो जाता है। अपने प्रति उदासीन होने से वह मानो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

अर्जुन की समस्या हल हो गई, जब उसे भगवान ने सब कुछ समझा दिया। अर्जुन का संशय दूर हो गया कि वह युद्ध करे या न करे। उसे क्या करना चाहिए, यह वह समझ गया।

तब उसने कहा कि :

१. अब मैं संशय रहित हो गया हूं।
२. अब मैं निश्चय पूर्ण हो गया हूं।
३. अब मैं अपने स्वभाव में स्थित हो गया हूं।
४. अब मैं आपकी बात समझ गया हूं।
५. अब मैं वही करूंगा जो आपने कहा है। यानि, अब मैं युद्ध करूंगा।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले धृतराष्ट्र से!

शब्दार्थ :

१. इस प्रकार मैंने,
२. वासुदेव और महात्मा अर्जुन के,
३. इस अद्भुत और रोमांचकारक संवाद को सुना।

तत्त्व विस्तार :

नन्हीं! अब संजय अपने मन की बात कहते हैं। वह इस गीता संवाद को अतीव अद्भुत पा रहे थे। क्योंकि :

क) इस संवाद में जीवन तथा अध्यात्म का पूर्ण सहयोग सुझाया गया है।
ख) जीवन में गुण दर्शन इतनी स्पष्टता से किसी अन्य शास्त्रीय रचना में नहीं करवाया गया।
ग) गुणों की स्पष्ट व्याख्या करके पहले कभी विभिन्न स्थितियों का निरूपण नहीं किया गया।
घ) यानि, हर मानसिक स्थिति के गुण विस्तारपूर्वक तथा स्पष्ट कहे गये हैं।
ङ) हर दैवी गुणी तथा ब्राह्मी स्थिति पूर्ण का जीवन कैसा होता है, यह सविस्तार बताया गया है।
च) परम पुरुष पुरुषोत्तम का मानो दृष्टिकोण भी समझाया है।
छ) जीवन में अध्यात्म कितना सरल है, यह भी समझाया है।
ज) तनत्व भाव अभाव पूर्ण की समष्टि दृष्टि के दर्शन भी विराट रूप राही समझा दिये भगवान ने।
झ) यदि अहंकार का अभाव हो तो सम्पूर्ण परम विभूति ही है, यह भी भगवान ने स्पष्ट कह दिया है।
ञ) भगवान कृष्ण ने ज्ञान को जीवन रूपा विज्ञान सहित समझाया है।
ट) गुणातीत अवस्था पाने की विधि समझाई है।
ठ) नित्य समाधिस्थ की जग में विचरने की विधि समझाई है।
ड) बिना किसी प्रकार का आक्षेप किये, परम मिलन की राह सुझाई है।
ढ) किसी का पूजन या साधना विधि ग़लत नहीं कही, किसी की जीवन प्रक्रिया को बुरा नहीं कहा, किसी को न्यून या श्रेष्ठ नहीं कहा।

साधारण जीवन में विलक्षणता की राह को सुझा दिया भगवान ने।

गीता का आदेश :

उन्होंने कहा :

- गुण गुणों में वर्त रहे हैं, गुणातीत बन!

- गुणों से प्रभावित न हो।
- अपने प्रति उदासीन हो जा।

तत्पश्चात् :

१. स्थित प्रज्ञ हो ही जायेगा।
२. गुणों से अप्रभावित हो ही जायेगा।
३. निष्काम कर्म युक्त हो ही जायेगा।
४. जीवन यज्ञमय हो ही जायेगा।
५. निर्मम, निर्मोह तू हो ही जायेगा।
६. मित्र या अरि के प्रति सम्भाव वाला हो ही जायेगा।
७. निर्विकार, निर्लिप्त तू हो ही जायेगा।

नन्हीं! अपने तन, मन, बुद्धि के प्रति नितान्त उदासीनता, आत्मवान् बना ही देगी।

यही बातें भगवान ने अर्जुन से कहीं तथा अन्य बातें भी कहीं जो सब संजय ने सुनीं और सुन कर वह आश्चर्यचकित हुआ।

संजय की प्रतिक्रिया गीता का ज्ञान सुनकर :

क) वह इस अद्भुत संवाद को सुनकर गद्गद् हो गया।
ख) वह इस अद्भुत संवाद को सुनकर पुलकित हो गया।
ग) वह इस अद्भुत संवाद को सुनकर कृत् कृत् हो गया।

नन्हीं! भगवान ने तो सब अर्जुन से कहा था। संजय के भी सौभाग्य देख। उसने भी सब कुछ सुन लिया। श्री व्यास कृपा से हमारे भी अहोभाग्य देख! हमें भी वही मिल गया।

व्यासप्रसादात्श्रुतवान्एतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

आगे फिर संजय कहने लगे, हे राजन्!

शब्दार्थ :

१. श्री व्यास जी के प्रसाद से,
२. मैंने इस परम गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए,
३. योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना।

तत्त्व विस्तार :

अब संजय व्यास देव जी की वन्दना करते हैं, व्यास देव जी का स्तुवन करते हैं और कहते हैं कि उनके दिव्य प्रताप से मैंनें साक्षात् भगवान को गीता कथित तथा वर्णित गुह्य योग को कहते हुए सुना।

मेरे नन्हें प्यार! यह गुह्य योग पुनः समझ ले।

योग क्या है ?

- योग मिलन को कहते हैं।
- योग मिश्रण को कहते हैं।

– योग एकरूपता को कहते हैं।

नन्हीं! समदृष्टि को योग कहते हैं। जब जीव की बुद्धि स्थित प्रज्ञता पा जाती है, तब वह हर परिस्थिति में समभाव रहता है, तुम इसे योग कह लो।

योग कब होता है :

योगपूर्ण समत्व भाव तब उत्पन्न होता है, जब :

१. जीव मृत्युधर्मा तन से संग छोड़कर आत्म तत्त्व से योग कर लेता है।
२. तनत्व भाव को त्यागकर आत्म तत्त्व में स्थित हो जाता है।
३. वास्तविक योग आत्मवान् बनने पर ही होता है।
४. देहात्म बुद्धि के रहते हुए योग सफल नहीं हो सकता।

जब जीव तन के तद्रूप होता है तो इसे संग कहते हैं और जब जीव आत्मा के तद्रूप होता है तो इसे योग कहते हैं।

योग का परिणाम :

इस योग के परिणाम में जीव की मानो दृष्टि सम हो जाती है।

तनत्व भाव रहितता :

भाई! यह बात भी सहज ही है, क्योंकि जब तुम अपने आपको तन मानते ही नहीं, तब :

क) तन श्रेष्ठ काज करे या न्यून काज करे, आपको क्या ?
ख) तन को मान मिले या अपमान मिले, आपको क्या ?
ग) तन को दुःख मिले या सुख मिले, आपको क्या ?
घ) जग इसको ठाकुर बना ले या नौकर बना ले, आपको क्या ?
ङ) निवृत्ति या प्रवृत्ति से भी आपका प्रयोजन नहीं रहता। यानि,

- जग आपके तन से क्या करे ?
- जग आपके तन से क्या करवाये ?
- जग आपका सब कुछ छीन ले, यां जग आपको सब कुछ दे दे,

यह सब आपके लिए बराबर हो जाता है। यह तो सहज ही बात है।

गीता में भगवान एक और बात स्पष्ट करते हैं। वह ज्ञानीजन के जीवन की भी बात करते हैं और फिर अपने जीवन की भी बताते हैं, जो कि योगेश्वर कृष्ण स्वयं करते हैं। यही चिह्न बन जाता है ज्ञानी का। यही प्रमाण बन जाता है ज्ञानी का।

भगवान और कर्म :

यहां भगवान अपने बारे में बताते हुए स्पष्ट कहते हैं कि :

१. मैंने कुछ नहीं पाना, तो भी कर्म करता हूं।
२. यदि मैं कर्म नहीं करूंगा तो लोग भी कर्म नहीं करेंगे।
३. मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं, फिर भी मैं कर्त्तव्य करता हूं।
४. यदि मैं सावधान हुआ कर्मों में न

वर्तूं, तो लोग मेरी तरह कर्म करने छोड़ देंगे।

५. तब लोक भ्रष्ट हो जायेंगे।
६. मैं मानसिक तथा बुद्धि के स्तर पर वर्ण संकर उत्पन्न करने वाला बन जाऊंगा।
७. फिर भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष का आचरण ही उनकी श्रेष्ठता का प्रमाण बन जाता है।
८. लोग उन्हीं के प्रमाण को अपने जीवन में लाते हैं।
९. फिर भगवान कहते हैं कि अनासक्त ज्ञानी को चाहिए कि वह,

- जैसे अज्ञानी कर्म करते हैं, लोक शिक्षा अर्थ वैसे ही कर्म करे।
- कर्म आसक्त अज्ञानी में भी बुद्धि भेद उत्पन्न न करे।
- बल्कि उन अज्ञानियों के समान सब कर्मों को अच्छी तरह करता हुआ अज्ञानियों से भी कर्म करवाये।

भाई! ज्ञानी का यही प्रमाण बन जाता है।

ज्ञानी का स्वरूप :

वास्तव में ज्ञानी, जो तनत्व भाव से परे है, वह स्वयं तो :

१. निवृत्ति या प्रवृत्ति, दोनों के प्रति उदासीन होता है।
२. वह अपना कोई प्रयोजन नहीं रखता।
३. उसका अपना कोई योजन नहीं होता।
४. उसे न कुछ पाना है।
५. उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य या ज्ञातव्य नहीं रहता।
६. वह तो अपने तन के प्रति नित्य निरासक्त है।
७. वह तो अपने तन के प्रति नित्य उदासीन है।

किन्तु उसके जीवन का रूप निराला ही बताया है भगवान ने।

आत्मवान् का जीवन :

क) आत्मवान्, आत्मयोग स्थित, जीवन में अज्ञानियों के समान ही जीते हैं।
ख) यानि, वे महा आसन पर बैठकर नहीं, बल्कि साधारण जीवन व्यतीत करते हैं।
ग) वे जिन लोगों के साथ रहते हैं, उनके समान ही कर्म करते हैं, अपनी श्रेष्ठता की प्रदर्शनी नहीं करते रहते।

भाई! तब तो उन्हें पहचानना भी मुश्किल होगा। गर समझ सके तो यूं समझ नन्हीं आभा!

१. वे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते तब ही तो वे लोगों की कामना पूर्ति कर सकते हैं।
२. वे अपने प्रति उदासीन होते हैं, तब ही तो साधारण कर्म कर सकते हैं।
३. वे अपने तन से आसक्ति रहित होते हैं, तब ही तो प्रेम कर सकते हैं।
४. वे अपनी बुद्धि से आसक्ति रहित होते हैं, तब ही तो झुक सकते हैं।
५. वे अपने मन से आसक्ति रहित होते हैं, तब ही तो आनन्द में रहते हैं।

यूं समझ मेरी जान!

क) वे अपने मान के लिए कुछ नहीं करते, दूसरे के मान की रक्षा के लिए सब कुछ करते हैं।

ख) वे स्वयं अपनी रक्षा के लिए कुछ नहीं करते, दूसरे को नित्य सुरक्षित बनाते हैं।

ग) वे स्वयं कुछ पाने के लिए कुछ नहीं करते, दूसरा जो मांगे, उसे देने के यत्न करते हैं।

घ) नन्हूं! अपने लिए जो कभी न करें, वे कर्म भी वह दूसरे के लिए कर देते हैं। वे अपने से बेगाने लोग 'सर्वभूत हितेरता:' होते हैं।

ङ) वे अपने से बेगाने लोग नित्य संन्यासी होते हैं।

भाई! यह जो भी भगवान ने कहा, यह प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध था।

योग को जीवन में समझना बहुत कठिन है। योग जीव को अति साधारण बना देता है। योग जीव को इतना साधारण बना देता है कि वह योगी चिरकाल तक पहचाना भी नहीं जा सकता। यही इस ज्ञान की गुह्यता है। वास्तव में उसे जीवन भर जानना कठिन होगा। वह तो दूसरों को स्थापित करने में ही लगा रहता है। अपने आप को भी मानो छुपा कर रखता है।

यही बात मानो छुप गई है, यह राज़ लोगों को समझ नहीं आता।

- यह राज़ योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं समझाया है।
- यह राज़ कृष्ण से संजय ने सुना है। यही सुनकर, समझकर और देखकर व्यास ने कृष्ण को भगवान कहा। यही सुनकर, समझकर और देखकर संजय कृत्कृत् हो गया।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयो पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

अब संजय कहते हैं :

शब्दार्थ :

१. हे राजन्! श्रीकृष्ण अर्जुन के,
२. इस कल्याणकारक और अद्भुत संवाद को,
३. पुनः पुनः स्मरण करके,
४. मैं बार बार हर्षित होता हूं।

तत्त्व विस्तार :

संजय ने गीता संवाद को 'पुण्य' कहा। संजय कहते हैं धृतराष्ट्र से कि मैं इस पुण्य संवाद को सुनकर हर्षित होता हूं

इसे पुण्य संवाद कहा, यानि :

क) पावनकर संवाद कहा।

ख) कल्याणकारक संवाद कहा।

ग) सत्गुण वर्धक संवाद कहा।

घ) आनन्द तथा हर्ष वर्धक संवाद कहा।
ङ) सच्चा तथा सत् पूर्ण संवाद कहा।
च) मंगलमय संवाद कहा।

संजय कहते हैं, उसे पुनः पुनः याद करके मैं हर्षित होता हूं। भाई! गीता का संदेश ही ऐसा है।

गीता ज्ञान स्मरण का फ़ायदा :

जितना याद करो, उतना ही चित्त पावन होता है।

१. किन्तु सत्यता जानकर याद करो।
२. कृष्ण से प्रेम हो तो याद करो।
३. सत्य से संग हो तो याद करो।
४. गर सच ही भगवान जैसा दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहते हो, तो याद करो।
५. गर तन से उठना चाहते हो तो याद करो।

भाई! अपना लक्ष्य बना लो और फिर गीता ज्ञान याद करो। फिर तुम :
क) नित्य मुदित मनी हो जाओगे।
ख) नित्य आनन्द स्वरूप हो जाओगे।
ग) भगवान जैसे धर्म वाले हो जाओगे।
घ) तब भगवान को ही पाओगे।

भगवान की शरण में कब जाना चाहिए :

भगवान की शरण में जा ही तब सकते हो गर :

१. यह तन आपने भगवान को देना है।
२. तब याद रहेगा कि भगवान का हाथ आपके सीस पर है।
३. तन काज कर्म जग के करेगा।
४. आपके राही दैवी गुण बहेंगे।
५. आपके राही भगवान जो चाहेंगे, करवा लेंगे।
६. भगवान गर हृदय में आ जायें तो आपका तन उन्हीं का हो जायेगा।
७. आपका तन तब वही करेगा, जो, गर आपकी जगह आपके तन में भगवान होते, तो वह करते।

तन से ज्यों ज्यों संग का अभाव होगा, त्यों त्यों आप हर्षित हो आनन्द की ओर बढ़ते जायेंगे। अपना यही अनुभव कह रहे थे संजय।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

संजय पुनः कहते हैं धृतराष्ट्र से :

शब्दार्थ :

१. हे राजन्! श्री हरि के,
२. उस अतीव अद्भुत रूप को भी,
३. पुनः पुनः स्मरण करके,
४. मेरे चित्त में महान् आश्चर्य होता है

५. और मैं बार बार हर्षित होता हूं।

तत्त्व विस्तार :

अब संजय :

क) भगवान के अद्‌भुत रूप की बात कहते हैं।

ख) उन्होंने भगवान का जो विराट रूप देखा, उसकी बात कहते हैं।

ग) भगवान की एक तन से तद्‌रूपता छोड़कर पूर्ण से तद्‌रूपता की बात कहते हैं।

तनो संग छोड़ने का परिणाम :

देख मेरी जान! तुझे एक बात समझाऊं! जब जीव एक तन से संग छोड़ देता है, एक तन से सम्बन्ध तोड़ देता है, अपने आपको तन मानना छोड़ देता है; जब जीव पंच तत्त्व के एक बुत से संग छोड़ देता है, तब वह,

१. मानो आत्मा से नाता जोड़ लेता है।
२. मानो आत्मा के तद्‌रूप हो जाता है।
३. मानो आत्मा से योग कर लेता है।
४. मानो आत्मवान् हो जाता है।
५. तब उसका अपना कोई भी नाम रूप नहीं रहता।
६. फिर या वह सब कुछ है, या वह कुछ भी नहीं रहता।

पुनः सुन! आत्मा से एकरूपता ही योग है।

भगवान का विराट रूप समष्टि से तद्‌रूपता का परिणाम है :

जब भगवान ने अपना विराट स्वरूप दिखाया, तब वह :

क) व्यक्तिगत तनो तद्‌रूपता छोड़कर समष्टि ब्रह्माण्ड को अपना तन जानकर दिखा रहे थे।

ख) ब्रह्म की पूर्णता से तद्‌रूप होकर बता रहे थे।

ग) वह अर्जुन को भगवान का स्वरूप समझा रहे थे।

घ) वह अर्जुन को योगेश्वर का दृष्टिकोण समझा रहे थे।

ङ) वह अर्जुन को योगेश्वर की, ब्रह्म से योग के बाद की दृष्टि दिखा रहे थे।

च) आत्मवान् की स्थिति दर्शा रहे थे।

छ) आत्मवान् की आन्तरिक दृष्टि समझा रहे थे।

ज) जो सब कुछ ही आप हो, वह अद्वैत में स्थित ही होता है, यह समझा रहे थे।

झ) जो सब कुछ ही आप हो, वह अद्वैत, अखिल रूप स्वयं होगा।

ञ) जो सब कुछ ही आप हो, वह एक तन से संग क्या करेगा ?

ट) जो सब कुछ ही आप हो, उसका मित्र कौन, वैरी कौन, यह समझा रहे थे।

वह तो अखिल तन स्वयं आप हैं, यह समझा रहे थे।

नन्हीं संजय कहते हैं कि इस विराट रूप के दर्शन करके वह बार बार मुदित हो रहे हैं; बार बार आश्चर्यचकित हुए देख रहे हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

नन्हीं जान! अब संजय अपनी ओर से कहते हैं कि :

शब्दार्थ :

१. जहां योगेश्वर कृष्ण (तथा) धनुर्धारी अर्जुन हो,
२. वहां श्री, विजय, विभूति और अटल नीति है।
३. यह मेरा मत है।

तत्त्व विस्तार :

विवेक चाहुक आभा! सर्वप्रथम कुछ शब्दार्थ समझ ले।

योगेश्वर :

योगेश्वर का अर्थ है:

क) योग का मालिक।
ख) योग का अखिल राज़ जानने वाला।
ग) योग करने की हर विधि को जानने वाला।
घ) संगम करने की हर विधि को जानने वाला,
ङ) मन का योग कराने की क्षमता रखने वाला।
च) वांछित फल से योग कराने की क्षमता रखने वाला।
छ) वांछित फल से योग कराने की पूर्ण शक्तियों का पति।

धनुर्धारी :

धनुर्धारी का अर्थ है :

१. जो लड़ने के लिए तैयार हो।
२. जो वीर योद्धा हो।
३. जो अपनी जान की बाज़ी लगाने को तैयार हो।
४. जो स्वभाव से पराक्रमी हो।
५. यहां धनुर्धारी से संजय का एकाग्रचित्त होकर कार्य संलग्न होने के स्वभाव की ओर संकेत है।
६. धनुर्धारी अपने आपको भूलकर युद्ध कर सकता है।

अब समझ नन्हीं कि :

क) भगवान को अपने लिए तो कुछ चाहिए नहीं।
ख) भगवान का न कोई अपना योजन होता है और न ही किसी भी कार्य अर्थ कोई प्रयोजन ही सिद्ध करना होता है।
ग) भगवान को न विजय, न मान चाहिए और न ही वह पराजय की परवाह करते हैं।
घ) भगवान तो अपने प्रति नित्य उदासीन हैं।
ङ) गुणातीत होने के नाते वह गुणों के खिलवाड़ को समझते हैं।
च) गुणातीत होने के नाते वह गुणों के पारस्परिक प्रभाव को जानते हैं।

छ) गुणातीत होने के नाते वह जानते हैं कि:

१. कौन से गुण आपस में विरोधी हैं ?
२. कौन से गुण आपस में आकर्षणात्मक हैं ?
३. कौन से गुण आपस में भिड़ने वाले हैं ?
४. कौन से गुण पिघल सकते हैं ?
५. कौन से गुण पत्थर के समान हैं ?
६. कौन से गुण जीव को भीरु बना देते हैं ?
७. कौन से गुण जीव को बलवान् बना देते हैं ?
८. कौन से गुण जीव को योद्धा बना देते हैं ?

ज) भगवान नित्य अप्रभावित रहने के कारण हर परिस्थिति को समता से देख सकते हैं।

झ) नन्हीं! भगवान यह भी जानते हैं कि जिसका वह साथ दे रहे हैं, उसमें कौन कौन से गुणों की कमी है।

अधिकांश लोग अपनी ही ग़लती के कारण अपने कार्य में सिद्धि नहीं पा सकते। वह अपनी ही बुद्धि की कमज़ोरी के कारण अपने कार्य में असिद्ध हो जाते हैं।

अब याद रहे,

- भगवान कार्य दूसरों से ही करवाते हैं।
- भगवान कार्य सिद्धि का सेहरा दूसरों को ही दिलाते हैं।

नन्हीं! भगवान दूसरों में वह गुण भर देते हैं जिनकी राही वह सिद्धि पा सकें।

अब ध्यान से सुन! जीव की अपनी ही सिद्धि की राह में वह स्वयं ही बाधा होता है। यदि आप किसी बात में असफल रहे हों, तो आपने कोई ऐसी ग़लत बात की है, या कदम धरा है, जो ग़लत था। इस कारण भगवान ने आपको ही, आपके ही उस कदम या बात के विरुद्ध बता कर उचित राहों पर लाना है।

तो क्यों न कहें भगवान का भिड़ाव उसके साथ होगा, जो उनसे सत्यता मांगने गया है।

- भगवान को अर्जुन को मनाना पड़ा, हालांकि युद्ध में विजय चाहुक अर्जुन स्वयं था।
- भगवान ने अर्जुन को आरम्भ में भला बुरा कहा।
- भगवान ने अर्जुन की बुद्धि को ठीक किया

किसी की बुद्धि या उसके दृष्टिकोण को बदलना अतीव कठिन होता है। इसे यूं समझ नन्हीं!

१. कार्य सिद्धि तक आपकी दोस्ती भी बनी रहनी चाहिए।
२. कार्य सिद्धि तक, जिसका कार्य है, आप उसे ग़लत भी ठहरा सकें।
३. कार्य सिद्धि तक, आप उसकी मान्यताओं को भी तोड़ सकें।
४. कार्य सिद्धि तक, आप उसकी अपनी ही न्यूनताओं को दर्शाते हुए, उसे श्रेय की ओर ही ले जाते रहें।

५. कार्य सिद्धि होने तक, आप मानो उसी के मन के दुश्मन भी बनकर उससे नित्य भिड़ते रहें।
६. कार्य सिद्धि होने तक यदि जिसका कार्य है, वह बिगड़ जाये तो आप छिप जायें।
७. कार्य सिद्धि होने तक, आप जिसका कार्य हो, उसे मानो उसी से बचाते रहें।

नन्हीं जान!
८. जब आप किसी को ग़लत कहेंगे, तो वह आपके साथ भिड़ेगा ही, वह आपके साथ भड़केगा ही।
९. और फिर भिड़कर और भड़ककर वह आपको भला बुरा कहेगा ही।
१०. जब वह भड़केगा और कड़केगा, तो आपको चुप रहना भी पड़ेगा और अनेकों बार उसे मनाना भी पड़ेगा। आप पर क्या गुज़री, उसके बारे में आप अपनी उदासीनता के कारण मौन रहेंगे।

नन्हीं! कोई योगेश्वर ही होगा जो अर्जुन जैसे साधारण जीव के तद्रूप होकर उसी की स्थापना के लिए :
क) उसके तद्रूप हो जायेगा।
ख) उसकी चाहनाओं के तद्रूप हो जायेगा।
ग) उसे उसकी ही भीरुता से बचायेगा।
घ) उसकी ही कार्य सिद्धि के लिए उसे गाली देगा।
ङ) उसकी ही कार्य सिद्धि के लिए उसे इतना महान् ज्ञान देगा।
च) उसकी ही कार्यसिद्धि के लिए उसे अपना 'मित्र', 'प्रिय', 'अपना आप' इत्यादि कहेगा।
छ) उसकी ही कार्य सिद्धि के लिए अपने प्रण इत्यादि का भी त्याग कर देगा।
ज) उसकी ही कार्य सिद्धि के लिए उसे नीतियां सिखायेगा।

नीति :

नन्हूं! अब नीति का यथार्थ अर्थ समझ ले :
१. नीति उपाय को कहते हैं।
२. नीति कार्य सिद्धि करने की युक्ति को कहते हैं।
३. नीति कार्य सिद्धि करने के लिए सूक्ष्म चतुराई को कहते हैं।
४. चतुराई तथा दक्षता से अपना कार्य सिद्ध करने की कर्म प्रणाली को कहते हैं।
५. छुपी युक्तियों द्वारा किसी को मनाने को कहते हैं।
६. नीति उस आचरण पद्धति को कहते हैं, जिससे बिना झगड़े के या आसानी से काम बन जाये।
७. नीति पथ प्रदर्शन को भी कहते हैं।
८. नीति व्यवहार कुशलता को भी कहते हैं।

अब समझ नन्हीं! यदि भगवान कृष्ण के समान बुद्धि हो और साथ में अर्जुन जैसे का तन हो तो सफलता तो होगी ही। यह तो तब ही होगा जब :

क) वीर योद्धा अपना तन भागवद् बुद्धि के अधीन कर देगा।
ख) महा पराक्रमी शस्त्रधारी योद्धा, कफ़न पहन कर अपना तन यन्त्र रूप में भगवान के हवाले कर देगा।
ग) संग रहित बुद्धि युक्त अस्त्र शस्त्र धारी गीता को भागवद् आदेश समझ कर अपने शिरोधारण करेगा।
घ) स्वरूप तथा रूप, दोनों को साधक भगवान के हवाले कर देगा।

नन्हीं!
- भगवान दूसरे की बुद्धि को जागृत कर देते हैं।
- भगवान दूसरे को अपना फ़ैसला स्वयं करने देते हैं।
- भगवान दूसरे को सम्पूर्ण काम स्वयं करने देते हैं।
- भगवान दूसरे से काम करवाते हुए उसे आगे ले जाते हैं।

इस कारण दूसरे को 'श्री' और 'विजय' मिलेगी ही।

श्री :

नन्हीं! अब 'श्री' को समझ ले। 'श्री' का अर्थ है :
१. धन सम्पत्ति।
२. 'श्री' गौरव को भी कहते हैं।
३. 'श्री' सौन्दर्य को भी कहते हैं।
४. 'श्री' सत्‌गुण तथा दैवीगुण पूर्ण को भी कहते हैं।
५. 'श्री' अलौकिक शक्ति को भी कहते हैं।
६. 'श्री' उच्च पद को भी कहते हैं।
७. 'श्री' प्रतिष्ठा को भी कहते हैं।

नन्हूं! भागवद् परायण तो 'श्री' पायेंगे ही।

विजय :

अब विजय को समझ ले।

नन्हूं! जब भगवान तुम्हारे साथ होंगे तो देर हो सकती है, अन्धेर नहीं हो सकता। जब भगवान तुम्हारे साथ होंगे तो विजय आपकी होगी ही। नन्हूं! आप अपने शत्रुओं को जीत ही लेंगे। आपका अनिष्ट चाहने वाले अन्त में पराजित हो ही जायेंगे। आपके दुश्मन नहीं रह सकते।

नन्हूं! यह परिवर्तन मानसिक हो या स्थूल, जैसा हो, उसी स्तर पर विजय मिलेगी। यदि आप आत्मा की ओर जा रहे हैं तो आप भगवान के साधर्म्य हो ही जायेंगे। किन्तु, यदि आपकी स्थूल समस्या है, तो भगवान आपको नीति सिखाते सिखाते आगे ले ही जायेंगे। योगेश्वर कृष्ण अपनी योगमाया पर चढ़कर साधारण लोगों के भी तद्‌रूप हो जाते हैं। फिर उन्हीं की कार्य सिद्धि के लिए, उन्हीं के स्तर पर, उन्हीं के कार्य करते करवाते उन्हें आगे ले जाते हैं।

भगवान का जन्म केवल निर्बल, दैवी गुण सम्पन्न लोगों के संरक्षण के लिए होता है।

नन्हीं!
- भगवान जीवों का नहीं, गुणों का संरक्षण करते हैं।

- भगवान जीवों के नहीं, सद्‌गुणों के चाकर होते हैं।

जहां भी कोई अपने सतीत्व संरक्षण के लिए उन्हें पुकार ले, वह उस सतीत्व के चाकर बनकर चले आते हैं! चाहे किसी के पास हज़ार बुरे गुण हों, इसकी उन्हें परवाह नहीं होती; जो आप में दैवी गुण का अंश है, वह तो उसका संरक्षण करते हैं। ज्यों, यदि अग्न में कोई बच्चा जल रहा हो तो वीर पुरुष अपनी जान की बाज़ी लगाकर उसे बचाने के प्रयत्न करते हैं, मानो त्यों ही आपके अन्दर यदि किसी दैवी गुण का जन्म हो जाये तो उसके संरक्षण के लिए भगवान अपनी जान की बाज़ी लगा देते हैं।

इस बाज़ी में शायद आप ही के क्रोध की अग्न उन्हें जला दे।

नन्हीं! जिस वृत्ति ने सच्चे हृदय से राम को पुकारा है, उसे तो विजय मिलेगी ही।

भूति :

नन्हीं! अब भूति का अर्थ समझ ले। भूति को विभूति भी कहते हैं।

भूति का अर्थ है :

१. सौभाग्य।
२. सफलता।
३. स्थापति।
४. अलौकिक शक्ति।
५. अस्तित्व का होना।
६. बड़प्पन।
७. कल्याणकारक शक्ति।
८. प्रकाश।

नन्हीं! जहां भगवान स्वयं होंगे और उनके साथ धनुर्धारी अर्जुन होंगे, वहां :

क) विजय होगी ही।
ख) श्री होगी ही।
ग) विभूति होगी ही।
घ) वहां भगवान की ध्रुव नीति होगी ही।

जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, वह औरों को उनके काज की सफलता अर्थ नित्य नीति बतायेगा ही।

- आपने जो कुछ भी पाना है, उसे पाने की नीति भगवान बताते हैं।
- साधना में सफलता को भी पाने की नीति भगवान बताते हैं।
- संसार में विचरने की भी नीति भगवान बताते हैं।
- संसार में व्यवहार करने की भी नीति भगवान बताते हैं।

साधारण संसारी तथा भगवान एक समान ही दिखते हैं, भेद केवल नीति का होता है। भगवान अपनी स्थापति के लिए कोई भी नीति नहीं वर्तते।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्याय:॥ १८॥

ॐ तत् सत् ॐ तत् सत् ॐ तत् सत्

अर्पणा के अन्य प्रकाशन

हिन्दी

१. माण्डूक्योपनिषद्
२. प्रश्नोपनिषद्
३. ईशोपनिषद्
४. केनोपनिषद्
५. प्रज्ञा प्रतिभा
६. ज्ञान विज्ञान विवेक
७. गंगा श्रद्धा प्राणप्रद
८. मृत्यु से अमृत की ओर
९. राम आवाहन
१०. वैदिक विवाह
११. गायत्री महामंत्र
१२. अमृत कण
१३. अर्पणा भजनावली
१४. अर्पणा पुष्पांजलि
    (त्रैमासिक पत्रिका)

English

1. Kathopanisad
2. Love
3. Sincerity
4. Gratitude
5. Magnanimity
6. Humility
7. Fearlessness
8. Forgiveness
9. Words of the Spirit
10. Sublime Reflections
    (Daily inspirations)
11. Notes
12. Arpana Pushpanjali
    (Quarterly Magazine)

ISBN 81-86338-01-2 (V. II)
81-86338-02-0 (Set)

मूल्य - ४०० रु० (भाग १ एवं २)

'गीता भगवान का आदेश है, उपदेश नहीं'

परम पूज्य मां

एक आज्ञाकारी पुत्र जिस प्रकार अपने पिता की वसीयत को वास्तविकता में परिणित करता है, उसी प्रकार अपने परम पिता के आदेश 'श्रीमद्भगवद्गीता' को हमें अपने जीवन राही इस धरती पर अंकित करना है।

परम पूज्य मां के मुखारविन्द से प्रवाहित सरल हिन्दी में श्रीमद्भगवद्गीता की प्रस्तुत व्याख्या भगवान की वाणी को आधुनिक युग के सन्दर्भ में सार्थक कर रही है।

गीता की इस अभिव्यक्ति में विलक्षणता यह है कि कभी प्यार से, कभी दुलार से और कभी डांटकर, यह एक मां की भांति साधक शिशु के स्तर पर आ, उसका कर थामे उसे अध्यात्म तत्त्व के चरम शिखर की ओर ले जा रही है।

यह दिव्य ग्रन्थ एक सहस्रमुखी दर्पण है, [illegible] ज्ञान के विभिन्न पहलुओं को जिज्ञासु की बुद्धि, सामर्थ्य और क्षमता के अनुसार प्रतिबिम्बित करता है। एक संन्यासी के लिए जहां यह वैराग्य की पराकाष्ठा है, वहीं साधारण संसारी के लिए यह मानुषी सम्बन्धों में अपूर्व सहायक भी है और पथ प्रदर्शक भी। संसार के त्रिविध तापों से मुक्ति पाने के लिए यह एक अमोघ औषध[illegible]।